Evolution of Śṛṅgāra Rasa from Bharata to Paṇḍita - Rāja Jagannātha

[शृङ्गारविकास]

A Thesis Submitted for the degree of
DOCTOR OF LETTERS
Of
The University of Allahabad

By

Chandika Prasad Shukla
M A., D Phil , Sahityacharya

Sanskrit Department
UNIVERSITY OF ALLAHABAD

1969

स एवं काव्य-शृङ्गारस्तदेतत्काव्यदैवतम् ।
तदेतद् विश्वसर्वस्वं, तदेतज्जन्मन. फलम् ॥
—भोज

—: निवेदन :—

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में भरतमुनि से पण्डितराज जगन्नाथ तक शृङ्गाररससिद्धान्त के क्रमिक विकास का पर्यवेक्षण करता है। कामभूलक होने के कारण शृङ्गाररस सर्वप्रिय एवं सर्व-सुबोध रहा है। काव्य-नाट्य में ही यह प्रधान रस नहीं गिना जाता है, अपितु सभी ललित कलाओं में इसका प्राधान्य एवं महत्त्व परिलक्षित होता है। इस प्रबन्ध के ग्यारह अध्यायों में उसी शृङ्गार के अङ्गों के क्रमिक विकास का परिशीलन किया गया है। प्रथम और द्वितीय अध्यायों में काम पुरुषार्थ का तथा भावों के स्वरूप का सामान्य विवेचन करने के पश्चात् तृतीय से अष्टम तक में शृङ्गार के क्रम से परिभाषा, स्थायिभाव, विभाव, अनुभाव, संचारिभाव तथा भेदोपभेद का विवेचन किया गया है। नवम अध्याय में शृङ्गार रस के आभास की मीमांसा की गई है, अभिनव के मत में जिसका प्रारम्भ भरत ने शृङ्गारादिभवेद्धास्य: ' इस उद्घोष के साथ किया था। दशम अध्याय में शृङ्गार विषयक फुटकल विचार जो किसी किसी आचार्य में ही दिखाई पड़ते हैं अतएव जिनका क्रमिक विकास नहीं कहा जा सकता, रक्खे गये हैं। एकादश अध्याय में शृङ्गार के ही एक विशिष्ट रूपान्तर भक्तिरस का विवेचन किया गया है। और अन्त में हिन्दी साहित्य शास्त्र के आचार्यों द्वारा की गई शृङ्गार-मीमांसा प्रस्तुत की गई है। इसे परिशिष्ट में ही रक्खा गया है।

इस प्रबन्ध के प्रारम्भ से पूर्णत्व तक जिन प्रात:-स्मरणीय विद्वद्वन्द्य श्रीगुरुचरणों ने मार्ग निर्देश किया है उन म०म० डा० गोपीनाथ कविराज जी, म०म० डा० वी०वी०मिराशी जी तथा डा० बाबूराम सक्सेना जी के प्रति मैं श्रद्धा से सन्नत हूँ। बिना उन श्रीचरणों के अमूल्य निर्देशनों एवं आशीर्वाद के यह प्रबन्ध इस रूप में कभी न आ पाता। उनके अनुग्रह का मैं विनम्र -हृदय से आभार मानता हूँ।

ज्ञान-प्रतिभा-गरिष्ठ यशस्वी गुरुवर्य डा० सक्सेना जी के पूज्य वत्सल श्रीचरणों में बैठकर जो कुछ सीखा उसीका कुछ अंश इस प्रबन्ध में रखने का प्रयत्न किया है, जो न बन पाया होगा उसके लिए मेरे स्वकीय दोष ही उत्तरदायी हैं ।

गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास के क्यूरेटर श्री आर०के० पार्थसारथी जी तथा अन्य सुयोग्य सहकारी वर्ग का एवं डा० वी० राघवन् महोदय का भी मैं हृदय से आभारी हूं जिन्होंने मुझे भोज-निर्मित 'शृङ्गारप्रकाश' की पाण्डुलिपि सुलभ की तथा वहां उसके अध्ययन की हर प्रकार की सुविधा दी । साथ ही जिन अन्य ग्रन्थरत्नों की इसमें सहायता ली गई है मैं उन सबके प्रति अपना श्रद्धास्निग्ध आभार प्रकट करता हूं ।

टाइप प्रक्रिया में मेरे सुहृद् पं० मेवालाल मिश्र ने बड़ी तत्परता एवं सावधानी रक्खी है ,तथापि यन्त्र-गत विवशता के कारण जो अशुद्धियां रह गई हैं, मैं उसके लिए विबुध-चरणों से भूयोभूय: क्षमाप्रार्थी हूं ।

— विनयावनत

१।१।१९६६ ईसवी

चण्डिकाप्रसाद

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

काम पुरुषार्थ एव जीवन मे उसका महत्त्व

पथम

प्रथम अध्याय

काम पुरुषार्थ एव जीवन मे उसका महत्व

सुख-दु:ख की द्वन्द्वानुभूति—

सुख-दु:ख के सामान्य अनुभूति-द्वन्द्व के साथ ही प्राणी मातृ-कुक्षि से बाह्य जगत् में अवतार लेता है। सामान्य सुख एवं सामान्य दु:ख की अनुभूतियां उसकी जन्मजात होती हैं। इसी कारण वह अचेत शिशु भी दु:ख से क्लेशित एवं सुख से मोदित होता है। फिर, यहां तो यावज्जीवन प्राणिमात्र का लक्ष्य सुख-प्राप्ति करना तथा सब प्रकार के दु:खों से छुटकारा पाना हो जाता है। 'सुखंमेभूयाद्दु:खं मे माभूत्' यही सबका जीवन-सिद्धान्त सूत्र (Motto) बन जाता है। सभी जीव जान में अथवा अनजान में सुख-लिप्सा से ही सभी प्रकार की चेष्टाएं करते दिखाई पड़ते हैं। दु:ख के प्रति विद्वेष तथा सुख के प्रति आदर सभी प्राणी का स्वभाव है, जैसा कि कहा गया है — 'सर्वे पि जीवास्तु सुखे रमन्ते सर्वे च दु:खाद् भृशमुद्विजन्ते।'[1] और यह सुख के प्रति अनुरक्ति तथा दु:ख के प्रति विरक्ति प्राणी की अहन्ता अथवा अहंतत्त्व के कारण ही होती है। इस सुखेप्सा से मानव तो क्लेशावह भी कार्यभार को सहर्ष उठाता है। यह उसकी बुद्धि-तत्त्व की विशेषता है। सभी प्राणियों की अनुकूल अनुभूति को आचार्यों ने सुख तथा प्रतिकूल अनुभूति को दु:ख कहा है।[2]

एषणात्रय: —

जीवन में इससुखदु:ख की समस्या को लेकर भारत के प्राचीन ऋषियों एवं आचार्यों ने पर्याप्त विचार किया, और यह समस्त संस्कृत वाङ्मय एक प्रकार से उसी मीमांसा का परिणामस्वरूप है। इस सुखैषणा को उन्होंने तीन प्रकार की बताया है —(१) लोकैषणा,(२) वित्तैषणा, तथा (३) पुत्रैषणा इन्हीं को दूसरे शब्दों में (१) आहारेच्छा, (२) धनेच्छा तथा (३) रतीच्छा[3] भी।

---

१. महाभारत

२. 'सर्वेषामनुकूलतया वेदनीयं सुखम्। सर्वेषां प्रतिकूलतयावेदनीयं दु:खम्।'—(तर्कसङ्ग्रह

३ आहारेच्छा धनेच्छा वा रतीच्छा पि तु वा भवेत्। — देवीभागवत

कहते हैं[१]। इन एषणाओं का आविर्भाव तो एक क्रम से ही होता है। किन्तु प्राय: सभी की सत्ता जीवन के अन्ततक बनी रहती है। सर्वप्रथम आहारैषणा आती है, जो उसी क्षण से आविर्भूत हो जाती है, जिस क्षण शिशु मातृ-कुक्षि से बाहर प्रकट होता है और फिर आमरण विद्यमान रहती है। इस एषणा की पूर्ति के लिए उसे सारे जीवन यत्न करना पड़ता है[२]। महाभारत में तो इस आहारेच्छा को त्रिवर्ग का भी मूल कहा है[३]— इसे परम तत्त्वज्ञान का भी मूलकारण कहा है[४]। इस एषणा के मूल में जन्तु की 'अहन्ता' या 'अहं स्याम्' यह वासना संस्कार रूप से अनादिकाल से बनी रहती है।

इसके पश्चात् स्फुटवाक् होने के कुछ पूर्व से ही मानवशिशुओं में परिग्रहैषणा आने लगती है। अस्फुटवाक् भी शिशु अपने खिलौनों में अपनी स्वता स्थापित करने लगता है। तिर्यग्योनि के प्राणी भी भोजन-आवासादि की व्यवस्था में अतिशय व्यापृत देखे जाते हैं तथा उसमें अपना स्वत्व अक्षुण्ण रखना चाहते हैं। यह परिग्रहेच्छा भी यावज्जीवन रहती है और मरण के कुछ पूर्व ही जाती है। किसी किसी में तो तब भी बनी रहती है। इसके मूल में 'ममता' अथवा 'बहु स्याम्' यह वासना अनादिकाल से विद्यमान रहती है।

फिर यौवन के आरम्भ होते सन्तानैषणा का आविर्भाव होता है। इसका साधन रतीच्छा होती है। सन्तानेच्छा रतीच्छा की साध्यरूपा है। यौवनोद्रेक के साथ यह इच्छा आती है और जरा-शैथिल्य के साथ मन्द हो जाती है। कुछ व्यक्तियों में तो रतीच्छा का शमन जराजीर्ण होने पर भी नहीं

---

१. 'एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणा: पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथभिक्षाचर्यं चरन्ति, या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवत:' इति — बृ०उप०३।५।१

२. 'मनुष्याणां समारम्भा: सर्वे आहार-सिद्धये' — महाभारत

३. 'विषयाश्चैवकार्त्स्न्येन सर्व आहार-सिद्धये। मूलमेतत्त्रिवर्गस्य'।

— शा०प० १२३

४- आहारार्थं समीहेत युक्तं तत्प्राणधारणम्।
तत्त्वं विमृश्यते तेन तद् विज्ञाय विमुच्यते।।

— भा०पु० ११।१८।३४

हो पाता ।[१]

पाश्चात्य मत से काम भावना की व्यापकता—

पाश्चात्य कामशास्त्रतत्त्वज्ञ फ्रायड आदि मनीषियों का मत है कि काम अथवा रतीच्छा जन्तु में जन्मक्षण से ही आविर्भूत रहती है। इसकी प्रथम अभिव्यक्ति तब होती है जब बालक तीन या चार वर्ष का होता है, और फिर धीरे-धीरे यौवनारम्भ में तो इसमें दुरोध बाढ़ आती है। शिशु में यह इच्छा मातृ-प्रेम-रूप से रहती है तथा युवा में दार-प्रेम-रूप से। इस प्रेम के अभाव में प्राणी में द्वेष, क्रोध अथवा घृणा का उदय होता है। इस प्रकार फ्रायड ने इस काम-वृत्ति अथवा रतीच्छा को अतिशय व्यापिका माना है। उन्होंने न केवल पति-पत्नी के ही बीच, अपितु माता-पुत्र, पिता-पुत्री, भाई-बहन के भी परस्पर के स्नेह-सम्बन्ध के मूल में यौन-भावना की ही अज्ञातधारा अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित बताई है। उनका कहना है कि माता पुत्र का लालन करते समय पुत्र की कामभावना को ही उद्बुद्ध करती है जिसे यौवन में पत्नी अत्यर्थ उद्दीप्त कर देती है।[२] वस्तुत: उनके मत से मनुष्य यौन-भावनाओं का एक संघात रूप ही है, तथा काम सर्वव्यापक समस्त चेष्टाओं का प्रवर्तक प्रबलतम मनोभाव है। अस्तु।

रतीच्छा के विविध रूप—

हां, तो यह रतीच्छा ही विशिष्ट रूप से काम कहलाती है। इसे कुछ विद्वानों ने परमानन्दरूप कहा है।[३] भरत ने रतीच्छा की साधनरूप स्त्रियों

---

१. इमदनुचितमक्रमश्चपुंसां यदिह जरास्वपि मान्मथा विकारा:। आदि।

२. Mother's tenderness awakens the child's sexual instinct and prepares the future intensity.
— Writings of S. Freud, contribution. I.

३. 'सर्वेषामानन्दानाम् उपस्थ एव एकायनम्'
— बृ०उप० २।४।१२

को सुख का मूल कहा है[१]— काम मनुष्येतर प्राणियों में तो मैथुनवृत्ति रूप में अत्यन्त उद्रिक्त दिखाई पड़ता है, किन्तु मनुष्यों में, बुद्धि का संयोग होने के कारण, वह स्नेह, भक्ति, वात्सल्य आदि उदात्त भावनाओं द्वारा भी अभिव्यक्त होता है। काम जब शरीर अथवा इन्द्रियों के सम्बन्ध से पृथक् मन अथवा आत्मा का विषय होता है, तो उसे प्रेम, भक्ति अथवा वात्सल्य आदि कहते हैं, और इस प्रकार के काम की प्रशंसा की जाती है। गीता में कुछ इसी प्रकार के काम के विषय में कहा गया है — 'हे भरत-श्रेष्ठ, मैं प्राणियों में धर्म-सम्मत काम हूं।'[२] वात्सल्य अथवा अपत्यस्नेह तो मानव में बुद्धि एवं सदाचार उत्पन्न करता है[३]। और जब केवल प्रजननेन्द्रिय अथवा साधारण इन्द्रिय से सम्बन्ध होता है तो इस काम को कामुकता अथवा वासना कहते हैं, और वह अत्यन्त हेय हो जाताहै, जैसा कि वही गीता कहती है—'हे महाबाहु, कामरूपी इसी दुर्धर्ष शत्रु को विनष्ट करो[४]।' और जैसा कि श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि ब्राह्मण का यह शरीर क्षुद्र काम के लिए नहीं है[५]। अपत्यस्नेह के कारण मनुष्य न केवल अपनी ही सन्तान को, अपितु अन्य प्राणियों के भी बच्चों को प्यार करता है। मनुष्य में ही नहीं, यह स्नेह तो पशु-पक्षियों में भी कभी-कभी अत्यधिक उद्रिक्त दिखाई पड़ता है और जिससे उनकी घोर हिंसामयी तामसी वृत्ति भी दब जाती है। कौवे और भेड़िये भी कभी-कभी अन्य प्राणियों के शिशुओं को पालते हुए दिखाई पड़ते हैं। किन्तु कुछ मनीषियों ने रतीच्छा

---

१. 'सुखस्य च स्त्रियो मूलम्' —ना०शा० २४।६३

२. 'धर्माविरुद्धोभूतेषु कामो स्मि भरतर्षभ।' — गीता ७।११

३. The parental instinct is the mother of both intellect and morality. — An outline of Psychology — Dougall p 134

४. 'जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्'। — गीता ३।४३

५. 'ब्राह्मणस्य स्वदेहो यं क्षुद्रकामाय नेष्यते'।

से भी प्रबल आहारेच्छा को बताया, जैसा कि इस प्रसिद्ध वाक्य से प्रमाणित होता है — 'सर्वारम्भास्तण्डुलप्रस्थमूला: ।'

भारतीय विचारधारा में सुख-कल्पना तथा चार पुरुषार्थ —

इन एषणाओं का अधिष्ठान मन होता है। वेदन अथवा अनुभूति मन की क्रिया कही गई है। अतएव सुख-दु:ख का अधिष्ठान प्राणियों का अन्त:-करण अथवा मन कहा जाता है। विना मन के संयोग के कोई व्यक्ति पांचों ज्ञानेन्द्रियों का कोई भी विषय नहीं ग्रहण कर सकता है।[1] 'वस्तुतस्तु यह सुख तथा दु:ख नाम मनोगत अनुभूति-विशेष के ही लिए उपयुक्त हैं। बाह्य-जगत् में न तो ऐसी कोई वस्तु है अथवा न कोई ऐसा कर्म ही है जिसे सुखमय अथवा दु:खमय कहा जा सकता है। जिस वस्तु अथवा कर्म में मन को जैसी अनु-भूति होती है, वह उसी रूप में सुखमय अथवा दु:खमय समझ पड़ती है। इस मनोऽनुभूति के पीछे भी एक बड़ा आत्म-प्रेम का बीज प्रच्छन्न रहता है। सभी जीवों को अपनी आत्मा प्रियतम होती है। इसी के लिए अन्य सभी वस्तुएं प्रिय लगती हैं[2]— बुद्धिशील प्राणी होने के कारण मनुष्य ने इतना विशेष किया है कि अपने सुख के क्षेत्र को बुद्धि से विचार कर कुछ विस्तृत कर रक्खा है। अन्य प्राणियों के लिए केवल विषयेन्द्रिय-संयोग ही सुखद होता है। किन्तु मनुष्य की सुखभावना का क्षेत्र उससे भी कहीं अधिक विस्तृत हो गया है। साक्षात् इन्द्रियभोग के अतिरिक्त भी उसे सुख अथवा आनन्द मिलता है। काम के अतिरिक्त तीन और विषय हैं जिनकी प्राप्ति के लिए वह प्रयत्न करता है तथा प्राप्त कर सुखी तथा आनन्दित होता है। पुरुष द्वारा अर्थित अथवा आकाङ्क्षित होने के कारण काम की भांति उन तीनों को भी पुरुषार्थ कहते हैं। इस प्रकार मनुष्य के सुख अथवा आनन्द के विषय चार हो जाते हैं, जिन्हें चार पुरुषार्थ कहते हैं —१—धर्म, २—अर्थ, ३—काम, तथा ४—मोक्ष। इन चारों पर एक साथ दृष्टि डालने से पता चलता है कि सुखभावना से उन्हें

---

१. न वैक्लिव्यमना: किंचिद् विषयं पञ्चहेतुकम् -- नां०शा० २४।८२
२. आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति – बृ०उ० २।४।५

दो वर्गों में बांटा जा सकता है — १. अभ्युदय रूप तथा २. नि:श्रेयस रूप । एतन्मूलक ही भारतीयों की सुखकल्पना दो प्रकार की हुई — १. प्रवृत्तिमूला अभ्युदय-रूपा तथा २. निवृत्तिमूला नि.श्रेयसरूपा । इनमें प्रथम वर्ग में धर्म, अर्थ तथा काम सम्बन्धी सिद्धियां आती हैं, जो अभ्युदयरूप होती हैं । इस प्रकार के सुख एवं सिद्धि के लिए ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थ नामक जीवन के पूर्वार्ध मे पड़ने वाले दो आश्रम नियत किये गये हैं । द्वितीय वर्ग में मोक्ष आता है, जो नि:श्रेयसरूप है । इसकी साधना के लिए वानप्रस्थ एवं सन्यास नामक जीवन के उत्तरार्द्ध में पड़ने वाले दो आश्रम नियत किये गये हैं । प्रथम दो आश्रम प्रवृत्ति-रूप तथा बाद के दो निवृत्तिरूप हैं । और सारी प्रवृत्ति का भी साध्य निवृत्ति ही है । अतएव मोक्ष को नि:श्रेयस कहा भी जाता है । यह मोक्ष विगतकाम व्यक्ति का सुख-दु:ख के अभिसम्बन्ध से तथा पुण्यापुण्य कर्म के बन्धन से मुक्तिरूप माना गया है । यह ऐसी आत्मस्थिति है जिसमें इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि का पूर्ण संयम रहता है —जैसा कि गीता कहती है — 'मोक्षपरायण मुनि इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि को संयत करके इच्छा, भय एवं क्रोध से रहित होकर मुक्त हो जाता है ।'[1] इसी आत्मस्थिति अथवा आत्मदर्शन को प्राप्त करना ही जीवन का परम लक्ष्य कहा गया है । इसके दर्शन पा जाने पर फिर मानो सब कुछ मिल जाता है[2]। याज्ञवल्क्य — स्मृति भी कहती है — कि मनुष्य का परमधर्म यही है कि योगसाधना द्वारा आत्मदर्शन करे ।[3]

पुरुषार्थचतुष्टय में कामपुरुषार्थ का वैशिष्ट्य —

इन चारों पुरुषार्थों पर प्राचीन मनीषियों ने पर्याप्त विचार

---

१. यतेन्द्रियमनोबुद्धि मुनिर्मोक्षपरायण: ।
विगतेच्छाभयक्रोधो य: सदा मुक्त एव स: ।।
—गीता ५।२८

२. आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ।
— बृ०उप०२।४।५

३. अयं तु परमोधर्म: यद् योगेनात्मदर्शनम् । — आचाराध्याय,उपोद्घात, श्लोक ८

किया है । सारा भारतीय वाङ्मय ही इन्हीं चार विषयों में विभक्त है । भारतीय जीवन में इनका अतिशय महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है । जीवन को सर्वथा पूर्ण एवं सुख-सम्पन्न बनाने के लिए धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष — इन चारों की साधना करनी परम आवश्यक है, तभी वह पूर्णता मिल सकती है । इन चारों में भी अर्थ पुरुषार्थ धर्म एवं काम पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए साधन-रूप है । अर्थ से धर्म भी सिद्ध होता है और काम भी । यह धर्म अर्थ का तो साध्य है, किन्तु काम का स्वयं भी साधनभूत है । अर्थात् धर्माचरण भी काम-प्राप्ति के लिए होता है । इस प्रकार यह कामपुरुष सुख ,धर्म और अर्थ दोनों का साध्य है । इस प्रकार त्रिवर्ग की व्यवस्था की जाती है । किन्तु उपनिषदों के मत से परमसुख का अथवा सुख का पर्याय मोक्ष ही है और वही धर्म, अर्थ, काम-तीनों का साध्य है । जन्ममरण के बन्धन से मुक्तिरूप, परमानन्द-पर्याय यह मोक्ष-रूप पुरुषार्थ स्वात्म में परमात्मसत्ता की अनुभूति से ही मिलता है, जैसा कि श्रुति कहती है –"वह (ब्रह्म) रस रूप है । रस को ही प्राप्त कर प्राणी आनन्दित होता है ।"[1] गीता भी कहती है –"ब्रह्मज्ञानी की स्थिति ब्रह्म में ही रहती है ।"[2] उस आनन्द को पाकर पुरुष फिर कोई सुखान्तर नहीं चाहता । तब वह सर्वथा कामरहित (शिव) हो जाता है , जैसी कि उपनिषद् की घोषणा है –"जब मनुष्य के हृदय में स्थित सभी काम विगत हो जाते हैं तो वह अमृत हो जाता है और यहीं ब्रह्म प्राप्त कर लेता है ।"[3]

कामकी सर्वसुलभता—

सकाम रहना काम से हत होना है । अकामहत ही परमानन्द है । अन्य प्रकार के सुख अथवा आनन्द इसकी मात्रा या कला ही प्राप्त कर पाते हैं[4]।

---

१. रसो वै स: । रसंह्येवायंलब्ध्वाऽऽनन्दी भवति । –तै०उ०,ब्र०व०,अनु० ७

२. ब्रह्मविद् ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थित:— गीता, ५।२० .

३. यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामायेऽस्यहृदि स्थिता:
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्रब्रह्म समश्नुते ।। — बृ०उ० ४।४।७

४. यश्च अकामहत: एष एव परम आनन्द:, एको दृष्टा अद्वैतो भवति,एतस्यैवानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति । — साइंस आफ इमोशन्स में उद्धृत ।

आत्मदर्शन का अर्थ ही होता है परमानन्द-रूप परमात्मा की सत्ता का अपने में भान होना, अथवा आत्मा परमात्मा में ऐक्य की अनुभूति करना। फिर तो वहां न कोई शोक (रजोगुण) है, न कोई मोह (तमोगुण)। वह शुद्ध सत्त्वमयी स्थिति ही आनन्द प्रकाशमयी स्थिति कहलाती है। उसी को मोक्ष कहते हैं - 'जिसको सब कुछ आत्मरूप ही दिखाई पड़ता है, उस ऐक्य-द्रष्टा को क्या मोह और क्या शोक'[१]? किन्तु देखा यह जाता है कि सर्वसाधारण न इस सुख के लिए प्रयत्न करते हैं, और न यह उन्हें सुलभ ही हो पाता है। फलत: प्राय: समाज धर्म-अर्थ-काम अथवा अर्थ-काम अथवा केवल काम में ही लीन या सचेष्ट रहता है। ऐसी परिस्थिति में, इन्हीं तीनों का ही सन्तुलित उपयोग जीवन की सफलता मानी जाती है। इसमें भी सबका साध्य एवं सब को सुखद और सुलभ होने के कारण कामका दुरुपयोग होना अत्यधिक सम्भव होता है। अत: आचार्यों ने काम के वास्तविक स्वरूप एवं समुचित उपयोग के लिए अनेक ग्रन्थ बनाये।

कामपुरुषार्थ विवेचक आचार्य मल्लनागवात्स्यायन तथा उनका कामसूत्र-

उनमें एक आचार्य मल्लनाग वात्स्यायन थे। वात्स्यायन उनका गोत्र नाम समझ पड़ता है। उन्होंने लोककल्याण के लिए अपने कामसूत्रों का विवरण किया। उनका कहना है कि मनुष्य शतायु माना गया है। उसे अपनी आयु को चार भागों में बांट कर त्रिवर्ग का सेवन (उपभोग) करना चाहिए। ये त्रिवर्ग परस्पर अनुबद्ध हों तथा परस्पर उपघातक (बाधक) भी न हों[२]। फिर भी उन्होंने वय:क्रम से इन पुरुषार्थों के उपभोग का उपदेश किया - बाल्य-काल में विद्याध्ययनादि रूप अर्थ, यौवन में काम, स्थविर अवस्था में धर्म तथा मोक्ष का सेवन करे।[३] किन्तु आयुकी शतवर्षिता निश्चित न होने के कारण ....

---

१. यस्मिन् सर्वाणिभूतान्यत्मैवाभूद्विजानत:
तत्रको मोह: क: शोक: एकत्वमनुपश्यत: - ई०उप०

२. 'शतायुर्वै पुरुषो विभज्य कालमन्योन्यानुबद्धं परस्परस्यनुपघातकं त्रिवर्गं सेवेत।
--काम सू० १।२।१-४

३. बाल्ये विद्याग्रहणादीन् अर्थान्। कामंयौवने। (स्थविरे धर्मं मोक्षं चेति)
-का०सू० १।२।२-४

वात्स्यायन ने यह भी कहा कि जब जो बन पड़े तब उसका सेवन[१] करे (किन्तु सन्तुलन सब का रक्खे ।) इस प्रकार बाल्यकाल में भी अर्थ के साथ धर्मार्जन करना उचित है, यौवन में काम के साथ धर्मार्थ का तथा स्थविर वय में धर्म के साथ यथाशक्ति अर्थकाम का भी अर्जन किया जा सकता है। किन्तु इसी प्रसंग में वात्स्यायन ने इस बात पर भी बल देकर कहा है कि विद्याग्रहण तक तो ब्रह्मचर्य आश्रम का ही जीवन बिताना चाहिए[२]- इस विषय में अर्थशास्त्र के मनीषी कौटिल्य का भी कहना है कि विद्या एवं विनय का हेतु इन्द्रिय-जय होता है। उसका काम, क्रोध, लोभ, मान, मद तथा हर्ष के त्याग से अभ्यास किया जाता है। इसे अरिषड्वर्ग कहते हैं। इनके त्याग से कान, त्वक् आंख, जिह्वा, नाक—इन पांच ज्ञानेन्द्रियों के क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन पांच विषयों में जो अविप्रतिपत्ति हो, उसे इन्द्रिय-जय कहते हैं, अथवा शास्त्रोक्त प्रकार से भी इनका सेवन इन्द्रियजय रूप है।[३]

त्रिवर्ग में काम का विशिष्ट महत्त्व—

किन्तु इस बात पर सभी आचार्यों का प्रायः ऐकमत्य है कि त्रिवर्ग का समान रूप से ही उपयोग करना चाहिए। क्या धर्मशास्त्रकार, क्या अर्थशास्त्रकार, और क्या कामशास्त्रकार इसमें किसी की विप्रतिपत्ति नहीं है। जैसे—स्वयं मनु का वचन है - धर्म, काम तथा अर्थ तीनों की चिन्ता करनी चाहिए[४]।

---

१. अनित्यत्वादायुषो यथोपपादं वा सेवेत। का०सू० १।२।५

२. ब्रह्मचर्यमेव त्वाविद्याग्रहणात् - का०सू०१।२।६

३. विद्याविनयहेतुरिन्द्रियजयः कामक्रोधलोभमानमदहर्षत्यागात् कार्यः। कर्णत्वगक्षिजिह्वाघ्राणेन्द्रियाणां ~~कामक्रोधलोभमानमदहर्षत्यागात् कार्यः~~ शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेष्वविप्रतिपत्तिरिन्द्रियजयः शास्त्रानुष्ठानं वेति -कौ०अ० १।३।६ तथा तस्मादरिषड्वर्गत्यागेनेन्द्रियजयं कुर्वीत -- कौ०अ० १।३।७

४. चिन्तयेद्धर्मकामार्थान् - म०स्मृ० ७।१५१

इसी प्रकार महामति कौटिल्य का उद्घोष है - 'धर्म और अर्थ से सम्मत काम का सेवन करना चाहिए । सुख-रहित नहीं रहना चाहिए । त्रिवर्ग का परस्पर समान अनुपात रहना चाहिए । किसी एक का अतिशय सेवन अपनी तथा अन्य दो की हानि करता है[१]।' आदि कवि ने भी मर्यादापुरुषोत्तम के मुख से समान रूप से त्रिवर्गसाधनका उपदेश भरत के लिए दिलवाया है -- ' हे भरत कहीं अर्थ से धर्म को या धर्म से अर्थ को अथवा फिर काम से धर्म, अर्थ दोनों को पीड़ित तो नहीं करते हो । अर्थ, काम एवं धर्म का सम्यक् काल विभाग करके सेवन तो करते हो न[२]।'

मनु ने इन्द्रियसंयम को केवल विद्याध्ययन का ही नहीं अपितु सभी अर्थों अर्थात् पुरुषार्थों का साधक बताया है -- ' इन्द्रियों को वश में करके तथा मन को संयत करके मनुष्य को अपने सभी प्रयोजनों को सिद्ध करना चाहिए[३]।' और सभी इन्द्रियों के वश में रहने पर भी यदि एक भी च्युत हुई तो उसके साथ मनुष्य की बुद्धि भी च्युत हो जाती है।[४] सुख-साधक पुरुष को चाहिए कि वह इन्द्रियों का संयम पहले करे[६]। यहां पर भी सिद्धि का अर्थ पुरुषार्थ-सिद्धि ही है ।

---

१. धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत । न निस्सुखः स्यात् । समं वा त्रिवर्गमन्योन्यानुबन्धम् । एको ह्यत्यासेवितो धर्मार्थकामानामात्मानमितरौ च पीडयति । -कौ०अ०

२. कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः ।
उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबाधसे ।।
कच्चिदर्थं च कामं च धर्मं च जयतां वर ।
विभज्य काले कालज्ञ सर्वान् वरदसेवसे ।।

-- वा०रा०, अयो०का० १००।६२-६३

३. वशेकृत्वेन्द्रिय-ग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ।। -म०स्मृ० २।१००

४. इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तदस्य हरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ।। -म०स्मृ० २।९९

५- संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ।

किन्तु इन्द्रियजय की इतनी प्रशंसा करते हुए भी, पुरुषार्थचतुष्टय का उसे प्रधान साधन बताते हुए भी, हविष् डालने से अग्नि की भांति कामोपभोग से कामशान्ति को असम्भव बताते हुए भी, तथा काम-प्राप्ति की अपेक्षा काम-त्याग की प्रशंसा करते हुए भी मनु आदि धर्मशास्त्र के आचार्यों ने अकामता अथवा कामहीनता की कभी प्रशंसा नहीं की है । उनका कहना है कि काम, संकल्पमूलक है, यज्ञ, व्रत, यम, धर्म आदि का मूल अथवा प्रेरक है । यहां पुरुष जो कुछ ऐहिक अथवा आमुष्मिक क्रिया करता है वह सब कामकारित ही होता है[१]। क्योंकि जो अकामव्यक्ति है, वह कोई चेष्टा ही नहीं करेगा[२] । मन की सर्वप्रथम सन्तान काम ही है । मन से सर्वप्रथम काम ही तो उत्पन्न होता है[३] । अतएव काम को मनोज कहा जाता है । जीवन समस्त रूप से कामसंचालित ही होता है । अतएव उपनिषद् में पुरुष (आत्मा) को काम का संघात कहा गया है[४] । सृष्टि के आरम्भ में वह एकाकी था, उसकी प्रथम कामना स्त्री के लिए हुई[५] । अकेले में उसको आनन्द नहीं मिलता था । अकेले सुख मिलता भी नहीं । अत: उसने अपने ही दो रूप किए – पति और पत्नी[६] । इस प्रकार वस्तुत: पुरुष-स्त्री एक दूसरे के पूरक होते हैं – मानों दो आत्माएं एक दूसरे की खोज में हों । अत: यह सत्य . .

---

१. अथो खल्वाहु:काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामोभवति तत्क्रतुर्भवति
यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते – बृ० उ० ४।४।५

२. अकामस्यक्रियाकाचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ,
यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्यचेष्टितम् ।।
– म०स्मृ० २।४

३. कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत: प्रथमं यदासीत् । – ऋग्वेद ५।१०

४. य एवायं काममय: पुरुष: स एष:
– बृ०उप० १।४।१७

५. आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सो कामयत जाया मे स्यात्
– बृ०उप० १।४।७

६. सवै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते सद्वितीयमैच्छत् स हैतावानास यथा स्त्री-पुमांसौ सम्परिष्वक्तौ , इममेवात्मानं द्वेधा पातयात्तत: स हैतावानाः पतिश्च-पत्नीचाभवताम् ।
– बृ०उप० १।४।३

है कि मनुष्य ही नहीं, सम्पूर्ण चराचरजगत् काममूलक है । यह सारी सृष्टि-रचना ही परमपुरुष की संकल्पात्मिका अथवा कामात्मिका है । जब उसे इच्छा हुई कि 'मैं बहुत होऊं'[१] तभी यह चराचरत्मक स्थूल एवं सूक्ष्म जगत् प्रादुर्भूत हुआ । अतएव यह कहना अनुचित नहीं कि सृष्टि के मूल में ही काम है ।

पुरुष और प्रकृति के संयोग से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है । परमेश्वर अपनी योनिभूत प्रकृति में सभी भूतों (प्राणियों) के प्रजनन के लिए गर्भ का आधान करता है । इस प्रकार मनुष्यादि योनियों में जो मूर्तियां उत्पन्न होती हैं प्रकृति उनकी मातृस्थानीया है तथा परमेश्वर बीजप्रद गर्भाधानादिकर्ता पितृ-स्थानीय[२] है । इस प्रकार प्राणियों में यह दाम्पत्यसम्बन्ध पुरुष-प्रकृति का प्रतिकरूप ही है । इसीलिए कहा गया है — 'सभी पुरुष शङ्कर रूप हैं तथा सभी स्त्रियां पार्वती रूप[३] । यह संकल्पमूलक काम पुरुषों में सर्वमय कहा गया है — इसी से सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं, काम से बढ़ते हैं तथा अन्त में काम में लीन हो जाते हैं ।[४] ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश ये काम की ही तीन मूर्त्तियां कहे गये हैं ।[५] महाभारत में भी इस संकल्पात्मक काम को सनातन जगत्पति, सर्वज्ञ तथा सब प्राणियों के हृदय में स्थित रुद्र से भी ज्येष्ठ कहा गया है ।[६] यहां तक कि जो ब्रह्म रूप परम, दिव्य, अमृत आनन्द है, जिसे

---

१. सो कामयत बहुस्यां प्रजायेय ...... ।

२. मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।।
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।। — गीता १४।१३-१४

३. शङ्करः पुरुषाः सर्वे स्त्रियः सर्वा महेश्वरी । — शि०पु०धर्म० सं० ८

४. कामः सर्वमयः पुंसां स्वसंकल्पसमुद्भवः ।
कामात्सर्वे प्रवर्तन्ते लीयन्ते वृद्धिमागताः ।। — शि०पु०, धर्म, सं० अ० ८

५. कामस्यैषा हि सा मूर्तिः ब्रह्मविष्ण्वीश्वरात्मिका । वही, सं०अ० ८

६. सनातनो हि संकल्पः काम इत्यभिधीयते ।
संकल्पाभिरुचिः कामः सनातनतमो भवत् ।।
जगत्पतिरनिर्देश्यः सर्वगः सर्वभावनः ।
हृच्छयः सर्वभूतानां ज्येष्ठो रुद्रादपि प्रभुः ।। — म०भा०, अनु०प०

परमात्मा भी कहते हैं, वह भी काम का ही विकार अथवा रूपान्तर है।[१] इसी प्रकार भागवत पुराण में भी पुरुषार्थचतुष्टय को भी वस्तुत: कामचतुष्टय ही कहा है[२]। भरत मुनि ने भी धर्म, अर्थ, तथा मोक्ष को भी काम का ही विषय अथवा विकार कहा है[३]—कामसूत्र की जयमङ्गला टीका के प्रारम्भ में मङ्गलाचरणरूप में यशोधर ने धमार्थकाममोक्ष रूप वाले काम को नमोवचन कहा है।[४] इससे यह निष्कर्ष निकला कि धर्माचरण, अर्थोपार्जन, कामसेवन तथा मुमुक्षा के मूल में क्रमश: धर्मकामता, अर्थकामता, काम-कामता, तथा मोक्षकामता ही रहती है—अर्थात् धमार्थकाममोक्ष-चारों काममूलक ही है। अतएव महाभारत में एक स्थान पर काम ने धर्म, अर्थ, काम की अवहेलना कर मोक्ष की कामना से प्रयत्नकरने वाले व्यक्ति की मुधा चेष्टा का बड़ा उपहास किया है, क्योंकि तीन न सही चौथी मोक्ष-रति तो उसमें है ही, फिर कामहनन कैसे हुआ।[५] शान्ति पर्व में तो धर्म तथा अर्थ से काम की श्रेष्ठता बताते हुए कहा गया है कि जैसे पेड़ में पुष्प एवं फल उसके काष्ठ से श्रेष्ठ होते हैं, वैसे ही कामपुरुषार्थ धर्म, अर्थ दोनों से श्रेष्ठ है, तथा उन दोनों में भी व्याप्त रहता है।[६] अतएव

---

१. आनन्दममृतं दिव्यं परं ब्रह्मतदुच्यते।
परमात्मेति चाप्युक्तं विकारा:कामसंज्ञिता:।।
— शि०पु०, ध०सं०अ० ८

२. यं धर्मकामार्थविमुक्तिकामा: भजन्त इष्टां गतिमाप्नुवन्ति।
— स्कन्ध ८, गजेन्द्रस्तव।

३. धर्मकामो र्थकामश्च मोक्षकामस्तथैव च।
स्त्रीपुंसयोस्तु संयोगो य:काम:सतुसंस्मृत:।।
— ना०शा० २४।६१

४. नमो धमार्थकामेभ्यस्तत्कामेभ्यो नमोनम:।
त्रिवर्गमोक्षकामेभ्यो,कामेभ्यस्त्वमितं नम:।।—

५. यो मां [illegible] मोक्षमास्थायपण्डित:।
तस्यमोक्षरतिस्थस्य नृत्यामिच हसामि च।। —. म०भा०,आश्व०प० १८-१

६. श्रेय:पुष्पफलं काष्ठात् कामोधमार्थयोर्वर:।
कामो धमार्थयोर्योनि:कामश्चाथ तदात्मक:।।—साइंस आफ इमोशंस में उद्धृत।

गीता में मोक्षप्रवणता को आत्मरति अथवा आत्मकाम नाम ही दिया गया है, जिसके होने पर फिर कोई कार्यान्तर शेष नहीं रहता। उसे परम काम अथवा परम रति संज्ञा दी गयी है[१]।

जैसे प्रिय स्त्री से संपरिष्वक्त होकर पुरुष को आनन्दातिरेक में न कुछ बाहर का ज्ञान रहता है न भीतर का, उसी प्रकार पुरुष को प्राज्ञ आत्मस्वरूप से सम्परिष्वक्त होने पर फिर न कुछ अन्य बाह्य ज्ञान रहता है न आभ्यन्तर। वह उसका आप्तकाम अथवा अकाम स्वरूप होता है[२]। अस्तु! तो इससे यह सिद्ध होता है कि जो कुछ इस स्थावरजङ्गमात्मक जगत् का आभ्यन्तर या बाह्य, ऐहिक या आमुष्मिक कार्यजात है वह सब काममूलक ही है। यह तो भारतीय विचारधारा के अनुसार हुआ। पाश्चात्यों का तो कहना ही क्या? वहां तो काम की प्रभविष्णुता प्राय: निर्विवाद रूप में स्वीकृत है — "सभी विचार, सभी भाव, सभी हर्ष, जो प्राणी को स्पन्दित करते हैं, प्रेम अथवा काम के सहायक रूप हैं और उसकी पावन ज्वाला को उद्दीप्त किया करते हैं"।[३]

समस्तजीवन-चेष्टाओं के मूल राग और द्वेष—

इस सारी समस्या पर एक अन्य दृष्टि से भी विचार किया गया है। प्राणियों की कर्म प्रवृत्ति के मूल में दो भाव होते हैं— १. राग तथा २. द्वेष।

---

१. यस्त्वात्मरतिरेवस्यादात्मतृप्तश्च मानव:।
आत्मन्येवचसन्तुष्टस्तस्यकार्यं न विद्यते ॥ —गीता ३।१७

२. यथा प्रिययास्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेदनान्तरमेवायं पुरुष: प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं तद्वा अस्यैतदात्मकाममाप्तकाममकामं रूपम्। — बृ०उ० ४।३। २१

३. All thoughts, all passions, all delights,
Whatever stirs this mortal frame,
All are but ministers of love
And feed his sacred flame.
— Coleridge

कहीं वह राग के कारण प्रवृत्त होता है तो कहीं से द्वेष के कारण निवृत्त होता है, अथवा विमुख होता है। मन से या इन्द्रियों (शरीर) से जो कुछ भी कार्य किया जाता है उसके मूल में प्रेरकरूप से राग या द्वेष अवश्य रहता है। अनुकूल विषयों के प्रति राग होता है तथा प्रतिकूल विषयों के प्रति द्वेष होता है, और तदनुरूप ही प्रवृत्ति या निवृत्ति होती है। यही प्राणियों का स्वभाव है। अतएव गीता कहती है – 'प्रत्येक इन्द्रिय का अपने विषय के प्रति राग या द्वेष व्यवस्थित रहता है।'[१] जो वस्तु अपने को रुची, उसमें राग होता है, उसका संयोग, चाहिए, और उसी का अन्त में उपादान किया जाता है, तथा जिससे द्वेष हुआ, उससे दूर भागना होता है, और अन्त में उसका हान (त्याग) किया जाता है। सभी मनोविकारों के ये राग-द्वेष कैसे प्रवर्तक होते हैं, इसका अग्रिम अध्याय में सविस्तर विवेचन किया जायगा। यहां इतना ही कहना है कि आत्मप्रिय वस्तु में, राग तथा आत्माप्रिय वस्तु में द्वेष होता है। ये ही राग-द्वेष सुख-दु:ख के पर्याय हैं। राग के कारण जो सुख की अनुभूति होती है उसमें प्राणी अपना विकास या विस्तार अनुभव करता है, अपने को कुछ अधिक समझता है तथा अन्यों से अपने को बढ़ कर मानता है। यह तो इसी अध्याय में बता चुके हैं कि कुछ पाश्चात्य विद्वानों के मतों से सभी मनोभावों के मूल में एक राग या प्रेम भाव ही रहता है। यही राग प्राणियों में अहन्ता, ममता, आत्मीयता, आदि रूप से उनको विविध चेष्टाओं में प्रवृत्त करता है, जो वस्तुत: इसी राग के क्रिया रूपी विकार हैं। यही राग पिता आदि गुरुओं के प्रति भक्ति-रूप में, दार आदि के प्रति प्रेम-रूप में तथा पुत्रादि के प्रति वात्सल्यरूप में अभिव्यक्त होता है। उन विद्वानों के मत से द्वेष नामक किसी मनो-भाव की अलग से सत्ता ही नहीं होती। वह तो केवल राग का अभावरूप है।[२] गीता में भी द्वेष या क्रोध को काम

---

१. इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे राग-द्वेषौव्यवस्थितौ — गीता ३।३४

२. ओरिजिन आफ लव एण्ड हेट, अध्याय ४

से पृथक् नहीं कहा गया है, अपितु वही काम विघ्नित अथवा प्रतिहत होने पर क्रोधरूप में परिणत होता कहा गया है — अर्थात् क्रोध काम का परिणाम अथवा कामजन्य है। और काम रजोगुणमूलक अर्थात् रागमूलक है यह तो भूयोभूय: उद्घोषित है ही[१]। और यही राग या संयोगेच्छा या प्रेप्सा जीवन के मूल में मानी गयी है। वस्तुत: ~~जैसा~~ कुछ विद्वानों ने इस संयोगेच्छा को अपूर्ण जन्तु की पूर्णत्व प्राप्त करने की इच्छा बताया है। इसी को काम कहते हैं। क्या इसी को फ्रायड आदि ने स्त्री-पुरुष की 'यौनसम्बन्धभावना', आडलर आदि ने हीनतापूर्ति की भावना, युङ्ग आदि ने 'स्वत्वरक्षाकी — भावना' आदि नाम दिये हैं? यदि विचार से देखें तो पूर्वोक्त इन तीनों मतों में पूर्णता की प्रेप्सा ही समानरूप से अन्तर्निहित है। अस्तु।

पुरुषार्थ-चतुष्टय के लक्षण एवं स्वरूप—

अब देखना है कि आचार्यों ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष —इन चारों पुरुषार्थों का क्या लक्षण एवं स्वरूप बताया है, जिनमें इतना प्राधान्य तथा मूलत्व इस काम को दिया गया है। धर्म का इनमें प्रथम स्थान है। यज्ञादि उचित कार्यों का शास्त्र-सम्मत अनुष्ठान तथा मांसभक्षणादि अनुचित कार्यों का शास्त्रानुसार ही वर्जन धर्म कहलाता है। दूसरे शब्दों में, शास्त्रानुसार प्रवृत्तिनिवृत्ति अथवा विधिनिषेध को धर्म कहते हैं[२] — इस प्रकार के धर्म का ज्ञान अथवा लाभ श्रुति, स्मृति आदि धर्म ग्रन्थों के अवधारण से तथा उनके तत्त्वज्ञों के संसर्ग से प्राप्त होता है।[३]

---

१. कामएष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव: — गीता ३।३७

२. अलौकिकत्वाददृष्टार्थत्वादप्रवृत्तानां यज्ञादीनांशास्त्रात्प्रवर्तनं, लौकिकत्वाद् दृष्टार्थत्वाच्च प्रवृत्तेभ्यश्च मांसभक्षणादिभ्य: शास्त्रादेव निवारणं धर्म:।
—का०सू०, १।२।७

३. तं श्रुतेर्धर्मज्ञसमवायाच्च प्रतिपद्यते। — का०सू०, १।२।८

अर्थ-पुरुषार्थ भौतिक वस्तुओं अर्थात् विद्या, धन, धान्य, मित्र आदि का अर्जन, रक्षण तथा वर्धन कहलाता है[१]। अर्थ में पटुता अर्थशास्त्र के ग्रन्थों तथा उन-उन विभिन्न विषयों के रहस्यवेदियों से प्राप्त होती है।[२]

सामान्य भाषा में काम पुरुषार्थ स्त्री-पुरुष के परस्पर स्नेह को कहते हैं।[३] किन्तु शास्त्रीय ढंग से इसकी परिभाषा अन्य प्रकार से भी की जाती है। इन्द्रियों का अपने विषयों के प्रति अभिलाष अथवा इच्छा को काम कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है — १. सामान्य और २. विशेष। सामान्य काम वह है जिसमें आत्मसम्मत मन से अधिष्ठित अथवा सर्वात्मना मन-सहित श्रोत्रत्वक् आदि इन्द्रियों का शब्द स्पर्श आदि विषयों में अनुकूलता के साथ प्रवृत्ति होती है[४]- इसमें काम का भोक्ता भी पर्यन्तत: आत्मा को कहा गया है, जैसा कि गीता कहती है — 'यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना, घ्राण तथा मन का आश्रय करके अर्थात् इन सबके सहारे से विषयों का उपभोग करता है।'[५] यही सामान्य काम प्राणी के मन में सर्वप्रथम उदित होता है — इसी के लिए श्रुति का कहना है — 'मन में सर्वप्रथम काम का बीजाङ्कुर हुआ'[६]।

---

१. विद्याभूमिहिरण्यपशुधान्यभाण्डोपस्करमित्रादीना मर्जनमर्जितस्य विवर्धनमर्थ: ।
— का०सू०१।२।९

२. 'तमध्यक्षप्रचाराद् वार्तासमयविद्भ्यो वणिग्भ्यश्चेति ।'
— का०सू०, १।२।१०

३. स्त्रीष्वजातौमनुष्याणां स्त्रीणां च पुरुषेषुवा
परस्परकृत: स्नेह: कामइत्यभिधीयते ।। — शार्ङ्गधर १।६

४. श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानामात्मसंयुक्तेन मनसा धिष्ठितानां स्वेषुविषये-ष्वानुकूल्यत: प्रवृत्ति: काम: । — का०सू०१।२।११

५. श्रोत्रंचक्षु:स्पर्शनंच रसनंघ्राणमेवच ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ।। — १५।८

६. 'कामस्तदग्रेसमवर्तताधि मनसोरेत: प्रथमं यदासीत् ।' — ऋ०वे०

इसी काम को साधारण भाषा में `कामना` कहते हैं ।

और विशेष काम वह है जो स्त्री-पुरुष के परस्पर स्पर्श-विशेष से उत्पन्न आभिमानिक सुख-बोध रूप होता है[१]।

काम का अधिष्ठान मन —

काम का अधिष्ठान मन कहा गया है । अतएव श्रुति का कहना है कि — काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय ये सब मन के ही रूप हैं[२]। गीता में तो काम का अधिष्ठान इन्द्रिय, मन और बुद्धि—तीनों को बताया गया है — `इन्द्रियां, मन और बुद्धि इस काम के वास-स्थान कहे जाते हैं । इनके द्वारा ही यह ज्ञान को आच्छादित कर इस जीवात्मा को मोहित करता है।`[३] देखना सुनना आदि इन्द्रियों का कार्य है, संकल्प-विकल्प आदि मन का कार्य है तथा अध्यवसाय बुद्धि का कार्य है । यह काम विषय के दर्शन श्रवणादि से, संकल्प से तथा अध्यवसाय से आविर्भूत होता है, अत: इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि तीनों इसके अधिष्ठान कहे गये हैं । इन तीनों में अधिष्ठित होकर काम मनुष्य के विवेक-ज्ञान पर आक्रमण करता है[४]।—

---

१. स्पर्शविशेषविषये त्वस्याभिमानिकसुखानुविद्धाफलवत्यर्थप्रतीति: प्राधान्यात् काम: । —का०सू०, १।२।१२

२. काम: संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृति र्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव । गीता के १३।६ की व्याख्या में श्रीधर— द्वारा उल्लिखित ।

३. इन्द्रियाणिमनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्यदेहिनम् ।।
—गीता , ३।४०

४. `विषयदर्शनश्रवणादिभि:संकल्पेनाध्यवसायेन च कामस्याविर्भावादिन्द्रियाणिच मनश्च बुद्धिश्चास्याधिष्ठानमुच्यते । एतै रिन्द्रियादिभिर्दर्शनादिव्यापारवद्भिराश्रयभूतैर्विवेकज्ञानामावृत्य देहिनं विमोहयति ।` — गीता(श्रीधरव्याख्या) ३।४०

कामशास्त्र की आवश्यकता—

इस कामपुरुषार्थ का विशिष्ट ज्ञान कामसूत्र आदि ग्रन्थों अथवा उन शास्त्रों के विशेषज्ञ नागरिकों से होता है।[१] यद्यपि धर्म तथा अर्थ के उपदेश के लिये तो शास्त्र की अपेक्षा होती है, किन्तु काम के लिए, स्वभावसिद्ध होने के कारण, कोई शास्त्र न चाहिए। स्वकान्तारमण में मृगपक्षियों का कौन गुरु होता है[२]। वस्तुत: न्याय-सिद्धान्तानुसार आत्मारूपी द्रव्य में इच्छा, द्वेष आदि गुण सदैव विद्यमान रहते ही हैं[३]। अत: इच्छामूलक काम का वहां नित्य निवास स्वयंसिद्ध हुआ। अतएव प्राणियों की बुद्धि स्वभाव से ही विषयेच्छानुवर्तिनी होती है[४]। किन्तु मनुष्य एकबुद्धियुक्त सामाजिक प्राणी है। वह केवल पशुवृत्ति से ऐन्द्रियसुख नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा करने में उसके समाज के ही विशृङ्खल हो जाने का डर है। अत: जैसे वह धर्म की पृष्ठभूमि पर अर्थोपार्जन करता है, उसी प्रकार कामोपभोग भी धर्म के साथ ही करना चाहता है। अतएव पद्मपुराण का कहना है कि —'मनीषियों ने शास्त्रों में इस प्रकार निर्णय किया है कि धर्म से अर्थसिद्ध होता है, अर्थ से काम तथा काम से धर्मफल का उदय होता है[५]।' और मनुस्मृति, श्रीमद्भागवत आदि में इसीलिए प्राणियों की बुद्धि पर कामविषय में नियन्त्रण आवश्यक बताया गया है —' उनमें प्रवृत्ति तो प्राणियों का सहज स्वभाव है, अभीष्ट-

---

१. 'तं कामसूत्रान्नागरिकजनसमवायाच्च प्रतिपद्यते।'

— का० सू० १।२।१३

२. विनोपदेशं सिद्धो हि कामो नास्त्यातशिक्षित:।

स्वकान्तारमणोपायेको गुरुर्मृगपक्षिणाम्॥ —जयमङ्गला— का०सू०१।२।२१

३. बुद्ध्यादियो षष्टावात्ममात्रगुणा:। — तर्कसङ्ग्रह

४. विषयेच्छानुवर्तिन्यो निसर्गात् प्राणिनांधिय:।

— जयमङ्गला, का०सू०, १।२।२१

५. धर्मादर्थ: अर्थत: काम:कामाद्धर्मफलोदय:। इत्येवं निर्णयंशास्त्रे प्रवदन्ति मनीषिण:। — २१।८३, आनन्दाश्रम प्रकाशन

फल तो उनसे निवृत्ति में मिलता है[१]।

गीता ने भी धर्म से सम्मत ही काम की प्रशंसा की है[२]- अत: मनुष्य को अपने काम पुरुषार्थ के सम्पादन में अनेक उपाय, विविध उपकरण एवं यथाशक्तिपूर्ण औचित्य का संयोजन करना पड़ता है। काम सम्पादन में भी उसकी शिव एवं सौन्दर्य की भावना बराबर बनी रहती है। अत: उस उपाय-औचित्य आदि के लिए वह नियामक अथवा उपदेष्टा की अपेक्षा एवं स्वागत करता है।[३] और उसका ज्ञान सर्वोत्तम रूप से 'कामसूत्र' से प्राप्त हो सकता है यह वात्स्यायन का मत[४] है।

जीवन में कामपुरुषार्थ की आवश्यकता एवं वैशिष्ट्य—

लोक-यात्रा की सुव्यवस्थिति के हेतु भावी श्रेय को प्राप्त करने के लिए धर्माचरण उसी प्रकार आवश्यक है जैसे भावी सस्य के लिए हस्तगत बीज का त्याग। और जैसे इस सिद्धान्त के रहते हुए भी कि काल ही पुरुषों को अर्थानर्थ, जयपराजय तथा सुख दु:ख देता है अत: अर्थसिद्धि भाग्याधीन ही होती है इत्यादि, लोग अर्थोपार्जन के लिए प्रयत्न अवश्य करते हैं, क्योंकि निष्कर्मा को कल्याण प्राप्त होता ही नहीं,[५] उसी प्रकार, समस्त दोषराशि से आपूर्ण होते हुए भी, धर्म, अर्थ, मोक्ष— सब का विरोधी होते हुए भी, असद्व्यवहार, अशौच, प्रमाद, लाघव, अप्रत्यय तथा अग्राह्यतादि निन्द्य दोषों को उत्पन्न करने वाला होते हुए भी 'काम-वश ———————— अनेक राष्ट्रों के नरेश सगण नष्ट हो

---

१. लोकेव्यावायामिषमद्यसेवा,
नित्यास्तु जन्तोर्नहितत्र चोदना।
व्यवस्थिति: तासु विवाह यज्ञ-
सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा // भा पु — ११।५।११

२. धर्माविरुद्धोभूतेषुकामोऽस्मिभरतर्षभ/ —गीता ७।११।२

३. 'सम्प्रयोगपराधीनत्वात् स्त्रीपुंसयोरुपायमपेक्षते — का०सू० १।२।२२

४. सा चोपायप्रतिपत्ति: कामसूत्रादिति वात्स्यायन: —का०सू० १।२।२३

५. 'अवश्यंभाविनो प्यर्थस्योपायपूर्वकत्वादेव न निष्कर्मणो भद्रमस्तीतिवात्स्यायन:।'

गये[१]' इत्यादि आप्तवचन से महान् प्रणाश का हेतु होते हुए भी, शरीरयात्रा को सन्तुलित रखने के लिये, स्वाभाविक रोग उन्मादादि के प्रशमन के लिये, जैसे शरीरस्थिति के लिये अजीर्णतादि दोषों के उत्पादक होते हुए भी प्रतिदिन आहारपरमावश्यक होता है, उसी भांति मनुष्य के लिये कामपुरुषार्थ का सेवन परमावश्यक है[२]। धर्म और अर्थ का तो यह काम फलरूप है यह पहिले ही कहा जा चुका है। धर्माचरण तथा अर्थोपार्जन दोनों कामसुख की सिद्धि के लिये किये जाते हैं। वह सुख-सिद्धि कुछ तो ऐहिकी होती है और कुछ सर्वथा आमुष्मिकी। अतः प्रथमतः ही दोषदृष्टि रख कर काम का सर्वथा तिरस्कार करना जीवन को अपूर्ण अथवा व्यर्थ करना है, जैसा कि कहा गया है — 'सुख के प्रति द्वेष-भाव रखने वाले मनुष्यों का जीवन तृणों की भांति निष्फल है। अतः आचार्यों का कहना है कि दोषों को दूर किया जाय न कि सुख को[३]।' अतः धर्म, अर्थ की भांति काम का भी सेवन उसी आस्था से करना चाहिए और ऐसा करने से ऐहिक तथा आमुष्मिक निष्कण्टक ऐकान्तिक सुख मिलता है।'[४]

सामान्य दृष्टि से विचार करने पर तो इन तीनों में, धर्म गरिष्ठ अर्थ गरीयान्, धर्म गरिष्ठ तथा काम गुरु यह इनके गौरव का तारतम्य है[५]— किन्तु इसका तात्पर्य यह कथमपि नहीं कि किसी गुरुतर को अपना ले और अन्य का एकदम त्याग या उपेक्षा कर दे, क्योंकि ऐसा करने से फिर जीवन की असफलता अथवा अपूर्णता आ घेरेगी, जैसे धर्मरूप में यदि अधिक दान देने लगें तो अर्थहानि

---

१. 'बहवश्च कामवशगाः सगणा एव विनष्टाः श्रूयन्ते', — का०सू० १।२।४३

२. 'शरीर-स्थितिहेतुत्वादाहारसधर्माणो हि कामाः' — का०सू० १।२।४६

३. 'तृणानामिव हि व्यर्थं नृणां जन्म सुखद्विषाम्।
दोषास्तु परिहर्तव्या इत्याचार्यैः स्थिरीकृतम्॥

— का०सू० १।२।४८ पर जयमङ्गला

४. एवमर्थं च कामं च धर्मं चोपाचरन्नरः। इहामुत्र च निःशल्यमत्यन्तं सुखमश्नुते॥

— का०सू०, १।२।४६

५. 'तेषां समवाये पूर्वः पूर्वो गरीयानिति'।

— का०सू० १।२।१४

और फलत: काम अथवा सुखहानि होने लगेगी, अत्यन्त अर्थ-परायण होने पर न धर्म बन पायेगा न काम प्राप्त होगा, और एकान्तत: कामासक्त होकर तो मनुष्य सर्वत: भ्रष्ट हो ही जाता है। अत: जो इन तीनों की आवश्यकता का रहस्य जानता है उसे किसी एक में मोह अथवा बुद्धिविपर्यय नहीं होता। वह तीनों का विवेक के साथ सेवन करता है। अतएव कामशास्त्रतत्त्वज्ञ की प्रशंसा में वात्स्यायन कहते हैं — "इस शास्त्र का तत्त्वज्ञ धर्म, अर्थ काम तथा को तथा यथावत् रूप में लोक को देखता है तथा उनमें राग-वश प्रवृत्त नहीं होता[1]।" क्योंकि कामशास्त्र का तत्त्ववेत्ता व्यक्ति लोक में अपनी धर्मार्थ-कामसम्बन्धिनी स्थिति को दूसरे मनुष्य के साथ बिना उपघात किये, ठीक से संभाले हुए जितेन्द्रिय ही बनता है।

वात्स्यायन के कामसूत्र-रचना के उद्देश्य एवं स्वरूप—

कामसूत्रकार वात्स्यायन का समय प्राय: विक्रम से पूर्व की तीसरी शताब्दी अथवा चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल के आस पास कहा जा सकता है। उन्होंने सात अधिकरणों में अपने इस ग्रन्थ की रचना की। उन्होंने लोकस्थिति का सूक्ष्म एवं विस्तृत निरीक्षण कर लोककल्याण के लिए ही इस ग्रन्थ का निर्माण किया था। उसी लोक-कल्याण की भावना के कारण वात्स्यायन ने यत्र तत्र अपने गरीयान् विचारों को भी प्रकट किया है, जैसे 'कन्यासम्प्रयुक्त-अधिकरण' के प्रारम्भ में वे सवर्णा, अनूढा, कन्या का शास्त्रपूर्वक पाणिग्रहण करना सर्वथा श्रेयस्कर बताते हैं, क्योंकि उससे धर्म, अर्थ, पुत्र, सम्बन्ध, पक्षवृद्धि तथा अकृत्रिम रति प्राप्त होती है[2]। योग्य वरवधू का विवेचन करते हुए विद्वान्

---

१. धर्ममर्थं च कामं च प्रत्ययं लोकमेव च।
पश्यत्येतस्यतत्त्वज्ञो न च रागात् प्रवर्तते ।। — का०सू०, ७।२।५३

२. सवर्णायामनन्यपूर्वायां शास्त्रतो विवाहितायां धर्मोऽर्थ: पुत्रा: सम्बन्ध: पक्षवृद्धि-रनुपस्कृता (अकृत्रिमा) रतिश्चेति। — का०सू० ३।१।१

वर को योग्य कन्या के साथ ही विवाह करने में कल्याण प्राप्ति का निर्देश किया है [१]। ऐसी ही के साथ विवाह करके विद्वान् वर अपने को सफल समझता है तथा समवयस्कों आदि की ~~सम्ब~~ निन्दा नहीं पाता [२] । इसी प्रकार एक-नारीव्रत की प्रशंसा करते हुए तथा बहुललनालम्पट की निन्दा करते हुए वात्स्यायन कहते हैं — ' दरिद्र भी, निर्गुण भी पति यदि अपने से स्नेह करता है एवं उसका भरण पोषण करता है तो कहीं श्रेष्ठ है , उस गुणी पति की अपेक्षा जो अनेक ललनाओं में रमण करता है [३]। फिर स्त्री-सदाचार की प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं — किसी भी प्रकार की स्त्री हो उसे सदाचार का अनुवर्तन करना चाहिए, केवल अपने पति (नायक) का हित करना चाहिए [४]। स्त्री के सदाचार की तो वात्स्यायन भूयोभूय: प्रशंसा करते हैं — सदाचार के बल पर स्त्रियां धर्म, अर्थ, काम, उत्तमस्थान (गृह) तथा नि:सपत्ननति सब कुछ प्राप्त करती हैं। [५] ऐसे ही पारदारिक प्रकरण में वे कहते हैं — ' इसमें कामप्रयोग पूर्णरूप से नहीं किये जा सकते, विघ्न अनेकों होते हैं तथा इसमें धर्म, अर्थ दोनों की हानि होती है , अत: परदारगमन नहीं करना चाहिए [६]। बल्कि इस परदार-प्रकरण के विवेचन को भी व्यतिरेकमुखेन उन दोषों से स्वदाररक्षा के लिए बताते हैं [७]।

---

१. कामसूत्र ३।१।२

२. 'यां गृहीत्वा कृतिनमात्मानं मन्येत न च समानैर्निन्द्यते ।' — का०सू०, ३।१।३

३. वरं वश्यो दरिद्रो पि निर्गुणो प्यात्मधारक: ।
गुणैर्युक्तो पि न त्वेवं बहुसाधारण: पति: ।। — का०सू० ३।४।५५

४. सद्वृत्तमनुवर्तेत नायकस्य हितैषिणी ।
कुलयोषा पुनर्भूर्वा वेश्या वाप्येकचारिणी ।। — का०सू० ४।१।५४

५. 'धर्ममर्थं तथा कामं लभन्ते स्थानमेव च ।
नि:सपत्नं च भर्तारं नार्य: सद्वृत्तमाश्रिता: ।। — का०सू० ४।१।५५

६. पाक्षिकत्वात्प्रयोगाणामपायानां च दर्शनात्
धर्मार्थयोश्च वैलोम्यान्नाचरेत्पारदारिकम् ।। — का०सू० ५।६।५१ -

७. तदेतद्दारगुप्त्यर्थमारब्धं श्रेयसे नृणाम् ।
प्रजानां दूषणायैव न विज्ञेयो ह्ययं विधि: ।। — का०सू० ५।६।५२

अत: कुछ लोगों का यह विचार कि 'कामसूत्र' इन्द्रियवाद के प्रचार के लिए तथा काम पुरुषार्थ को भी कामोन्मुख करने के लिए है, केवल भ्रान्त ही कहा जायगा। भारतीय विचार-पद्धति मनुष्य के लिए जितना धर्मार्थ के ज्ञान एवं आचरण के लिए निर्देश करती है उतना ही काम पुरुषार्थ के भी ज्ञान एवं आचरण पर बल देती है। अस्तु !

आगे इसी प्रबन्ध में हम देखेंगे कि शृङ्गार रस का विवेचन करने वाले प्राय: सभी आचार्यों ने रतिभाव तथा नायक-नायिका आदि के विषय में कुछ कहते समय प्राय: 'कामसूत्र' का ही आलम्बन किया है। प्राय: काव्यों का विषय तो कामोपचार से आपूर्ण होता है[1]। और कामोपचार का यथार्थ ज्ञान केवल-कामशास्त्र से हो सकता है [2]। कामपुरुषार्थ पर वात्स्यायन का कामसूत्र ही अकेला मौलिक एवं प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध है। अन्य सब तो उसी के उपजीवक हैं। अत: संक्षेप में यहां उसके प्रतिपाद्य विषय का विहङ्गावलोकन कर लेना अनुपयुक्त न होगा। तन्मुखेन कामपुरुषार्थ का भी उपयुक्त विवेचन हो जायगा। 'कामसूत्र' को वात्स्यायन ने सात अधिकरणों में विभक्त किया है। प्रत्येक अधिकरण में अनेक अध्याय हैं। कुल मिलाकर सातों अधिकरणों में छत्तीस अध्याय होते हैं। फिर प्रत्येक अध्याय में विविध-संख्यक प्रकरण हैं, जो सब मिलकर चौंसठ होते हैं और हर एक प्रकरण में सूत्र एवं श्लोक हैं।

सर्व प्रथम कामशास्त्र का इतिहास बताते हुए वात्स्यायन कहते हैं कि प्रजापति द्वारा निर्मित त्रिवर्गसाधन शास्त्र के काम-प्रतिपादक भाग लेकर महादेव के अनुचर नन्दी ने एक सहस्राध्यायी ग्रन्थ लिख डाला[3]। नन्दी के उस सहस्राध्यायी ग्रन्थ को श्वेतकेतु औद्दालिक ने पांचसौ अध्यायों में संक्षिप्त किया[4]। नन्दी के उस सहस्राध्यायी ग्रन्थ के अनन्तर कामविषय का विवेचन पाञ्चाल देश में बड़ा प्रचलित

---

१. कामोपचार बहुलं हि वस्तु काव्यस्येति — वामन - का०सू०, वृ० १।३।८

२. 'कामशास्त्रत: कामोपचारस्य' — का०सू०वृ० १।३।८

३. 'महादेवानुचरश्चनन्दीसहस्रेणाध्यायानां पृथक् कामसूत्रं-प्रोवाच्। — का०सूत्र १।१।८

४. का०सू०, १।१।६

हुआ । वहां (पाञ्चाल) में बाभ्रव्य ने डेढ़ सौ अध्यायों के एक ग्रन्थ का निर्माण कर श्वेतकेतुविरचित पञ्चशताध्यायी कामसूत्र का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत किया । उन्होंने सात अधिकरणों (प्रतिपाद्यविषयों) में सम्पूर्ण शास्त्र को विभक्त किया । वे सात अधिकरण इस प्रकार थे — १. साधारण , २. साम्प्रयोगिक, ३. कन्यासम्प्रयुक्तक, ४. भार्याधिकारिक, ५. पारदारिक, ६. वैशिक तथा ७. औपनिषदिक । फिर कालक्रम से १. चारायण, २. सुवर्णनाभ , ३. घोटकमुख, ४. गोनर्दीय, ५. गोणिकापुत्र, ६. दत्तक, तथा ७. कुचुमार— इन सात आचार्यों ने पूर्वोक्त सात अधिकरणों में यथाक्रम एक-एक को लेकर पृथक् - पृथक् उन्हीं एक-एक पर शास्त्र-रचना की । फलत: बाभ्रव्य पाञ्चाल द्वारा निर्मित वह कामसूत्र प्राय: छिन्न-विच्छिन्न-सा हो गया,[1] क्योंकि अब पृथक् पृथक् विषयों पर चारणादि के निर्मित ग्रन्थ लोगों को सुलभ हो गये और फिर बाभ्रव्य का `कामसूत्र` कुछ दुरध्येय भी था । अत: वात्स्यायन-गोत्रीय मल्लनाग नामक आचार्य ने बाभ्रव्य के तथा अन्य आचार्यों के ग्रन्थों का अनुसरण कर अपने `कामसूत्र` का निर्माण किया[2]।

फिर त्रिवर्ग प्रतिपत्तिनामक द्वितीय अध्याय में धर्म, अर्थ, काम— तीनों पुरुषार्थों का अवस्थाक्रम से उपार्जन तथा उन तीनों का इस जीवन काल में परमोपयोग बताया है ।[3] प्रथम अधिकरण का तृतीय अध्याय विशेष महत्त्व

---

१. कामसूत्र १।१।९

२. बाभ्रवीयांश्च सूत्रार्थनागमय्य विमृश्यच ।
वात्स्यायनश्चकारेदंकामसूत्रं यथाविधि ।। — कामसूत्र ७।२।५६
तथा
`पूर्वशास्त्राणिसंदृश्यप्रयोगाननुसृत्यच ।
कामसूत्रमिदं यत्नात् संक्षेपेण निवेदितम् ।। —का०सू० ७।२।५२

३. एवमर्थं च कामं च धर्मं चोपाचरन्नर: ।
इहामुत्र च नि:शल्यमत्यन्तंसुखमश्नुते ।।
—का०सू० १।२।४६

का है। इसमें मल्लनाग का कहना है कि मनुष्य को धर्मार्थ सम्बन्धिनी विद्याओं का अध्ययन करना चाहिए[१]। यहां उन्होंने यह भी बताया है कि स्त्रियों को भी इस कामविद्या का अध्ययन करना चाहिए। हां, अध्यापक विश्वासपात्र कोई मिले तभी [२]। फिर इसी अध्याय में कामशास्त्र की अवयवभुत गीतादिक चौंसठ अङ्ग-विद्याओं (कलाओं) का निरूपण किया है। स्त्रियों को इन कलाओं के ज्ञान से पति-संयोग तथा तद्वियोग दोनों दशाओं में महान् लाभ होता है। वियोग अथवा व्यसन दशा की तो ये कलायें ही अवलम्बन होती हैं[३]।(आधुनिक स्त्री-शिक्षा का भी तो ऐसा ही लाभ बताया जाता है।) और पुरुषों को इन कलाओं में कुशलता स्त्री-चित्त जीतने में बड़ी सहायक होती है।[४] और अध्यायान्त में वे कहते हैं कि कला के ज्ञान से स्त्री-पुरुष दोनों का सौभाग्य ही बढ़ता है[५]।

चतुर्थ अध्याय में नागरिक वृत्त का विवेचन हुआ है- कहां वास करे, कैसा भवन हो, भवन में कितने कक्ष (कमरे) हों, शय्या कैसी हो तथा स्नान-

---

१. धर्मार्थाङ्ग-विद्याकालाननुपरोधयन् कामसूत्रं तदङ्गविद्याश्च पुरुषोऽधीयीत।
—कामसूत्र १।३।१

२. 'तस्माद्वैश्वासिकाज्जनाद्रहसिप्रयोगाञ्छास्त्रमेकदेशं वा स्त्री गृह्णीयात्'।
—का०सू० १।३।१३

३. 'तथापति-वियोगे च व्यसनं दारुणं गता। देशान्तरे पि विद्याभिः सा सुखेनैवजीवति।'
—का०सू० १।३।२३

४. नरश्चकलासु कुशलो वाचालश्चाटुकारकः।
असंस्तुतो पि नारीणां चित्तमाश्वेव विन्दति॥
—का०सू० १।३।२४

५. कलानां ग्रहणादेव सौभाग्यमुपजायते।
[illegible]सां प्रयोगःसम्भवेन्न वा॥
—का०सू० १।३।२५

भोजन, शयनक्रीड़ा दिनचर्या, रात्रि-चर्या आदि कैसी हो, इनका विस्तार से निरूपण किया है[1] । किन्तु जो नागरक नगर में निवास करते हैं —जैसे , राजा, मन्त्री, श्रीमान् तथा धनी लोग , उनकी ही पूर्वोक्त जीवनचर्या हो सकती है, ग्रामवासियों की नहीं । तो क्या ग्रामवासी जन के लिए कामपुरुषार्थ प्राप्त करना सम्भव नहीं ? क्या वे नागरक जीवन की प्रेरणाएं प्राप्त ही नहीं कर सकते ? इसके लिए वात्स्यायन ने यहां विचक्षणों की गोष्ठी आदि अनेक उपाय बताये हैं[2]।

प्रथम अधिकरण के अन्तिम अध्याय पांचवें में नायक के सहायक दूती आदि के कर्म का विमर्श किया गया है । कैसा नायक हो, कैसी नायिका के साथ गार्हस्थ्य स्वीकार कर नागरक जीवन बिताये, कौन सहायक हों, क्या दूत के कर्म हों आदि विषयों का यहां विस्तार से विवेचन किया गया है । इस विषय में वात्स्यायन ने पूर्ववर्ती आचार्यों का प्राय: अनुसरण किया है । वैवाहिक जीवन का उद्देश्य केवल रतिसुख ही प्राप्त करना नहीं है, अपितु सन्तान उत्पन्न करना भी है । अत: सवर्णा से ही विवाह श्रेयस्कर होता है[3]। तीन प्रकार की स्त्रियां नायिका बन सकती हैं —सर्वोत्तम तो कन्या होती है, फिर उससे अवर पुनर्भू अर्थात् जो पहिले अन्योढा होकर भी अक्षतयोनि हो, और उससे भी अवर वेश्या । इसी प्रसङ्ग में वात्स्यायन ने पारदारिक विषय के विशेषज्ञ

---

१. राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में कवि बनने के इच्छुक के लिए भी कुछ इसी प्रकार की जीवनचर्या का उल्लेख किया है ।

२. 'ग्रामवासी च सजातान् विचक्षणान् कौतूहलिकान् प्रोत्साह्य नागरकजनस्य वृत्तं वर्णयन्श्रद्धां च जनयंस्तदेवानुकुर्वीत, गोष्ठीश्च प्रवर्तयेत्, सङ्गत्याजनमनुरञ्जयेत् , कर्मसु च साहाय्येन चानुगृह्णीयाद्, उपकारयेच्चेतिनागरकवृत्तम् ।'

—का०सू० , १।४।४६

३. 'कामश्चतुर्षु वर्णेषु सवर्णत: शास्त्रतश्चानन्यपूर्वायां प्रयुज्यमान: पुत्रीयो यशस्यो लौकिकश्च भवति ।' — का०सू० १।५।१

आचार्य गोणिकापुत्र का मत उल्लिखित किया है — कि परस्त्री का भी, पुत्र-सुख को छोड़ कर, अन्य अनेक कारणों से अधिगमन किया जा सकता है। किन्तु परदार-गमन है साहसिक्य ही।

साहित्यशास्त्र में भी स्वकीया, परकीया, साधारण-स्त्री इस प्रकार तीन नायिकाओं का उल्लेख है किन्तु कामशास्त्र में लोक में वस्तुस्थिति को देखकर तीन प्रकार बताया गया है। साहित्य के नायिकाओं के वर्गीकरण का मूल तो रसमय कथावस्तु की विभाव्यता अथवा प्रेमाख्यान की आलम्बनता है। कामसूत्र में किस प्रकार की स्त्री में सन्तानोत्पत्ति सम्भव तथा प्रशस्य होगी एवं किसमें रति-सुख सम्भव तथा अनिन्द्य है इस दृष्टि से नायिका-विचार किया गया है। अतएव यहां नायक-भेद नहीं किया गया है। कन्या, पुनर्भू, वेश्या — तीनों में प्रवर्तित होने वाला नायक (पुरुष) एक ही प्रकार का कहा गया है। यहां नायक के (नायिका को प्राप्त करने में) गुण तथा जाति के अनुसार सहायकों का भी विमर्श किया गया है। नाट्यग्रन्थों में नायक के सहायकों का वर्णन प्राय: कामसूत्र के अनुसार ही होता है। इस प्रकरण के अन्त में वात्स्यायन कहते हैं[1] —। यहां 'संसाधयेत्' का अर्थ है स्वपत्नी रूप में ग्रहण करे।

इसके पश्चात् द्वितीय अधिकरण आता है, जिसे साम्प्रयोगिक अधिकरण नाम दिया है। इसमें कुल दस अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में सामुद्रिकशास्त्र के अनुसार पुरुषों के शश, वृष तथा अश्व, स्त्रियों के मृगी, वडवा एवं हस्तिनी विभाग किये गये हैं। पद्मिनी, शङ्खिनी आदि भेद वात्स्यायन ने नहीं किये हैं — ये संज्ञायें परवर्ती कामसम्बन्धी ग्रन्थों में दी गयी हैं। फिर प्रमाण, काल तथा भावकीदृष्टि से रतिका विवेचन किया गयाहै। यहां रस, रति, प्रीति, भाव, राग, वेग, समाप्ति—

---

१. 'आत्मवान् मित्रवान् युक्तो भावज्ञो देशकालवित्।
अलभ्यामप्ययत्नेन स्त्रियं संसाधयेन्नर: ।।'
— कामसूत्र, १।५।४१

ये सब रति के पर्याय कहे गये हैं। यहां वात्स्यायन का कहना है कि प्रीति चार प्रकार की होती – १. अभ्यास से, २. अभिमान से, ३. सम्प्रत्यय से तथा ४. विषयों से[१]। मृगया, नृत्य, गीत, वाद्य, चित्र आदि किसी विशिष्ट कर्म अथवा कला में उन कलाविदों को जो बार-बार अभ्यास से आनन्द मिलता है उसे आभ्यासिकीप्रीति कहते हैं। यह प्रीति शब्द, स्पर्श आदि विषयों से मिलने वाली प्रीति से भिन्न होती है।[२]

जो अभ्यस्त, अनभ्यस्त सभी प्रकार की वस्तुओं से संकल्पमूला अविषयात्मिका प्रीति होती है उसे आभिमानिकी प्रीति कहते हैं[३]।

सम्प्रत्ययरूपा प्रीति वह है जो किसी अनुभूतविषय से इतर विषय में 'यह वही है, अन्य नहीं।' इस प्रकार के सम्प्रत्यय से उत्पन्न होती है।[४]

शब्द, रूप, रस आदि अनुकूल इन्द्रियविषयों की ओर श्रोत्र, नेत्र, रसना आदि इन्द्रियों के द्वारा जो प्रीति उत्पन्न होती है वही प्रत्यक्षा प्रीति है। प्रत्यक्षा-प्रीति प्रधान है, अतएव अन्य प्रीतियां भी अन्ततः इसी के लिए की जाती हैं।[५]

---

१. 'अभ्यासादभिमानाच्च तथा सम्प्रत्ययादपि।
विषयेभ्यश्च तन्त्रज्ञाः प्रीतिमाहुश्चतुर्विधाम्॥'

२. 'शब्दादिभ्यो बहिर्भूता या कर्माभ्यासलक्षणा।
प्रीतिःसा भ्यासिकी ज्ञेया मृगयादिषु कर्मसु॥

३. 'अनभ्यस्तेष्वपि पुरा कर्मस्वविषयात्मिका।
सङ्कल्पाज्जायते प्रीतिर्या सा स्यादाभिमानिकी॥'

४. 'नान्यो यमिति यत्स्यादन्यस्मिन्प्रीतिकारणे।
तन्त्रज्ञैःकथ्यते सापि प्रीतिः सम्प्रत्ययात्मिका॥'

५. ' प्रत्यक्षालोकतःसिद्धायाप्रीतिर्विषयात्मिका।
प्रधानफलवत्त्वात्सा तदर्थाश्चेतरा अपि॥'

इसके अनन्तर वात्स्यायन ने आलिङ्गन, चुम्बन, नख-दशन-च्छेद आदि सुरत-सम्बन्धी विचार किये हैं, किन्तु इसी द्वितीय अधिकरण के नवम अध्याय के अन्त में वे स्वयं उपदेश करते हैं कि 'जैसे वैद्यक में कुत्ते की मांस का भी स्वाद, सामर्थ्य तथा पाकविधि कही गई है, किन्तु कोई मनुष्य कहीं कभी उसका उपयोग नहीं करता[१]। उसी प्रकार कामशास्त्रों में सुरतप्रयोगों के निरूपण से यह कभी न समझना चाहिए कि इन प्रयोगों का अवश्य उपयोग करना चाहिए[२]।' कामसूत्र के इस अधिकरण में परवर्ती काव्य-नाट्य कृतियों में शृङ्गार-रस-सम्बन्धी जिन अनुभावों तथा विभावों का निरूपण किया गया है वे ही मूलत: विस्तार के साथ उपजीव्य रूप में यहां विवेचित हैं।

तृतीय अधिकरण का नाम कन्यासम्प्रयुक्त अधिकरण है। इसके पांच अध्यायों में विवाह में किस प्रकार की कन्या वाञ्छनीय है, विवाह कितने प्रकार के होते हैं, कन्या-नायिका में विश्वास किस प्रकार उत्पन्न किया जाय-- इत्यादि तथा अन्य मनु आदि के धर्मशास्त्र के अनुकूल विषयों का विशद विवेचन किया गया है। वात्स्यायन ने यद्यपि ब्राह्म, दैव, आर्ष तथा प्राजापत्य -- इन चार प्रकार के विवाहों को प्रधान बताया है[३]। किन्तु सुखद, क्लेशाभाव तथा अनुरागमूलक होने के कारण गान्धर्वविवाह को सर्वतो वरीयान् बताया है[४]।

---

१. 'रसवीर्यविपाकादिश्वमांसस्यापि वैद्यके।
कीर्तिता इति तत्किं स्याद्भक्षणीयं विचक्षणै:'।। -- का०सू० २।९।३८

२. 'न शास्त्रमस्तीत्येतावत्प्रयोगे कारणं भवेत्।
शास्त्रार्थान् व्यापिनो विद्यात् प्रयोगांस्त्वैकदेशिकान्।। -- का०सू० २।९।३७

३. 'पूर्व: पूर्व: प्रधानं स्याद्विवाहो धर्मसंस्थिते:।
पूर्वाभावे तत: कार्यो यो य उत्तर उत्तर:।।' -- का०सू० ३।५।२९

४. 'सुखत्वादबहुक्लेशादपि चावरणादिह।
अनुरागात्मकत्वाच्च गान्धर्व: प्रवरो मत:।।
-- का०सू०, ३।५।३०

कामसूत्र का यह प्रकरण काव्यग्रन्थों में मुग्धाओं के चेष्टा-स्वभाव आदि के निरूपण का प्राय: उपजीव्य हुआ है ।

कामसूत्र का दो अध्यायों वाला चतुर्थ अधिकरण भार्याधिकरण कहलाता है । इसके प्रथम अध्याय में धर्मशास्त्र के अनुसार भार्या का पति के प्रति कर्तव्यों का विवेचन किया गया है —भार्या पति को देववत् माने, सदा तत्परायण तथा तदनुकूल रहे[१]। यहां उसके गृह-प्रबन्ध-सम्बन्धी कार्यों का भी लेखा किया गया है और इस प्रकार सती भार्या पति के धर्म, अर्थ तथा काम— तीनों के साधन में सहायक होती है और पति का एकान्त प्रेम प्राप्त करती है[२]।—

इसके द्वितीय अध्याय में अपनी ज्येष्ठा, कनिष्ठा सपत्नियों के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए इसका निरूपण किया गया है । उस व्यवहार में सबसे अधिक आवश्यक कार्य है अपने क्रोध को दबाना तथा शिष्टाचार का पूर्ण निर्वाह । ऐसा करने से पति उस युवती के वश में हो जाता है तथा वह सौतों पर स्वयं शासन करती है [३]।

पञ्चम अधिकरण परदार विषय से सम्बन्ध रखने के कारण पारदारिक कहलाता है । कहा जाता है कि गोणिका-पुत्र ने इस विषय पर विशिष्ट विवेचन किया था । वैसे बाद में साहित्य के आचार्यों ने कन्या को भी `परकीया` के रूप में गिना है । किन्तु यहां परदार का अर्थ परकीय पाणिगृहीताभार्या ही केवल है । यहीं कामकी वे दस दशायें वर्णित की गई हैं,

---

१. भार्यैकचारिणी गूढविश्रम्भा देववत्पतिमानुकूल्येन वर्तेत ।`

का०सू० , ४। १ । १

२. धर्ममर्थं तथा कामं लभन्ते स्थानमेव च ।

नि:सपत्नं च भर्तारंनार्य: सद्वृत्तमाश्रिता: ।। —का०सु० ४।१।५५

३. `युवतिश्च जितक्रोधा यथाशास्त्रप्रवर्तिनी ।

करोति वश्यं भर्तारं स[illegible]धितिष्ठति ।।`

—का०सु०४।२।७०

जिन्हें कवियों तथा आचार्यों ने विप्रलम्भशृङ्गार के वर्णन के प्रसङ्ग में बहुश: प्रदर्शित किया है । नाट्यशास्त्र में भरत ने शृङ्गार की इन दस अवस्थाओं का विवेचन करने वाले वैशिकशास्त्र-कारों को बताया है[१]। सम्भवत: भरत ने इस वात्स्यायन-कामसूत्र से पृथक् किसी वैशिकसूत्र-ग्रन्थ का उल्लेख किया है, क्योंकि इस कामसूत्र में तो ये दशायें पारदारिक प्रकरण में कही गई हैं, वैशिक प्रकरण में नहीं। ~~क्योंकि इस~~ वे काम के दस स्थान रूप से कही गई हैं,और इस क्रम से हैं --- १. चक्षु:प्रीति, २. मन:सङ्ग, ३. सङ्कल्पोत्पत्ति, ४. निद्राच्छेद, ५. तनुता, ६. विषय-व्यावृत्ति, ७. लज्जाप्रणाश, ८. उन्माद, ९. मूर्च्छा तथा १०. मरण । इन दशाओं को कवियों ने जिस रूप में नायिकाओं के सम्बन्ध में निरूपित किया है, उस प्रकार नायक के प्रसङ्ग में नहीं । यहाँ वात्स्यायन ने उच्छृङ्खलता-नियामक अङ्कुशसूत्रों का भी यत्र-तत्र उल्लेख किया है , जैसे - परदारगमन में धर्मविचार तथा आर्य-आचार ~~तो~~ व्यावर्तक होता ~~ही~~ है[२] । इस परदार-विषय का कन्या-विषय से एक यह भी अन्तर है कि परकीय दारा जिस प्रकार दूती द्वारा मिलाई जा सकती है उस प्रकार अपने द्वारा नहीं, किन्तु कन्या जिस प्रकार अपने से वश में आती है उस प्रकार दूती द्वारा नहीं[३]।

ऐसी परनारी जो शङ्किता,रक्षिता, भीता अथवा श्वश्रू के साथ हो अभिगमनीय नहीं होती[४] । ऐसी के प्रति अभिलाष करना ही नहीं चाहिए । (न तर्कयेत= नाभिलषेत्- जयमङ्गला) इसी प्रकरण में वात्स्यायन ने दूतियों

---

१. "वैशिकशास्त्रकारैश्चदशावस्थो भिहित: शृङ्गार:" —ना०शा०, अध्याय - ६

२. पुरुषस्तुधर्मस्थितिमार्यसमयं चापेक्ष्यकाम्यमानो पि व्यावर्तते " ।

—का०सू०, ५।१।१३

३. यथाकन्या स्वयमभियोगसाध्या न तथा दूत्या, परस्त्रियस्तु सूक्ष्मभावा यथा दूती साध्या न तथा त्मनेत्याचार्या: । —का०सू० ५।२।१

४. शङ्कितां रक्षितांभीतांसश्वश्रूकां च योषितम् ।
नतर्कयेत मेधावी जानन् प्रत्ययमात्मन: ।।

के कर्म भी कहे हैं। दूतियाँ अनेक प्रकार की बताई गई हैं — "निसृष्टार्था, परिमितार्था, पत्रहारी, स्वयंदूती, मूढ़दूती, मायादूती, मूकदूती, तथा वातदूती, ~~वैनिदूती-विशेषण~~:[१]।" इस प्रकरण के अन्त में पुन: वात्स्यायन ने, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, लोककल्याण का पक्ष प्रकट किया है कि "यहाँ परदाराभिगमन के सम्बन्ध में जिन प्रयोगों का उल्लेख किया गया है, उनका केवल यही प्रयोजन है कि उन्हें जान कर व्यक्ति उन दोषों से अपनी पत्नी को बचाये, इसलिए नहीं कि स्वयं उन्हें दूसरे की पत्नी पर आजमाये[२]।"

षष्ठ अधिकरण वेश्यावृत्ति का विवेचन करने के कारण वैशिक-अधिकरण नाम से प्रसिद्ध है। वेश्यावृत्त जीविकोपार्जन के लिये, और किन्हीं-किन्हीं में तो रति-सुख के लिए भी देखा जाता है[३]। वात्स्यायन ने उनकी रतिनिमित्तकप्रवृत्ति स्वाभाविक मानी है तथा अर्थनिमित्तक कृत्रिम[४]। इसी प्रसङ्ग में वैशिक नायक के गुणों का भी सविस्तर उल्लेख किया है जो बाद के काव्य-नाट्य आदि साहित्य ग्रन्थों का उपजीव्य होता है। वह महाकुलीन विद्वान्, सर्वसमयज्ञ इत्यादि प्रकार का पुरुष होता है[५]। रागी पुरुष से धन दुहने में वेश्या किस प्रकार एकनिष्ठता का अभिनय करती है इसका वात्स्यायन प्रकरण के अन्त में उल्लेख करते हैं[६]।

---

१. का०सू० ५।४।४४

२. तदेतद्दारगुप्त्यर्थमारब्धं श्रेयसे नृणाम् ।
प्रजानां दूषणायैव न विज्ञेयो ह्ययं विधि: ।। — का०सू० ५।६।५२

३. वेश्यायां पुरुषाधिगमे रतिर्वृत्तिश्च सर्गात् । — का० सू० ६।१।१

४. रतित: प्रवर्तनं स्वाभाविकं कृत्रिममर्थार्थम् । — का० सू० ६।१।२

५. का०सू० ६।१।१२

६. "काम्यन्ते विरज्यन्ते रञ्जयन्ति त्यजन्ति च ।
कर्षयन्तोऽपि सर्वार्थाञ्ज्ञायन्ते नैव योषित: — का०सू०, ६।२।५७
अत: इससे यह उपदेश लें कि उनमें अतिशय आसक्ति न करें। बस जितना जेब में पैसा रहे, उतना ही उनसे सम्बन्ध रखे—तस्मात्तास्वतिसक्तिं न कुर्यात्, केवलं यावदर्थं प्रतिपद्येरन्नित्युपदेश: । (जयमङ्गला)

वेश्याजन का यह चरित्र होता है कि वे भलीभाँति सब कुछ समझ कर संयोग करती हैं, फिर संयुक्त रागी का अनुरञ्जन करती हैं। अपने में आसक्त होने पर उसके धन को दुहती हैं और अन्त में उसे त्याग देती हैं।[१] अन्त में वात्स्यायन ने उन सब स्त्रियों को वेश्या ही नाम दिया है जिनकी वेश्यावृत्ति सम्भव है – कुम्भदासी, परिचारिका, कुलटा, स्वैरिणी, नटी, शिल्पकारिका, प्रकाशविनष्टा, रूपजीवा, गणिका चेति वेश्याविशेषाः[२]।

ग्रन्थ के अन्तिम सप्तम अधिकरण में वात्स्यायन ने सुभगंकरण, वशीकरण, स्थिर एवं प्रिय रतिशक्ति के उत्पादक औषधियों के प्रयोगों तथा अन्य उपायों का निरूपण किया है। इनमें रूप, गुण, वय तथा त्याग पुरुष को सुभग बनाने वाले बताये गये हैं[३]। अन्य प्रीतिकारक योगों को आयुर्वेद, वेदशास्त्र, विद्यातन्त्र तथा आप्त पुरुषों से जानना चाहिए। किन्तु ऐसे प्रयोगों को न प्रयुक्त करना चाहिए जो संदिग्ध हों, शरीर को क्षीण करने वाले हों, जीवघात से सम्बद्ध हों तथा अशुचिद्रव्यों से युक्त हों[४]।

परीक्ष्य गम्यैः संयोगः संयुक्तस्यानुरञ्जनम्। सक्तस्यार्थस्य चादानमन्ते मोक्षश्च वैशिकम्-का०सू० ६।३।४८

१. परीक्ष्येति सहायगम्यागम्यगमनकारणचिन्तां कृत्वेत्यर्थः, गम्यैः संयोगो गम्योपावर्तनेन, संयुक्तस्यानुरञ्जनं कान्तानुवृत्तैः, सक्तादर्थस्य चादानं तदुपायैः अन्ते मोक्षश्च निष्कासन-क्रमैः, एतत् सर्वं वैश्यौचितं न कुलयोषिदुचितं, तच्च वैशिकमिति संश्रितं, यदाह कात्यायनः – "वैशं वैश्याजनोचितम् इति स प्रयोजनमस्येति वैशिकम्-जयमङ्गला।

का० सू० ६.६.५४

२. कुम्भदासीति। कुम्भग्रहणं निकृष्टकर्मापिलक्षणं, लोके सामान्याः स्त्रियः प्रसिद्धाः कुम्भदासी गणिका रूपजीवा चेति। शेषाणामपि सामान्यात्तत्रैवान्तर्भावः, परिचारिका याः स्वामिनं परिचरन्ति, परिचरितस्यौपनिषदिके विधिं वक्ष्यति, कुलटा या पतिभयाद् गृहान्तरं गत्वा प्रच्छन्नमन्येन संप्रयुज्यते, स्वैरिणी या पतिं तिरस्कृत्य स्वगृहे न्यगृहे वा संप्रयुज्यते, नटी रङ्गयोषिद् शिल्पकारिका रजकतन्तुवायादिभार्या, प्रकाशविनष्टा याजीवतिमृतेवापत्यौ संग्रहधर्मेणागृहीता कामचारं प्रवर्तते, एताः षड्रूपाजीवायामेवान्तर्भवन्तीति वैश्याविशेषा इति वैशेन सम्पद्यन्ते। — जयमङ्गला

३ का०सू०७।१।३ ("रूपं गुणो वयस्त्यागः इति सुभगङ्करणम्")।

४ नप्रयुञ्जीत संदिग्धान् नशरीरात्ययावहान्।
न जीवघातसंबद्धान् नाशुचिद्रव्यसंयुतान्।। — का०सू० ७।१।।

वात्स्यायन ने इस अन्तिम अधिकरण में बाभ्रवीय मत के अनुसार बड़े विशद ढंग से निरूपित किया है कि किस प्रकार मनुष्य घर में रह कर काम सुख का अर्जन तथा उपभोग कर सकता है। जो इस कामशास्त्र का अभिज्ञ होता है वह अपने धर्म, अर्थ, काम तथा लोक-स्थिति को भलीभांति जानता है। रागान्ध होकर कामासक्त नहीं होता है[१]। इस शास्त्र में प्रतिपादित प्रयोगों को इसलिए नहीं कहा गया है कि उन्हें अवश्य आजमाना ही चाहिए, अपितु इसलिए कि शास्त्र की स्थिति के प्रसङ्ग में उन्हें अवश्य जानना चाहिए[२]। इस कामशास्त्र का ज्ञाता पुरुष धर्म तथा अर्थ को सम्यक् दृष्टि में रखते हुए काम पुरुषार्थ का उपयोग रागहीन होकर करता है[३]।

---

१. धर्ममर्थं च कामं च प्रत्ययंलोकमेवच ।
पश्यत्येतस्यतत्त्वज्ञो न च रागात् प्रवर्तते ।।
— का०सू० ६।२।५

२. नाशास्त्रमस्तीत्येतेन प्रयोगो हि समीक्ष्यते
शास्त्रार्थान् व्यापिनो विद्यात् प्रयोगांस्त्वेक देशिकान् ।
— का०सू० ७।२।५५

३. तदेतत्कुशलो विद्वान् धर्मार्थाववलोकयन् ।
नातिरागात्मक: कामी प्रयुञ्जान: प्रसिद्ध्यति ।।
— का०सू० ७।२।५६

द्वितीय अध्याय
भावस्वरूपनिरूपण

द्वितीय अध्याय

भावस्वरूपनिरूपण

आचार्यों द्वारा की गई शृङ्गाररस की मीमांसा का विवेचन करने के पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उसके सम्बन्ध में प्रयुक्त कुछ पारिभाषिक शब्दों को तथा भावों को विशिष्ट शास्त्रीय दृष्टि से पहचान लिया जाय।

मनोवेग तथा मनोवृत्तियां—

साधारणतया लोक में प्रयुक्त भावशब्द अनुभूति (Feeling) का पर्यायवाची है। मनोवेगों (Emotions) के मूल में ये अनुभूतियां ही रहती हैं। वे ही उद्दीप्त अथवा उत्तेजित होकर मनोवेग कहलाती हैं, अर्थात् किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति अनुभूति मूलक अथवा इच्छामूलक प्रवृत्ति को मनोवेग अथवा (Emotion) कहते हैं। मनोवेग की दशा में प्राणी को भाव अथवा अनुभूति की हलचल का पता चलता है तथा उसकी मांसपेशियों एवं स्नायुओं में उत्पन्न क्रियाओं को देखकर अन्य व्यक्तियों को उसके मनोवेग का ज्ञान होता है[1]।

मूल वृत्तियों (Instincts) के जागरित होते ही उनके अनुकूल मांसपेशियों एवं स्नायुओं में क्रियाशीलता आ जाती है, जो एक उत्तेजनारूप होती है। इस उत्तेजना का एक मानसिक पक्ष होता है, जिससे हम इसका नाम भय, क्रोध, घृणा आदि देते हैं। इसका एक शारीरिक पक्ष भी होता है, जो स्नायुओं तथा मांसपेशियों की क्रिया के रूप में प्रकट होता है। ये दोनों ही रूप मनोवेग (Emotions) कहलाते हैं

मनोवेग अथवा Emotion में ज्ञान, इच्छा, क्रिया तीनों का संयोग बताया गया है[2]। मनोवेगों का सम्बन्ध मूलप्रवृत्तियों (Instincts) से होता है, किन्तु इन्हीं मनोवेगों में जब स्मृति आदि बुद्धितत्त्व का सम्मिश्रण होता है,

---

1. Emotion is a moved or stirred up state of the organism. It is a stirred up state of feeling — that is the way it appears to individual himself. It is a disturbed muscular and glandular activity — that is the way it appears to the external observer. — R S Woodworth, Psychology, p 338.
2. An Emotion is, thus, a desire plus the cognition involved in the attitude of one Jiva towards another — Science of Emotions, ch. III

तो वे मनोवृत्ति या मनोभाव (Sentiment) का रूप धारण करते हैं। मनोवेग एक संचरणशील अनुभव है किन्तु मनोवृत्ति एक स्थिर मनोदशा है, जिसका अनेक मनोवेग सम्बन्धी अनुभूतियाँ तथा चेष्टाओं द्वारा क्रमशः निर्माण होता है। मनोवृत्ति वस्तुतः मानसिक संस्थान अथवा एक बृहत् संस्थान का अंश है[१]। इस प्रकार मूलप्रवृत्ति (Instinct) मनोवेग(Emotion) तथा मनोवृत्ति(Sentiment) यह तीन उत्तरोत्तर विकसित मानस दशायें कही जा सकती हैं। मनोवेग और मनोवृत्ति में करीब वही अन्तर है जो संचारी भाव तथा स्थायी भाव में कहा जा सकता है।

मनोविज्ञान के अनुसार प्रत्येक प्राणी के भीतर कुछ मूलप्रवृत्तियां होती हैं, जो उसकी समस्त सहज तथा कृत्रिम चेष्टाओं की प्रेरक अथवा प्रवर्तक होती हैं। जिनका एक विशिष्ट क्रम होता है। आंख के सामने अचानक किसी खतरे के आते ही पलकों का स्वतः बन्द हो जाना, किसी भयानक अवसर पर भागना अथवा चिल्लाना आदि हमारे भय अथवा आत्मरक्षा की मूलप्रवृत्ति के कारण होता है। किन्तु समान अवसरों पर सदैव एक ही प्रवृत्ति कार्य करे, ऐसा नहीं होता। देश, काल तथा पात्र के अनुसार प्रवृत्ति में भेद भी दिखाई देता है। किसी भयानक पशु को देखकर कोई भी भागेगा और कोई उससे भिड़ने को तत्पर हो जायेगा। यहां पहिले में आत्मरक्षा की प्रवृत्ति तथा दूसरे में युद्ध की प्रवृत्ति काम कर रही है। पशुओं में भी ये प्रवृत्तियां इसीप्रकार विभिन्न रूप से आती हैं। एक कुत्ता ऐसा है जो हमारे डण्डे को देख कर भागेगा, दूसरा ऐसा हो सकता है जो गुरायेगा और शायद डण्डा चलाने पर हमारे ऊपर आक्रमण कर दे। इसमें युद्ध की प्रवृत्ति काम कर रही है। कभी-कभी एक साथ एक से अधिक प्रवृत्तियां काम करती दिखायी पड़ती हैं। मन में भय की प्रवृत्ति के साथ ही कभी-कभी हम लड़ने को भी तैयार हो जाते हैं। बन्दरों में यह प्रवृत्ति-द्वन्द्व प्रायः दिखाई पड़ता है। किन्तु इसमें कुछ पूर्वार्जित ज्ञान(Intelligence) अथवा अनुभूति का प्रवृत्ति के साथ सम्मिश्रण कारण होता है। बन्दर को इस बात का ज्ञान है कि मनुष्य उसे मारता भी है साथ ही कभी-कभी उसकी घुड़की से भाग भी जाता है। अतः

---

१. Emotion is a feeling experience, sentiment is an acquired disposition, one gradually built up through many emotional experiences and activities, it is an organisation or a part of total organisation. (Science of Emotions.)

वह भाग कर आत्मरक्षा करने तथा घुड़की देने में एक साथ प्रवृत्त होता है ।

इस प्रकार नित्य व्यवहार तथा जीवन के अनुभवों द्वारा हमारी सहज प्रेरक वृत्तियों में बुद्धितत्त्व का समावेश होता रहता है और हमारे प्रवृत्तिजन्य कार्य क्रमश: बौद्धिक होते चलते हैं । पशुओं में यह बुद्धितत्त्व कम रहता है वे सहज प्रवृत्ति से ही प्रेरित होकर प्राय: सभी कार्य करते हैं । जीवधारियों में ज्यों-ज्यों हम नीचे से ऊपर की ओर जाते हैं, त्यों-त्यों हमें बुद्धितत्त्व का विकास मिलता जाता है । बुद्धितत्त्व के आधार पर ही जीवधारियों की विभिन्न श्रेणियों का निर्माण हुआ है । अपनी मूलप्रवृत्तियों में विवेक अथवा बुद्धितत्त्व का योग करना ही मनुष्यत्व का वैशिष्ट्य है । इसीलिए बिना विचारे काम करने वाले को हम पशु कहते हैं । बुद्धि-विहीन मनुष्यों पर पशुता का आरोप करना हमारा स्वभाव बन गया है । `गोवाहीक:` की लक्षणा से तो सभी भलीभांति परिचित ही हैं ।

"प्राणियों की प्रत्येकमूलप्रवृत्ति (Instinct) से सम्बद्ध उसका कोई न कोई मनोवेग(Emotion) अवश्य रहता है", पाश्चात्य मनोविज्ञान-वेत्ताओं ने इसका विभिन्न प्रकार से विवरण दिया है । डा० मैक्डूगल (Mac Dougall) ने मानव की १८ मूलप्रवृत्तियों का लेखा दिया है[1] । डा० मकडावल (Mc Dowall) ने उन्हें संक्षिप्त कर १४ ही बताया है[2] । उनके अनुसार उन चौदह मनोवृत्तियों का उनसे सम्बद्ध मनोवेगों के साथ यह लेखा है —

मूलप्रवृत्ति	सम्बद्ध मनोवेग
१. विपत्पलायन- Escape from danger	भय - Fear
२. संघर्ष — combat	क्रोध - Anger
३. उद्वेग — Repugnance	जुगुप्सा — Disgust
४. अपत्यरक्षा — Parental Protection of The young.	वात्सल्य - Parental feeling
५. औत्सुक्य — Curiosity	साहस — Adventure
६. आत्मप्रतिष्ठा — self-assertion	अस्मिता अथवा अहन्ता - Superiority

---

1. The Energies of Men - Ch. VII.
2. Sane Psychology - pp 20.21 (1944)

मूलप्रवृत्ति	सम्बद्ध मनोवेग
७. आत्मानादर, दैन्य अथवा कार्पण्य: - Self-abasement	पराधीनत्व अथवा समर्पण - Subjection
८. कष्टक्रन्दन - cry of distress	निस्सहायता - Helplessness
९. प्रजनन - Sex	रति - Saxual desire
१०. सामूहिकता - Herd	सहानुभूति - Sympathy एकाकिता - Loneliness.
११. भोजनोपार्जन - Foodseeking	क्षुधा - Appetite
१२. परिग्रह - Hoarding	स्वामित्व - Feeling of ownership
१३. (गृह)-निर्माण - construction	सृजनोत्साह - Feeling of creativeness
१४. हास्य - Laughter	विनोद - Amusement.

ये सभी मूलप्रवृत्तियाँ प्राय: मनुष्य-तिर्यक् सभी प्राणियों में पाई जाती हैं। इनमें 'हास्य' ही एक ऐसी प्रवृत्ति है जो केवल मनुष्य में पाई जाती है। अन्य प्राणी अपनी प्रसन्नता को अन्य चेष्टाओं द्वारा व्यक्त करते हैं। किन्तु मनुष्य अन्य चेष्टाओं के साथ हंस कर भी अपनी प्रसन्नता को व्यक्त करता है। हास्य के ही रूपविशेष परिहास में दूसरे के दोषों तथा कमियों और अपने को महत्तर समझने की भावना बनी रहती है। हास्य में बुद्धितत्त्व का अधिक योग रहता है।

इन मनोवेगों को सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर इनमें कुछ तो शारीरिक क्रिया रूप ही हैं किन्तु शेष भय, क्रोध, जुगुप्सा, वात्सल्य, साहस (उत्साह), रति तथा विनोद (हास्य) तो संस्कृत साहित्यशास्त्र के प्राय: स्थायीभावरूप ही हैं। और शेष मनोवेग चाहे वे शुद्ध हों चाहे मिश्रित संचारियों में गिनाये जा सकते हैं।

किन्तु और ध्यान से देखने पर सभी प्रकार के मनोवेगों का सम्बन्ध आत्मा के राग अथवा द्वेष नामक गुण से दिखाई पड़ता है। अन्तरात्मा की प्रथम अभिव्यक्ति अथवा सत्ता की सूचना है अस्मिता अथवा अहन्ता अथवा अहङ्कार जिसे पाश्चात्य दार्शनिक Ego अथवा Self-assertion रूप से स्वीकार करते हैं। और इस अहंकार की भी अभिव्यक्ति दो रूप से होती है.—'१. राग तथा २. द्वेष—जो [illegible] के दो मौलिक अनुभव सुख तथा दु:ख के पर्याय मात्र हैं.।' बाह्य-जगत् की किसी वस्तु के प्रति राग अथवा द्वेषभाव सर्वप्रथम उससे इन्द्रियसन्निकर्ष

होने पर मिलने वाले सुख अथवा दु:ख के अनुसार ही होता है। जिस वस्तु से सुख मिलेगा उसके प्रति राग होगा तथा जिससे दु:ख मिलेगा उसके प्रति द्वेष होगा। जब वे राग-द्वेष ही बार बार अनुभूयमान होकर विषयभेद से रति-हास-शोक आदि अनेक प्रकार की वासना के रूप में मन में स्थित हो जाते हैं।

विषय के साथ जब इन्द्रियों का प्रथम संसर्ग होता है, उस समय वे सुख अथवा दु:ख की केवल सामान्यानुभूति करती हैं। उस समय उनकी प्रवृत्ति में इच्छा तथा प्रयत्न--इन दो तत्त्वों का योग नहीं रहता। फिर वे ही सुख तथा दु:ख उन विषयों के प्रति बारबार अनुभूत होकर सुखमयी अथवा दु:खमयी अनुभूति-ग्रन्थियां बन जाते हैं जिन्हें दूसरे शब्दों में संस्कार या वासना कहते हैं, जो विषयभेद से रत्यादि रूप से अनेक प्रकार की होती हैं। वासनाओं में प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति का तत्त्व मुख्य रूप से अन्तर्निहित होता है किन्तु प्राणियों की वासनात्मक प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति स्वत: शरीरस्वभाव-रूपी हो जाती है, जो बिना यत्न के ही प्रवर्तित होती है, उसमें मन अथवा बुद्धि का कोई प्रयत्नयोग नहीं रहता। इस वासनात्मिका वृत्ति को ही कुछ विद्वानों ने मनोवेग नाम दिया है[१]।

ये ही वासनाएं फिर बढ़कर भाव कहलाती हैं (चित्ते भाव: प्रथम-विक्रिया) वासना भाव का पूर्वरूप होती हैं। भाव में ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न तीनों का योग आ जाता है। ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न इनकी क्रमिक प्रवृत्ति मानी जाती है--`जीवो जानाति इच्छति यतते।` इस प्रकार यह तय हुआ कि भाव मनोवृत्तिरूप ही हुए[२]।

ये मनोभाव ही प्राणियों की सारी चेष्टाओं के प्रवर्तक होते हैं। अतएव बुद्धिमान् व्यक्ति प्राणियों की चेष्टा देख कर ही उनके भाव का ज्ञान कर लेते हैं। काव्य में वासना ही मन में उद्दीप्त एवं सचेष्ट होकर भाव कहलाती है।[३] लोक में जो

---

१. वेदान्तदर्शन में इन्हें `प्राणक्रिया` कहते हैं और इन्द्रियों की वे क्रियायें जिन पर मन का शासन रहता है वे `सहज चेष्टाएं` कही जाती हैं -(पञ्चदशी)

२. भावशब्देन तावच्चित्तवृत्तिविशेषा एव विवक्षिता:` — (अभिनव भारती)

३. निर्विकारात्मके चित्ते भाव: प्रथमविक्रिया।

प्रसिद्ध वासनाएं होती हैं वे ही काव्य-नाटकादि में प्रबुद्ध होकर भाव कही जाती हैं।

भावों के उद्दीपित होने पर शारीरिक चेष्टाएं भी निश्चित ही होती हैं। इस प्रकार भावों के साथ कुछ उद्बोधक हेतु, कुछ सुख या दु:खमयी अनुभूतियां तथा प्रतिक्रिया रूप कुछ विविध शरीरिक चेष्टाएं अवश्य सम्बद्ध होती हैं। वासनात्मक चेष्टाओं का रूप प्राय: निर्दिष्ट एक तथा एक समान होता है, किन्तु भावमूलक चेष्टाओं का रूप विविध एवं उद्देश्य भी विविध होता है। वासनात्मक चेष्टाओं का उद्देश्य शरीर से सम्बद्ध रक्षणादिक होता है, किन्तु भावनात्मक चेष्टाओं का लक्ष्य अन्य कुछ भी होता है। भाव-प्रदर्शन का विविध तात्पर्य होता है। भावों के साथ स्मृति का भी योग अवश्य होता है। वासनात्मक चेष्टाएं केवल विषयसम्पर्क होने से प्रवृत्त होती हैं, किन्तु भावात्मक चेष्टा में स्मृति का योग होने के कारण, वह विषयसम्पर्क से पूर्व या पश्चात् भी उद्बुद्ध होती है। प्रिया का ध्यान करके भी लोग रतिसुख का अनुभव करते हैं।[1] तथा शत्रुकृत अपकार का स्मरण करके भी क्रोध से दह्यमान दिखाई पड़ते हैं[2]। किन्तु यह भावदशा काव्य की वस्तु है। क्या भाव शारीरिक चेष्टाओं से उत्पन्न होते हैं अथवा शारीरिक चेष्टायें भावों से उत्पन्न होती हैं, इस विषय को लेकर पाश्चात्य मनोविज्ञान-विशारदों ने अनेक मतभेद उपस्थित किये हैं। भारतीय आचार्यों ने तो प्राय: "चेष्टायें भावजन्य होती हैं" इसी मत का अवलम्बन किया है—यहां इनका क्रम ही इस प्रकार माना गया है—ज्ञान - इच्छा - यत्न। यत्न भाव का सर्वोत्तर अंश है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि भाव मन की क्रियामयी एक विशिष्ट अवस्था है। अत: वासना, हेतुप्रत्यय तथा प्रयत्न—इन तीनों के सङ्घात को भाव कहेंगे। मन के वे ही वेग भाव कहलाने के योग्य हैं, जिनमें उनके हेतुओं की भी प्रतीति साथही होती है।

---

१. `प्रेमार्द्रा: प्रणयस्पृश: परिचयादुद्गाढरागोदया
स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टाभवेयुर्मयि।
यास्वन्त:करणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधीक्षणा-
दाशंसापरिकल्पितास्वपिभवत्यानन्दसान्द्रो लय: ।।
— (मालतीमाधव — ५।७)

२. जैसे उन्हीं के एक अन्य पद्य में- `अथेदं रक्षोभि:कनकहरिणच्छद्मविधिना` आदि।
—उत्तररामचरित १।२८

भावों के मूलराग तथा द्वेष—

जैसा कि पहिले कहा गया है कि कुछ विद्वानों ने सारे मनोवेगों के मूल में राग तथा द्वेष को ही माना है। उनका कहना है कि — 'अपने से विशिष्ट उत्कृष्ट' जीव की ओर राग का नाम है —संमान, बहुमान, आदर, प्रश्रय, मुदिता, पूजा आदि; समान की ओर मैत्री, प्रेम, अनुराग, स्नेह, प्रीति, सख्य आदि; हीन की ओर दया, करुणा, अनुकम्पा, अनक्रोश आदि। ऐसे ही द्वेष के भेद हैं :- विशिष्ट की ओर भय, मत्सर, असूया, ईर्ष्या आदि। तुल्य की ओर क्रोध, कोप, रोष आदि, हीन की ओर दर्प, गर्व, अभिमान, अवमान, तिरस्कार, घृणा आदि।[१] इतना ही नहीं साहित्यशास्त्र के सभी स्थायीभावों को इन्हीं दो (राग-द्वेष) में अन्तर्भुत कर लिया गया है। रति, हास, उत्साह और विस्मय साधारणतः अहन्ता के उपकारक होने के कारण राग के अन्तर्गत आ जाते हैं, तथा शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा उस अहन्ता अथवा अस्मिता के अपकारक होने के कारण द्वेष के अन्तर्गत आ जाते हैं। निर्वेद में इन दोनों का सामंजस्य हो जाता है। उसमें अस्मिता की समरसता होती है। पहिले चार भाव मधुर हैं, अतः सुख की अभिव्यक्ति करते हैं। दूसरे चार कटु हैं, अतःदुःख की अभिव्यक्ति करते हैं। निर्वेदमें दोनों का समन्वय है[२]।

कुछ विद्वानों ने राग को ही स्वविस्तारभाव कहा है और उसे जीवन की एक प्रमुख वासना माना है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक सटी(Suttie) ने मानव-जीवन का मौलिक भाव केवल प्रेम अथवा राग को बताया है। 'बालक में जन्म से ही साथी की आवश्यकता की भावना होती है। यही भावना आगे चलकर पितृप्रेम, दाम्पत्य-प्रेम तथा पुत्र-प्रेम आदि रूपों में विकसित होती है[३]। इस प्रकार

---

१. रस-मीमांसा, पृ० १३, द्विवेदी-अभिनन्दन ग्रन्थ में

२. साइन्स आफ इमोशन्स—अध्याय १०

३. द्रष्टव्य—ओरिजन आफ लव एण्ड हेट

राग, स्वविस्तारेच्छा अथवा संयोगेच्छा ही मानव जीवन के मूल में ठहरते हैं। इस संयोगेच्छा को किन्हीं मनोवैज्ञानिकों ने पूर्णत्व प्राप्ति की इच्छा अथवा अपने ही एक भाग को खोजने की इच्छा कहा है[१]। मूलत: यही राग प्रसिद्ध विज्ञानी फ्रायड का 'काम' है। कुछ आधुनिक मनोविज्ञानवादियों ने प्रेम को आत्मरक्षा का रूप भी माना है। उसमें अपूर्ण की पूर्णता का भाव बना रहता है। राग को ही प्रेम भी कहा जाता है। 'यौन आकर्षण में भी एक अपूर्ण की पूर्णता रहती है। एक ही पिण्ड में दो योनियों का विकास हुआ। पुरुष में स्त्री की कमी पूरी हो जाती है, और स्त्री में पुरुष की। इसीलिए दोनों परस्पर नित्य आकर्षित होते रहते हैं।' इस प्रकार इस मूलगत राग को लेकर 'पाश्चात्य मनोविज्ञान के प्राय: तीन मत उपस्थित होते हैं — १. फ्रायड का मत, जो 'काम' को जीवन की मूल वृत्ति मानता है, लैङ्गिकता अथवा यौनि-भावना को लेकर चलता है। २. आड्लर का मत, जो हीन भावना अथवा क्षति-पूर्ति को लेकर चलता है। और ३. युङ्ग (Jung) का मत, जो उक्त दोनों को जीवनेच्छा या स्वत्वरक्षा की शाखामें मानता हुआ, जीवनेच्छा को मूल में मानता है। सूक्ष्म-दृष्टि से विचार करने पर उक्त तीनों सिद्धान्तों में विशेष मौलिक अन्तर नहीं है। उक्त तीनों प्रकार के राग, आकर्षण, संयोगेच्छा तथा स्वत्वरक्षा (अथवा स्व-विस्तार) को लेकर चलते हैं।'

'तत्त्वत: न तो कोई प्रवृत्ति शुद्धराग ही कही जा सकती है और न कोई शुद्ध द्वेष रूप ही। वास्तव में राग और द्वेष (Libido & Thanatos) के संघर्ष एवं सम्मिश्रण से ही हमारा मानसिक जीवन (Psychic Life) संचालित है। यही कारण है कि हमें शोक में राग, तथा उत्साह में द्वेष के अंश मिलते हैं। यही बात रति इत्यादि अन्य स्थायी भावों के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए।'

---

१. Each of us then separated is out indenture of a man and he is always looking for his other half. The desire and pursuit of the whole is called Love.
— The Mansions of Philosophy, ch III, Will Durant.

जैसा कि उपनिषद् कहती है —'स हैतावानास यथा स्त्री पुमांसौ सम्परिष्वक्तौ, स इममेवात्मानं द्वेधा पातयात्तत: पतिश्चपत्नीचाभवताम्' —
— बृ०उप० १।४।३

यह भी कहा गया है कि मनुष्य को क्रिया में प्रवृत्त कराने वाले मनोभाव ही होते हैं, बुद्धि, तर्क, तथा विवेक कर्म में प्रवृत्त नहीं करते। बुद्धि को तो केवल विषय का स्वरूप बताकर विरत हो जाती है — फिर प्रवृत्त, निवृत्त करने का जिम्मा मनोभाव पर आता है, क्योंकि मन ही तो राग, द्वेष का अधिष्ठान है। वस्तुतस्तु प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति आदि प्रमाण, तथा बुद्धिमान् की प्रज्ञा आदि अन्तःकरण शक्तियां मनोभाव की ही सहायता करने को उपस्थित होती हैं, उसी को उद्दीप्त अथवा शिथिल करती हैं।

<u>प्रेष्य तथा अप्रेष्य भाव—</u>

इन मनोभावों को बहुत से आचार्यों ने बहुत प्रकार से विवेचित किया है। कोई इन्हें प्रेष्य तथा अप्रेष्य दो वर्गों में बांटते हैं। जो भाव एक में दूसरे के प्रति उत्पन्न होकर, प्रदर्शित किए जाने पर, दूसरे में भी पहिले के प्रति उत्पन्न हो जाते हैं, वे प्रेष्य भाव कहे जाते हैं — क्रोध, घृणा, प्रेम आदि ऐसे ही भाव माने गये हैं। जिसके प्रति हम क्रोध करेंगे, घृणा करेंगे अथवा प्रेम करेंगे वह भी हमारे प्रति क्रोध, घृणा अथवा प्रेम प्रदर्शित करेगा। और अप्रेष्य वर्ग में वे भाव आते हैं, जो एक में दूसरे के प्रति उत्पन्न होकर, प्रदर्शित किए जाने पर, दूसरे में प्रतिक्रिया रूप से भावान्तर उत्पन्न करते हैं — भय, दया, ईर्ष्याआदि इसी प्रकार के अप्रेष्य भाव हैं। जो जिससे भय करता है, वह उस भीत के ऊपर दया दिखाता है, जो किसी के ऊपर दया करता है, वह उस दयमान के प्रति श्रद्धा करता है, तथा जो किसी से ईर्ष्या करता है वह उस ईर्ष्यालु के प्रति घृणा करता है आदि। प्रेष्यमनोभावों की एक और विशेषता यह होती है कि वे सजातीय मनोभावों से संयुक्त होकर और अधिक बढ़ते हैं — किसी को क्रोध करते देखकर दूसरे में भी क्रोध उत्पन्न होता है, और उस दूसरे के क्रोध को देख कर पहिले में और अधिक बढ़ता है। इस प्रकार परस्पर क्रोध के प्रदर्शन से दोनों का क्रोध बढ़ता ही है। प्रेम भी इसी प्रकार दो प्रेमियों के परस्पर स्नेह करने पर बढ़ता जाता है। किन्तु अप्रेष्य मनोभावों को तो कभी सजातीय मनोभाव से संयोग पाने का अवसर ही नहीं आता। जिससे कोई भय करता है वह भीत पर दया करता है और फिर उसे दया करते देख कर भीत का भय घटता ही है बढ़ता[1] नहीं।

---

१. द्रष्टव्य—चिन्तामणि-प्रथम भाग।

एकाकी तथा मिश्र-भाव--

कुछ अन्य विद्वानों के मत से भाव दो प्रकार के माने गए हैं-- १. मौलिक अथवा एकाकी, तथा २. तद्भव अथवा मिश्र । जो भाव स्वतन्त्र रूप से अकेले अनुभूत होते हैं वे मौलिक भाव हैं--जैसे, क्रोध, भय, हर्ष शोक, आश्चर्य आदि । और जो कई एक साथ अनुभूत होते हैं वे तद्भव अथवा मिश्रभाव हैं, जैसे दया, कृतज्ञता, पश्चात्ताप आदि । किसी के कष्ट अथवा शोक का अनुभव करके ही उस पर दया आती है[1] ।

कुछ विद्वानों ने भावों तथा भावकोशों का पृथक् परिगणन किया है[2]। किन्तु पूर्वोक्त भावविषयक सभी विवेचन लोक-जीवन में भावों का अनुशीलन करके विद्वानों ने किया है । यहां हमारा प्रस्तुत विषय काव्यगत भावों का विवेचन है । अस्तु !

काव्य-भाव

लोक-भावों में तथा काव्यगत भावों में बहुत अन्तर है । लोकजीवन में अनुभूत होने वाले भाव सुख-दु:ख-मोह रूप होते हैं, किन्तु काव्य से प्राप्त होने वाले भाव सभी सत्त्वविशिष्ट होने के कारण सुखमय अथवा आनन्दमय होते हैं । उस समय आत्मा का चिन्मय अंश उसे आनन्द रूप देता है । रसानुभूति में मनोवेग नहीं रहता, अपितु मनोवेग का संस्काररूप आनन्दात्मक स्मरण रहता है, क्योंकि मनुष्य काव्य-नाटक में उन इच्छाओं की पूर्ति देखता है, जो लोकजीवन में नहीं कर पाता[3] । 'अबुद्धिपूर्वक-अनिच्छा-पूर्वक-स्वाद नहीं, किन्तु बुद्धिपूर्वक, इच्छापूर्वक, आस्वादन की अनुरागी चित्तवृत्ति का नाम 'रस' है । भाव(क्षोभ, संरम्भ, संवेग, आवेग, उद्वेग, आवेश, अंग्रेजी में इमोशन) का अनुभव रस नहीं है, किन्तु उस अनुभव का स्मरण प्रतिसंवेदन, आस्वादन, 'रसन' रस है । (भावस्मरणं रस:) । और आस्वादन का रूप यह है -- मैं क्रोधवान् हूं (अहं क्रोध वान् अस्मि) , मैं शोकवान् या अनुशोकवान् हूं, मैं भक्तिमान हूं, मैं ईर्ष्यावान् हूं , मैं

---

१. द्रष्टव्य रसमीमांसा, पृ० १६६
२. वही, पृ० १६६
३. साइन्स आफ इमोशन्स, ३०६

बलवान् हूं । मैं सुरुप हूं । अर्थात् 'मैं' हूं -यही रस का सारतत्त्व है[१]।'

काव्य जीवित-रस

यही रस काव्य का जीवितसर्वस्व है इसे प्राय: सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है । ध्वनि-सिद्धान्त अथवा व्यञ्जना-व्यापार के कट्टर विरोधी महिमभट्ट ने स्पष्ट शब्दों में इसको स्वीकार किया है कि रसादि रूप काव्य की आत्मा के प्रति तो किसी का वैमत्य है ही नहीं[२]। वैमत्य तो उसके स्वरूप बोध की विधा के विषय में है । कोई इसे वाच्य मानता है कोई अनुमेय तथा कोई व्यङ्ग्य आदि , कोई उसे काव्य का अलङ्कार कहता है, कोई गुण और कोई आत्मा आदि । किन्तु काव्य में रस की विशिष्ट सत्ता के विषय में किसी को कोई सन्देह नहीं । जैसे यह जगत् भीतर बाहर से ~~विशिष्ट सत्ता के~~ ईशावास्य अथवा आत्म-व्याप्त है उसी प्रकार काव्य के भीतर तथा बाहर रस व्याप्त रहता है । उस रस के स्वरूप पर विचार करने पर वस्तुस्थिति यही मिलती है कि रस एक विशिष्ट दशा में स्थित भाव ही है । वह दशा है आस्वाद्य मानता[३], किन्तु रस-दशा को प्राप्त करने की योग्यता सभी भावों में नहीं होती । वह केवल स्थायिभावों में होती है । अतएव आचार्यों ने काव्यगत भावों के तीन वर्ग किये हैं- १. स्थायी, २. सात्त्विक तथा ३. व्यभिचारी । लोक में जिन्हें चित्त-वृत्तियां या मनोवृत्तियां (Sentiments) कहते हैं, काव्य नाट्य में प्राय: वे ही भाव कहलाते हैं । भाव शब्द लोक में नहीं प्रयुक्त होता । वह काव्य-नाट्य का पारिभाषिक पद बन गया है । जो काव्यगत अर्थ को वाणी-अङ्ग तथा सत्त्व से युक्त अथवा प्रकट करके उनकी भावना अथवा अनुभूति करायें उन्हें भाव कहते हैं[४] । लौकिक चित्तवृत्तियां ही काव्य में वर्णित होकर अभिनयों द्वारा अपने को भावित अथवा आस्वाद्यमान कराती हैं । दूसरे शब्दों में वे सामाजिकों के मन को भावित अथवा व्याप्त कर लेती हैं , अत:

---

१. रसमीमांसा— पृ० ७

२. 'काव्यस्यात्मनि सङ्गिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमति: ।'

३. 'नाना [illegible] अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति ।'

— ना०शा०, अ० ६

४. 'वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावा:' — वही, अध्याय ७

भाव कहलाती है[१]। भाव शब्द की व्युत्पत्ति करते समय आचार्यों ने उसमें णिच् प्रत्यय लगाकर उसका करना, वासित करना तथा व्याप्त करना अर्थ किया है[२]। ये भाव मूलत: कवि की चित्तवृत्तियाँ ही हैं, जो उसके अनादि प्राक्तन संस्कारों का प्रतिभान रूप होती हैं, वे लौकिक विषयजन्य राग नहीं हैं। उनमें देशकाल आदि के कारण भेद नहीं होता, वे मानव मात्र की सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक सनातन सर्वसाधारण अनुभूतियाँ होती हैं। उस वर्णनानिपुण कवि की उन्हीं चित्तवृत्तियों को वाक्, अङ्ग, मुख-राग तथा सत्त्व के अभिनयों द्वारा जो आस्वाद्ययोग्य बना दे, उसे भाव कहते हैं[३]। कवि जब भावपूर्ण होता है, तभी कविता की सरस स्रोतस्विनी प्रवाहित होती है, अर्थात् जब किसी प्रेरक कारण से उसकी किसी चित्तवृत्ति का उद्रेक होता है, उस समय वह तन्मय होकर अपनी अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमता नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के सहारे स्वचित्तवृत्तिव्यञ्जकरसविशद-वैशद्यसुन्दर काव्य का निर्माण करता है[४]। जैसे पय:-पूर्ण कुम्भ से जलसीकर छलकते हैं, वैसे ही भावपूर्ण चित से सधे छन्द, वृत्त आदि द्वारा नियन्त्रित चित्तवृत्ति के व्यञ्जक शब्द निकलते हैं और काव्य कहलाते हैं। इस प्रकार वे कवि के भाव ही उन काव्य शब्दों से व्यक्त होते हैं, जिन्हें पढ़कर या सुनकर सहृदय भी उसी प्रकार से भावनिमग्न हो जाता है — वे (अभिव्यज्यमान) भाव ही काव्य के प्राण होते हैं[५]।

---

१. भावयन्ति चित्तवृत्तयएवालौकिकावाचिकाद्यभिनयप्रक्रियारूढत्वास्वात्मानं लौकिकदशाया-मनास्वाद्यमप्यास्वाद्यं कुर्वन्ति। यद्वा भावयन्ति व्याप्नुवन्ति सामाजिकानां मन इति भावा:। (भावना as आयुर्वेद) — काव्यानुशासन, अध्याय २

२. भू इति करणे धातुस्तथा च भावितं वासितं कृतमित्यनर्थान्तरम् (एकार्थ:) — भारती लोके पि च प्रसिद्धम् — अहो ह्यनेन गन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितम् इति। तच्च-व्याप्त्यर्थम्। — न०शा०, अध्याय ७

३. "वागङ्गमुखरागेण सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते॥ — ना०शा०, अध्याय ७

४. "यावत् पूर्णो न भवति तावन्नैव वमत्यमुम्॥" (— भट्टनायक लोचन में उद्धृत)

५. "काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादि-कवे: पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ: शोक: श्लोकत्वमागत:॥
— ध्वन्यालोक १।५

महाकवियों की सरस्वती उस वस्तु का निष्पन्दन कर उनकी अलौकसामान्य प्रतिभा को अभिव्यक्त करती है[१]। भानुदत्त ने रस के अनुकूल शारीरिक तथा मानसिक विकार को भाव कहा है[२]। विकार का यहाँ अर्थ है अन्यथाभाव अर्थात् अन्य प्रकारता (अथवा परिवर्तन)[३] यह विकार दो प्रकार का होता है — १. आन्तर अथवा मानस तथा २. शारीर। आन्तरभाव को भी दो प्रकार का माना गया है — १. स्थायी भाव तथा २. व्यभिचारी भाव। और शारीर भाव हैं सात्त्विकआदि अनुभाव[४]। भानुदत्त का मत है कि भाव को केवल मनोविकार मानना और देहविकार स्वेद आदि के प्रति भाव शब्द का प्रयोग गौण मानना ठीक नहीं। क्योंकि भाव शब्द का प्रयोग शारीरिक एवं मानसिक विकारों के लिए सामान्यरूप से होने के कारण किसी एक के लिए ही मान लेना अप्रामाणिक होगा। लक्षण के अनुसार लक्ष्य की व्यवस्था कभी नहीं की जाती अपितु सदा लक्ष्य के अनुसार ही लक्षण बनता है[५]। काव्य में तीन व्यक्तियों के भावों की एकरूपता होती है — मूलनायक, कवि एवं सहृदय। मूलतः जिनभावों की अनुभूति आदि नायकों ने की रही होगी उन्हीं को अपनी कल्पना (प्रतिभा) से साक्षात्कार कर कवि तन्मय हुआ, फिर उसके रचे उस काव्य को पढ़ या सुन कर सहृदय भी उन्हीं भावों में निमग्न होता है[६]। कविगत भाव बीज रूप है, काव्य उसका वृक्ष रूप

---

१. 'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलौकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥
— ध्वन्यालोक १।६

२. 'रसानुकूलो विकारो भावः' —र०त०— १

३. 'विकारो न्यथाभावः' —र०त०— १

४. विकारश्च द्विविधः। आन्तरःशारीरश्च। आन्तरोपि द्विविधः। स्थायिभावो व्यभिचारिभावश्चेति। शारीरस्तु सात्त्विकभावादिः।
—र०त०— १

५. यत्तु मनोविकारो भावः। तथा च देहविकारे स्वेदादौ भावपदप्रयोगो गौण इति। तन्न। तुल्यवदुभयत्रभावपदप्रयोगेण विनिगन्तुमशक्यत्वात्। 'लक्षणानुरोधेन लक्ष्याव्यवस्थितेः।' —र०त० १

६. नायकस्य कवेः श्रोतुःसमानो नुभवस्ततः' —लोचन— १।६

तथा

तथा सामाजिक द्वारा रसास्वादफल रूप है[१]।

अब काव्यगत भावों अथवा रसों प र विचार करने से उसमें दो पक्ष दिखाई पड़ते हैं — १. आश्रय-पक्ष तथा २. आलम्बनपक्ष । लोक में किसी कारण से किसी के मन में कोई चित्तवृत्ति उदित होती है । फिर उस चित्तवृत्ति के उदय की प्रतिक्रिया रूप अथवा फलरूप से उस व्यक्ति के मन-वचन तथा शरीर में कुछ विशिष्ट क्रियायें दिखाई पड़ती हैं तथा साथ ही उस चित्तवृत्ति की सहकारिणी अन्य चित्तवृत्तियां भी उदित होती हैं । इस प्रकार अपने कारण, कार्य एवं सहायक से युक्त वे प्रधान चित्तवृत्तियां आठ अथवा निर्वेद सहित नौ गिनी गई — रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय तथा निर्वेद/लोकजीवन में इनमें कुछ सुख, कुछ दु:ख तथा कुछ मोह रूप होती हैं । मानव प्राणी इन संविदाओं से परिवेष्टित रहता है । सभी दु:ख से विमुख, सुखास्वादनलालसा तथा रिरंसा से युक्त रहते हैं[२]। अपनी उत्कर्षमानिता के कारण दूसरे का उपहास करते हैं । जब उत्कर्ष की हानि की शङ्का होती है तो शोक करते हैं । अपाय के प्रति क्रोध करते हैं तथा अपाय के हेतु का परिहार करने के लिए समुत्साह दिखाते हैं । विनिपात से भय करते हैं । अयुक्तता के प्रति जुगुप्सा करते हैं । कहीं किसी के कर्म में वैचित्र्य देख कर विस्मय करते हैं और किसी वस्तु को त्यागने की इच्छा से उसके प्रति वैराग्य - भावना के कारण शान्ति पाते हैं । इन चित्तवृत्तियों की वासनाओं से कोई प्राणी शून्य नहीं होता । हां, किसी में कोई न्यून, कोई अधिक रहती है । किसी में

---

१. मूलं बीजस्थानीय: कविगतोरस: कविर्हि सामाजिक-तुल्य एव । ततो वृक्षस्थानीयं काव्यं, तत्र पुष्पादिस्थानीयो भिनयादि नटव्यापार: । तत्र फलस्थानीय: सामाजिक रसास्वाद: । तेन रसमयमेवविश्वमिति । (ना०शा०, अ०भा० ६)

वागङ्गमुखरागात्मना भिनयेन सत्त्वलक्षणेन चाभिनयेन करणेन कवे: साधारणस्यापिवर्णनानिपुणस्य य:अन्तर्गतो नादिप्राक्तनसंस्कारप्रतिमानमयो न तु लौकिक-विषयजो रागस्स एव देशकालादिभेदाभावात् सर्वसाधारणीभावेनास्वादयोग्यस्तं भावयन् आस्वादयोग्यीकुर्वन् भावश्चित्तवृत्तिलक्षण एवोच्यते ।

— भारती

उचित रूप में नियन्त्रित रहती है, किसी में नहीं । इन्हीं में उन मनोवृत्तियों का भी अन्तर्भाव हो जाता है, जिन्हें पूर्वोक्त प्रकार से मनोविज्ञान के मनीषियों ने दूसरे नामों से उल्लिखित किया है ।

काव्य-नाट्य में वर्णित-प्रदर्शित उन चित्तवृत्तियों को उद्रिक्त करने वाले कारणों को विभाव कहते हैं, कारण नहीं । क्योंकि उनसे (नाटक का अभिनय करने वाले) नटादिकों (तथा काव्य के श्रावयिता कवि आदि) का कोई सम्बन्ध नहीं । नटादि की कोई चित्तवृत्ति उससे नहीं उदित होती । वह तो केवल, शिक्षा, अभ्यास आदि के सहारे राम आदि का सारूप्य प्रदर्शित (अभिनीत) करता है । वह रसका आस्वादक नहीं होता[1]। यह है कि उन कारणों को देख अथवा उनका वर्णन सुनकर वहां उपस्थित सहृदयों को वे किसी विशिष्ट व्यक्ति के ही भाव-विशेष के कारण नहीं प्रतीत होते, अपितु सर्वसाधारण के उस विशिष्ट भाव के उद्बोधक लगते हैं । और सहृदय स्वयं भी उन्हें देख या सुनकर उस क्षण अपने सीमित व्यक्तित्व का सम्बन्ध भूल कर, सत्त्वभाव के उदय के कारण, एक साधारणीभावुकहृदयवान् होकर, किसी अन्य वस्तु की वेदना से शून्य, वासना रूप में स्थित अपनी उन उद्रिक्त चित्तवृत्ति का आस्वादन करता है । (इसे साधारणीकरण प्रक्रिया कहते हैं ।) अतएव उन्हें लोकदृष्ट्या कारण न कह कर काव्यदृष्ट्या विभाव कहा जाता है — विभावन का अर्थ है जो विशिष्ट रूप से किसी भाव का अनुभव कराये[2]। कारण को विभाव नाम सहृदय के सम्बन्ध से दिया गया है ।

इसके पश्चात् काव्य नाट्य में वर्णित चित्तवृत्ति के आश्रयभूत नायक अथवा नायिका की उन कारणों से जन्य सात्त्विक, वाचिक आदि चेष्टायें प्रदर्शित की जाती

---

१. शिक्षाभ्यासादिमात्रेण राघवादेः सरूपताम् ।
दर्शयन्नर्तको नैव रसस्यास्वादको भवेत् ।।

— सा०द०

२. विभावनं नाम रत्यादेर्विशेषणास्वादाङ्कुरणयोग्यतानयनम् ।

— सा०द० ।

है और उनसे भी सामाजिकों के मन में पूर्वत: ही विभावों से उद्रिक्त चित्तवृत्तियों का और अधिक अनुभावन होता है। अतएव उन चेष्टाओं को चित्तवृत्तियों का लोकदृष्ट्या कार्य न कह कर काव्यदृष्ट्या अनुभाव कहा जाता है[१]।

फिर उस नाटक (या काव्य) के आश्रय में ही उन चित्तवृत्तियों की सहकारिणी ग्लानि, वितर्क आदि चित्तवृत्तियों का अभिनय होता है। वे भी साधारणोपाय बल से ही सहृदय के हृदय में उन पूर्वादिक चित्तवृत्तियों का और अधिक संचारण कराती हैं। अत: वे लोकदृष्ट्या सहकारी न कहलाकर काव्यदृष्ट्या संचारीभाव कहलाते हैं[२] (इन्हीं को व्यभिचारी भाव भी कहते हैं ~~-) व्यभिचारी आदि~~ विशेषेण आभि ~~मुख्येन चरन्तो~~ व्यभिचारिण:) इस प्रकार लोक में चित्तवृत्तियों के कारण, कार्य तथा सहकारी तत्त्व काव्यनाट्य में विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव होकर रति आदि स्थायी चित्तवृत्तियों के उद्रेकरूप रसोद्‌बोध में प्रपानकरसन्याय से तीनों ही कारण बनते हैं। (जैसे प्रपानक में शक्कर, इलायची, मिर्च आदि सभी वस्तुओं के मिलने से एक नूतन स्वाद मिलता है, वैसे ही विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी—तीनों के संयोग से स्थायी भाव, उन तीनों को साथ लिये हुए स्वाद्यमान होता है और वही रस कहलाता है[३]।)

रस-स्वरूप—

यह रसानन्द ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा गया है[४]। लोक में चित्तवृत्तियां तो कोई

---

१. "अनुभावनमेवम्भूतस्य रत्यादे: —समनन्तरमेव रसादिरूपतया भावनम्।"
— सा०द०

२. संचारणं तथाभूतस्यैव तस्य सम्यक्चारणमिति।" (—सा०द० ३।१३)

३. "कार्य-कारणसंचारिरूपा अपिहि लोकत:।
रसोद्‌बोधे विभावाद्या:कारणान्येव तेमता: ।।
प्रतीयमान: प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते।
तत: सम्मिलित: सर्वो विभावादि: सचेतसाम्।
प्रपानकरसन्यायाच्चर्व्यमाणोरसोभवेत ।।
—सा०द० ३।१४-१६

४. अ. स्वाद: काव्यार्थसंभेदोब्रह्मानन्दसमुद्भव: " — ना०शा०
परब्रह्मास्वादसब्रह्मचारित्वंचास्त्वस्यरसास्वादस्य" —सा०द० ३।१४-१६
ब. "ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्" — का०प्र० उल्लास ३

सुख, कोई दु:ख तथा कोई मोहस्वभाव वाली होती हैं, किन्तु काव्य-नाट्य में वे सब रस्यमानदशा में पहुंच कर केवल परमानन्द रूप से आस्वादित होती हैं। अतएव अभिनव का मत है कि सभी रस सुख प्रधान ही होते हैं, क्योंकि सभी स्वसंवित् की चर्वणा रूप ही हैं, जो प्रकाशानन्द रूप है अत: सभी रसों को आनन्द रूप ही मानना चाहिए। और जब आनन्द मय ज्ञानस्वरूप आत्मा का ही रसरूप में आस्वादन होता है तो उसमें दु:ख की शङ्का ही कैसे हो सकती है[1]। उस समय अश्रुपात आदि भी चित्त के द्रवीभूत हो जाने के कारण होते हैं, दु:ख के कारण नहीं। उस समय सहृदय में केवल शुद्ध सत्त्व -गुण का उद्रेक रहता है, रजस्, एवं तमस् विगलित रहते हैं, अत: उस दशा में जो भी भाव मन में जागरित होता है, वह सत्त्वगुण के आनन्द से विशिष्ट हो जाता है। अत: वह भाव केवल सत्त्वानन्दमय हो जाता है[2]। पण्डितराज जगन्नाथ ने रस की आनन्दरूपता के विषय में (अभिनवगुप्त, मम्मट भट्ट आदि) पूर्वाचार्यों के अनुसार मान्य मत का निष्कर्ष इन शब्दों में तत्त्वत: उपस्थित किया है। "जैसे कसोरे आदि से ढंका हुआ दीपक सन्निहित वस्तुओं को प्रकाशित नहीं कर पाता है किन्तु उस ढक्कन के हट जाने पर निकटस्थ वस्तुओं को प्रकाशित करता है तथा स्वयं भी प्रकाशित होता है, वैसे ही आत्मरूप चैतन्य अज्ञानरूप आवरण के हट जाने पर, अन्त:करण-वृत्ति रूप स्वसन्निहित विभावादि मिश्रित रति आदि स्थायी भावों को प्रकाशित करता है अर्थात् आस्वाद का विषय बनाता है और स्वयं भी प्रकाशित होता है। ये रति आदि भाव तो अन्त:करण के धर्म होने के कारण साक्षी अर्थात् आत्मा द्वारा भास्य अर्थात् प्रकाशित कहे गए हैं। किन्तु विभावादि बाह्य पदार्थों को साक्षिभास्य कैसे माना जाय ? इसका समाधान यह है कि जैसे स्वप्न में देखे गए तुरंग आदि तथा जागर्ति में रांगे आदि में रजत आदि की प्रतीति केवल साक्षिभास्य ही मानी जाती है अर्थात् केवल आत्मा के द्वारा ही उन चीजों का भान होता है, क्योंकि उस अवस्था में वस्तुत: वे चीजें हैं नहीं केवल काल्पनिक हैं, वैसे ही

१अ तत्र सर्वे भी सुखप्रधाना: । स्वसंविच्चर्वणारूपस्यैक घनस्य प्रकाशस्यानन्दसारत्वात्....
आनन्दरूपता सर्वरसानाम् । —अभि० भारती, पृ० २८२

ब. अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते । तत्रका दु:खाशङ्का — अ०भा०

२. सा०द० ३।८

उन विभावादि को भी साक्षिभास्य मानने में कोई विरोध नहीं, अर्थात् शकुन्तला आदि भी भावनारूढ़ होने पर वास्तविक नहीं काल्पनिक ही हैं, अत: उस अवस्था में उन सबों का भान भी आत्मचैतन्य मात्र से हो सकता है बाह्य चक्षुरादि इन्द्रियों से नहीं। उस समय सहृदयता की सहायता से परिपक्व बनी हुई काव्यार्थविषयक भावना ही सहृदयों की आत्मा को ढंके हुए अज्ञानावरण को दूर कर देगी – अर्थात् काव्यवर्णी व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा सहृदय के चित्त में रति आदि स्थायीभावों से युक्त अज्ञानावरण से मुक्त आत्म चैतन्य स्वरूप आनन्दाकार वृत्ति उत्पन्न होती है – अर्थात् सहृदय उस आनन्द में लीन हो जाता है --तन्मय होजाता है, ठीक वैसे ही जैसे योगी के चित्त में सविकल्प समाधिकाल में आनन्दाकार वृत्ति होती है। अन्य लौकिक सुखों से यह रसात्मक सुख विलक्षण होता है, क्योंकि लौकिक सुखों का अनुभव करते समय चैतन्य का अन्त:करण की वृत्तियों के साथ सम्बन्ध रहता है और यह रसरूप आनन्द अन्त:करण की वृत्तियों से युक्त चैतन्यस्वरूप नहीं अपितु शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, अर्थात् रसात्मक आनन्द का अनुभव करते समय चित्तवृत्ति आनन्दरूप में ही परिणत हो जाती है अत: वह चित्तवृत्ति उस आनन्द का अवच्छेदक नहीं हो पाती, जिससे यह आनन्द अनवच्छिन्न ही रहता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि अज्ञानरूप आवरण से मुक्त शुद्ध चैतन्य का विषय बना हुआ रति आदि स्थायीभाव रस कहलाता है[१]।

---

१. "यथा हि शरावादिनापिहितो दीपस्तन्निवृत्तौ सत्यां सन्निहितान् पदार्थान् प्रकाशयति स्वयं च प्रकाशते–एवमात्मचैतन्यं विभावादिसंवलितान् रत्यादीन् प्रकाशयत् स्वयमपि प्रकाशते। अन्त:करणधर्माणामपि साक्षिभास्यत्वाभ्युपगमेन यथा स्वप्ने तुरगादीनां यथा वा जागृति रङ्गरजतादीनां साक्षिभास्यत्वं स्वीक्रियते, एवं विभावादीनामपि साक्षि-भास्यत्वम् अविरुद्धमेव। उत्पन्नो रसो विनष्टो रस इति व्यपदेशस्तु व्यञ्जक-विभावादि-चर्वणाया: आवरणभङ्गस्य वा उत्पत्तिविनाशयो: रसे उपचारात् निर्वाह्य:। यथा हि सविकल्पसमाधौ वितर्क–विचाराद्यालम्बनेनतदाकारा योगिनश्चित्तवृत्तिरूपजायते तथा सहृदयस्य निजसहृदयतावशोन्मिषितेनविभावादिचर्वणामहिम्ना रत्यादिस्थाय्युपहितस्वरूपयाऽऽनन्द-काराचित्तवृत्ति:सम्पद्यते तन्मयीभवनंचरस इति। आनन्दो ह्ययं न लौकिकसुखान्तरसाधारण: अन्त:करणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्वरूपत्वात्। इत्थंच भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादि: स्थायी-भावो रस इति स्थितं, भवति।"

— रसगंगाधर

इस प्रकार अभिनव-मम्मट आदि आचार्यों के मत से काव्य-नाट्य के श्रवण दर्शन के समय रजस् के विगलन हो जाने पर शुद्ध सत्त्व गुण के उदय होने से अथवा शुद्ध चित्त के प्रकाश होने से जो भी भावानुभूति की जाती है वह केवल आनन्दमयी ही होती है और वही रस अथवा रसनदशा कहलाती है, अर्थात् चित्त उसका विशेषण है और रसन स्थायी भाव का होता है। पण्डितराज ने आगे इस मत में थोड़ा संशोधन किया है। उनका अपना विचार है कि आत्मा को आनन्द अथवा रस रूप कहा गया है। अत: रस तो आत्मा ही है। क्योंकि आनन्द आत्मा का ही रूप है। अत: रसन अथवा आनन्दमयी अनुभूति तो आत्मा अथवा चित् की होती है — स्थायीभाव उसके विशेषण रहते हैं- अर्थात् जब रतिविशिष्टाचित् का रसन होता है तो हम उसे शृङ्गाररस कहते हैं—जब हासविशिष्टाका, तो हास्य इत्यादि। रस में चित् का अंश रहता है, अतएव वह अनित्य एवं इतरभास्य भी रहता है। इसकी चर्वणा का अर्थ है चित् के आवरण का भङ्ग होना अथवा अन्त:करण वृत्ति का तदाकार हो जाना[1]।

रसानन्दस्वरूप पर मतभेद—

साङ्ख्यशास्त्र की दृष्टि से मधुसूदन सरस्वती ने रसानन्द के मूल में सत्वगुण को माना है। चित्त का द्रवीभाव सत्त्व के कारण ही होता है। और वही स्थायी को रसता देता है। सुखरूपता, केवल सत्त्वगुण की विशेषता है। क्रोध में, जो रजोगुण से सम्बन्धित है, तथा शोक में, जो तमोगुण से सम्बन्धित है, सत्त्व का अति स्वल्प अंश रहता है। अत: इन स्थायिओं की रसदशा में आनन्द की वह पूर्णता नहीं रहती जो सत्त्व-गुण-बाहुल्य वाले भावों की रस दशा में होती है। यहां रजस् तथा तमस् का अंश मिश्रित रहता है। अत: दोनों प्रकार के रसों में आनन्द का

---

१. "रसो वै स:।" "रसं ह्येवायं लब्ध्वा नन्दीभवति "इत्यादीनां श्रुतीनां स्वारस्याद् आत्मैव रस इत्यवसीयते। तेन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणाचिदेव रस:। सर्वथैव चास्या विशिष्टात्मनो विशेषणं, विशेष्यं वा चिदंशमादाय तु अनित्यत्वमितर-भास्यत्वं चेति। चर्वणाचास्य चिद्गतावरणभङ्ग एव प्रागुक्ता, तदाकारान्त:-करणवृत्तिर्वेति।"

— रसगङ्गाधर

तारतम्य मानना ही पड़ेगा। सभी रसों में तुल्य सुख का अनुभव तो ही नहीं सकता[१]।

किन्तु वेदान्तसिद्धान्त की दृष्टि से उसी रसस्वरूप पर विचार करते हुए मधुसूदन ने भी अपने सांख्य मत का एकदम खण्डन कर दिया। तब उनका कहना है कि यद्यपि काव्यरस लौकिक रस से श्रेष्ठ है किन्तु इसकी समता ब्रह्मानन्द से नहीं की जा सकती - क्योंकि ब्रह्मानन्द की तुलना में तो काव्य- रसानन्द भी लौकिक ही कहा जायगा, यहां भक्तिरस, उसमें स्थायी तथा आलम्बन दोनों ही परमात्मा के होने के कारण, ब्रह्मानन्द के समान माना जा सकता है। फिर काव्यार्थ रूप से वर्णित वे रत्यादिभाव लौकिक ही रहते हैं तथा सुख, दु:ख आदि रूप के होते हैं, किन्तु बोद्धा अथवा सहृदय जब उनका आस्वादन करने लगता है तो वे सब अलौकिक तथा केवल सुख-रूप हो जाते हैं[२]—

इनके अतिरिक्त रस के सुख-दु:खादि स्वरूप पर अन्य आचार्यों ने भी अपने निश्चित मत दिये हैं। यहां प्रसङ्गत: उनके विषय में इतना ही कहना है कि कुछ आचार्य ऐसे भी हैं जो सभी रसों को आनन्द रूप ही नहीं मानते। हरिपालदेव ने अपने `संगीत-सुधाकर` में तेरह रसों का उल्लेख किया है, जिसमें शृङ्गार रस को सम्भोग विप्रलम्भ से पृथक् ही माना है, जिसका स्थायी भाव आह्लाद होता है। सम्भोग और विप्रलम्भ को उन्होंने दो प्रकार का पृथक् ही रस कहा है, जिनके स्थायी भाव क्रमश:

---

१. `द्रवी भावस्य सत्व धर्मत्वात्तं विना च स्थायिभावासम्भवात् सत्त्वगुणस्य च सुखमय-त्वात् सर्वेषामाभावानां सुखमयत्वे पि रजस्तमोंशमिश्रणात्तारतम्यमवगन्तव्यम्। अतो न सर्वेषु रसेषु तुल्यसुखानुभव:।

— भक्तिरसायन १।१८ की टीका:।

२. `काव्यार्थनिष्ठारत्याद्या: स्थायिन: सन्तिलौकिका:।
तद्बोद्धृनिष्ठास्त्वपरे तत्समा अप्यलौकिका: ।।
बोध्यनिष्ठा यथास्वं ते सुख-दु:खादिहेतव:।
बोद्धृनिष्ठास्तु सर्वे पि सुखमात्रैक- हेतव: ।।

— भक्तिरसायन ३।४,५

'रति' तथा 'अरति' होती हैं [1]। उनका स्थिर मत है कि सम्भोग, विप्रलम्भ दोनों को एक ही रस के दो पक्ष नहीं मानने चाहिए, क्योंकि शृङ्गार तो शुचि, उज्ज्वल तथा हर्षवर्धन होता है, जबकि विप्रलम्भ मलिन, दुःखकारी तथा अप्रियावह माना गया है — अतः दोनों एक नहीं हैं [2]। हां, विप्रलम्भ को सम्भोगजन्य उसी प्रकार कह सकते हैं, जैसे भयानक को वीरजन्य [3]। शृङ्गार उच्चवर्ग के प्राणी (मनुष्य) में कहीं कहीं दिखाई पड़ता है। अतः अनित्य है, जब कि सम्भोग पशुपक्षिमनुष्य सब में गोचर होता है, अतः नित्य कहा जायगा [4] — जिन पशुओं तथा पक्षियों के प्रेम को आचार्यों ने रसाभास कहा है, वह हरिपाल के सम्भोग रस में आता है। इस प्रकार उन्होंने शृङ्गार एवं सम्भोग दोनों से पृथक विप्रलम्भ ~~रस~~ को दुःखरूप ही माना है।

केवल हरिपाल ही नहीं, रुद्रभट्ट ने भी विप्रलम्भ की रति में आनन्द का अभाव माना है [5]।

---

१. आह्लादः प्रथमं................ ।
.... प्रीत्यरती तथा ।।
प्रत्येकं स्थायिनोभावाःक्रमात् प्रत्येकमीरिताः ।'

— (पृ० १७ — दि एन०ओ०आर० में उद्धृत, पृ०१४६)

२. शृङ्गारस्यैव भेदौद्वौकथितौ तदसाम्प्रतम् ।
उज्ज्वलः शुचिरित्युक्तः शृङ्गारो हर्षवर्धनः ।
मलिनोदुःखकारी च विप्रलम्भो प्रियावहः ।
अतः शृङ्गारतो भिन्नो विप्रलम्भोदाहृतः ।।

— (दी एन०ओ०आर०में उद्धृत पृ० १४५)

३. ' भयानकस्य वीरस्य जनास्यजनकस्य च ।
यो भेदो विप्रलम्भस्य संभोगस्य च स स्मृतः ।। (वही)

४. ' अनित्यस्तत्र शृङ्गारः क्वाचित् को दृश्यते यतः ।
पशुपक्षि-मृगाद्येषु यतश्च न विलोक्यते ।।
सर्वजन्तुषु दृश्यत्वात् संभोगस्यास्ति नित्यता ।
अतो मयापि सम्भोगो रसःशृङ्गारतः पृथक् ।।

— दी एन०ओ०आर० में उद्धृत पृ० १४५

५ आनन्दात्मकत्वं रतेः कैश्चिदुक्तं तदचिन्त्यम् , विप्रयोगादेः आनन्दात्मकत्वस्य अयोगात् ।

यद्यपि वे विप्रलम्भ को एक पृथक् रस नहीं मानते । उन्होंने रसमात्र को कुछ सुख तथा कुछ दु:ख रूप बताया है[1]।

भोज ने भी रस को सुख-दु:ख रूप माना है[2]। किन्तु उन्होंने दु:खरूप में रस को बताते हुए स्पष्टत: लौकिक रस की ही ओर संकेत किया है । इसी प्रकार `नाट्यदर्पण` में भी रामचन्द्रगुणाचन्द्र ने भी रस को सुख-दु:खात्मक माना है[3]। उनका कहना है कि उन दु:खात्मकरस वाले नाटकों में भी जो हम आनन्द का अनुभव करते हैं वह नाट्यकार अथवा नाटक की कला- प्रवीणता के कारण है , किन्तु जैसा कि अभी संक्षेप में संकेत किया गया है , रस को आनन्दरूप ही माना है, तथा उसे लौकिक भाव से पृथक् कहा है । अभिनव ने सुख-दु:खादि विविधरूप लौकिक भावों की चर्वणारूप[4] , रस को केवल आनन्दरूप माना है । वहाँ दु:ख की शङ्का ही क्या ।[5] धनञ्जय ने रसास्वाद को आत्मानन्द समुद्भूत अतएव आनन्दरूप कहा है[6]। मम्मट ने काव्य को में रस को सकलप्रयोजन मौलिभूत माना है तथा रसस्वाद को आनन्दरूप माना है[7]। धनञ्जय ने रसस्वाद को आत्मानन्द समुद्भूत अतएव आनन्द रूपक ही कहा है । विश्वनाथ ने तो रस को सत्त्वोद्रेक के कारण अखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय ब्रह्म स्वादसहोदर कहा है[8]।

---

१. रसस्य सुखदु:खात्मकतया तदुभयलक्षणात्वेन उपपद्यते । अतएव तदुभयजनकत्वम् ।

— रसकलिका, पृ० ५१, ५२ दी एन०ओ०आर० में उद्धृत, पृ१५५

२. `रसा हि सुखदु:खावस्थारूपा:`

३. `सुखदु:खात्मको रस:`

— श्लोक १०६, पृ० १५८

४. विलक्षणाकारसुखदु:खादिविचित्रवासनानुवेधोपनतहृद्यतातिशयसंविच्चर्वणान्तमना- भुञ्जते । — अभि०भार०

५. अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते । तत्र का दु:खाशङ्का । — अभि०भार०

६ - स्वाद: काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भव: । — दशरूपक , ४।४३

७. सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादन-समुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम् — —काव्यप्रकाश ।

८. `सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्द चिन्मय: । वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद-सहोदर: `

— साहित्यदर्पण ३।२

उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि लौकिक शोक हर्षादिके कारणों से लोक में शोक-हर्षादि ही उत्पन्न होते हैं यह सिद्धान्त लोक में यथार्थ है किन्तु काव्य में सभी प्रकार के विभावादि कों से केवल सुख ही उत्पन्न होता है[1]। और जैसा कि अभी कहा गया है पण्डितराज जगन्नाथ का तो निर्णीत मत है कि रति आदि स्थायी भाव स्वत: प्रकाशमान आत्मानन्द के साथ अनुभूत होकर रस में परिणत हो जाते हैं[2]। अस्तु ।

रसयोग्यता वाले भाव-

भरत ने केवल उन्हीं भावों को रस दशा में पहुंचने योग्य बताया है जो भावों के बीच वही हैसियत रखते हैं जो मनुष्यों के बीच राजा अथवा शिष्यों के बीच गुरु रखता है - अर्थात् जो भावों में स्वामिभूत हैं, स्वतन्त्र हैं, ऐसे भाव कुल उनचास भावों के बीच केवल आठ या नौ ही हैं। उन्हें स्थायीभाव कहते हैं। इनके सहायक रूप में अन्य भाव प्रयुक्त होते हैं। जब ये भाव सहायक-सम्पन्न होते हैं तो रस-दशा तक पहुंच जाते हैं - अन्यथा भाव रूप में ही रहते हैं और स्वयं भी किसी दूसरे सर्वथा सम्पन्न भाव के सहायक बन जाते हैं। उस समय उन्हें स्थायी या रस आदि न कह कर केवल भाव कहना चाहिए। क्योंकि स्थायित्व अथवा रसत्व तो उनकी एक विशिष्ट उपाधि है। किन्तु वह भी केवल उन आठ या नौ की ही है अन्य की नहीं। तथापि कुछ अन्य आचार्यों ने इस मत के रहस्य को बिना समझे यहां तक कह डाला कि केवल आठ ही नौ नहीं, अपितु कोई भी व्यभिचारी भाव अन्य व्यभिचारियों से पुष्ट होकर स्थायी भाव कहलाने का अधिकारी होता है। रुद्रट निर्वेदादिक सभी भावों में, मधुर आदि लौकिक स्वादों की भांति रसनीयता होने के कारण, रसत्व मानते हैं। सभी भावों

---

१. "काव्ये पुन: सर्वेभ्यो पि विभावादिभ्य: सुखमेव जायते इति नियमान्नकाश्चिद्दोष:"
— सा०द०, पृ० ३

२. स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणा: - ... इत्यादि-रेव रस: ।
— र०गं०, १.

को रस नाम दिया है[1]—। और साथ ही इसकी टीका करते हुए नमिसाधु ने तो यहां तक कहा है कि —जैसी चित्तवृत्ति या भाव की पुष्टि होगी वही रस कहलायेगा, अन्यथा भाव ही रहेगा। भरत ने तो आठ या नौ को रस कह कर केवल संज्ञा का निर्वाह अथवा प्रसिद्धि का पालन किया है[2]।

अभिनव ने तो एक स्थान पर इस बात का उल्लेख कर दिया है कि कुछ आचार्यों के मत से तो स्थायियों की (भरत ने) नियत संख्या ही नहीं कही थी[3]।

वस्तुत: जो व्यभिचारियों को भी रस-दशा तक पहुंचने के योग्य बताते हैं, उन आचार्यों के मत से भावों के स्थायी तथा व्यभिचारी नाम के दो वर्ग नहीं हैं, कि कुछ भाव केवल स्थायी हों और कुछ केवल व्यभिचारी, अपितु भावों की ये दो अवस्थायें अथवा धर्म हैं। किन्तु इस मत के अधिक समर्थक नहीं हैं। स्थायियों को व्यभिचारी (क्योंकि भरत ने भी जुगुप्सा को, जो एक स्थायी भाव है, शृङ्गार का व्यभिचारी होने से निषिद्ध किया है।) मानने वाले तो बहुत हैं। अभिनव ने तो भरत की ओर से तथा स्वत: भी स्पष्टत: इसे स्वीकार किया है कि स्थायीभाव व्यभिचारी हो सकते हैं। किन्तु व्यभिचारियों को स्थायी भाव होने का गौरव वे नहीं दे सकते, क्योंकि तब अन्य रस भी संभव हो जायेंगे। यदि कोई व्यभिचारी अन्य व्यभिचारियों से पोषित भी होता है तो भी वह रस नहीं कहला सकता। जैसे पुरूरवा का उन्माद, तर्कचिन्तादि व्यभिचारी

---

१. रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः।
निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसाः॥

—का०अ० १२।४

२. "स्थायिभावानामेव रसत्वं भविष्यतीत्याह: —निर्वेदादिष्वपि तद्रसत्वं निकाममस्तीति हेतो: एतेऽपि रसा ज्ञेया:। यस्य तु परिपोषं न गतास्तस्य भावा एव ते अयमाशयो ग्रन्थकारस्य —यदुत नास्ति सा कापि चित्तवृत्तिर्या परिपोषं गता न रसीभवति। भरतेन सहृदयावर्जकत्वप्राचुर्यात् संज्ञां चाश्रित्याष्टौ नव वा रसा उक्ता इति।"

३. "स्थायिषु च सङ्ख्यानोक्तेत्यपरे"

— अभि०भारती भा० १, पृ० २७७

भावों से पुष्ट होकर उनके रतिस्थायीभाव का ही साहाय्य करता है[१]— व्यक्तिविवेक की टीका में एक स्थान पर कुछ स्थायियों की व्यभिचारिता का लेखा दिया गया है[२]।

शाङ्र्गदेवने अपने संगीतरत्नाकर में रत्यादिकों को तब स्थायीभाव होना कहा है, जब वे अधिक विभावों से उत्पन्न हुए हों। थोड़े विभावों से उत्पन्न होने पर उन्हें ही व्यभिचारी कहा जाता है। रसान्तरों में वे इसी (व्यभिचारी) रूप में सम्बद्ध होते हैं। जैसे—शृङ्गार में हास, शान्त में रति, वीर में क्रोध, शोक में भय, भयानक में जुगुप्सा, तथा उत्साह और विस्मय सभी रसों में व्यभिचारी रूप से ही रहते हैं[३]।

इसी प्रकार भानुदत्त ने प्राय: कुछ इन्हीं स्थायिओं को अन्य रसों में व्यभिचारी का कार्य करते बताया है, जैसे हास शृङ्गार में, रति शान्त, करुणा एवं हास्य में, भय और शोक करुणा तथा शृङ्गार में, क्रोध वीर में, जुगुप्सा भयानक में ~~भयानक में~~ तथा उत्साह-विस्मय सभी रसों में[४]।

---

१. स्थायिनोहि व्यभिचारिता भवति, न तु व्यभिचारिणां स्थायिता। एवं हि सति तदास्वादे रसान्तरमपि स्यात्। यत्रापि व्यभिचारिणां स्थायिता। एवं हि सति ~~तदास्वादे~~ व्यभिचार्यन्तरं संभाव्यते, तद्यथापुरुरवस उन्मादे पि तर्कचिन्तादि, तत्रापि-रतिस्थायिभावस्यैव व्यभिचार्यन्तर-योग:। सकेवलममात्यस्थानीयैनोन्मादेन कृतोपराग:।'
—अभि०भारती।

२. स्थायिनामपि व्यभिचारित्वं भवति। यदा रतै देवादिविषयायाः—हासस्यशृङ्गारादौ शोकस्य विप्रलम्भशृङ्गारादौ, क्रोधस्य प्रणयकोपादौ, विस्मयस्य वीरादौ,उत्साहस्य शृङ्गारादौभयस्य अभिसारिकादौ, जुगुप्सायाः संसारनिन्दादौ, शमस्यलोपामिहृतस्य-प्रसादोद्गमादौ।' —व्य०वि०, टी०एस०एस० प्रकाशन, पृ० ११-१२

३. रत्यादयःस्थायिभावाःस्युर्भूयिष्ठ-विभावजाः।
स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नास्त एव व्यभिचारिणः।।
रसान्तरेष्वपि तदा यथा-योगं भवन्तिते।
यथाहि हासः शृङ्गारे रतिः शान्ते च दृश्यते।।
वीरे क्रोधो भयं शोके जुगुप्सा च भयानके।
उत्साहविस्मयौ सर्वरसेषु व्यभिचारिणौ।। —(स०र०,अध्याय ७,पृ०८४०,आन०,१८९६ई०

४. 'स्थायिनो पि व्यभिचरन्ति। हासः शृङ्गारे। रतिः शान्तकरुणाहास्येषु। भयशोकौ करुणा शृङ्गारयोः। क्रोधो वीरे। जुगुप्सा भयानके। उत्साहविस्मयौ सर्वरसेषु व्यभिचारिणौ। — रसतरङ्गिणी, तरङ्ग, ५, पृ० ११४, वेंकटेश

किन्तु रुद्रट की 'रसनाद्रसत्वमेषाम्' वाली घोषणा के अनुसार सभी निर्वेदादि व्यभिचारियों को भी रस-दशा में पहुंचाने वाले सिद्धान्त का भूयसा अनुगमन भोजन ने किया है। उनका कहना है कि " यदि 'रति' आदि (स्थायी) भाव अतिप्रकर्ष पाकर रस कहला सकते हैं तो 'हर्ष' आदि (व्यभिचारी)भावों ने क्या अपराध किया है, जो उनसे किसी प्रकार भिन्न नहीं हैं ? यदि यह कहा जाय कि रत्यादिक स्थायी अर्थात् स्थिर हैं तथा हर्षादिक अस्थायी (अस्थिर), तो उन तथा-कथित स्थायिओं में ही भय, त्रास, शोक ,स्थायिओं की स्थिरता ही कितनी देर के लिए होती है[1]? यदि कोई भाव विषयातिशय अथवा बाहुल्येन अनुभूयमान होने के कारण स्थायी है तो चिन्ता तो वैसा ही सार्वभौम भाव है जैसा रति । प्रकृति (पात्र) के कारण तथा वासना के कारण यदि किसी भाव को स्थायि-पद प्राप्त होता है तो वह भी तो रति तथा चिन्ता दोनों में एक रूप ही है[2]। और जो यह कहा जाता है कि रति आदि भाव पर-प्रकर्ष पर पहुंच कर रस कहलाते हैं तो इस तर्क में भी कोई सार नहीं समझ पड़ता क्योंकि ग्लानि आदि भी तो पर प्रकर्ष प्राप्त करने योग्य हैं। श्रम आदि के कारण ये ग्लानि आदि भाव भी परम प्रकर्ष को प्राप्त करते है- विषयातिशय के कारण सात्त्विक, राजस अथवा तामस प्रकृति के कारण जब इन ग्लानि आदि भावों की अनुभूति प्रबल होती है तो उन्हें

---

१. रत्यादयो यदि रसा: स्युरतिप्रकर्षे
हर्षादिभि:किमपराद्धमतद्भिभिन्नै: ।
अस्थापिनस्त इतिचेद् भयहासशोक
क्रोधादयो वद कियच्चिर मुल्लसन्ति ।।

(शृं० प्र०)

२. स्थायित्वमत्रविषयातिशयान् मतं चेत्
चिन्तादय: कुत; उत प्रकृते वशेन ।
तुल्यैव सात्मनि भवेद् अथ वासनाया:
सन्दीपनात् ? तदुभयत्र समानमेव ।।

भी स्थायी भाव कहना चाहिए[१]। आगे इन्होंने रुद्रट का मत उद्धृत कर यह निष्कर्ष निकाला है कि जब सब भावों में तुल्य रूप से रसत्व है तो फिर रति उत्साह आदि कुछ को ही शृङ्गार वीर आदि नाम देना उचित नहीं समझ पड़ता[२]। और फिर भोज ने अनेक ऐसे रसों का भी उल्लेख किया जो पहिले कभी नहीं सुने गये थे, जैसे- स्वातन्त्र्य, आनन्द, प्रशम, पारवश्य, साध्वस, विलास, अनुराग तथा सङ्गम (। रुद्रट ने तो व्यभिचारियों अर्थात् चित्तवृत्तियों तक ही रसत्व की सीमा रक्खी थी, किन्तु भोज ने सात्त्विकों को भी उस वर्ग में समेट लिया । और मानों नमिसाधु के इस व्याख्या-वाक्य के साथ उनका सिद्धान्त एक-रूप हो गया[३]- "इस प्रकार के अन्य रति निर्वेद स्तम्भादि सभी भावों को रस समझना चाहिए।"

भला भोज ने तो शारीरिक चेष्टा रूप सात्त्विकों को ही, जो भाव कहे ही जाते हैं, रस बनाया था, दशरूपककार ने तो ऐसों का भी उल्लेख किया है, जो भाव की सीमा से बाहर हैं जैसे- मृगया तथा अक्ष (द्यूत) । इस प्रकार की रसविषयक यादृच्छिकता का भी कुछ आचार्यों ने पर्याप्त प्रदर्शन किया । अतएव पण्डितराज ने भी कुछ अभिनव (लोचन) की ही भांति रसविषयक इस अव्यवस्था का

---

१. "यदप्युक्तं परकर्षगामी रत्यादिभावो रस इति, तदप्यसारम् । ग्लानिदिष्वपि तदुपपत्तेः । ग्लान्यादयो पि हि श्रमादिभिः परं प्रकर्षमारोप्यन्ते । नते स्थायिन इति चेत् स्थायित्वमेषाम् उत्पन्नतीव्र-संस्कारत्वम् । तीव्रसंस्कारोत्पत्तिश्चविषयातिशयात् नायकप्रकृतेश्च । प्रकृतिश्च त्रिधासात्त्विकी, राजसी तामसी च । तद्वशाच्च तथाविधानुभवभावनोत्पत्तिः । ततश्चैषां स्थायित्वव्यपदेश इति ।"

"श्रमादिष्वपि विभावानुभाव-व्यभिचारि-संयोगस्य विद्यमानत्वात्" - (शृं०प्र०)

२. "अन्ये त्वाहुः (चाहुः) - सर्व एव रत्यादयो विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगादु-त्पद्यमानाः भूमानमापन्ना रसी-भवन्ति । तथा हि-रसनादरसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः । निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति ते पि रसाः ॥ सर्वेषां च तुल्ये रसत्वे रत्यादीनामेव परप्रकर्षगमिनां शृङ्गारवीरव्यपदेश इति न घटते ।"

३. "एवं प्रकारा अन्येपि भावा रतिनिर्वेदस्तम्भादयः सर्वे पि रसा बोद्धव्याः ।"

- का०अ०

इन शब्दों में उल्लेख किया है - " विभावादय: त्रय: समुदिता रस इति कतिपये । त्रिष्वय एव चमत्कारी स एव रसो न्यथा तु त्रयो पि न इतिबह्व: । भाव्यमानो विभाव एव रस इति अन्ये । अनुभावस्तथातथाइतीतरे । व्यभिचार्येव तथा तथा परिणामति इति केचित् ।"

किन्तु वस्तुत: स्थायी तथा व्यभिचारी के अतिरिक्त अन्य विभाव, अनुभाव एवं सात्त्विकआदि चित्तवृत्ति रुप न होने के कारण रस कहे ही न जाने चाहिए । यह तो एक प्रकार का शैथिल्य-वाद ही कहा जायगा कि बिना विवेक के सब को रस नाम दे दिया जाय । अतएव भोज ने सात्त्विकों को रस-योग्यता देते हुए भी उन्हें अनुभावादि से पुष्ट होने योगय नहीं कहा है, क्योंकि वे स्वयं भी अन्यानुयायी होते हैं [१]। और अभिनव ने तो उन्हें (अनुभाव, विभाव तथा सात्त्विक को) भावता हीनहीं दी है क्योंकि भाव को वे चित्तवृत्ति ही मानते हैं[२]।

बात यह है कि ये विभाव, अनुभाव (जो जड़ हैं) तथा संचारी स्वतन्त्र नहीं होते । ये किसी ऐसे भाव के अधीन अथवा सेवक होते हैं जो स्वतन्त्र होता है, जो स्वयं में विश्रान्त होता है । ये स्वयं में विश्रान्त नहीं होते । उदाहरणार्थ, यदि कहा जाय कि अमुक ग्लान है, तो तुरन्त प्रश्न उठता है कि " उसकी ग्लानि क्यों है ?" और बिना इस प्रश्न के समाधान के मनसन्तुष्ट नहीं होता । अर्थात् इन आश्रित अथवा अन्यमुखपेक्षी भावों में स्वयं में विश्रान्ति नहीं होती, क्योंकि वे अनेकों में पाये जाते हैं - ग्लानि विप्रलम्भ में, वीर में, करुणा में, शान्त में तथा अन्य किसी में भी हो सकती है । किन्तु स्थायी भाव स्वत: में पूर्ण होते हैं - वे अन्यमुखप्रेक्षी नहीं होते । वे स्वतन्त्र तथा स्वविश्रान्त होते हैं । अत:

---

१. "अयं च स्तम्भा पुष्टो पि सात्त्विकत्वात् सदैव अन्यानुयायीति नानुभावादिभिरनुबध्यते । " अस्यापि (रोमाञ्चस्य) सात्त्विकत्वात् अन्यानुबन्धादयो न जायन्ते ।" — स०क०

२. " ये त्वेते ऋतुमाल्यादयो विभावा: , बाष्पाश्च बाष्पप्रभृतयो अनुभावा: तेर्न भावशब्देन व्यपदेश्या: ।"

" भावशब्देन तावत् चित्तवृत्तिविशेषा एव विवक्षिता: ।"

—अभि०भारती, अध्याय ७, पृ० ३४३

उन्हें मनुष्यों में राजा तथा शिष्यों में गुरु की समता दी गयी है। अमुक में रति है, इसे सुनकर हम अब दूसरे किसी भाव को नहीं जानना चाहते, जिसका यह अङ्ग हो। रति स्वयं में विश्रान्त है[१]। अभिनव का व्याख्यान है कि धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को अपना विषय बनाने (पुरुषार्थनिष्ठ होने) के कारण कुछ भाव प्रधान माने जाते हैं। रति तो काम पुरुषार्थ ही है साथ ही काम के अनुषङ्गी धर्म और अर्थ में भी है। क्रोध अर्थनिष्ठ होता है। उत्साह यद्यपि काम एवं धर्म में पर्यवसित है किन्तु मुख्यत: वह समस्त धर्मों में पर्यवसित है। तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद तो मोक्षोपायही है। उन्हीं से सम्बन्धित अन्य पांच भाव भी हैं। अतएव ये स्थायी कहलाते हैं। यद्यपि इनमें भी प्रधानता का तारतम्य है – अतएव शृङ्गार से हास्य आदि एक प्रधान से किसी कम प्रधान दूसरे की उत्पत्ति कही गयी है। उनका परस्पर गुणप्रधान-भाव चला करता है, किन्तु रूपक-भेद से कोई किसी में कोई किसी में प्रधान हुआ करता है। इतना निश्चय है कि रसत्व इन्हीं (आठ या नौ) प्रधान भावों को दिया जा सकता है[२]।

किन्तु इस प्रसङ्ग में एक बात पुन: स्पष्ट करदेनी आवश्यक है कि व्यभिचारी भाव वास्तव में मनोवृत्तियां ही हैं। यद्यपि भोजने भी व्यभिचारी भावों को दो प्रकार का कहा है – १. स्वतन्त्र तथा २. परतन्त्र। स्वतन्त्र वे हैं जो

---

१. अप्रधाने च वस्तुनि कस्य संविद् विश्राम्यति, तस्यैवं प्रत्ययस्य प्रधानान्तरं प्रत्यनुधावत: स्वात्मनि अविश्रान्तत्वात्। अतो प्रधानत्वं जड़े विभावानुभाववर्गे, व्यभिचारिनिचये च संविदात्मके पि नियमनेन अन्यमुखप्रेक्षिणि संभवतीति तदतिरिक्त: स्थाय्येव चर्वणापात्रम्।

— अभि० भार०अध्याय- ६,पृ०२८१

२. तत्र पुरुषार्थ-निष्ठा: काश्चित् संविद इति (एव) प्रधानम्। तद यथा- रति: काम: तदनुषङ्गिधमार्थनिष्ठा। क्रोधस्तत्प्रधानेष्वर्थनिष्ठ:। कामधर्मपर्यवसितो प्युत्साह: समस्तधर्मादिपर्यवसित:। तत्त्वज्ञानजनितनिर्वेदप्रायो विभावो मोक्षोपाय इति तावदेषां प्राधान्यम्। यद्यपि चैषामन्योन्यं गुणभावोस्ति तथापि तत्प्रधानेरूपके तत्तत्प्रधानं भवतीति रूपकभेदपर्यायेण सर्वेषां प्राधान्यमेषां ल(व)भ्यते।

— भारती, अध्याय ६, पृ० २८२

स्वत: आस्वाद्य होते हैं, तथा परतन्त्र वे हैं जो दूसरे भाव को पुष्ट करने जाते हैं। किन्तु इस स्वातन्त्र्य से उन्हें सर्वथा रस-दशा तक पहुंचने योग्य नहीं समझना चाहिए, क्योंकि यदि ऐसा होता तो स्वयं भोज ही रस की संख्या दस या बारह ही क्यों मानते। इसी प्रकार जो आचार्य रसों की संख्या भी निर्धारित करे और सब व्यभिचारियों को रस भी बताए उसका मत भी ऐसे ही व्याख्या के साथ समझना चाहिए। हेमचन्द्र ने भी रत्यादिकों को विभावभूयिष्ठ रहने पर स्थायी भाव तथा अल्पविभाव युक्त रहने पर व्यभिचारी ही माना है[1]। अतएव अन्त में पण्डितराज जगन्नाथ ने स्थायिओं रसों तथा व्यभिचारी भावों के विषय में भरत की व्यवस्था को ही अन्तिम निर्णीत प्रमाण माना है तथा अन्य किसी भाव को रस होने का अधिकारी नहीं माना है[2]। अस्तु।

---

१. 'तथाहि विभावभूयिष्ठत्वे एषां स्थायित्वं अल्पविभात्वे तु व्यभिचारित्वम्' -
— का०अ०, पृ० १०१

२. भरतादिमुनिवचनानामेव रस-भावत्वादि—व्यवस्थापकत्वेन स्वातन्त्र्यायोगात्। अन्यथा पुत्रादिविषयाया अपि रते: स्थायिभावत्वं कुतो न स्यात्? न स्याद्वा कुत: शुद्धभावत्वं जुगुप्साशोकादीनाम् इत्यखिलदर्शनवैयाकुली स्यात्। रसानां नवत्व-गणनां च मुनिवचननियन्त्रिता भज्येत, इति यथाशास्त्रमेवज्याय:।'
— र०गं० I आनन

तृतीय अध्याय

शृङ्गार - परिभाषा

तृतीय अध्याय

श्रृङ्गार - परिभाष।

नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि ने नाट्य के एक अत्यावश्यक अङ्ग के रूप में ही रस का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है। उन्होंने अपने नाट्यशास्त्र का प्रणयन महाकवि कालिदास के भी पूर्व ही किया था, यह प्राय: सुनिर्णीत तथ्य[१] है। परवर्ती साहित्य के सभी आचार्यों ने भी भरत को ही रस का प्रथम प्रतिष्ठापक आचार्य माना है। भरत ने रस के बिना नाट्य के किसी तत्त्व की सत्ता सार्थक नहीं मानी है[२]। उन्होंने विशिष्ट रसों का पृथक् पृथक् उनके विभावादिकों-सहित विवेचन किया है। उनमें उन्होंने सर्वप्रथम स्थान शृङ्गार रस को दिया है, जिसका कारण अभिनव ने इस प्रकार वर्णित किया है कि इसमें कामपुरुषार्थ फलरूप से निहित है, जो सर्वजन संवेद्य होता है[३]। इतना प्रारम्भ से ही निवेदनीय है कि संस्कृत साहित्य के आचार्यों ने शृङ्गार रस को अन्य रसों की अपेक्षा अधिक महत्त्व तो अवश्य दिया है, उसको प्रधान रस भी माना है तथा उसका निरूपण भी प्राय: सभी ने सर्वप्रथम ही किया है किन्तु उसको रसराज इस संज्ञा से अभिधान किसी ने नहीं किया है। शृङ्गार की यह संज्ञा अथवा उपाधि हिन्दी-साहित्य के मध्ययुगीन आचार्यों द्वारा दी गई। अस्तु।

---

१. जैसा कि स्वयं महाकवि ने अपने विक्रमोर्वशीय में कहा है —

" मुनिना भरतेन य: प्रयोगो भ[illegible]रसाश्रयो नियुक्त: " —२।१८

२. नहि रसादृते कश्चिदर्थ: प्रवर्त्तते।

३. तत्र कामस्य फलत्वादशेषहृदयसंवादित्वाच्च तत्प्रधानं शृङ्गारं लक्षयति "

—अभिनव भारती, पृ० ३००

हाँ तो भरत ने शृङ्गार का लक्षण इसप्रकार किया है- रतिनामक स्थायीभाव से जिसका प्रभव हो उसे शृङ्गार कहते हैं। प्राय: यही लक्षण बाद के सभी आचार्यों ने दुहराया है। इसमें भरत ने रस निष्पत्ति की विधा की ओर कोई विशिष्ट संकेत नहीं किया है -कि वह वाच्य है या व्यङ्ग्य, उत्पाद्य है या अनुमेयादि। रति भाव से ही शृङ्गाररस का प्रभव होता है। लोक में उज्ज्वल वेष को शृङ्गार ही कहते हैं। प्राय: देखा जाता है कि जो वस्तु स्वच्छ, पवित्र, चमकदार अथवा दर्शनीय होती है लोग उसे शृङ्गार के समान कहते हैं, और जिसका वेष उज्ज्वल (चमकदार) होता है, अथवा जो मण्डित होता है उसे शृङ्गारवान् कहते हैं/ और, जैसे गोत्र,कुल,आचार्य के अनुसार आप्त-पुरुषों द्वारा रक्खा हुआ पुरुषों का नाम सिद्ध हो जाता है अर्थात् चल पड़ता है, उसी प्रकार नाट्य के इन रसों एवं भावों के नाम आप्त आचार्यों के उपदेश से लोक में रूढ़ हो गए हैं। चूंकि नाट्य में यह रस मनोहर उज्ज्वल (चमकदार) वेष से अभिनीत होता है, अत: इसे शृङ्गार रस कहते है। उस रस के आस्वाद में परस्परअभिलाष द्वारा सम्बद्ध स्त्री-पुरुष हेतु हैं। किन्तु उत्तम कोटि के युवक स्त्री-पुरुष का ही परस्पर का अभिलाष शृङ्गार रस बनता है, अनुत्तमों का नहीं[1]। भरत के पूर्व भी इस रस का नाम शृङ्गार ही था, यह 'आचारसिद्ध' कहने से ज्ञात होता है। रसशास्त्र के प्राक्तन विद्वानों में यही नाम रूढ़ रहा तथा ब्रह्मादि आप्त आचार्यों ने यही नाम चलाया था[2]।

शृङ्गार की परिभाषा के प्रसङ्ग में नाट्यशास्त्र की एक कारिका का पाठ कुछ अटपटा-सा लगता है, कारिका है -

सुखप्रायेष्ट सम्पन्न: ऋतुमाल्यादि-सेवक: ,
पुरुष: प्रमदायुक्त: शृङ्गार इति संज्ञित: । ना०शा० ६।४६

---

१. तत्रशृङ्गारोनामरतिस्थायिभावप्रभव: । उज्ज्वल-वेषात्मक: । यत्किंचिल्लोकेशुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणोपमीयते यस्तावदुज्ज्वलवेष:सशृङ्गारवा-नित्युच्यते । यथा च गोत्रकुलाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि पुंसां नामानि-भवन्ति तथैवेषां रसानां भावानां च नाट्याश्रितानां चार्थानामाचारोत्पन्ना-न्याप्तोपदेशसिद्धानि नामानि । एवमेष आचारसिद्धो हृद्योज्ज्वलवेषात्मकत्वाच्छृङ्गा-रोरस: । स च स्त्रीपुरुषहेतुक उत्तमयुवप्रकृति: ।। - ना०शा०]

२. एवं रसादीनां तच्छास्त्रवेदिवृद्धव्यवहारतोनिरूढानि प्राक्तनब्रह्माद्याप्तप्रणीतानि नामानि ।' - अभि०भार०, पृ० ३०१

अभिनव ने अपनी प्रतिभा के बल से इसकी व्याख्या अपनी विशिष्ट शैली के अनुरूप खींचतान करके कर ही दी है। यहाँ इस पाठ में प्रमदायुक्त पुरुष को ही शृङ्गार कहा है --अभिनव[1] ने पुरुष का अर्थ भोक्ता किया है। वह संवेदनारूप अथवा स्थायिसंविद्-रूप है। व्यभिचारी भाव तो केवल भोगस्वभाव वाले होते हैं। अत: (उपचारात्) पुरुष को रति भी कहा जा सकता है। जैसे गीता में पुरुष को श्रद्धामय अथवा श्रद्धारूप कहा गया है। इस प्रकार प्रमदा भी (भोक्त्रीत्व के नाते रति कही जा सकती है) किन्तु भोक्तृता में पुरुष को प्रधान रूप से समझा जाता है, प्रमदा को तो भोग्य ही माना जाता है। अपनी प्रधानता ही के कारण पुरुष स्त्री का भोग्य रूप में परतन्त्र नहीं होता और अन्य नायिका के साथ योग्य होने पर भी वहाँ शृङ्गार रस में हानि नहीं मानी जाती। किन्तु भोग्य के परतन्त्र (भोक्तृ-अधीन) होने के कारण ही भोक्ता के सम्मीलन (मृत्यु) के पश्चात् शृङ्गारभङ्ग ही हो जाता है[2] -- इत्यादि। किन्तु इस कारिका का पाठ ही दूसरा समझ पड़ता है जिसका उल्लेख गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज़ प्रकाशन में टिप्पणी में हुआ है। तदनुसार यह कारिका इस प्रकार पढ़ी जानी चाहिए --

> 'सुखप्रायेष्टसम्पन्न: ऋतुमाल्यानुसेवक: ।
> पुरुषप्रमदायुक्त: शृङ्गारइतिसञ्ज्ञित: ।।

अब बिना किसी खींचतान के सीधा सारा ग्राह्य अर्थ निकल आता है।

भरत ने तो नाट्य के ही प्रधान तत्त्व के रूप में रसों का विवेचन किया था[3]। किन्तु उनके पश्चात् भामह, दण्डी,[4] उद्भट,[5] वामन प्रभृति आचार्यों ने

---

१. लगभग ई० ९८० से ई० १०२० के मध्य

२. पुरुष इति भोक्ता संवेदनात्मको भिप्रेत:भोक्तेव च स्थायिसंविद्रूप: । व्यभिचारिण-स्तु भोगस्वभावा: । तेन रतिरेवपुरुष: । तथा चोक्तम्- 'श्रद्धामयोयं पुरुष' इति। एवं प्रमदापि । तत्र भोक्तृत्वे पुरुषस्य प्राधान्यम् प्रमदायास्तु भोग्यत्वम् ।प्राधान्या-देव च तस्य भोगेनापरतन्त्रीकरणमिति नायिकान्तरयोगे पि न शृङ्गारहानि: । भोग्यस्य तु पारतन्त्र्यादेवान्यसम्मीलने शृङ्गारभङ्गइतिदर्शितम् ।'

३. प्रायोनाट्यं प्रति प्रोक्ता भरताद्यै रसस्थिति: । -- शृ०ति० १।५ -- अभि० भार०

४. ई० की अष्टमशताब्दी का पूर्वार्ध

५. (ई० ७५० से ८५० के बीच)

काव्य में अलङ्कारों की प्रधानता का उद्घोष किया । उनकी दृष्टि में रस भी एक प्रकार का अलङ्कार ही था । केवल रुद्रट(८२५ ई० से ८७५ ई० के बीच) ने रस का कुछ विस्तार से विवेचन किया -यद्यपि हैं वे भी अलङ्कारवादी ही । उन्होंने काव्य काव्य में शृङ्गाररस का अधिक विस्तार से विवेचन किया है - रुद्रट के अनुसार परस्पर अनुरक्त पुरुष-स्त्री का रतिमूलक व्यवहार शृङ्गार रस कहलाता है[1]।

रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु ने शृङ्गार की परिभाषा में आए 'रक्तयो:' पद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि मातापुत्र, पितापुत्री, एवं भाई-बहिन के परस्पर व्यवहार को कहीं शृङ्गार न मान लिया जाय , अत: 'रक्तयो:' पद प्रयुक्त किया गया है -क्योंकि वे कामानुविद्ध रति के कारण परस्पर 'रक्त' नहीं होते, उनका तो वह आपातत: निष्काम सहज सम्बन्ध होता है । वह अनुरक्तों की रति नहीं है ।

रुद्रट के काव्यालङ्कार-गत रसनिरूपण के आधार पर अधिकांशत: निर्मित रुद्रभट्ट (९५० ई० से ११००ई० के बीच) का शृङ्गारतिलक काव्य में केवल रस विषय का बड़े विस्तार से विवेचन करता है । उसका आधार प्राधान्यत: रुद्रट का काव्या-लङ्कार (अध्याय १२ से १४) ही है, पदावलियां तक उसी की ली गई हैं[2]। शृङ्गार के निरूपण की अवतरणिका-सा देते हुए रुद्रभट्ट कहते हैं - त्रिवर्ग में धर्म से अर्थ की उत्पत्ति मानी जाती है और अर्थ से काम की । इसी काम से सुख-रूपी फल उद्भूत होता है । उसकी सिद्धि के लिए (रसों में नायक) शृङ्गार रस(और शृङ्गारी नायक) साधुतर (श्रेष्ठ) होता है[3]।

---

१. व्यवहार: पुंनार्योरन्योन्यं रक्तयो रतिप्रकृति: शृङ्गार:- का०अ०

२. बहुत कुछ विषयसाम्य के कारण तथा दोनों के नाम में भी साम्य होने के कारण, सूक्तिमुक्तावलीकार जल्हण,सदुक्तिकर्णामृतकार श्रीधर-दास तथा भावप्रकाशनकार शारदातनय ने भ्रमवश दोनों आचार्यों को एक ही समझ लिया, किन्तु, दोनों की रस की संख्या में, नायिका भेद निरूपण में तथा वेश्याविवेचन में अत्यन्त भेद देख कर यह उचित एवं स्वाभाविक निर्णय होता है कि दोनों दो पृथक् आचार्य थे ।

३. धर्मादर्थोऽर्थत: काम:, कामात् सुखफलोदय: ।
साधीयानेषतत्सिद्धये शृङ्गारोनायकोरस: ।।
— शृं०ति० १।२०

इनके शृङ्गाररस का वही लक्षण है, जो रुद्रट कह चुके हैं। अर्थात् परस्पर अनुरक्त पुरुष और स्त्री की जो रतिमूलक चेष्टा होता है, उसे शृङ्गार कहते हैं[1]।

आनन्दवर्धन (ई० ८५० से ६०० के आस पास) ने शृङ्गार को मधुर विशेषण दिया है और उसे मधुर रस[2] कहा है। इसकी व्याख्या अभिनव ने बड़े सुन्दर तर्क के साथ की है कि जैसे शर्करादि का माधुर्य, जीभ पर पड़ते ही विवेकी या अविवेकी, स्वस्थ या रोगी सबको अभिलषणीय (प्रिय) लगता है, वैसे ही रतिभाव के प्रति देव, मानव, पशु-पक्षी सबकी अविच्छिन्न वासना होती है। अत: रति-भाव के प्रति ~~देव~~ संसार का ऐसा कोई प्राणी नहीं जिसके हृदय का संवाद न होता हो - यतियों तक को तो उससे आह्लाद होता ही है, अन्य की क्या बात ? इस प्रकार सर्वप्रियता एवं सर्वानुभवगम्यता के कारण जैसे शर्करा को मधुर कहते हैं, वैसे ही शृङ्गार को भी 'मधुर' कहा है[3]। आनन्दवर्धन की कारिका में ही शृङ्गार को मधुर नाम देने का कारण प्रह्लादन यह विशेषण दिया गया है। अन्य रसों की अपेक्षा इसमें अधिक प्रह्लादहेतुता होने के कारण ही इसे मधुर कहा गया है[4]।

धनंजय ने अपने दशरूपक (ई० ६७४ से ६६६ ई० के बीच) में शृङ्गार रस का लक्षण निरूपण इसप्रकार कुछ विस्तारसे किया है- 'परस्परअनुरक्त युवक नायक-नायिकाके हृदयमें, रम्यदेश, काल,कला, वेश, भोगादि के सेवन से आत्मा का प्रसन्न

---

१. चेष्टाभवतिपुंनार्योरत्युत्थाति रक्तयोः — शृ०ति०, १।२०

२. शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः । — ध्व० २।७

३. 'मधुरइत्यत्रहेतुमाहपरः प्रह्लादन इति । रतौहिसमस्तदेवतिर्यङ्नरादिजातिष्वच्छिन्नैव वासनास्त इति न कश्चित्तत्र तादृग्यो न हृदयसंवादमयः , यतेरपि हि तच्चमत्कारोस्त्यैव अत:एव मधुर इत्युक्तम् । मधुरोहि शर्करादि रसो विवेकिनो विवेकिनो वा स्वस्थस्यातुरस्य वा झटितिरसनापतितस्तावदभिलषणीय एव भवति ।'

— ध्व०, पृ० २०५

४. शृङ्गार एव रसान्तरापेक्षया मधुरः प्रह्लादहेतुत्वात् ।'

— ध्व० २।७, पृ० २०७

होना रतिस्थायीभाव है। यही रति स्थायी भाव नायक या नायिका के अंगों की मधुरचेष्टाओं के द्वारा उपलक्षित हो एक दूसरे के हृदय में परिपुष्ट (प्रहृष्यमाण) होकर शृङ्गाररस कहलाता है[1]। इसमें धनञ्जय ने `यूनो:` के द्वारा आलम्बन, `रम्यदेश` आदि के द्वारा (तथा मधुराङ्गविचेष्टित के द्वारा भी) उद्दीपन, `मधुराङ्गविचेष्टित` के द्वारा अनुभाव एवं संचारी इत्यादि शृङ्गार के सब अङ्गों का संकेत कर दिया है। धनिक का कहना है कि धनञ्जय का यह लक्षण कवियों के लिए शृङ्गाररचना के विषय में उपदेश रूप है।

महाराज भोजने (लगभग १००५ ई० से १०५४ ई० के बीच) साहित्यशास्त्र में शृङ्गाराद्वैत सिद्धान्त की स्थापना की है। उनके शृङ्गारस्वरूप को बताने के पूर्व यहाँ आवश्यक है कि उनके रसविषयक सामान्य मत का किञ्चित् उल्लेख किया जाय क्योंकि वही उनके शृङ्गार-सिद्धान्त की पृष्ठभूमि है। दण्डी ने प्रेयस् रसवत् और ऊर्जस्वि—इन तीन भावप्रधान अलङ्कारों का एक कारिका द्वारा इस प्रकार लक्षण किया था[2]—`प्रियतर अर्थात् प्रीति या भक्ति की उक्ति को `प्रेयस्` अलङ्कार, शृङ्गार, हास्य आदि आठों रसों वाली उक्तियों को रसवत् अलङ्कार तथा रूढाहङ्कार या गर्व भरी उक्तियों को `ऊर्जस्वि` अलङ्कार कहते हैं, और ये तीनों ही प्रकार के अलङ्कार उत्कृष्टमाने जाते हैं[2]। किन्तु भोज ने इसकारिका की व्याख्या अपने ढंग से की और यहीं से अपने रस-सिद्धान्त का श्रीगणेश किया। उनका कहना है कि ये तीनों ही एक ही रस की तीन अवस्थायें हैं। भोजने इनका क्रम बदल दिया, और अन्तिम उल्लिखित अर्थात् रूढाहंकार को प्रथम या मूल अवस्था बताया। भोज का कहना है कि जिसे ऊर्जस्वि या रूढाहङ्कार कहा गया है वह रस-सिद्धान्त का प्रारम्भिक रूप है, जो अहङ्कार या अहन्ता गर्व-रूप से प्रत्येक

---

१. रम्यदेशकलाकालवेषभोगादिसेवने:
प्रमोदात्मा रति: सैव यूनोरन्योन्यरक्तयो:
प्रहृष्यमाणाशृङ्गारोमधुराङ्गाविचेष्टितै : । —द०रू०, ४।४७,४८

२. प्रेय: प्रियतराख्यानं रसवद् रसपेशलम् ।
ऊर्जस्वि रूढाहंकारं युक्तोत्कर्षं च तत्त्रयम् ।।

आत्मा में पूर्वजन्म के अनुभावों या संस्कारों के रूप में रहता है। यह अहंकार गर्व का पर्याय नहीं अपितु अहन्ता का पर्याय है, आत्मसम्मान या आत्मस्नेह रूप है। यह भोज के प्रतिपादयिष्यमाण रस की पराकोटि है।[1]

इसके बाद की अवस्था `मध्यमावस्था` कही जाती है, जिसमें मूलभूत अहंकार, अपने को बाह्य वस्तुओं के सम्बन्ध में `अभिमान` रूप में व्यक्त करता है। भोज का कहना है कि मन के अनुकूल दुःखादि कों में भी सुखाभिमान रस कहलाता है-[2] इस प्रकार उस मूलभूत अहङ्कार रूप एक रस या भाव का अनेक भावों के रूप में स्फुरण होता है। यह वह अवस्था है, जहां अनेक भाव, जो एक अहंकार बीज से अंकुरित हुए, पूर्णविकास प्राप्त करते हैं। इस मध्यमावस्था के विकसित ये भाव पूर्णविकसित होते हुए भी भावरूप ही हैं। इस समय उन्हें उपचार से रस कहा जाता है, क्यों कि मूलभूत अहंकार रूप रस अपना धर्म इनमें भी फैलाता ही है। इस अवस्था में रति, हास, उत्साह आदि भाव शृङ्गार, हास्य, वीर आदि का रूप धारण करते हैं। इसी को दण्डी ने `रस-पेशल` `रसवत्` कहा है।

तब तीसरी अवस्था आती है — दण्डी के शब्दों में यह `प्रेयस्` है — जिसमें प्रेयस्` का वर्णन होता है। भोज के अनुसार यह उस मूल रस की उत्तराकोटि है। यहां रति आदि सभी भाव, जो अपना व्यक्तिगत उत्कर्ष पा चुके रहते हैं, फिर एक रस के रूप में परिणत हो जाते हैं, जिसे `प्रेमन्` कहते हैं। अर्थात् रति, हासआदि का प्रकर्ष केवल प्रेमन् कहलाता है। इस प्रकार मध्यमावस्था के अनेक रस अन्त में प्रेमन् नामक एक रस में समन्वित हो जाते हैं। इसी उत्कर्ष पाने की अवस्था को `शृङ्गार` भी कहते हैं[3]। इन भावों का आनन्द मिलना ही इनका उत्कर्ष कहा जायगा।

---

१ यहां `परा` शब्द प्रथम या आदि के लिए प्रयुक्त हुआ है, जैसे वाक् का प्रथम रूप `परा` है, पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी बाद की अवस्थायें हैं।

२. मनोनुकूलेषु दुःखादिषु आत्मनः सुखाभिमानः, रसः —

— शृं०, प्र०, पृ० ४६६

३. (येन) रस्यते यः (येन) अनुकूलवेदनीयतयादुःखमपिसुखत्वेन अभिमन्यते येन रसिकै-रहंक्रियते येन शृङ्गम् उच्चैरारोप्यते सखलुतादृशो स्ति (भट्टन रसिंह की स०क०आ० की टीका ५।१२)।

और वह आनन्द ही उस भाव के प्रति प्रेम रूप है। अतः सभी भावों का उत्कर्ष एक नाम 'प्रेम' से ही अभिहित होता है [१]। यह सिद्धान्त उपनिषद् के 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' तथा 'आत्मा वा रे श्रेष्ठः ~~श्रेष्ठः~~ प्रेष्ठश्च भवति' सिद्धान्त की प्रतिध्वनि-सा करता जान पड़ता है।

इस प्रकार भोज की 'परा' और 'उत्तरा' कोटि में रस का केवल एक ही रूप रहता है। वह दूसरे शब्दों में रस की अद्वैत पारमार्थिक सत्ता कही जायगी। इन दोनों के मध्य में व्यावहारिक अवस्था होती है, जहां अनेक रसों का भान होता है। तीसरी अवस्था वस्तुतः मध्यमावस्था की विकृतियों का पुनः प्रथम अवस्था की प्रकृति को ही प्राप्त करना है।

भोजके इस सिद्धान्त के अनुसार मूलभूत एक ही रस है। उसके बाद अनेक भाव आते हैं, जो सभी रस बनने की योग्यता रखते हैं। किन्तु उनको 'रस' उपचार के ही आधार पर कहा जायगा – (यदपि शृङ्गार एव एकोरसः, तथापि तत्प्रभावा ये रत्यादयः ते प्युद्दीपनविभावै रुद्दीप्यमानाः तदनु प्रवेशादेव, संचारिणाम् अनुभावानां च निमित्तभावमुपयन्तः रसव्यपदेशं लभन्ते)। और अन्त में उन सबसे केवल एक रस प्रेमन् की प्रतीति होती है।

यहां 'अहंकार' का अर्थ गर्व (   ) नहीं है अपितु दार्शनिक भाषा में यह 'अहम्' 'स्व' (   ) का वाचक मात्र है। इसी प्रकार यहां शृङ्गार का जो अर्थ शृंगार के पर्याय में प्रयुक्त होता है, अर्थपुरुष – स्त्री के बीच उद्रिक्त रतिभाव, की दशा नहीं। वह केवल प्रेमन् या आत्मप्रेम कहा जा सकता है जिसका कोई बाह्यवस्तु विषय नहीं है। इसे अभिमान भी कहते हैं, क्योंकि इसी के कारण प्राणी दुःखद को भी सुखद के रूप में अनुभूत करता है। चूंकि मनुष्य क्लेश को भी सुख के रूप में ग्रहण करता है, अतएव इसे अभिमान कहते हैं। इसे अहंकार कहते क्योंकि रसिकों में आत्मचेतना परिष्कृत होती है, जो उनके अनेक जन्मों के संस्कार के कारण होती है। यह है उसे

---

१. 'रसत्वं हि प्रेमाणमेवामनन्ति, सर्वेषामेवहि रत्यादिप्रकर्षाणां रति-प्रियो रणप्रियो मर्षप्रियः परिहासप्रिय इति प्रेम्ण्येव पर्यवसानात्'।
— शृ०प्र०, अध्याय ११।

२.

रसका स्वरूप[1]। इसे `शृङ्गार` कहते हैं क्योंकि यह मनुष्य को सांस्कृतिक पराकाष्ठा पर पहुंचाता है। यह स्वयं ही सांस्कृतिक चरमावस्था है[2]।इस प्रकार भोज अहङ्कार को ही अभिमान कहते हैं क्योंकि यह सर्वत्र, यहां तक कि दु:ख में भी आनन्द की सृष्टि करता है। इसे ही शृङ्गार भी कहते हैं क्योंकि यह स्वयं शृङ्ग (   ) रूप है[3]। और मनुष्य को पूर्णता के शृङ्ग पर ले जाता है। भोज के अनुसार अहङ्कार, अभिमान, शृङ्गार तीनों शब्द एक ही वस्तु की विभिन्न अवस्था के वाचक हैं —वस्तु एक ही है।

यहां एक बात और स्पष्ट हो जानी चाहिए कि भोजने `रस` शब्दको ही दो अर्थों (Significances) में प्रयुक्त किया है। प्रथम तो पूर्वोक्त अहङ्कार या शृङ्गार के अर्थ में और केवल उसी एक को रस माना है, अन्य को नहीं। दूसरे, मध्यमावस्था में स्थित विकसित रति, हास, आदि भावों के अर्थ में भी। हां उनको भोज ने उपचारात् रस नाम दिया है -(यद्यपि शृङ्गार एव एकोरस: तथापि तत्प्रभावा ये रत्यादय: ते प्युद्दीपनविभावै रुद्दीप्यमाना: तदनुप्रवेशादेव, संचारिणाम् अनुभावानां च निमित्तभावमुपयन्तक: रसव्यपदेशं लभन्ते)। वस्तुत: भोज के अनुसार वे भाव ही हैं क्योंकि वे भावनापथपर रहते हैं अथवा भावना का विषय होते हैं। रस तो वह है जो भावनापथ से भी परे हो[4]। अन्य आलङ्कारिकों ने तो इसी अवस्था में स्थित रत्यादि भावों को रस कहा है, और उसकी शृङ्गार आदि आठ या नव या दस इत्यादि संख्यायें बताई हैं, और यह भी विवेचन किया है कि रसों का प्रभव भावों से होता है अथवा भावों का रसों से इत्यादि। किन्तु इस मध्यमावस्था में भोज ने केवल आठ नव ही नहीं अपितु जितने भाव हैं उन सबको रस रूप में स्वीकृत कर लिया है। जिनमें एक रति शृङ्गार भी है। क्योंकि भोज के लिए सभी भाव

---

१. मनो नुकूलेष्व दु:खादिष्व आत्मन: सुखाभिमानो रस: — शृ० प्र०, पृ० ४६६

२. येन रस्यते, येन रसिकैरहंक्रियते, येन शृङ्गम् उच्चयो रीयते, स खलु तादृशो स्ति—
— भट्टनरसिंह की व्याख्या स०क०० ५।१

३. येन शृङ्गंरीयते सशृङ्गार: ।

४. `शृङ्गारवीरकरुणाद्भुत-रौद्र-हास्य-बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्न: ।
आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियो वयं तु शृङ्गारमेव रसनादरसमामनाम: ।।

५. आभावनोदयमनन्य धिया जनेन यो भाव्यते मनसिभावनया स भाव: । यो भावनापथमतीत्य विवर्तमान: साहंकृतो हृदिपरं स्वदते रसो सो ।।`
—शृ०प्र० ५२०

समान रूप के हैं। `आठ या नव स्थायी हैं, तैंतीस व्यभिचारी हैं – आठ सात्त्विक हैं इस प्रकार का भेद भोज नहीं मानते। उनके विचार से इन उनचासों का समान रूप से रसन हो सकता है। किसी एक के रसन के समय उसका प्राधान्य हो जाता है तथा अन्यों का अप्राधान्य। इसी को चाहें तो कह सकते हैं कि एक स्थायी हो जाता है शेष उसके व्यभिचारी ही रहते हैं। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में भोज ने भरतमुनि के स्थायी का रस होने वाले सिद्धान्त का भी खण्डन कर दिया है कि जैसे स्थायियों का वैसे ही व्यभिचारियों को भी तो विभावानुभाव का संयोग मिलता है[1]— इस विचार में वे रुद्रट के 'रसनाद् रसत्वमेषाम्' इस सिद्धान्त का समर्थन करते-से समझ पड़ते हैं। भोज ने सब का उत्थान एक अहंकार से माना है अतः सबकी समान हैसियत है। सभी स्थायी बन सकते हैं क्योंकि सभी सत्त्व अर्थात् मन से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार उन्होंने शृंगार भी रस से उनचास भावों की उत्पत्ति बतायी है[2]। ये भाव जब उद्दीप्त होते हैं तो उनसे परिवेष्टित वह अहङ्कार या शृङ्गार लपटों से प्रोद्भासित अग्नि की भाँति रसिकों द्वारा आस्वादित होता है[3]—

इसके आस्वादन के लिए पूर्व जन्म के अहङ्कार या शृङ्गार का संस्कार चाहिए, जिनमें वह संस्कार होता है वे (अहङ्कारी ही) शृङ्गारी कहलाते हैं और

---

१. ननु अष्टौ स्थायिनः, अष्टौ सात्त्विकाः त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिण इति ब्रुवते, न तत् साधु, यतो भावानामन्यतमस्य एतैरेव परस्परं निवर्त्यमानत्वात् कश्चित् कदाचित् स्थायी कदाचित्तु व्यभिचारी। अतो ऽवस्थावशात् सर्वेऽप्यमी व्यभिचारिणः सर्वेऽपि च स्थायिनः सात्त्विका अपि सर्वएव मनः – प्रभवत्वात्, अनुपहतं हि मनः सत्त्वमित्युक्तं, यच्चोक्तं विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगात् स्थायिनो रसत्वम् इति तदपि मन्दम्, हर्षादिष्वपि विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगस्य विद्यमानत्वात्।`

— शृ०प्र०

२. `तत एते रत्यादयो जायन्ते रत्यादीनामयमेवप्रभवः।` इति` –शृ०प्र०

३. ` रत्यादयो र्धशतमेकविवर्जिता हि
भावाः पृथग्विधविभावभुवोभवन्ति।
शृङ्गारतत्त्वमभितः परिवारयन्तः
सप्तार्चिषं द्युतिचया इव वर्धयन्ति।।`

` तैश्चायं प्रकर्ष-प्राप्तैः सप्तार्चिरर्चिश्चयैरिवप्रकाशमानःशृङ्गारिणामेव स्वदते इति`

— शृ०प्र०

वे ही इन मध्यमावस्था के रत्यादि भावों का आस्वादन कर सकते हैं। ~~उस शृङ्गार की यह मध्यमावस्था है रत्यादि भावों का आस्वादन कर सकते हैं~~। उस शृङ्गार की यह मध्यमावस्था भावनावस्था या भावावस्था कहलाती है। उस अवस्था की प्रकर्ष-दशा या ऊंची दशा ही रसदशा है, जो वही है जो प्रथम दशा थी-(शृङ्गारिणो हि रत्यादयो जायन्ते, न अशृङ्गारी हि रमते, स्मयते, उत्सहते, स्निह्यतीति। ते तु भाव्यमानत्वाद भावा एव न रसा:। यावत् संभवं हि मावनया भाव्यमानो भाव एवोच्यते, भावनापथमतीतस्तु रस इति - शृ०प्र०)वह एक प्रकार से समन्वयदशा कही जायगी। अर्थात् भावपुन: एकमात्र प्रारम्भिक रस में वापस पहुंच जाते हैं, जहाँ से वे निकले थे। प्रकर्ष प्राप्त कर वे भावना दशा को उत्तीर्ण कर जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, प्रेमन् दशा में या अहंकार दशा में पुन: विलीन हो जाते हैं। प्रेमन् की दशा में प्रत्येक भाव प्रेमन् रूप हो जाता है -जिसे आत्मप्रेम, अहङ्कार, अभिमान , शृङ्गार आदि चाहे जो नाम दें[१]। भोज का मत है कि उनका यह अहंकार= भावप्रकर्ष=प्रेमन् त्र्यवस्थ रस दण्डी के क्रमश: तीन भावालङ्कारों ऊर्जस्वि, रसवत् और प्रेयस पर अवलंबित हैं।

भोज ने अपने इस रससिद्धान्त में सांख्यदर्शन की बड़ी सहायता ली है। सांख्यों के सत्कार्यवाद के अनुसार (अर्थापत्तिप्रमाण के द्वारा) रस भी आत्मा का धर्मरूप ही कहा जायगा। तभी तो किसी को 'रसिक' किसी को 'अरसिक' कहा जाता है[२]।

---

१. एतेन रूढाहङ्कारता रसस्य पूर्वा कोटि:। रत्यादीनामेकोनपञ्चाशतोऽपि विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् परप्रकर्षाधिगमे रसव्यपदेशार्हतारसस्यैवमध्यभावस्था। प्रेय:प्रियतराख्यानम् इति उपलक्षणेन यथा रते: प्रेमरूपेणापरिणति: तथा भावान्तराणाम् अपि परमपरिपाके प्रेमरूपेण परिणतौ रसैकायनम् इति रसस्य परमाकाष्ठा इति प्रतिष्ठितं भवति। शृ०प्र० ।। - रसन्त्विदप्रेमाणमेवामनन्ति सर्वेषामिह हि रत्यादि-प्रकर्षेण ... रतिप्रियो, रणप्रियो मर्षप्रिय:परिहासप्रिय इति प्रेम्ण्येव पर्यवसानात्-शृ०प्र०, पृ० ३५२

२. असाधारणो तु प्रत्यगात्मगतानादिवासनानुबन्धि धर्मकार्यं भवितुमर्हति, तच्च आत्मनो - अहंकारगुणविशेषं ब्रूम:। स शृङ्गार, सो मिमान: स रस: । शृ०प्र०, ।।, पृ०३५५
तथाहि यो यं लोके रसो स्यास्तीति रसिको यं रसिको ... विना मधुरादीन् कैश्चिदेव पुरुषविशेषेषु निरपवाद: प्रवाद: सनान्तरेण प्रत्यात्मवेदनीयं रसा एव वस्तु-सम्बन्धमुपपद्यते।
ब- ' स एव प्रमाण त्र्योपन्यासहेतु: वक्तुरभिप्राय: प्रतीयमान:प्रमाणत्र्योपन्यासा-

इसके अतिरिक्त भोज का अहंकार सांख्यों का तीसरा तत्त्व ही है जो भोज को मिला है — 'प्रकृते र्महांस्ततो हंकार: ' इसे ही सांख्य में अभिमान भी कहते हैं[१]।

भोज का यह अहङ्कारसिद्धान्त ही इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि भोज रसिक को ही रस का आश्रय मानते हैं, काव्य को नहीं '—(रसा हि सुखदु:खावस्था-रूपा: । ते च शरीरिणां चैतन्यवतां न काव्यस्य)[२] अहङ्काररूप रस से रत्यादि सब भाव उठते हैं । अत: वे भाव भी (उपचारात्) रस कहे जाते हैं । इसी प्रकार (उपचारात् ही) जिस काव्य में ये भाव व्यक्त किये जाते हैं, वह भी रस या रसाश्रय कहा जायगा । अभिनय करने वाला नट भी रसवान् है । कविता तो रसमयी है ही[३]।

भोज भी दण्डी और लोल्लट की भांति, स्थायीभाव के प्रकर्ष को रस मानते हैं । वह अभिनेता में, अभिनेय में, कवि में, काव्य में तथा रसिक में रहता है । वह अकेले सहृदय में ही नहीं रहता—और न सहृदय का व्यक्तिगत हृदय - संवाद रूप ही है । हां, रस सभी व्यक्तियों में नहीं होता, सभी रसिक नहीं होते । सबमें अहङ्कार शृङ्गार नहीं होता यह तो पूर्वजन्म के पुण्य का फल होता है[४]।

पिछले पृष्ठ का शेष— दिना च सांख्यदर्शनाश्रयेण शृङ्गार: सन्नेव आविर्भवति । न त्वसन्नुत्पद्यते ।' — शृ०प्र०, वा० २, पृ० ११३

१. 'अभिमानो हंकार:तस्माद् द्विविध: प्रवर्तते सर्ग: ।' — कारिका — २४ ।

२. शृ०प्र०, पृ० ३६६

३. रसवतो रामादे: यद्वचनंतद्रसमूलत्वात् रसवत् । अभेदसमध्यारोपाच्च कविना अनुक्रियमाणास्यतस्यअनुकरणमपिरसवत् । —शृ०प्र०, पृ० ३७०

४. 'किमेते रत्यादय: स्वेभ्य: स्वेभ्य: आलम्बनेभ्य: उत्पद्यमाना: सर्वस्याप्युत्पद्यन्ते, उत कस्यचिदेव । यदि तावत् सर्वस्य, तदा सर्वं जगद् रसिकं स्यात् । न चैतदस्ति, यत: कश्चिद् रसिक: कश्चिन्नीरसो दृश्यते न च दृष्टविपरीतं शक्यमनु ज्ञातुम् । अतो न सर्वस्य रत्यादयो जायन्ते, अपि कस्यचिद् । तत्रनिमित्तमभिधानीयम् तद् दृष्ट मदृष्टंवा स्यात् । न तावद् दृष्टम् अनुपलभ्यमानत्वाद् । अदृष्टं तु साधारणमसाधारणं वा स्यात् । साधारणे पूर्व एव दोष:, सर्वं जगद् रसिकं स्यादिति असाधारणं तु प्रत्यगात्मगतानादिवासनानुबन्धिधर्मकार्यं भवितमर्हति ।' •

—शृ०प्र०वा० २

विश्वनाथ ने भी पुण्यवान् को ही रससन्दोह सुलभ माना है, जैसे पुण्यवान् योगी को ब्रह्म-दर्शन[1]। और भोज ने रस का केवल सुख रूप ही नहीं अपितु कुछ को को सुख रूप और कुछ को दु:खरूपभी माना है[2]। इस प्रकार का रस या अहङ्कार तथा उससे प्रादुर्भूत भावों का संसार सहृदय, कवि तथा सामाजिक के रसिक हृदयों में निवास करता है। ऐसा रसिक या सुसंस्कृत व्यक्ति ही रस का आश्रय होता है। भोज ने रसवत्ता को केवल काव्य-नाटक ही तक सीमित नहीं रक्खा है। अपितु लोक-जीवन में भी उसकी सत्ता मानी है। अहङ्कार को भोजने आत्मप्रेमरूप माना है, क्योंकि इस अहङ्कार की सारी अभिव्यक्तियां या चेष्टाएं आत्मतोष के लिए होती हैं। इस रस को शृङ्गार कहते हैं क्योंकि यह मनुष्य को संस्कृति के उच्चशिखर पर ले जाता है, जो स्वयं एक बड़ा लाभ है -येन शृङ्गं रीयते स शृङ्गार:[1]।

तो यही पूर्वकोटि का अहंकार, अभिमान या शृङ्गार मध्यमावस्था में अनेक भावों के रूप में परिणत हो जाता है। इसकी प्रथमत: चार पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए चार रूप में अभिव्यक्ति होती है। धर्म-रूप, अर्थ-रूप कामरूप और मोक्षरूप। भोज ने इस अहङ्कार या अभिमान को ही चतुर्वर्ग का मूल माना है - चुतुर्वर्गैक-कारणम्। और अतएव उन्होंने इस शृङ्गार के चार प्रकार बताये हैं- १. धर्म-शृङ्गार, अर्थशृङ्गार कामशृङ्गार और मोक्षशृङ्गार। अर्थात् मनुष्य की चतुर्वर्ग-फलप्राप्ति के लिए तत् तत् क्रियाकलाप। भरत ने भी काम को मूलभाव तथा सारे भावों का स्रोत बताया था। उसे चारों पुरुषार्थों का मूल बताया था। तथा रति-मूलक स्त्री-पुरुष संयोग रूप काम को शृङ्गार नाम दिया था[3]। किन्तु भरत को भोज

---

१. पुण्यवन्त: प्रमिण्वन्ति योगिवद् रससन्ततिम् — सा०द० ३

२. रसा हि सुखदु:खावस्थारूपा:

३. प्रायेणा सर्वभावानां कामान्निष्पत्तिरिष्यते। सर्वेच्छागुणसम्पन्नो बहुधा काम इष्यते।। धर्मकामो र्थकामश्च मोक्षकामस्तथैव च। स्त्रीपुंसयोस्तु संयोग: य:काम: (कामकाम:) सतुस्मृत:। य: स्त्रीपुरुषसंयोगैरतिसंयोगकारक:। स शृङ्गार इति ज्ञेय: उपचारकृत: शुभ: ।।

— ना०शा० २४।९०-९२, २२, ८६-९३

ने अपना सम्भवत: प्रेरक नहीं माना है क्योंकि अन्य ग्रन्थों में भी इस प्रकार की उक्तियां एवं सिद्धान्त भरे पड़े हैं।

तो यही अहङ्कार-शृङ्गार या परमार्थशृङ्गार भोज का शृङ्गाराद्वैत है। उसमें तथा रति शृङ्गार में बहुत अन्तर प्रतीत होता है। शृङ्गारप्रकाश में मुख्यत: इसी का विवेचन उद्देश्य समझ पड़ता है यद्यपि उसके उत्तरार्ध का बहुत बड़ा भाग रति-शृङ्गार के विवेचन में ही लग गया है। यह अहङ्कार-शृङ्गार ही शुद्ध निरूपाधि रसानन्द है। रति, हास आदि तो उसकी उपाधियां कही जा सकती है, जो बाद के क्षण में हम उसे देते हैं वस्तुतस्तु रसानन्द का एक ही रूप है[1]।

किन्तु भोज को अहङ्कार-शृङ्गार का तथा रतिशृङ्गार का कोई पृथक् पृथक् नाम देना चाहिए था। भोज के कुछ स्वयं के विवेचन भ्रम पैदा कर देते हैं। एक ओर तो वे कहते हैं वीरादि रस नहीं हैं, अपितु केवल शृङ्गार ही रस है[2]। मानो भोज वीर तथा अन्य छ: या सात प्रसिद्ध रसों को रस कहने के लिए तैयार नहीं, किन्तु केवल रति के प्रकर्ष रूप शृङ्गार को ही रस मानते हैं। जैसा कि वे यह भी कहते हैं[3] कि शृङ्गारादि दसों रस नहीं है, रस तो उनमें से केवल शृङ्गार ही भर है।

---

१. अभिनव के शब्दों में — "पूर्वत्रबहुवचनमत्रैकवचनं प्रयुञ्जानो स्यायमाशय:- एक एव तावत् परमार्थतो रस: सूत्रस्थानीयत्वेन रूपके प्रतिभाति। तस्यैव पुनर्भागदृशा विभाग:। सो ऽपि च न तदेकमुखोपेक्षितामतिवर्तते। एतच्चोद्देशएवास्माभिरभिहितवरम्, अभिधास्यते चाग्रे"। — पृ० २७३

२.(अ) वीराद्भुतादिषु च येह रसप्रसिद्धि: — शृ०प्र०, अध्याय १

(ब) "अत: सिद्धमेतद् — रत्यादय: शृङ्गारप्रभवा एवैकोनपञ्चाशद्भावा:। वीराद्योमिथ्यारसप्रवादा:" इत्यादि। शृ०प्र०, अध्याय १

३. शृङ्गारवीरकरुणाद्भुत-रौद्र-हास्य-वीभत्सवत्सलभयानकशान्त-नाम्न:। आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियो वयं तु शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनाम:॥

और दूसरी ओर, यह कहते हैं कि 'रतिशृङ्गार' आदि को तो रस कहना व्यर्थ है, यदि रत्यादि प्रकर्ष रस है तो उष्मातिप्रकर्ष ने क्या अपराध किया है इत्यादि[1]। और फिर, जब भोज भरत के 'चार प्रकृत रसों से चार विकृत रसों के उत्पन्न होने (शृङ्गाराद्धिभवेद्धास्य: -आदि) वाले सिद्धान्त का विवेचन करने लगते हैं, तो 'शृङ्गाराद्धिभवेद्धास्य :' इस वाक्य में आए रति-प्रकर्ष रूप (व्यावहारिक) शृङ्गार को अपने अहङ्कार (पारमार्थिक) शृङ्गार के साथ एकरूप कर देते हैं, और जिससे भ्रम स्पष्टत: पैदा हो जाता है फिर वे व्यर्थ में भरत से विवाद पर उतर पड़ते हैं[2]।

इतना ही नहीं, आगे चलकर उन्होंने जिस प्रकार अहङ्कार शृङ्गार के धर्मार्थकाममोक्ष—इन चार पुरुषार्थों के अनुसार चार प्रकार किये हैं, उसी प्रकार रति शृङ्गार या कामशृङ्गार का भी चार प्रकार बता दिया और इस प्रकार ~~का~~ भ्रम को और भी पुष्ट कर दिया है।

फिर, जिन भावुक शब्दों में अहङ्कार शृङ्गार की महिमा गाई है, प्राय: उसी प्रकार रतिशृङ्गार को भी महान् बताया है। अत: भ्रम बढ़ता ही जाता है[3]। यद्यपि रतिशृं० की प्रशंसा सभी आलंकारिकों ने की है, किन्तु भोज ने नि:सन्देह रूप में सर्वथा कामशृङ्गार या रति शृङ्गार की ही महत्ता बतायी है। उनचास भावों में उन्होंने रतिभाव को ही प्रधान बताया है[4]। उन्होंने रति भाव को भावों का राजा तथा सर्वप्रकृष्ट भाव कहा है[5]। इस प्रकार शृ०प्र० के

---

१. 'रत्यादिभूमनि पुनर्वितथा रसोक्ति: -शृ०प्र०

'रत्यादयो यदि रसा:स्युरतिप्रकर्षे हर्षादिभि: किमपराद्धमतद्विभिन्नै: ।

—शृ० प्र०

२. 'प्रकृतिभूतेभ्य इति पक्ष:तत्रापि किं शृङ्गाराद्धास्यो जायते, उतशृङ्गार एव हास्यो भवति। कि चात: , यदि शृङ्गाराद्धास्यो जायते तदिष्यत एव न ह्य-शृङ्गारिण:कश्चिदपि प्रकर्षगामी अप्रकर्षगामी व (भाव) संभवति शृङ्गारी हि रमते (रति:)उत्सहते (उत्साह: वीर:) । —शृ०प्र०वा० २, पृ० ३८०

३. ~~यद्यपि रति शृङ्गार की प्रशंसा सभी आलङ्कारिकों ने की है~~। कुमारस्वामी ने उसे सार्वभौम कहा है — 'रससार्वभौम: शृङ्गार:(P R Vya, p 44, Balmanorama edn.)
और रुद्रट ने भी इसकी आबालवृद्ध व्यापकता की प्रशंसा की है —

अनुसरति रसानांरस्यतामस्य नान्य:

सकलमिदमनेन व्याप्तमाबालवृद्धम् ।। का०अ० १४।३८

४. तत्रापि धर्मार्थशृङ्गारयो: हेतुभूतत्वात् कामशृङ्गार एव फलभूतत्वात् प्रधान:, शृ०प्र०, पृ४५०

५. समस्तभावधाभिषिक्ताया:रते: शृ०प्र०अ० ११

३६ में १६ अध्याय केवल रतिशृङ्गार के ही विवेचन में लगे हैं, जैसे वेदान्त दर्शन के अनुसार ब्रह्म की परमार्थकी और व्यावहारिकी (पर और अपर ब्रह्म) दो सत्तायें होती हैं, सम्भवत: भोज ने रस की भी इसी प्रकार दो सत्तायें मानी हैं।

भोज के इस रति शृङ्गार सिद्धान्त का बहुत कुछ साम्य अग्निपुराण में दिखाई पड़ता है[१]। इसके अनुसार आनन्दकी अभिव्यक्ति 'चैतन्य चमत्कार' अथवा 'रस' कहाती है, और चमत्कार अथवा रस का विकार (अभिव्यक्ति) अहंकार कहाता है। अहंकार से अभिमान की उत्पत्ति होती है।[२] और अभिमान से रति की। यह रति व्यभिचारिभाव के संयोग से शृङ्गार नाम से पुकारी जाती है।[३] और अपने अपने स्थायिभावों से परिपुष्ट हास्य आदि इसी (रति अथवा शृङ्गार) के ही भेद हैं।[४] भरत के समान शृङ्गार, रौद्र, वीर और अद्भुत नामक चार मूल रसों को मानते हुए भी अग्निपुराणकार ने रति को ही इन चारों का मूल माना है। रति के चार रूप हैं —राग, तैक्ष्ण्य, अवष्टम्भ और संकोच। इनसे क्रमश: शृङ्गार आदि चार रसों की उत्पत्ति होती है और इन चारों से क्रमश: हास्य, करुणा, अद्भुत और भयानक की[५]।

भोज ने अहंकार से रत्यादि सभी (४६) भावों की उत्पत्ति मानी थी, पर अग्निपुराणकार ने एक शृङ्खला और मान ली —अहंकार से रति की उत्पत्ति

---

१. अ०पु०, अध्याय १०, पृ० ३३६

२. आनन्द: सहजस्तस्य व्यज्यते सकदाचन।
व्यक्ति: सातस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया॥
आद्यस्तस्य विकारो य: सो हङ्कार इतिस्मृत:।
ततो भिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम्॥ अ०पु० ३३६। २,३

३. अभिमानाद् रति: साच परिपोषमुपेयुषी
व्यभिचार्यादि सामान्याद् शृङ्गार इतिगीयते। —अ०पु० ३३६।४

४. तद्भेदा: काममितरे हास्याद्या अप्यनेकश:।

५. रागाद्भवति शृङ्गारो रौद्रस्तैक्ष्ण्यात् प्रजायते।
वीरो वष्टम्भज: संङ्कोचभूर्बीभत्सइष्यते।
शृङ्गाराज्जायते हासो रौद्रात्तुकरुणो रस:
वीराच्चाद्भुतनिष्पत्ति: स्याद् बीभत्साद्भयानक:॥
—अ०पु० ३३६।६ ७

होती है और रति से अन्य रसों की । अग्निपुराण ने अहंकार और अभिमान में तथा अभिमान और रति में उत्पादकोत्पाद्य सम्बन्ध का स्पष्ट उल्लेख किया है, पर भोज ने अहंकार, अभिमान और शृङ्गार को परस्परपर्याय मानते हुए भी अहंकार और शृङ्गार में प्रकारान्तर से ही उत्पाद-कोत्पाद्य सम्बन्ध स्वीकृत किया है । इन दोनों आचार्यों के सिद्धान्तों में एक अन्तर और भी है । भोज के मत में शृङ्गार व्यापक अर्थ में रस का पर्याय है पर अग्निपुराण के मत में यह रसका एक प्रमुख भेद है, जिसके हास्यादि अन्य भेद हैं । हां रतिभाव से सब रसों की उत्पत्ति भोज को भी स्वीकृत थी तभी प्रेमन् रूप में रस (शृङ्गार) की तृतीय कोटि का भी इन्हें निर्माण करना पड़ा । तात्पर्य यह कि निरूपण प्रकार के थोड़े बहुत अन्तर के साथ भोज और अ०पु० शृङ्गार को ही अन्य रसों का उत्पादक मानते हैं ।

हेमचन्द्र (ई० १०८८ से ११७२ ई० के मध्य) ने शृङ्गार की परिभाषा में उसके स्थायी संचारी भावों, विभावों तथा भेदों का एक साथ उल्लेख किया है — ' स्त्री पुरुष तथा माल्यादि जिसके विभाव हैं, जुगुप्सा, आलस्य एवं उग्रता के अतिरिक्त जिसमें सभी व्यभिचारी भाव होते हैं ऐसी संभोग-विप्रलम्भ-रूपा रति शृङ्गार कहलाती है[1]। अर्थात् समस्त विषय ग्राम से सम्पन्न स्थिर अनुराग वाले, संप्रयोगसुखाभिलाषी प्रेमी युवक जिसमें परस्पर विभावरूप है, अर्थात् जो दोनों में एक रूप की है, जो प्रारम्भ से फल पर्यन्त रहती है, सुख में जिसका पर्यवसान होता है ऐसी परस्पर आस्थाबन्धरूप रति स्थायी भाव चर्वणागोचर होकर शृङ्गार रस कहलाती है । देवमुनि, गुरु, नृप,पुत्रादि विषयारति तो भाव-रूप ही रहती है रसरूप नहीं[2]। इस परिभाषा में अनुभावों का उल्लेख नहीं किया है क्योंकि वे संभोग-विप्रलम्भ दोनों के अलग अलग कहे जायंगे[3] । वह सम्भोग-विप्रलम्भ में एक रूपा ही होती है — इसीलिए-शृङ्गार के ये दोनों भेद गोत्व

---

१. स्त्रीपुंसमाल्यादिविभावा, जुगुप्सालस्यौग्र्यवर्ज्यव्यभिचारिका रतिः संभोगविप्रलम्भात्मा शृङ्गारः । —का० अनु० —पृ० ८०

२. विषयग्रामसमग्रयोः स्थिरानुरागयोः सम्प्रयोगसुखैषिणोः कामिनोर्यूनोः परस्पर-विभाविका द्वयोरप्येकरूपा प्रारम्भादिफलपर्यन्तव्यापिनी सुखोत्तरा आस्थाबन्धात्मिका रतिः स्थायीभावश्चर्वणागोचरं गतः शृङ्गारो रसः देवमुनि-गुरु-नृप-पुत्रादि-विषया तु भाव एव न पुनारसः ।

—का०अ०, पृ० ८२

३. अनुभावास्तु सम्भोगविप्रलम्भयोः प्रत्येकः वक्ष्यन्ते इतिइहनोक्ताः । — का०अनु०,पृ० ८३

के शाबलेय और बाहुलेय की भाँति ही है । इस प्रकार दोनों दशाओं में जो आस्थाबन्धरूप रति उसके आस्वाद्यमान रूप को शृङ्गार कहते हैं[१]।

सम्भोग और विप्रलम्भ दोनों का सर्वदा साथ रहता है । उनकेकिसी एक कोभी शृङ्गार उसी प्रकार कहते हैं जिस प्रकार ग्राम के किसी एक भाग को भी ग्राम ही कहा जाता है । वस्तुत: सम्भोग में विप्रलम्भ का भय और विप्रलम्भ में सम्भोग की आशा एवं लालसा निरन्तर बनी रहती है —इस प्रकार वे एक दूसरे को आनन्दमय बना देते हैं । अन्यथा यदि विप्रलम्भ में सम्भोग की आशा न रहे तो वह करुणा ही हो जाय, उसी प्रकार यदि सम्भोग में विरह की शङ्का न रहे तो प्रिय के स्वाधीन एवं अनुकूल ही रहने पर तो उसके प्रति अनादर भी होने लगेगा, क्योंकि मदन के स्वभाव में ही कुछ वामता (प्रतिकूलता) अवश्य रहती है, जैसा कि भरत ने कहा है — (कि चूंकि प्रेयसी में प्रतिकूल ही रहने का आग्रह होता है, चूंकि उस ओर से मना ही किया जाता है, और चूंकि वह दुर्लभ होती है) अत: प्रेमी का उसके प्रति उत्कृष्ट अनुराग होता है । अतएव उन दोनों दशाओं के परस्पर सम्मिलित रहने में ही सातिशय चमत्कार होता है[२]। किन्तु शृङ्गार की समस्त विभाव-सामग्री प्रबन्धकाव्यों में ही मिलती है । मुक्तकों में तो वह काल्पनिकी ही होती है[३]।

शारदातनय (ई० ११७५ से १२५० ई० के मध्य) ने प्राचीन परम्परा के अनुसार भी रसोत्पत्ति के प्रकारों का निर्देश किया है । भरत ने कैशिकीवृत्ति से शृङ्गार-रस की तथा सामवेद से कैशिकीवृत्ति की उत्पत्ति बताई थी । अत: शा०त० ने एक प्रकार से शृङ्गार रस की उत्पत्ति सामवेद से कही[४] । जगत् की सृष्टि करने की इच्छा से पर-

---

१. शृङ्गारस्यैमौ भेदौ गोत्वस्येव शाबलेयबाहुलेयौ । अपि तु दशाद्वयेप्यनुयामिनी या रतिरास्थाबन्धात्मिका तस्यास्वाद्यमानं रूपं शृङ्गार: । — का०अनु०, पृ०८३

२. विप्रलम्भे नवच्छिन्न एव संभोगमनोरथ:, निराशत्वे तु करुणा एव स्यात् । संभोगे पिन चेद् विरहाशङ्का तदा स्वाधीने नुकूले चानादर एव स्यात् , वामत्वान्मनोभुव: । यदाह मुनि: यद्वामाभिनिवेशित्वं यतश्चविनिवार्यते । दुर्लभत्वंचयन्नार्या: कामिन: सा परा रति: । अतएव तद्दशाद्वयमीलनएव सातिशयश्चमत्कार: । —का०अनु०, पृ० ८३

३. सैषा विभावादिसामग्री वस्तुत: प्रबन्ध एव प्रथते मुक्तकेषु तु काल्पनिक्येव — का० अनु०, पृ० ८४

४ शृङ्गार उद्भूत साम: — २।५४

मात्मा ने सामवेद के मन्त्रों का स्मरण करते हुए जो अपने स्वरूप को अभिव्यक्त करने की इच्छा की–उनकी विषयानुरक्त वह इच्छारूप रति ही शृङ्गार कही जाती है[1]।

भावप्रकाशमें चतुर्थ एवं पञ्चम अधिकारों में शारदातनय ने शृङ्गाररस का विशेष विस्तार के साथ निरूपण किया है। सुखसाधन को भोग कहते हैं। यही भोग शृङ्गार का विशिष्ट रूप माना गया है। उपभोग तथा सम्भोग शब्द इसी भोग के पर्याय हैं किन्तु इनमें थोड़ा थोड़ा अन्तर भी है –भोग्यद्रव्य के उपभोग को भी भोग कहते हैं, और वही भोग देश-काल से समृद्ध होकर उपभोग कहलाता है तथा कामोपचार भोग को सम्भोग कहते हैं। कामोपचार में काम का अर्थ है स्त्री-पुरुष का परस्पर सुख और उपचार कहलाता है उस सुख को देनेवाला कर्म[2]। प्रमदायें सुख का आश्रय मानी गयी हैं। और चूंकि उनको आमोद देने वाला केवल अकेला शृङ्गार ही होता है अत: उसका विस्तार से वर्णन किया है। और उस विस्तार में उन्होंने शास्त्र एवं अनुभूति दोनों का सहारा लिया है[3]।

फिर अपने पूर्ववर्ती आचार्य (धनञ्जय) के अनुसार शृङ्गाररस का विवेचन करते हैं–अन्योन्यानुरागी युवक- युवतियों की वही रति रमणीय देश, कला, काल, वेष, भोग आदि के सेवन द्वारा प्रमोद रूप होकर उनकी मधुर अङ्गचेष्टाओं द्वारा

---

१. सामानिस्मरत स्तस्य स्वरूपव्यक्तिरात्मना।याचेयमिच्छा जगतां सिसृक्षो: परमात्मन:।
विषयासक्तारति: सैव शृङ्गारइतिगीयते ।

२. भोगस्तत्सुखसाधनम् ।
भोग:स एष शृङ्गारविशेष इति गीयते ।
भोगोपभोगसम्भोगशब्दा:पर्यायवाचका: ।।
भोग्यद्रव्योपभोगो य: स भोग इतिगद्यते ।
उपभोग: स एव स्यात् देशकालसमेधित: ।
कामोपचार: सम्भोग: काम: स्त्रीपुंसयो: सुखम् ।

३. सुखाश्रया: स्यु: प्रमदास्तासामामोदकारक: ।
यत: शृङ्गार एवैकस्तस्मादेष सविस्तारम् ।
कथ्यते शास्त्रदृष्टेन वर्त्मनाचानुभूतित: ।। –४।७७

प्रकृष्ट होती हुयी शृङ्गार कहलाती है[१]--

सर्वप्रथम, भोज की भांति, विश्वनाथ (ई० १३०० से १३८४ के मध्य) ने भी शृङ्गार शब्द का व्युत्पत्ति-निमित्तक अर्थ किया है। भोज ने शृङ्गार का अर्थ किया था जो शृङ्गपर अर्थात् भावों की उच्चता पर ले जाय ' यह उनके सिद्धान्त के अनुसार रस का आदर्शरूप था। किन्तु विश्वनाथ ने 'शृङ्ग' शब्द का अत्यन्त प्रचलित सींग अर्थ लेकर लोक में जैसे 'सींग निकलना' का प्रयोग लक्षणाया यौवनागम तथा कामविकारागम के अर्थ में होता है, वैसे ही शृङ्गार का अर्थ किया 'शृङ्ग अर्थात् कामभावना का आविर्भाव है हैतु जिसका -- अर्थात् जो शृङ्ग को प्राप्त करे -- शृङ्गम् ऋच्छति।' इस प्रकार 'शृङ्गार' शब्द में ही यौवनागम तथा तज्जन्यकाम-भाव अन्तर्निहित हैं। विश्वनाथ के इस विवेचन में एक बात ध्यान देने योग्य है कि यहां रति और शृङ्गार में बड़ा अन्तर है, दोनों बिलकुल भिन्न शब्द हैं, किसी मनोनुकूल वस्तु के प्रति मन का झुकाव 'रति' कहलाती है[२]। जो बालक, वृद्ध किसी को भी हो सकती है -- उसमें काम-भावना का सम्बन्ध नहीं भी हो सकता है, किन्तु वह रतिभाव तभी शृङ्गार कहलायेगा जब उसमें यौवन तथा कामविकार का सम्बन्ध रहेगा, जो युवक-युवती अथवा नायक-नायिका के ही बीच परस्पर सम्भव है इस रति के भक्ति एवं वात्सल्य पक्षों को, काम का स्पर्श न होने के कारण शृङ्गार नहीं कह सकते, क्योंकि वे बच्चों-वृद्धों एवं आतुरों को भी होते हैं, जिनमें न सींग रहती है, न सींग का कोई चिह्न ही[३]। अस्तु।[४]

अभिनव-मम्मट के रससिद्धान्त से प्रभावित शिङ्गभूपाल ने रसा०सुधा० में (१३३० ई० के आसपास) शृङ्गाररस के विभावादि सभी अंगों का विवेचन कर चुकने के बाद तब उस अंगीरस का उल्लेख किया है। विभावों, अनुभावों, सात्त्विकों तथा व्यभिचारियों द्वारा सामाजिक की रस्यमानता को प्राप्त कर रति स्थायीभाव शृङ्गार कह-

---

१. अथायं वर्त्मनानेन शृङ्गारोऽपि प्रदर्श्यते।
रम्यदेशकलाकालवेषभोगादिसेवनैः।
प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योन्यरक्तयोः।
प्रकृष्यमाणः शृङ्गारो मधुराङ्गविचेष्टितैः।। ४।८२

२. रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्।

३. अन्यशृङ्गनामभी शृङ्ग का यही अर्थ प्रतीत होता है।

४. शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः। उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृङ्गार इष्यते।

लाता है[१]।

भानुदत्त (ई०१४५० से १५०० के मध्य) ने शृङ्गारविषय अपने विचारों एवं मान्यताओं का रसमंजरी में सविस्तर तथा रसतरंगिणी में संक्षेप में प्रदर्शन किया है। उनकी शृङ्गार की परिभाषा है —' रति जिसका स्थायीभाव है उसे शृङ्गार-रस कहते हैं[२]।'

कविकृष्ण शर्मा (ई० १६०० के पश्चात्) ने अपने मन्दारमरन्द-चम्पू में पहिले तो रस को दो प्रकार का बताया है — १. अलौकिक तथा २. लौकिक[३]। जो केवल आत्मा और चित्त के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है वह तो अलौकिक है और जो बाहर की वस्तुओं के साथ चित्त के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है वह लौकिक है और वे ही आठ या नव प्रकार के रस अलौकिक भी होते हैं तथा लौकिक भी[४]।

कवि कृष्ण शर्मा मन्दारमरन्द चम्पू में भी ' युवक-युवती के परस्पर पूर्ण प्रमोद को शुचि या शृङ्गार रस कहते हैं[५]। उनके लक्षण से ही उनका पार्थक्य स्पष्ट होता है[६]। अतः छः प्रकार ही करना उपयुक्त है।

शृ०म० कार बड़े साहब अकबर खां (१६५० के आस पास) ने शृ०र० का अधिक विस्तार से निरूपण किया है --रति को अनुराग कहते हैं, वही जिसका स्थायी भाव होता है। यह अनुराग स्त्री में पुरुष का होता है और पुरुष में स्त्री का होताहै। नायिका और नायक रूप आलम्बन विभाव इसके कारण रूप हैं। वसन्त,मलयानिल,स्रक् चन्दन आदि उद्दीपन विभाव हैं— और ये दो प्रकार के कारण इसकी अभिव्यक्ति एवं अभिवृद्धि के हेतु हैं।कटाक्ष,भ्रूक्षेप आदि इसके अनुभाव हैं-ये कार्य रूप हैं। लज्जा

---

१. विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्याभिचारिभिः।
नीतासदस्यरस्यत्वं रतिः शृङ्गारउच्यते ।। --रस सु० २।१६६

२. रतिस्थायिभावः शृङ्गारः। —र०त० १६०

३. अलौकिको लौकिकश्चेत्यैवं स द्विविधो रसः — पृ० १००

४. शृङ्गारहास्यकरुणारौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्सो द्भुत इत्यष्टविधःस्यादुभयोरसः ।। —पृ० १००

५. यूनो परस्परं पूर्णः प्रमोदः शुचिरुच्यते।

६. तल्लक्षणाभ्यां तद्व्यतिरकस्य स्फुटत्वात् -
— शृ० मं०

स्मितादि व्यभिचारी भाव हैं। ये सहकारी रूप हैं। इन पूर्वोक्त सामग्रियों के साथ तिस्थायिभाव जो उस समय विगलित वेद्यान्तर, रूप में हैं, रस दशा को प्राप्त होता । उसके सम्भोग तथा विप्रलम्भ दो नाम होते हैं जो सुख एवं उत्कण्ठा रूप हैं।

रसार्णवसुधाकर (अथवा रसमंजरी) के मतानुसार शृं०मं० कार रस के दो वरूप की मीमांसा करते हैं —१. लौकिक तथा २. अलौकिक। लौकिक रस वह है जो ायक -नायिका को लोकजीवन में अनुभूत हुआ होगा, तथा अलौकिक वह है जो काव्य ौर नाटक में सामाजिकों में प्रकाशित होता है, अथवा अनुभूत होता है। नायक-नायिका ो परस्पर संभाषण आदि बाह्यआभ्यन्तर संभोगों द्वारा परवश कर देने वाला सुख लोक-ोवन में अनुभूत होता है —अत: लौकिक रस नायक-नायिका निष्ठ ही माना जायगा । ाव्य में वचनरचना को सुनकर, अथवा नाट्य अभिनय को देखकर, नायिका और नायक के टाक्ष , भुजाक्षेपादि तथा लज्जा,स्मितादि का सामाजिकों को अनुभव होता है, उससे नमें आनन्द अभिव्यक्त होता है —और इस प्रकार वह आनन्द लोकजीवन से पृथक् लौकिक एवं सामाजिक-निष्ठ माना जायगा।

किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि शृं०मं०कार इस मत से पूर्ण सहमत नहीं हैं, योंकि वे इसके समक्ष प्राचीन आचार्यों के मत भी अव्यवहित रूप में रखते हैं, जो स्पष्टत: नका उत्तरपक्ष या सिद्धान्तपक्ष प्रतीत होता है। प्राचीनों ने रस को केवल अलौकिक ानन्दरूप तथा केवल सामाजिकनिष्ठ माना है[1]।

स्थायीभावरूप अनुराग के विषय में शृं०मं० का मत है कि अनुराग जिसके प्रति ोता है उसके वियोग में वेदना उत्पन्न करता है और उसके संगम की अभिलाषा के समय न्य अभिलाषाएं नहीं होतीं। ऐसे अनुराग के उत्पन्न होने में दैवयोग ही कारण होता

. अत्र प्राञ्च: —विभावानुभावसात्त्विकव्यभिचारिसामग्री-समुल्लसितस्थायिभावोरस: वक्ष्यमाणलक्षणा विभावादय:, तेषां सामग्रीतया सरसकाव्यसङ्गृहीतया निपुणनटप्रदर्शितया वा सामाजिकभाव्यमानया स्वाद्यमानो निर्भरानन्दरूपतां नीयमान: स्थायीभावो रस इति लिखितवन्त: । अयं चालौकिक: सामाजिकनिष्ठ एव ।

— शृं०मं०

है, सौन्दर्यादिगुण नहीं[१]। क्योंकि सुन्दर पुरुष भी सौन्दर्यरहित स्त्री में, गुणवान् पुरुष भी गुणरहित स्त्री में अनुरक्त होते देखे जाते हैं। इसी प्रकार स्त्रियाँ भी रूप गुण की परवाह न कर किसी से अनुराग करती हैं। अत: अनुभव के प्रमाण पर यह कहा जा सकता है कि किसी के किसी के प्रति अनुराग का कारण दैव-योग ही होता है[२]। इस प्रकार शृ०म० का सारा विवेचन व्याख्या रूप ही है।

पण्डितराज जगन्नाथ (लगभग १६०० से १६६० के मध्य) ने शृङ्गार रस पर साधारण संक्षिप्त एवं औपचारिक-सा विचार किया है। `रतिस्थायिभावात्मक शृङ्गाररस है।` स्त्री पुरुष इसके आलम्बन, चन्द्रिकावसन्त, विविधोपवन, एकान्तस्थान आदि उद्दीपन, प्रिय का मुखावलोकन, गुणश्रवण, गुणकीर्तन एवं अन्य सात्विकभाव अनुभाव तथा स्मृतिचिन्तादि व्यभिचारी होते हैं।

रामानन्द ठक्कुर (ई० १७ वीं शताब्दी) ने अपनी रसतरङ्गिणी में शृङ्गार को रसों में मुख्य कहा है — (रसेषु मुख्य: शृङ्गार: — र०त० १।४) अत: उसका ही विवेचन किया। कवि विद्याराम (१६४६ ई०) में अपनी ` रसदीर्घिका में` नवरसों में शृङ्गार को उसी प्रकार प्रधान बताया है जैसे देवों में भगवान् श्रीकृष्ण[३]। शृङ्गार उन्होंने युवक और युवती के परस्पर प्रगाढ़ स्नेह को रति कहा है और अन्य किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति जो रति या स्नेह होता है उसे भाव कहा है[४]। तो वही रति भाव जब सम्पूर्ण रूप से उद्रिक्त होता है तो शृङ्गार रस कहलाता है अथवा युवक युवती के परस्पर योग से जो आनन्दानुभूति होती है उसे शृङ्गार कहते हैं[५]।

---

१. एवंविधानुरागे दैवयोग एव कारणम्, न सौन्दर्यादि गुणा: — शृ०म०

२. तथाहि सुन्दरस्सौन्दर्यरहितायां, गुणवान् गुणरहितायामनुरक्त:, एवमेवस्त्रिय:, एवमेवस्त्रिय:,एवमनुभवसिद्धत्वेन अनुभवसिद्धस्य अपलपितुमशक्यत्वादितिन्यायेन अनुरागे प्रति-दैव-योग एव कारणम् — शृ०म०

३. शृङ्गारस्तेषु मुख्योऽस्ति यथा देवेषु केशव: — रा०दी० १।१३

४. यूनोरन्योन्य संस्नेह: प्रगाढो रतिरुच्यते।
इतरेषु रतिर्यास्यात् सा भाव इतिकथ्यते ।। — र०दी० २।२

५. रतिभावश्च सम्पूर्ण: शृङ्गार: परिकीर्तित:।
आनन्दानुभवो वा यो यूनो र्योगे परस्परम् ।। — र०दी०, २।४

विश्वेश्वर भट्ट (ई० १७ वीं शताब्दी) ने अपनी रसचन्द्रिका में एव शृङ्गारकी परिभाषा रसगङ्गाधर के अनुसार की है। स्त्री-पुरुष जिसके परस्पर आलम्बन हों ऐसे प्रेमनात्मक चित्तवृत्ति विशेष अथवा भावविशेष को रति कहते हैं- वही रति जहां स्थायी हो उसे शृङ्गार कहते हैं [१]।

उसी प्रकार सामराज दीक्षित (ई० १७०० के लगभग) ने भी शृङ्गारामृतलहरी में रति भाव के प्रकर्ष होने पर साक्षात् रस्य मानता को शृङ्गाररस कहा है [२]।

इनमें भरत, रुद्रट, आनन्दवर्धन, भोज तथा विश्वनाथ का तो शृङ्गारस्वरूप परिभाषित करने में मौलिक योगदान है और शेष अन्य आचार्य टीकाकार ही रूप हैं। इसमें भी रुद्रट के शब्दों में स्थिर की गई परिभाषा का अधिक प्रचार दिखाई पड़ता है। अस्तु ।

---

१. रतिरत्रस्थायी सशृङ्गारः । रतिश्च स्त्रीपुंसयोरन्योन्यालम्बनप्रेमाख्यश्चित्तवृत्तिविशेष इति रसगंगाधरः। र०च०, पृ० ४८

२. 'तत्र शृङ्गारत्वं तु रतिप्रकर्षे सति रसत्वं साक्षाद्व्याप्य जातिमत्त्वम् - शृ०अ०ल०

चतुर्थ अध्याय

श‍ृङ्गार - स्थायिभाव

चतुर्थ अध्याय

शृङ्गार - स्थायिभाव

रस की अभिव्यक्ति में आठ स्थायी भाव, तैंतीस व्यभिचारी भाव, तथा आठ सात्त्विक भाव-ये कुल मिलाकर उन्चास भाव होते हैं। स्तम्भ आदि जो आठ सात्त्विक भाव कहे गये हैं, उनकी गणना भावों में तभी होती, जब वे मनोवृत्ति-रूप निरूपित किये जाते हैं, किन्तु जब शरीर चेष्टारूप कहे जाते हैं, उस समय तो वे अनुभाव में ही अन्तर्भूत होते हैं - जैसे स्तम्भ जब मन का (मन: स्तम्भरूप) रहेगा तो बाह्य अनुभावों द्वारा अभिव्यंजनीय होकर आस्वादनीय बनेगा और भाव कहलायेगा। किन्तु जब शरीर का स्तम्भ (वपु:स्तम्भरूप) होगा तो स्वयं वाह्यचेष्टारूप होने के कारण अनुभाव-मात्र कहा जायगा। अतएव अभिनव ने एक स्थान पर तो 'तस्मात् स्थायिव्यभिचारिसात्त्विका एव भावा:' कहा और एक दूसरे स्थान पर फिर वे 'स्थायिव्यभिचारिकलापेनैव ह्यास्वाद्यो लौकिकार्थो निर्वर्तते' कहते हैं जिसमें सात्त्विक का उल्लेख नहीं करते।

इन उन्चास भावों में भरत ने केवल आठ (या नौ) स्थायि भावों को ही रस-पदवी प्राप्त करने का अधिकार या सौभाग्य दिया है - वैसे विभावानुभाव द्वारा ही व्यञ्जना उनचासों की होती है। यह उसी प्रकार है जैसे समान अङ्ग प्रत्यङ्ग वाले पुरुषों में कोई ही राजा बनता है। और जैसे उस राजा के अन्य सब आश्रित हो जाते हैं, उसी प्रकार स्थायीभाव के अन्य व्यभिचारी आदि सभी भाव परिजन रूप हो जाते हैं।[1]

यद्यपि स्थायीभावों का भरत ने रसप्रसङ्ग में एक बार साङ्गोपाङ्ग विवेचन कर दिया था, किन्तु भावों का निरूपण करते हुए उन्होंने एक बार फिर से

---

१. 'यथा नरेन्द्रोबहुजनपरिवारो पि स एव नाम लभते नान्य: सुमहानपिपुरुष: तथा विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृत: स्थायीभावो रसनामलभते। भवति चात्र श्लोक:

'यथानराणांनृपति:शिष्याणां च यथा गुरु:।
एवं हि सर्वभावानां भाव: स्थायी महानिह।। ना०शा० ७।८

स्थायीभावों का भावों के रूप में निरूपण किया । " एक ही प्रसङ्ग में समवेत अनेक भावों में, जिसका रूप बहुत्व को प्राप्त करता है , अर्थात् जो यावत् प्रसङ्ग विद्यमान रहता है, उसे स्थायीभाव कहते हैं, शेष संचारीभाव कहलाते हैं[1] ।

स्थायीभावों में सर्वप्रथम गणाना रति की है , वही शृङ्गाररस का स्थायी भाव है । रति एक आमोदात्मक भाव है, जो आमोद के अनुकूल ऋतु, माल्य, अनुलेपन, आभरण, प्रियजन, (भोजन,२) वरभवन आदि की अनुभूति से उत्पन्न होता है । नाट्य में उसके वाङ्गादि अभिनयों (अनुभावों) का भी भरत ने इस प्रकार उल्लेख किया है — स्मितवदन, मधुर वचन, भ्रूक्षेप, कटाक्षादि अनुभावों के द्वारा उसका अभिनय किया जाना चाहिए । शृङ्गार रस के तो दो भेद कहे गये हैं संयोग और विप्रलम्भ , किन्तु रति के दो प्रकार नहीं होते । वह तो सदा इष्टार्थ विषय की प्राप्ति में ही उत्पन्न होती है —संयोग, विप्रलम्भ दोनों में वह एक ही रहती है । बल्कि विप्रलम्भ में संयोग से अधिक मधुर होती है । उस रति के रहने पर वाणी में, अङ्गचेष्टाओं में माधुर्य स्वत: आ जाता है अत: उसी प्रकार रति का अभिनय भी किया जाना चाहिए । रति एक सौम्य भाव है ।[2]

भरत के पश्चात् रतिस्थायीभाव का सविस्तर विवेचन करने वाले आचार्य भोज हुए हैं । उन्होंने अपने शृङ्गाराद्वैतसिद्धान्त में अहंकार को रस तो कहा है किन्तु यह नहीं बताया है कि यही स्वयं स्थायी भी है — साधारणतया यह सिद्धान्त रूप में माना जाता है कि रस एक कलात्मक सौन्दर्यानुभूति है । सामाजिक की एक आलौकिक अनुभूति दशा है और यह दशा स्थायीभाव के प्रदर्शन द्वारा, जो एक लौकिक भाव है, दर्शक या सामाजिक के चित्त में विद्यमान उसी स्थायी भाव की अभिव्यक्ति रूप है । इसी कारण स्थायी भावों का अन्य नाम है और उनके रसों का अन्य । रति स्थायी शृङ्गाररस हो जाता है, हास स्थायी हास्यरस आदि । स्थायी लौकिक दशा है, रस अलौकिक, एक सिद्ध है दूसरा साध्य[3] ।

---

१. बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद् बहु ।
समन्तव्यो रस: स्थायी शेषा: स चरिणो मता: । — ना०शा० ७।११९

२. इष्टार्थ-विषयप्राप्त्या रतिरित्युपजायते ।
सौम्यत्वादभिनेया सा वाङ्माधुर्याङ्गचेष्टितै: ।। वही ७।६

३. अभिनव ने शम-स्थायि-मूलक शान्तरस के विषय में कहा है —" शमशान्तयो: पर्यायत्वं तु हासहास्याभ्यां व्याख्यातम् सिद्धसाध्यतया, लौकिकालौकिकत्वेन, साधारणा-साधारणतया च वैलक्षण्यं शमशान्तयोरपिसुलभमेव ।। — अभि०भार० ३३६ ।।

किन्तु ऐसा लगता है कि भरत के ग्रन्थ में इस प्रकार का विवेचन नहीं था। भरत ने कहा है कि ये स्थायिभाव ही रस नाम वाले हैं [१]। अत: रससूत्र के व्याख्याकार लौल्लट और शङ्कुक की भी इनमें इस प्रकार का कोई भेद न सूझ पड़ा। दण्डी और लौल्लट आदि अनेक परवर्ती आचार्यों ने स्थायी को ही, जब वह विभावादिकों के द्वारा संयुक्त, पुष्ट, प्रकृष्ट या उद्रिक्त होता है रस कहा है [२]। भोज ने इन्हीं लोगों का अनुकरण किया। उनके मत में लौकिक अलौकिक नाम के दो विभाग नहीं हैं। सभी भाव हैं, और वे ही रस भी हैं। भेद केवल इतना है कि भाव विभावादि के संयोग से प्रकर्ष प्राप्त कर रस बनते हैं। किन्तु अनेक अवसरों पर भोज ने विभावादि के संयोग का तथा प्रकर्ष प्राप्ति का कोई उल्लेख नहीं किया और उन्हें केवल रस कह दिया। अस्तु। हम इतना निष्कर्ष अपने ढंग से निकाल सकते हैं कि भोज के इस शृङ्गार रस का स्थायी अहङ्कार है जो प्रकर्ष को प्राप्त कर शृङ्गाररस अथवा प्रेम रस कहलाता है। इसी अहङ्कार को हम चाहें तो आत्मरति भी कह सकते हैं।

रतिभाव तथा `प्रेमन्` का ऐक्य

और उनके रतिशृङ्गार का स्थायी भाव तो रति स्पष्ट ही है। वस्तुतस्तु भोज का `परमाकाष्ठा` या `उत्तराकोटि` वाला शृङ्गाररस या `प्रेमन्` जिसमें सभी भावों का समन्वय होता है, रतिभाव का ही तो एक रूप है। परमार्थत: बात भी सही है। भोज के सिद्धान्त की पृष्ठभूमि ही भरत का `प्रायेण सर्वभावानां कामान्निष्पत्तिरिष्यते` यह सिद्धान्तवाक्य समझ पड़ता है। भोज ने अपने अहंकार रस को अभिमान कहा है। वह अभिमान वस्तुत: रति ही है। अभिमानसुख अभिमानिकी रति ही तो है। काम की उत्पत्ति अभिमान या संकल्प से ही है। काम को मनसिज कहा गया है, और मनस् स्वयं संकल्पात्मक माना गया है। संकल्प ही काम का मूल है, चाहे वह काम धर्म, अर्थ, काम या मोक्ष किसी विषय का हो। और काम ही

---

१. `एवम् एते स्थायिभावा: रससंज्ञां प्रत्यवगन्तव्या:` — ना०शा० ६

२. `एवं तावत् स्थायिन एव अवस्थाविशेष इत्युक्तम्।` बहुरूपमिश्र, दशरूपक टीका

सब के अन्तस् में श्वासनलिका की भांति जीवनदायक है । इस प्रकार काम का यह दार्शनिक स्वरूप भोज के शृङ्गार, अभिमान या अहङ्कार का पर्याय ही माना जायगा । भरत का प्रायेण सर्वभावानां कामान्निष्पत्तिरिष्यते वाला सिद्धान्त भी इसी तथ्य को पुष्टकरता है । भोज के बहुत पूर्व भरत मुनि ने प्रतिपादित कर दिया था कि धर्म , अर्थ, काम और मोक्ष सभी काम के ही विभिन्न स्वरूप हैं[१]। अतएव भोज ने कहा कि यह अहङ्कार शृङ्गार आत्मयोनिकाम का जीवित है । जिसे उन्होंने रति-प्रकर्ष शृङ्गार माना है[२] । इस प्रकार भोज का अहङ्कार-शृङ्गार वस्तुत: साधारण शृङ्गार या काम का ही परिष्कृत तत्त्व है । अत: साधारण शृङ्गार और यह अहङ्कार -शृङ्गार दोनों नितान्त पृथक् नहीं कहे जा सकते । तथापि भोज ने अहंकारशृङ्गार नामक अद्वैतरस की सत्ता सिद्ध की है, तथा उसके प्रतिपादन में अपनी पर्याप्त मौलिकता प्रदर्शित की है, और उनके छत्तीस प्रकाशों में शृङ्गारप्रकाश का प्राय: दो तिहाई भाग केवल रतिशृङ्गार के विवेचन में लगा है । यद्यपि भरत ने भी अपने नाट्यशास्त्र में नाट्याङ्गों के विषय में सभी सिद्धान्तों के प्रतिपादन में रति शृङ्गार को ही केन्द्रबिन्दु माना है , तथा अन्य आचार्यों ने भी शृङ्गार को इसी प्रकार विशेष महत्त्व दिया है, किन्तु भोज ने तो 'रत्यादिभूमनिपुनर्वितथारसोक्ति: ' कहकर रति शृङ्गार को रस ही न मानकर अपने अहङ्कार - रस की स्थापना का बीड़ा उठाया था, पर उसे कुछ यों ही तेरहवें अध्याय में ही निपटा कर शेष सारा ग्रन्थ रति शृङ्गार के ही विवेचन में लगा दिया ।

शृ०प्र० के तेरहवें से छत्तीसवें प्रकाश तक का भाग 'रति' का क्रीडा क्षेत्र है । ऐसा भी सम्भव है कि निदर्शन या दिग्दर्शनमात्र के लिए ही भोज ने 'रति' शृङ्गार को लिया हो । इसी प्रकार अन्यों का भी विवेचन हो सकता है । उनके अनुसार सभी का आनन्द अहङ्कार रस ही तो कहलायेगा । जैसा कि पहले संकेत किया गया है वेदान्तियों के ब्रह्म की दो प्रकार की कल्पित सत्ता की भांति भोज के शृङ्गार की भी दो सत्ता समझ पड़ती है -१. पारमार्थिकी अहङ्कार शृङ्गार रूप तथा २. व्यावहारिकी रति शृङ्गार रूप ।

---

१. धर्मकामो र्थकामश्च मोक्षकामस्तथैव च ।
स्त्रीपुंसयोस्तु संयोग: य: काम: (कामकाम) : सतुस्मृत: ।।ना०शा०।। श्रुति ने तो इसके भी पूर्व कहा था- 'कामस्तदग्रे समवर्तताधिमनसोरेत:प्रथमं यदासीत्' और 'आत्मनस्तुकामायसर्वं प्रियं भवति' —बृ०उप०

२. अहंकारगुणविशेषपारमार्थिकलभूततृतीयपुरुषार्थजीवितस्य शृङ्गारस्य अभिमानापरनाम्न: ' 'आत्मस्थितं गुणविशेषमहंकृतस्य ;शृङ्गारमाहुरिह जीवितमात्मयोने:।।

भोज का रतिभाव तथा उसके भेदोपभेद-

भोज ने रति-शृङ्गार के दो प्रकार सम्भोग और विप्रलम्भ बताये हैं। फिर आठ प्रकार की रति बताई है। १. नैसर्गिकी, २. सांसर्गिकी, ३. आभियोगिकी ४. आध्यात्मिकी, ५. औपमानिकी, ६. वैषयिकी, ७. साम्प्रयोगिकी, और ८. आभिमानिकी। ये स० क० में भी कही गई हैं। शृङ्गारप्रकाश में इनमें प्रत्येक की पांच क्रमिक अवस्थाओं का विवेचन है — १. जन्म, २. अनुबन्ध, ३. प्रवृद्धि, ४. संवृत्ति और ५. अनुवृत्ति। स० क० में भोज ने इन पांच अवस्थाओं का इसी क्रम और नाम से उल्लेख नहीं किया है। वहां चौबीस रसान्वय विभूतियों को गिनाते समय उनचासों भावों की दस अवस्थाएं बताई हैं[१]। भोजने रति को 'प्रीति' भी कहा है — 'मनोनुकूलविषयों में सुखसंवेदना का नाम रति और उसका सम्प्रयोग पदा छोड़ कर, वही प्रीति भी कहलाती है[२]।' जो वात्स्यायन ने भी रति के पर्यायवाचियों में प्रीति का उल्लेख किया है[३]। भोज ने स०क० में रति को नैसर्गिकी आदि आठ प्रकार की बताकर, प्रीति को भी उतने ही प्रकारवाली बताया है। उसका साम्प्रयोगिकी (जैसे चुम्बन, सुरत आदि) रूप न होकर आभ्यासिकी रूप होता है — इतना ही दोनों प्रकारों का अन्तर है[४] — कामसूत्र में भी प्रीति के प्रकार किए गए हैं, किन्तु चार ही — १. अभ्यास, २. अभिमान, ३. संप्रत्यय और ४. विषय के अनुसार[५] यदि भोज के आठ प्रकारों की मीमांसा की जाय तो वे वात्स्यायन के चार

---

१. त एते भावाद्यो दशापि रस प्रकारा हासादिष्वपि प्रायो दृश्यन्ते।
   ग्रन्थगौरवभयात्क्वचित्क्वचिदुदाह्रियन्ते ।। (स०क०पृ० ५७७)
२. मनोनुकू[illegible] सुखसंवेदनं रतिः
   असंप्रयोगविषयासैव प्रीतिर्निगद्यते ।। — स०क०, ५।१३८
३. रसो रतिः प्रीति भावो रागो वेगःसमाप्तिरितिरतिपर्यायाः। — का०सू०२।१।६२
४. 'रतिर्निसर्गसंसर्गौपम्याध्यात्माभियोगजा।
   संप्रयोगाभिमानोत्था विषयोत्था चकथ्यते ।।
   प्रीतिरप्येवमेवस्यान्नत्वस्यां सांप्रयोगिकी।
   आभ्यासिकी तु तत्स्थाने तदुदाहृतयोयथा ।। — स०क० ५।१६५,६
५. 'अभ्यासादभिमानाच्च तथा संप्रत्ययादपि
   विषयेभ्यश्चतन्त्रज्ञाः प्रीतिमाहुश्चतुर्विधाम्'।। — का०सू० २।१।१

में अन्तर्भूत किए जा सकते हैं ।

अभ्यासिकी प्रीतिका लक्षण तो उन्होंने वात्स्यायन की ~~सूत्र में~~ कारिका को उद्धृत करके किया है, अर्थात् जो शब्दादि विषयों से अतिरिक्त किसी कर्म में अभ्यास के कारण उत्पन्न होती है जैसे किसी शिकारादि में[1]।

नैसर्गिकी रति—

स०क० में भोज ने रति 'प्रीति' दोनों के पूर्वोक्त आठ-आठ प्रकारों का क्रमश: उदाहरण देते हुए लक्षण भी व्याख्यारूप से प्रस्तुत कर दिया है। जैसे नैसर्गिकी रति के लिए 'कुमारसम्भव' का 'इयं महेन्द्र प्रभृतीनधिश्रियश्च तुर्दिगीशानमत्य मानिनी ... इत्यादि उदाहरण देकर अन्त में कहते हैं कि यह नैसर्गिकी रति जन्मान्तर की वासना के कारण स्वभावत: ही किसी (नायिका या नायक) के प्रति हो जाती है[2]—

सांसर्गिकी रति—

जो 'रति' किसी के प्रति इस कारण होती है कि वह उसकी किसी आत्मीय वस्तु से सम्बन्धित हो तो उसे सांसर्गिकी रति कहते हैं । यथा—

भित्त्वा सद्य: किसलयपुटान् देवदारुद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ता:
आलिङ्गयन्तेगुणवति मया ते तुषाराद्रिवाता:
पूर्वस्पृष्टं यदिकिलभवेदङ्गमेभिस्तवेति । (उ०मे०)

में यद्यपि वायु के शैत्य सौरभ आदि गुण विरहियों के लिए उद्वेगकारक होते हैं (अत: यक्ष को उनसे उद्विग्न एवं क्लेशित होना चाहिए) किन्तु यह समझ कर कि ये हैमवत पवन प्रियतमा का अङ्गस्पर्श करके आ रहे हैं, यक्ष उनका प्रेम से आलिङ्गन करता है[3]।

---

१. 'शब्दादिभ्यो बहिर्भूता या कर्माभ्यासलक्षणा ।
प्रीति:सा भ्यासिकी ज्ञेया मृगयादिषुकर्मसु ।। (का०सू० १।१२)
इतिलक्षणं घटते ।' —(स०क०,पृ० ६०४)

२. 'अत्र जन्मान्तरवासनया निसर्गत इयं भवति ।'

३. 'अत्र शैत्यसौरभादिभ्योविरहिजनोद्वेजनीया अपि वायव: प्रियतममाङ्गसंसर्गभावनया समाश्लिष्यन्ति इति संसर्गत: इयं भवति ।'

औपमानिकी रति

औपमानिकी रति वह है, जो रति के वास्तविक विषय (नायिका या नायक) के सदृश या उपमानभूतवस्तु में होती है — जैसे

अपिजनकसुतायास्तच्च तच्चानुरूपं
स्फुटमिह शिशुयुग्मे नैपुणोन्नेयमस्ति ।
न नु पुनरिव तन्मेगोचरीभूतमक्ष्णो
रभिनवशतपत्रश्रीमदास्यं प्रियायाः ।।'

यहाँ राम की सीता के प्रति होने वाली रति सीता के उपमानों को देखने से उनके प्रति भी होकर राम को आनन्दित करती है[१] ।

आध्यात्मिकी रति-

वह रति जो किसी के प्रति आत्मसंस्कार रूप में हो जाती है — शरीर-मन से दूर, आत्मा में अधिष्ठित हो जाती है — आध्यात्मिकी रति कहलाती है —
जैसे — 'कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामिनपरिग्रहं मुनेस्तनयाम्।
बलवत्तु दूयमानंप्रत्याययतीव मे चेतः ।।
इसमें दुर्वासा के शाप से विवाहादिवृत्तान्त को भूल जानेवाले दुष्यन्त की शकुन्तला के प्रति रति अध्यात्म बन गई है[२]।

आभियोगिकी रति-

जब किसी के स्नेह से अभियुक्त होने पर उसके प्रति भी रति अधिक बढ़ती है तो उसे आभियोगिकी 'रति' कहते हैं, जैसे —

अलसवलितमुग्धस्निग्धनिष्पन्दमन्दै
रधिकविकसदन्तैर्विस्मयस्मेरतारैः
हृदयमशरणं मे पक्ष्मलाक्ष्याः कटाक्षै
रपहृतमपविद्धं पीतमुन्मूलितं च '

---

१. सेयं सीताविषयिणी रतिस्तदुपमानदर्शनेन रामं रमयति । —स०क०, पृ० ६००
२. अत्र सेयंदुर्वाससः शापाद्विस्मृतविवाहादिवृत्तान्तस्य दुष्यन्तस्यशकुन्तलायां रति-
रध्यात्मभवति । — स०क०

यहाँ मालती के अनुरागातिशय कटाक्ष के अभियोग में माधव की अत्यधिक रति उत्पन्न हो रही है[१] ।

साम्प्रयोगिकी रति-

सुरतव्यापार के प्रयोग से जो रति-उत्पत्ति कही जाती है उसे साम्प्रयोगिकी कहते हैं — जैसे — उन्नमय्य सकचग्रहमास्यं चुम्बति प्रियतमे हठवृत्या ।

हुं हुं मुञ्चममेति च मन्दं जल्पितं जयति मानधनायाः ।`

यहाँ मानवती द्वारा `हुं हुं` `मुञ्च` तथा `ममेति` शब्दों के धीरे धीरे प्रयोग करने के कारण (लगता है मानों मान चला गया, अतः) उसके प्रति रति उत्पन्न होती है[२]।

आभिमानिकी रति-

यदि कोई (नायक या ~~नायिका या~~ नायिका रूप) वस्तु किसी को प्रिय लगती है अथवा साधारणतया कष्टकर होती हुई भी उसको रुचिकर लगती है, तो उस (नायिका या नायक रूप)वस्तु में उस व्यक्ति की रुचि आभिमानिकी रति कही जायगी । जैसे — इयं गेहे लक्ष्मी रियममृतवर्तिर्नयनयो

रसावस्याःस्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दन रसः ।

अयं बाहु कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः

किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः ।।

यहाँ राम की विशिष्ट प्रकार की रुचि ही अभिमान है, जिससे यह वर्णित प्रकार की रति व्यक्त हो रही है[३]।

वैषयिकी रति-

वैषयिकी रति वह है जो (प्रेयसी या प्रियकी किसी वस्तु के प्रति) इन्द्रियों

---

१. `सेयमनुरागातिशयसूचकमालतीकटाक्षाभियोगे माधवस्य रतिरतीवोत्पद्यते ।
— स०क०, पृ० ६०१

२. `अत्र तर्जनार्थ-मोक्षार्थ-वारणार्थानां मन्दं मन्दं प्रयोगात् मानवत्याःसम्प्रयोगे रत्युत्पत्तिः प्रतीयते । —स०क०, पृ० ६०१

३. अत्र रुचिविशेषाभिमानकृत एवं प्राया रतयोभवन्ति । —स०क०, पृ० ६०१

के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द —इन पांच विषयों के रूप में होती है । उनमें शब्द विषयक, जैसे —

'विलासमसृणोल्लसन्मुसललोलदोष्कन्दली-
परस्परपरिस्खलद्वलयनि: स्वनोद्बन्धुरा: ।
लसन्ति कलहुंकृतिप्रसभकम्पितोर:स्थल-
त्रुटद्गमकसंकुला: कलमकण्डनीगीतय:[१] ।।

स्पर्शविषयक, जैसे — 'बध्नन्नङ्गेषु रोमाञ्चं कुर्वन् मनसि निर्वृतिम्
नेत्रे निमीलयन्नेष प्रियास्पर्श: प्रवर्तते ।।[२]

रूप-विषयक, जैसे —

'ता राघवं दृष्टिभिरापिबन्त्यो नार्यो न जग्मुर्विषयान्तराणि ।
तथा हि शेषेन्द्रियवृत्तिरासां सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा[३] ।।

रस-विषयक, जैसे—

'कस्य नो कुरुते मुग्धे पिपासाकुलितं मन: ।
अयं ते विद्रुमच्छायो मरुमार्ग इवाधर:[४] ।।

गन्ध-विषयक, जैसे—

रंधणकम्मणिउणिए मा जूरसु रत्तपाडलसुअन्धम्
मुहमारुअं पिअन्तो धूमाइ सिही ण पज्जलइ[५]।

प्रीति-विषय—

'रति' के पूर्वोक्त प्रकारों के उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन सब प्रकार की रतियों का विषय भोज के अनुसार नायिका या नायक ही होते हैं ।

---

१. स०क०, पृ० ६०२
२. वही, पृ० ६०३
३. वही, पृ० ६०२
४. वही, पृ० ६०२
५. रन्धनकर्मनिपुणिके मा क्रुध्यस्व रक्तपाटलसुगन्धम् ।
मुखमारुतं पिबन् धूमायते शिखी न प्रज्वलति ।
—इति छाया

उन्हीं के परस्पर स्नेह को आठ प्रकार से उदाहृत किया गया है। 'प्रीति' के पात्र नायिका-नायक के अतिरिक्त अन्य पिता भाई पुत्रादिक होते हैं। अन्य मम्मट आदि आचार्यों ने इसे 'भाव' कहा है[१]। बाद वाले कुछ आचार्यों ने तो इसे वात्सल्य आदि रस नाम दिया है[२]। वात्स्यायन ने तो रति प्रीति को एक ही वस्तु माना है। अस्तु।

नैसर्गिकी प्रीति–

नैसर्गिकी प्रीति स्वभाव से किसी के प्रति जन्मान्तर वासना-रूप होती है, जैसे– 'आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्त हासान्

अव्यक्तवर्णरमणीयवचः प्रवृत्तीन्।

अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो

धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति

यहाँ (दुष्यन्त की भरत के प्रति) रति पुत्रस्नेह रूप से उत्पन्न होती है जो जन्मान्तर-वासना रूप से स्वभावतः या निसर्गतः कही जायगी[३]।

सांसर्गिकी प्रीति–

इसी प्रकार किसी (स्वजन आदि) के संसर्ग से जो किसी के प्रति प्रीति होती है उसे सांसर्गिकी प्रीति कहते हैं, जैसे –

'विश्वंभरा भगवती भवतीमसूत

राजा प्रजापतिसमो जनकः पिता ते।

तेषां वधूस्त्वमसि नन्दिनि पार्थिवानां

येषां कुले च सविता च गुरुर्वयं च।'

यहाँ वसिष्ठ आदि गुरुजनों का सीता के प्रति स्नेह इसलिए कहा गया है, क्योंकि सीता का विश्वंभरा आदि से संसर्ग है[४]।

---

१. रति देवादिविषया' इत्यादि' का०प्र०

२. साहित्यदर्पण– ३।२५१

३. अत्र यदा यदा रतिर्जायते तदा तदा पुत्रेषु स्निह्यति पुत्ररूपेण वा जायत इति जन्मान्तर वासनारूपो निसर्गः संगच्छते। –स०क०, पृ० ६०३.

४. अत्र विश्वंभरादिसंसर्गात् सीतायां वसिष्ठमिश्राः स्निह्यन्ति। –स०क०, पृ० ६०३

औपमानिकी प्रीति-

औपमानिकी प्रीति- भी अपने किसी प्रिय के साथ औपम्य के कारण होती है । जैसे - `कुवलय-दलस्निग्धश्याम:शिखण्डकमण्डनो

बटुपरिषदं पुण्यश्रीक:श्रियैव सभाजयन्

पुनरिव शिशुर्भूत्वा वत्स:समे रघुनन्दनो

झटिति कुरुते दृष्ट: कोऽयं दृशोरमृताञ्जनम् ।

यहाँ लव में जनक की प्रीति राम के साथ औपम्य (सादृश्य) के कारण है[1] ।

आध्यात्मिकी प्रीति-

आध्यात्मिकी प्रीति भी रति की भाँति आत्म-संस्कार रूप से व्यक्त होती है, जैसे `परितस्तं पृथासूनु: स्नेहेन परितस्तरे

अविज्ञातेऽपि बन्धौ हि बलात् प्रह्लादते मन: ।`

यहाँ बिना पहिचाने हुए भी इन्द्र दृष्टिगोचर होकर अपने पुत्र अर्जुन को प्रसन्न करते हैं[2]।

आभियोगिकी प्रीति-

आभियोगिकी प्रीति उसे कहते हैं जो प्रीतिपात्र के किसी अभियोग (कार्य, व्यवसाय) के कारण उसके प्रति उत्पन्न होती है, जैसे —

(दुर्जात ?)
अज्ञातबन्धुरयमृक्षहरीश्वरो मे

पौलस्त्य एष समरेषु पुर:प्रहर्ता ।

इत्यादृतेन कथितौ रघुनन्दनेन

व्युत्क्रम्य लक्ष्मणमुभौ भरतो ववन्दे ।।

यहाँ सीतान्वेषणादि अभियोग के कारण सुग्रीव विभीषण के प्रति राम की प्रीति उदित होती है[3]।

---

१. अत्र रामौपम्याल्लवे जनक: प्रीयते - स०क०, पृ० ६०३

२. अत्राविज्ञातो पिवासव: स्वसूनुमर्जुनं दृष्ट: प्रीणयति । स०क०, पृ० ६०४

३. अत्र सीतान्वेषणादेरभियोगाद्रामस्य सुग्रीवविभीषणयो: प्रीतिरुदेति ।

—स०क०, पृ० ६०४

आभ्यासिकी प्रीति-

साम्प्रयोगिकी रति के स्थान पर भोज ने आभ्यासिकी प्रीति का उल्लेख किया है जो किसी चीज़ के प्रति अभ्यास के कारण `लत` आद, या हैबिट (*Habit*) के रूप में बन जाती है। इसका लक्षण भोज ने वही दिया है जो वात्स्यायन को अभीष्ट है[1]। जैसे — इतिविस्मृतान्यकरणीयमात्मन:

सचिवावलम्बितधुरं नराधिपम्

परिवृद्धरागमनुबद्धसेवया

मृगया जहार चतुरेव कामिनी।

यहां दशरथ को मृगया में अभ्यासवश प्रीति है।

आभिमानिकी प्रीति-

आभिमानिकी प्रीति को संकल्पात्मिका या मानसी प्रीति भी कह सकते हैं जो ऐसे कर्मों के प्रति होती है जिनकी न तो `लत` पड़ी है तथा जो न इन्द्रियों के विषय रूप हैं[2]। जैसे —

दवेन्द्राभ्यदक्षिणोभंगवतो वैवस्वतादामनो

दृप्तानां दहनायदीपित निजक्षात्रप्रतापाग्निभि:।

आदित्यैर्यदिविग्रहो नृपतिमिर्धन्यं ममैतत्ततो

दीप्तास्त्र-स्फुरदुग्रदीधितिशिखा-नीराजितज्यधनु:॥

यहां अभिमत शत्रु पाकर लव के पीछे जाने वाले कुश सन्तुष्ट होते हैं[3]।

वैषयिकी प्रीति-

इसी प्रकार वैषयिकी `प्रीति` वह है जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध की

---

१. शब्दादिभ्यो बहिर्भूता या कर्माभ्यासलक्षणा। प्रीति: साभ्यासिकी ज्ञेया मृगयादिषु कर्मसु इति लक्षण घटते — स०क०, पृ० ६०४

२. अनभ्यस्तेष्वपि पुराकर्मस्वतिषयात्मिका
संकल्पाज्जायतेप्रीतिर्यासास्यादाभिमानिकी॥ —का०सू० २।३

३. आभिमतप्रतिद्वन्द्विलाभाल्लवानुपदी कुशस्तुष्यति।

—स०क०, पृ० ६०५

वस्तुओं के प्रति होती है। किन्तु उनमें नायक नायिका रूप आलम्बनत्व नहीं होता। इनमें शब्द के प्रति, जैसे —

लावण्यैः लक्षणादिराममधुरा किं चद्गिनिद्रालस
श्रोत्रैः स्वणादुग्धारसावधूतन्तद्गदानासिनः
पीयन्ते मृदुवक्त्रपीतमरुतः पौराणारीतिक्रम
व्यालोलांगुलिरुद्धमुक्तसुषिरश्रेणीरवा वैणवः[१]।

स्पर्श के प्रति, जैसे—

प्रशान्तधर्माभिभवः शनैर्विवान् विलासिनीभ्यः परिमृष्टपंकजः
ददौभुजालम्बमिवात्तशीकरस्तरङ्गमातान्तरगोचरो बिलः[२]।।

रूपके प्रति, जैसे—

अयमभिनवमेघश्यामलोत्तुङ्गसानु
मंदमुखरमयूरी मुक्तसंसक्तकेकः
स्फुनिरलनिडानोदस्निग्धवल्मी
वितरति बृहदश्मापर्वतः प्रीतिमक्ष्णोः[२]।

रस के प्रति, जैसे—

कपोलकण्डूःकरिभिर्विनेतुं विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम्
यत्रश्रुतक्षीरतया प्रसूतःसानूनिगन्धःसुरभीकरोति[३] ।।

शृङ्गारप्रकाश के तेरहवें अध्याय के अन्त में भोज ने रतिभाव को कामरूपीकल्पवृक्ष का अङ्कुर तथा सौहृद का अङ्कुर ~~का~~ काकन्द कहा है। और कहा है कि रति भाव सभी भावों से प्रकृष्ट होता है। अतएव समग्र कवि वर्ग इसी की ओर दौड़ता है[४]— ।

---

१. स०क०, पृ० ६०५

२. स०क०, पृ० ६०५

~~२.~~ वही, पृ० ६०५

३. वही, पृ० ६०५

४. सैष भावो रतिनाम कामकल्पद्रुमाङ्कुरः
सौहृदाङ्कुरकन्दश्च द्विप्रकारोऽपि दर्शितः।
भावान्तरेभ्यः सर्वेभ्य रतिभावः प्रकृष्यते
कविवर्गःसमग्रोऽपि तमेनमनुधावति।

शारदातनयनेभाव–प्रकाशन में रतिस्थायी भाव का लक्षण एवं स्वरूप आदि बहुत कुछ भोज के अनुसार किया है। मनोनुकूल विषयों में सुखसंवेदनरूप इच्छा को रति कहते हैं। वह दो प्रकार की होती है – १. रति तथा २. प्रीति। फिर १. निसर्ग, २. संसर्ग ३. उपमा, ४. अभियोग, ५. अध्यात्म, ६. अभिमान तथा ७. विषय-सम्बन्ध से रति के सात प्रकार होते हैं और ऐसी रति को साम्प्रयोगिकी कहते हैं। उसी प्रकार पूर्वोक्त सात सम्बन्ध से प्रीति भी सात प्रकार की होती है जो आभ्यासिकी कहलाती है। प्रीति प्रियता (प्रियात्व) रूप होती है और रति इच्छा रूप ही। रति सत्त्व में स्थित होती है और वही जब विभावादि से उपबृंहित हो रजोगुण से अनुगृहीत या अनुबद्ध होती है तो स्वादवी भासित होती है[1]—

रतिनामक स्थायी भाव अपने विभावादि से वर्द्धित होकर शृङ्गाररस कहलाता है[2]। शारदातनय का कहना है कि विभिन्न आचार्यों ने रति का स्वरूप इस प्रकार का निर्धारित किया है – किन्हीं के अनुसार परस्पर अनुरागभरे युवक एवं युवती की जो परस्पर स्वसंवेद्य सुखसंवेदनात्मक अनुभूति है उसी को रति कहते हैं[3]। जिनको सभी ऐश्वर्यसुख सम्पन्न है, जो सभी सद्गुणों से युक्त हैं, जिनको नवयौवन है, जो उत्तम प्रकृति के हैं, जिनका श्लाघ्यसौन्दर्य है ऐसे स्त्री-पुरुष की परस्पर-विभाव वाली स्पृहानामक चित्तवृत्ति रति कही जाती है[4]—

---

१. मनोनुकूलेष्वर्थेषु सुखसंवेदनात्मिका
इच्छारीति:सा द्विधा स्याद्रतिप्रीतिविभागत:
तयो:साधारणोभेद: सप्तधा परिकीर्तित:
निसर्गसंसर्गोपमाभियोगाध्यात्मस्वरूपत: ।
अभिधानाच्चविषयात् सप्तधासाम्प्रयोगिकी
रतेरेव भवेत् प्रीतेरेवमाभ्यासिकी भवेत् ।
प्रीति: प्रियात्माप्रायेण रतिरिच्छात्मिकेव हि
ज्ञानं द्विनिष्ठं तद्रूपं मनो धिष्ठाय वर्तते
रति: सत्त्वस्थिता सेयं विभावाद्युपबृंहिता
रजसानुगृहीतातु स्वादीसर्वत्रभासते ।। — २।३४

२. स्थायीरत्याह्वयोभाव: स्वविभावादिवर्धित: शृङ्गाररसनामा स्यात् । – ४।७७-७८

३. परस्परस्वसंवेद्यसुखसंवेदनात्मिका यानुभूतिर्मिथ:सैव रतिर्यूनो:सरागयो: । ४।७८

(शेष पिछले पृष्ठ पर भी)

कुछ अन्य के अनुसार युवकप्रेमियों की परस्पर प्रार्थनारूप परस्पर आह्लाद एवं एकान्त में विश्रम्भ (विश्वास)उत्पन्न करने वाली इच्छा को रति कहते है [1] कोई सुखात्मक मनोवृत्ति को भी रति कहते हैं [2]। और कोई स्त्री पुरुष की एकान्त में परस्पर आलाप, लीला, उपचार, चेष्टा तथा दृष्टि विलोकन द्वारा जो अन्योन्य के प्रति भोग्यबुद्धि होती है उसे रति कहते हैं ।

'आलापलीलोपचारचेष्टादृष्टिविलोकनैः ।
अन्योन्यभोग्यधीरेव रहः स्त्रीपुंसयोरतिः ।। ४।७८

रति 'प्रेम' के कारण अंकुरित होती है, 'मानसे' पल्लवित होती है, 'प्रणय' से कोरकित होती है, 'स्नेह' से पुष्पित, 'राग' से फलवती तथा 'अनुराग' से इसका भोग किया जाता है[3]।

फिर शारदातनय ने 'प्रेम' से 'अनुराग' तक सभी शब्दों के लक्षण एवं स्वरूप बताये हैं । प्रेम शब्द की निरुक्ति करने पर उसमें तीन अंश मिलते हैं — प्र + इ + म । इ का अर्थ है मदन । जहाँ मदन प्रकर्ष के साथ समाया हो उसे प्रेम कहते हैं और उसका अधिष्ठान है युवक-युवती की परस्पर रतिभावना[4]

पिछले पृष्ठ का शेष— ४. सम्पन्नैश्वर्यसुरूपोरशेषगुणान्वयोः
नव्यौवनयोः श्लाघ्यप्रकृत्योःश्रेष्ठरूपयोः
नारीपुरुषयोस्तुल्यापरस्परविभाविका
स्पृहात्वयाचित्तवृत्ती रतिरित्यभिधीयते ।४।७८

---

१. 'रतिरिच्छाभवेद् यूनोरन्यप्रार्थनात्मिका ।
यूनोःपरस्पराह्लादरहोविस्रम्भकारिता ।' ४।७८
२. 'सुखात्मिकामनोवृत्तीरतिरित्यभिधीयते ।' ४।७८
३. इयमङ्कुरिता प्रेम्णा मानात् पल्लवितापुनः
सकोरकाप्रणयतः स्नेहात् कुसुमिता भवेत् ।।
रागात् फलवती चैयमनुरागेण भुज्यते ।
४. इ शब्दवाच्योमदनो माति यत्र प्रकर्षतः ।
तत्प्रेम तदधिष्ठानंरतिर्यूनोःपरस्परम् ।। ४।७८

जो भावबन्धन प्रेमियों के परस्पर आश्रय से सघन निरूढ (दृढ़) हुआ हो, तथा जो उनमें एक के भी अपाय (विनाश) से अपाय - (विनाश) शील हो जाय उसे प्रेम कहते हैं[1] भावबन्धन प्रेमियों का वह भावमय सम्बन्ध है जिसमें किसी प्रकार का संकल्प-विकल्प ( ) नहीं रहता[2]-।

मान का स्वरूप-

प्रिय के मनोरथ का रोधन (रोकना) मान कहलाता है जिसमें 'मा' और 'न' ये दोनों वीप्सा द्वारा रोध अर्थ द्योतित करते हैं[3]। स्त्री-पुरुष के इस मान के दो प्रकार हैं — १. ईर्ष्या-रूप तथा २. प्रणयरूप[4]। इनमें (प्रियद्वारा) उपपत्नी के दर्शन, स्पर्श तथा श्रवण के प्रति जो स्त्रियों की स्थिर असहनीयता होती है उसे तो ईर्ष्या कहते हैं और इस ईर्ष्या के कारण जो रोध (रुकावट) होता है उसे ईर्ष्यामान कहते हैं —

'उपपत्नीदर्शनस्पर्शश्रवणासहता स्थिरा
ईर्ष्यास्त्रीणां तथारोधईर्ष्यामानउदाहृत: ।

मान का रूप बड़ा प्रिय होता है। नायक-नायिका का बाह्य एवं आभ्यन्तर उपचारों द्वारा मान के प्रकर्ष से उत्पन्न, रोष, के आस्वाद (अनुमति) से कषायित (थोड़ा कलुषित अथवा सुगन्धित), प्रकर्ष को पहुंचाया हुआ प्रेम ही प्रणय कहलाता है और

---

१. परस्पराश्रयघनं निरूढं भावबन्धनम् ।
यदेकापायतो पायि तत्प्रेमेति निगद्यते ।। ४।७६

२. इदं तदिति संकल्पो ययोर्नक्वापि दृश्यते ।
तद्भावबन्धनमिति कथयन्ति मनीषिण: ।। ४।७६

३. स्वातन्त्र्यं तद् वदन्यस्य मनोरथनिरोधनम् ।
स एव मान इत्युक्तो मनोरथनिरोधनम्
मा नेति वीप्सया रोधो मान इत्युच्यतेबुधै: ।। ४।७६ ।।

४. ईर्ष्याप्रणयभेदेन मान: स्त्रीपुंसयोर्द्विधा । —४।७६

५. वही, ४।७६

वही प्रणयमान है[१]। इस प्रणयमान की विशेषता है कि यह नायक-नायिका दोनों का वर्णित किया जाता है। जब कि ईर्ष्यामान केवल स्त्रियों का ही वर्णन किया जाता है [२]। क्योंकि यदि पुरुष का ईर्ष्यामान कहा जाय तो काव्य में ही विरसता आ जाय- 'क्योंकि पुरुष को तो समाजबहुदार रूप में सह सकता है किन्तु स्त्री को बहुपतिका रूप में केवल वेश्या ही को मान सकता है, अन्य को नहीं, अब यदि उधर ईर्ष्या हो गई तो रति तो काफूर हो जायगी, उसके स्थान पर क्रोध ही का प्रदर्शन स्थायी बन जायेगा[३]। प्रेम का स्वभाव (भोज की भांति:) शारदातनय ने भी कुटिल कहा है, और फिर मान से युक्त होकर तो वह कितना कुटिल हो सकता है[४]—

मान का जो द्रवार्द्रतारूप विषयों में ममतारूप निर्भय एवं निश्शङ्क भाव होता है उसे स्नेह कहते हैं[५]। मन का द्रवत्व भी दो प्रकार होता है —१. दर्शन से जैसे —चन्द्रमा के दर्शन से चन्द्रकान्तमणि का , २. स्पर्शन से, जैसे अग्नि के स्पर्श से लाख का[६]। और आर्द्रता कहते हैं सभी कारणों में मन की शीतलता को [७]।

वह स्नेह भी दो प्रकार का माना गया है —१. कृत्रिम तथा २. अकृत्रिम। सोपाधि स्नेह कृत्रिम एवं निरुपाधि अकृत्रिम होता है[८]। उपाधि के हट जाने पर वह

---

१. उपचारैर्मिथो यूनोर्यद्बाह्याभ्यन्तराश्रयैः ।
मान प्रकर्षप्रभवैरास्वादकषायितम् ।
प्रेमनीतं प्रकर्षं चेत् स एव प्रणयः स्मृतः ।। ४।७६

२. अयं प्रणयमानस्तु वर्णनीयोद्वयोरपि
ईर्ष्यामानस्तु विज्ञैर्योषितामेव वर्ण्यते ।। ४।७६

३. स पुंसां यदि वर्ण्येतवैरस्यायैव कल्पते , ४।७६ ।

४. स्वतोऽपि कुटिलं प्रेम किमु मानान्वयेसति । ४।७६

५. मनसो यद्द्रवार्द्रत्वं विषयेषु ममत्वता ।
भयशंकावसानात्मा स एव स्नेह उच्यते ।। ४।८०

६. द्विधाद्रवः स्यान्मनसोदर्शनात्स्पर्शनादपि ।
जतुवद्वह्निसंस्पर्शाद्दर्शनाच्चन्द्रकान्तवत् ।। ४।८०

७. आर्द्रताशिशिरत्वं यत् (सर्वावस्थासु मानसम्) स्नेहः कृत्रिमाकृत्रिमात्मकः ।
८. (द्विधा भवेत् से) सोपाधिः कृत्रिमः स्नेहो निरुपाधिरकृत्रिमः ।। ४।८०

कृत्रिम स्नेह तो हट जाता है, किन्तु अकृत्रिम या स्वाभाविक स्नेह, जब तक द्रव्य (स्नेहका आश्रय अथवा दोनों पक्ष) रहता है, जब तक स्थायी रहता है । कृत्रिम स्नेह में विकार को पकड़ने की शंका बनी रहती है और स्वाभाविक में किसी विषय-विशेष के प्रति प्रमाद का भय रहता है[१]। इस प्रकार का यह स्नेह कहीं एकाश्रय होता है और कहीं उभयाश्रय । तिर्यक् (पशुपक्षियों) में एकाश्रय रहता है जो वासना(Instinct) मूलक होता है । अतएव उसे कुछ आचार्यों ने रसाभास ही कहा है । मनुष्यों में जैसे रावण का सीताकेप्रतिभी इसे रूपकास्नेह रसाभास ही कहा जाता है ।

और ऐसा स्नेह तीन प्रकार का होता है —१. प्रौढ़, २. मध्य तथा ३. मन्द[२] । प्रिय के विदेश स्थित होने पर अथवा उसकी मृत्यु हो जाने पर अथवा दुर्बल होने पर जो प्रेमाश्रय को क्लेश देनेवाला स्नेह होता है वह प्रौढस्नेह कहलाता है[३] जो स्नेह प्रिय के वियोगज दुःखों को सह कर भी बना रहे वह मध्य स्नेह कहलाता है ।[४]

प्रिय के व्यसन या आपत्ति के पूर्व तक ही जो स्नेह होता है वह मन्द स्नेह कहलाता है[५]। इस स्नेह के एक अन्य रूप (आश्रय की दृष्टि) से भी तीन प्रकार बताये गये हैं । १. स्थिर, २. गत्वर तथा ३. नश्वर —जैसे —आरम्भ-गुर्वी क्षयिणी-क्रमेश लघ्वीपुरा वृद्धिमती च पश्चात्- इत्यादि । जो क्रम से उत्तम , मध्यम तथा नीच पुरुषों में कार्य विशेष के कारण होते हैं[६]। उत्तम पुरुष में स्नेह बढ़ता ही रहता है प्रत्युपकार की अपेक्षा नहीं करता, न उपकार के कारण

---

१. ` उपाधौविनिवृत्तेतु तज्जन्यो विनिवर्तते
स्नेहः स्वभावजो यावद्द्रव्यंभावीभविष्यति
शङ्कास्यात् कृतके तत्तद्विक्रियान्वेषणात्मिका
स्वाभाविकेभयंतत्तद्विषयादेः प्रमादतः ।। ४।८०

२. स तु स्नेहस्त्रिधाप्रौढमध्यमन्दविभागतः ।। ४।८०

३. ` विदेशस्थेमृतेवापि दुर्बले प्रतिवो (यो) गिनि ।
धर्मिणि क्लेशकारी यः स प्रौढस्नेह उच्यते ।। ४।८०

४. तत्तद्वियोगजं दुःखं तादृशं प्रतियोगिना ।
अनुभूयातिवृत्तश्चेत् स्नेहो मध्यः प्रकीर्तितः ।। ४।८०

५. तदात्वव्यसनापत्तिमात्रको मन्द उच्यते ।

६. `स्थिरश्च गत्वरश्चेति नश्वरश्चेति सत्रिधा । उत्तमे मध्यमे नीचे तत्तकार्यवशाद्भवेत्।
— ४।८०।८४

उत्पन्न हुआ है और अतएव वह स्थिर स्नेह कहलाता है[१]—जो स्नेह बहुत उपकार करने पर उत्पन्न हुआ, प्रत्युपकार की अपेक्षा करता रहता है, तथा कुछ ही बढ़ता है, मध्यम पुरुषों में पाया जाने वाला वह स्नेह गत्वर कहलाता है[२]। और जो स्नेह दोष-श्रवणमात्र से सौमनस्य (अनुकूल्य) छोड़ कर प्रतिकूल हो जाय , वह नीच पुरुषों का स्नेह नश्वर कहलता है[३]—

प्राय: यह देखा जाता है कि नीचे आदि का स्नेह अस्थिर होता ही है तथा उत्तम का स्नेह स्थिर ही होता है[४] ।

चूंकि वही स्नेह यदि गुण, द्रव्य, देश काल आदि के (विशेषता) कारण हृदय में रञ्जित अथवा चित्त में दीप्त होता है तो राग कहलाता है[५]।

चूंकि सुख-दु:खात्मक भोग्य इसके कारण केवल सुखरूप ही माना जाता है, अत: विषय एवं आत्मा को एक रंग में रंगने के कारण इसे राग कहते हैं[६]। वह नीली कुसुमा तथा मञ्जिष्ठाके रागों के समान तीन प्रकार का होता है[७]। इनका लक्षण प्राय: पूर्ववर्ती आचार्यों का जैसा है। इनमें नीलीराग वह है जो धोने से तो न छूटे, किन्तु अत्यधिक सुशोभित भी न हो[८]। जो धोने से छूट जाय किन्तु आँख को देखने से

---

१. उत्तमे वृद्धिमभ्येति नोपकारानपेक्षते ।
उपकारं न जानाति सस्नेह:स्थिरउच्यते ।। ४।८१

२. बहूपकारप्रभवउपकारानपेक्षते । मध्यमेवाऽर्धित:किंचित्सस्नेहोगत्वरोभवेत् ।।४।८१ ।।

३. दोषश्रवणमात्रेणसौमनस्यंविहायय: । प्रातिकूल्ये प्रवर्तेत सस्नेहो नश्वरोभवेत् ।।वही

४. "नीचादावस्थिर:प्राय:स्नेहोज्यायसितु स्थिर:" ४।८१

५. "स एव चेद् गुणाद्रव्यदेशकालादिभिर्हृदि ।
रज्यते दीप्यते चित्ते स राग इति कथ्यते ।। ४।८१

६. सुखदु:खात्मकं भोग्यं सुखत्वेनाभिमन्यते ।
येन राग: स इत्युक्तो रञ्जनाद्विषयात्मनो: ।।

७. नीली कुसुमामंजिष्ठारागौपम्येनसत्रिधा । ४।८१

८. [illegible] यस्तुनापैति यस्मातीवशोभते
नीलीराग: स एवेति कथि[illegible]भि: ।। ४।८१

सुशोभित लगे , उसे कुसुमाराग कहते हैं[१]। किन्तु जो न धोने से छूटे और सुशोभित भी बहुत लगे वह मंजिष्ठाराग कहा गया है[२]। मंजिष्ठाराग सर्वश्रेष्ठ, नीलीराग मध्यम तथा कुसुमाराग अधम माना गया है[३]—

जब वही राग निरन्तर अविच्छिन्न रूप में अनुवर्तित होता है, अथवा जब राग अनुरूप रहता है तो उसे अनुराग कहते हैं[४]। वह अनुराग युवक-युवतियों का परस्पर स्वसंवेद्य होता है किन्तु अन्य के प्रति अनुराग शब्द का प्रयोग गौणावृत्ति (लक्षणा) द्वारा समझा जाना चाहिए।[५]

अन्त में अपनी बात की प्रामाणिकता बताते हुए शारदातनय कहते हैं कि ये प्रेम, (मान,प्रणय स्नेह, राग, अनुराग) आदि सभी पूर्वनिरूपित भाव शृङ्गाररस के आलम्बन का आश्रय लेते हैं (अर्थात् आलम्बन इनका विषय होता है।) ऐसा भट्टाभिनवगुप्तार्यपाद ने ही प्रकाशित किया है[६]।

स्थायीभावों के प्रसंग में शिङ्गभूपाल ने रति का विवेचन कुछ भोज के अनुसार इस प्रकार किया है — युवकयुवतियों की परस्पर की स्थायिनी इच्छा को रति कहते हैं। यह रति निसर्ग से, अभियोग से, संसर्ग से, अभिमान से, उपमा से, अध्यात्म रूप से, तथा विषयों द्वारा होती है[७]। इस रति में कटाक्षपात, भ्रूक्षेप, प्रियवाक् आदि

---

१. यो पैति क्षालित: क्षिप्रमुज्ज्वलो यो पि शोभते।
कुसुमाराग एवैष इति विद्भिरीरित: ।। ४।८१

२. अतीवशोभते यस्तुनापैति क्षालितो पिसन्
स एव कविभि: सर्वै मञ्जिष्ठाराग उच्यते ।। ४।८१

३. ज्येष्ठो म[illegible]: स्यान्नीलीरागस्तुमध्यम: ।
कुसुमाराग:कविभिरधम:परिकीर्तित: । ४।८१

४. रागो नुवृत्तो विच्छिन्नमनुराग उदाहृत: ।
अनुरूपो थवा राग इतिवा निर्णयोभवेत् । ४।८२

५. वही, ४।८२

६. एते प्रेमाख्योभावा: शृङ्गारालम्बनाश्रया: ।
भट्टाभिनवगुप्तार्यपादैरेव प्रकाशिता: ।। ४।८२

७. यूनोरन्योन्यविषयास्थायिनीच्छारतिर्भवेत् ।
निसर्गेणाभियोगेन संसर्गेणाभिमानत: ।
उपमाध्यात्मविषयैरेषा स्यात् ।। र०सु० १।१९६

विक्रियायें (अनुभाव) होती हैं ।

भोज की सम्प्रयोग रति को शि०भू० ने शब्दादिकों में अन्तर्भूत कर लिया तथा उसे पृथक् रति नहीं माना है[१]।

यही रति क्रमश: विकसित होती हुई अंकुर, पल्लव, कलिका, प्रसून फल तथा भोग अवस्था को प्राप्त करती है और उन अवस्थाओं के इसके विभिन्न रूप क्रमश: इस प्रकार माने जाते हैं —प्रेम, मान, प्रणय, स्नेह, राग तथा अनुराग[२]।

यह सब विवेचन भोज के अनुकरण पर किया गया है।[३]शि०भू० ने प्रीति को रति का भेद नहीं माना है, क्योंकि असम्प्रयोगविषयवाली प्रीति तो हर्ष से पृथक् कुछ है ही नहीं[४]।

भोज ने आठ या नौ के अतिरिक्त कुछ और भी स्थायीभाव गिनाये थे। शि०भू० ने उन्हें नहीं माना है। उन्हीं में से एक स्नेह भी है। भोज ने इसे प्रेयो-रस का स्थायी भाव तथा रति और प्रीति की मूल प्रकृति माना है। किन्तु शि०भू० का कहना है कि स्नेह तो रति की ही चौथी विकसित दशा है या कुसुमदशा है। अत: 'यदेवरोचतेमह्यम्' —आदि तथाकथित प्रेयोरस के उदाहरणों में स्नेह का रति रूप में ही आस्वादन होता है और जब स्नेह स्थायीभाव रति का ही एक रूप है तो प्रेयोरस भी शृङ्गाररस से पृथक् नहीं यह अपने आप सिद्ध हो गया[५]। भानुदत्त ने इष्ट वस्तु के प्रति अभिलाष से उत्पन्न अपरिपूर्ण मनोविकार को रति कहा है[६]। स्थायीभावों के

---

१. भोजस्तु संप्रयोगेण रतिमन्यामुदाहरत् ।
सम्प्रयोगस्यशब्दादिष्वन्तर्भावान्नतन्मतम् ।। र०सु० २।९८

२. र०सु० २।११०-१२०
३. वही २।११०-२०
४. अन्येप्रीति रते र्भेदमामनन्तिनतन्मतम् ।
असम्प्रयोगविषयासेयं हर्षान्नभिद्यते ।। र०सु० २।१२१-२२

५. अत्रो स्मिन्नुदाहरणेस्नेहस्यरतिरूपेणैवास्वाद्यत्वं, न पृथक्स्थायित्वेन एवं च स्नेहस्य रतिभेदत्वकथनात् प्रेयोरसस्यापिशृङ्गारादपृथक्त्वमर्थसिद्धम् । —र०सु०,पृ० १६६

६. त[illegible]परिपूर्णा रति: । र०त० १

लक्षणों में भानुदत्त ने सर्वत्र 'अपरिपूर्ण' या 'परिमित', विशेषण लगा दिया है, जो सम्भवत: स्थायीभाव का रसदशा से भेद या अन्तर बताने के लिए किया गया समझ पड़ता है —क्योंकि कोई स्थायी भाव जब अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है तब तो रस ही कहलाने लगता है। अत: भावदशा अथवा स्थायी भावदशा में उसकी अपूर्णावस्था ही होनी चाहिए।

और यह रतिस्थायी भाव कहीं देखने से कहीं सुनने से और कहीं स्मरणसे उत्पन्न होता है[१]।

शृ० म०-कार तहे साहब अकबर खाँ ने रति को अनुराग कहा है। वह अनुराग तीन प्रकारका होता है —उत्तम, मध्यम तथा अधम। इनमें उत्तमानुराग वह है, जो उदय होकर संयोग दशा में अत्यन्त अभिवृद्धि पाकर वियोग में दस प्रसिद्धवियोग अवस्था[२]

---

१. सा च क्वचिद्दर्शनेन, क्वचिच्छ्रवणेन, क्वचित्स्मरणेन।

— र०त० १

२. तत्रानुरागोदयादनन्तरं संयोगे त्यन्तमभिवृद्ध: सन् वियोग दशावस्थाजनकस्सदा विस्मृति विघटक उत्तमानुराग:।

— शृ०म०, पृ०५३

को उत्पन्न करे, सदा याद आवे[1]। मध्यमानुराग वह है, जो वियोग में वेदना उत्पन्न करे तथा संयोग में चित्त को स्वस्थ रखे[2]। और जो वियोग में थोड़ी वेदना उत्पन्न करे तथा संयोग में विस्मृति उत्पन्न करजाये वह अधमानुराग है[3]।

यह अनुराग फिर निमित्त भेद से चार प्रकार का होता है — १. श्रवणानुराग, २. दर्शनानुराग, ३. चित्रानुराग तथा ४- स्वप्नानुराग । सौन्दर्यादिगुणाकर्णनजन्य श्रवणानुराग, विलोकनजन्य दर्शनानुराग, चित्रलिखित प्रियदर्शनजन्यचित्रानुराग, तथा स्वप्नावगतप्रियावलोकनजन्य स्वप्नानुराग होता है ।

रति का लक्षण पण्डितराज ने इस प्रकार किया है — रतिस्थायीभाव प्रेमनामक एक विशिष्ट चित्तवृत्ति है जिसके स्त्री-पुरुष परस्पर आलम्बन होते हैं[4]। इसी प्रसङ्ग में उन्होंने रति भाव के सम्बन्ध में अपना एक और मत भी स्पष्ट किया है । मम्मट ने देवादिविषयक रति स्थायी को तथा प्राधान्येन अभिव्यक्त व्यभिचारी भावों को `भाव` नाम दिया था । पण्डितराज ने इस विषय को मूलत: ही सुस्पष्ट किया है । उन्होंने गुरुदेवतापुत्रादिविषयक रतिभाव को व्यभिचारीभाव ही माना है उसे स्थायी माना ही नहीं है[5]। और व्यभिचारियों की संख्या चौंतीस मानी है, तैंतीस ही नहीं ।

स्त्री-पुरुष के वियोग के समय उनको परस्पर के जीवित रहने का ज्ञान रहने पर रतिभाव विच्छिन्न न होकर विक्लवता से पोषित होता हुआ प्रधानरूप में स्थित

---

१. तत्रानुरागोदयादनन्तरं संयोगे त्यन्त ममिवृद्ध:सन् वियोगे दशावस्थाजनकस्सदा विस्मृतिविघटक उत्तमानुराग: । — शृ०म०, पृ० ५३

२. वियोगेवेदनाजनक: सन् संयोगे चित्तस्वास्थ्यदायकोमध्यमानुराग: । — शृ०म०

३. वियोगे ईषद्-वेदनाजनकस्संयोगे प्रतिदिनंन्यूनोविस्मृतिघटकश्चाधमानुराग: । — शृ०म०

४. स्त्रीपुरुषयोरन्योन्यालम्बन: प्रेमाख्यश्चित्तवृत्तिविशेषोरति: स्थायिभाव: — र०गं०१

५. गुरुदेवतापुत्राधालम्बनस्तु व्यभिचारी । — र०गं० १

रहता है, अत: उसे विप्रलम्भ शृङ्गार कहा जायगा और वहाँ वह वैक्लव्य केवल सञ्चारीभाव के रूप में रहेगा, किन्तु उनमें से किसी के मृत होने का ज्ञान होजाने पर वैक्लव्य (शोक) ही प्रधान हो जायगा। तब रतिभाव उसका पोषक (संचारी) रूप हो जाता है, और उसे करुण रस कहा जायगा[१]। इस प्रकार उन्होंने विप्रलम्भ का करुण विप्रलम्भ भेद स्वीकार नहीं किया है उसे करुण ही कहा है किन्तु प्रिय के मरण ज्ञान होने पर भी यदि देवता की कृपा आदि से उसके पुन: उज्जीवित होने (या मिलने) का ज्ञान होता है तो, चूंकि आलम्बन का सदा के लिए विनाश नहीं होता, वहाँ चिरप्रवास-जैसा विप्रलम्भ ही माना जायगा, करुण नहीं[२]। जैसे चन्द्रापीड के प्रति कहे गये महाश्वेता के वाक्यों में विप्रलम्भ ही माना जायगा[३]। पण्डितराज ने इस विषय में पूर्व के कुछ साहित्यदर्पणकार आदि आचार्यों का मत उद्धृत किया है कि—जो पूर्वोक्त महाश्वेतादि प्रसङ्ग में करुणाविप्रलम्भनामक एक नया रस (अथवा विप्रलम्भ का विशिष्ट भेद) बताते हैं[४]। ऐसा प्रतीत होता है कि पण्डितराज स्वयं इस मत से बहुत सहमत नहीं हैं।

विद्याराम ने रस की ही सूक्ष्मरूप की स्थिति को स्थायीभाव कहा है, जो रसरूप स्थितिकी अपेक्षा देर तक स्थित होने के कारण ही स्थायी कही जाती है[५]। उनमें भी युवक एवं युवती के परस्पर प्रगाढ़ स्नेह को रति कहते हैं, अन्य वस्तु या व्यक्ति के प्रति स्नेह या प्रीतिको भाव कहते हैं, रति नहीं[६]। यही रति सर्वत: पूर्णता

---

१. स्त्रीपुंसयोस्तु वियोगे जीवितत्वज्ञानदशायां वैक्लव्यपोषितायां रतेरेव प्राधान्याच्छृङ्गारो विप्रलम्भाख्यो रस:, वैक्लव्यं तु सञ्चारिमात्रम्। मृतत्व-ज्ञानदशायां तु रतिपोषितस्यवैक्लव्यस्येतिकरुण एव। —र०गं० १।

२. यदा तु सत्यपिमृतत्वज्ञाने, देवताप्रसादादिना पुनरुज्जीवनज्ञानं कथञ्चित्स्यात् तदा लम्बनस्यात्यन्तिकनिराशाभावाच्चिरप्रवासइव विप्रलम्भ एवन सकरुण:। —र०गं०१

३. यथा चन्द्रापीडं प्रति महाश्वेतावाक्येषु —वही

४. केचित्तु रसान्तरमेवात्रकरुणविप्रलम्भाख्यमिच्छन्ति। —र०गं० १

५. रसानां सूक्ष्मरूपाणि स्थायिभावाश्च सम्मता:
स्थायित्वव्यपदेशो ऽस्थायित्वाद्रसरूपत: —र०दी०१।१५

६. यूनोरन्योन्यसंस्नेह:प्रगाढो रति रुच्यते।
इतरेषु रतिर्यस्यात् सा[illegible] इति कथ्यते।। —र०दी० २।२

को प्राप्त होकर शृङ्गार रस कहलाती है । वस्तुत: रति एक बड़ा व्यापक भाव अथवा भाव-संघात है और इस दृष्टि से विचार करने पर हम नये रूप में सुनाई पड़ने वाले रसों में अनेक स्थायी भावों को रति में ही समेट सकते हैं । स्नेह, भक्ति, वात्सल्य, प्रीति, मैत्री, श्रद्धा, सौहार्द्र,सभी रति के ही विशेष रूप हैं[१]।एक मत से यही रति भाव शान्तरस का भी स्थायी माना गया है, किन्तु वहाँ रति का अर्थ आत्मरति समझना चाहिए । जब कोई व्यक्ति अपनी ही आत्मा को सर्वत्र देखता है तो उसे सम्पूर्ण विश्व से प्रेम हो जाता है, किसी से जुगुप्सा नहीं होती[२]। अभिनव ने इस आत्मरति को मोक्षसाधन माना है तथा शान्त रस का स्थायी भाव माना है क्योंकि गीता के अनुसार शान्त अथवा कृतकार्य (अति-कार्य ?) वही व्यक्ति है जो आत्मरति अथवा आत्मतृप्त है[३]।

हरिपालदेव ने शृङ्गार, सम्भोग तथा विप्रलम्भ—तीन पृथक् पृथक् रस ही मान लिये हैं, जिनके क्रमश: आह्लाद्, प्रीति तथा अरति स्थायी भाव बताये हैं । इसमें आह्लाद तो रति का ही रूपान्तर अथवा नामान्तर कहा जायगा । किन्तु विप्रलम्भ का स्थायीभाव 'अरति' को बताना ही भ्रान्ति है क्यों कि विप्रलम्भ में भी रति की अन्तर्धारा तो बनी ही रहती है, अन्यथा विप्रलम्भ तथा करुणा में कोई अन्तर ही नहीं रह जायगा । अतएव कवि कर्णपूर का कहना है कि विप्रलम्भ में रति ही स्थायी है । दूर रहने पर भी रति स्वत: सिद्ध रूप से विद्यमान रहती है[४]।

---

१. रतिश्चेतोरंजकता सुखभोगानुकूल्यकृत् ।
'सा प्रीति-मैत्री-सौहार्द-भाव-संज्ञाश्च गच्छति ' —अलं०कौ०,अ०५,पृ०१२४,वारेन्द्र प्रकाशन
तथा
स्नेहोभक्तिर्वात्सल्यम् इति हि रतेरेव विशेषा: । —हैमचन्द्र, काव्यानुशासन, पृ० ९८

२. यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।
यही आत्मरति भोज के शृङ्गार रस का स्थायी भाव है :—
' ज्ञेयो रस: स रसनीयतया त्मशक्ते : ' —शृ०प्र०

३. तत्र अनाहतानन्दमयस्वात्मविषयारतिरेव मोक्षसाधनमिति सैव शान्ते स्थायिनीति ।
तथोक्तम् —
यश्चात्मरतिरेवस्यादात्मतृप्तश्चमानद: ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्यकार्यंनं विद्यते ।।
— अभि०भारती, वा० १, पृ० ३३५

४. विप्रलम्भेरतिरेवस्थायी .... विप्रकर्षे पि रते: स्वतस्सिद्धत्वात् ।।
—अलं० कौस्तुभ ।

पञ्चम अध्याय

श्रृङ्गार - विभाव

पञ्चम अध्याय

शृङ्गार - विभाव

विभाव-

भरत ने विभाव का अर्थ कारण किया है। कारण, निमित्त और हेतु उसके पर्याय बताये हैं।[1] इस प्रकार 'विभाव्यन्ते विशिष्टतया ज्ञायन्ते वागाद्यभिनय-सहिताः स्थायि-व्यभिचारिणो भावा यैस्ते ऋतुमाल्यादयो विभावाः' यह विभाव की व्युत्पत्ति होगी। वास्तव में ये वागादि जो अभिनय हैं, वे तो अनेक कारणों से उत्पन्न होते हैं -जैसे त्रास, रति, क्रोध, हर्षादिकों के कारण होता है, आँसू, घाम, धूम, रोग आदि अनेक कारणों से होता है। तो हँसी या आँसू के अभिनय से किस भाव की प्रतीति की जाय? किन्तु विभाव से तो सीधे वही भाव झट से प्रतीत हो उठता है[2]। अतएव उसे ही विभाव कहते हैं, क्योंकि उसी से भाव विभावित या विज्ञात हुआ है।

शृङ्गार के विभाव-

नाट्यशास्त्र में सम्भोग शृङ्गार के विभावों को तो गिनाया गया है किन्तु वहां कहीं आलम्बन, उद्दीपन विभाग करके कुछ नहीं कहा गया है, और अभिनव ने तो विभाव के आलम्बन उद्दीपन यह भेद काल्पनिक माने हैं। वस्तुतस्तु सभी समु-दित रूप में विभाव ही हैं। मुनि ने इसको कहीं किसी प्रकार नहीं सूचित किया है। और यह ठीक भी है । एक ही रूपक में उद्यान ऋतु, माल्यादि दर्शन से एक ही रस

---

१. विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः। ना०शा०

२. अभिनयानामनेक-हेतुजत्वम्। तद्यथा-हर्षादिभ्यो हासः धर्मधूमरोगादिभ्यो बाष्पः। तद्बाष्पात् किं प्रतीयताम्। विभावात्तु झटित्येव निश्चयः -

— भारती।

निष्पन्न होता है। क्योंकि उनकी उस रस के प्रति विभावना में कोई भेद नहीं[1]। किन्तु उत्तम स्त्री-पुरुष उसके परस्पर आलम्बन हैं ही। उनके लिए उपयोगी ये उद्दीपन विभाव हैं — वसन्तादि ऋतुएं, कुसुम माल्यादि कामोद्दीपक अनुलेपन, इसी अलङ्कार, विदूषक, विट, चेटादि इष्टजन, विषय (इन्द्रियों के) जैसे गीत वाद्यादि यद्यपि माल्यादि भी विषय के ही अन्तर्गत हैं, तथापि उनकी विशिष्ट प्रधानता के कारण उन्हें पृथक् कह दिया है, वरभवन, जैसे उत्तम अथवा प्रासादादि। यहां वर-भवन देश-विदेश का उपलक्षण मात्र समझा जाना चाहिए। इन सबका उपभोग करना उपवन में जाना, वहां के आनन्द का अनुभव करना, वहां परस्पर श्रवण, दर्शन, क्रीडा, लीलादि करना।[2] (आदि का अर्थ है जैसे हंसादि पक्षियों के जोड़े, चित्रपुस्तकादि को देखना) ये सभी शृङ्गार रस के विभाव माने जाते हैं। इनमें जो उत्तम होता है, उसकी पूर्णता होने पर उत्तम पात्र की रति का उदय होता है। इसीलिए 'रत्नावली' में हर्ष ने हर्म्यवर्णन, उद्यानगमन, काम देवपूजा, वसन्तादि सबका संग्रह किया है।[3]

स्त्रियों के नानाशील-

सुखेच्छु अथवा सुखकामी शृङ्गारी पुरुष के सुख का मूल स्त्रियां होती हैं। भरत ने यहां सुखाधार उन स्त्रियों को सामुद्रिकशास्त्रोक्त अथवा वात्स्यायनोक्त प्रकार से नानाशील अथवा स्वभाववाली गिनाया है। काव्यनाटकों में उन नायिकाओं का वर्णन करते समय कविगण प्रायः उनके ऐसे लक्षणों का निर्देश करते देखे जाते हैं जो शास्त्रोक्त पूर्वोक्त किसी न किसी विशिष्ट शील के अनुसार ही होता है। अतः उनका वास्तविक रूप शास्त्र से जानना अत्यावश्यक है। भरत के अनुसार उनका शील-स्वरूप देवादि बाइस इस प्रकार है।[4]

---

१. एवंच सर्व एव समुदितो विभाव इति काल्पनिकमालम्बनविभाव उद्दीपनविभाव इति अत-एव मुनिना नायं क्वचिद् विभाग उक्तः सूचितो वा। युक्तं चैतत्। यथैकत्रैवरूपकेउद्यानर्तु-माल्यादीनां सर्वेषां दर्शनादेकोरसः स्यात्। विभावाभेदात्। अभि०भा०, वा०१, पृ०३०४

२. तत्र सम्भोगस्तावत् ऋतुमाल्यानुलेपनालङ्कारेष्टजनविषयवरभवनोपभोगोपवनगमनानु भवनश्रवणदर्शनक्रीडालीलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। — ना०शा०, अ० ६

३. 'राज्यं निर्जितशत्रुयोग्यसचिवेन्यस्तम्।' इत्यादि

४. 'देवदानवगन्धर्व-रक्षोनागपतत्त्रिणाम्।
पिशाचयक्षव्यालानां नरवानरहस्तिनाम्॥
मृगमीनोष्ट्रमकरखरसूकरवाजिनाम्
महिषाजगवादीनां तुल्यशीलाः स्त्रियः स्मृताः॥ — ना०शा०२२।१००—१०१जी)

[illegible][1]

इस निरूपण में भरत ने सामुद्रिक रसादि का ही अनुसरण किया है। उनका कहना है कि स्त्रियों का वास्तविक सत्त्व जानकर भी उनसे उस प्रकार (रति में) व्यवहार करना चाहिए।[2] क्योंकि यत्नशील किया गया स्वल्प भी रत्यादि हर्षप्रद होता है, अन्यथा किया गया तो अत्यधिक भी असंतोषप्रद होता है।[3] मनुष्य पशुओं से उन्नत प्राणी है, केवल पाशविक चेष्टायें उसको सन्तोष नहीं दे सकती हैं। रति के लिए भी स्त्री पुरुष का परस्पर हृदयाकर्षण अत्यावश्यक है। तदर्थ किया गया व्यापार उपचार कहलाता है। धर्म अर्जित करने के लिए तप किया जाता है, और सुख प्राप्त करने के लिए धर्म किया जाता है, तथा सभी सुखों की मूल प्रमदायें मानी गयीं हैं क्योंकि इन्हीं में रति-सुख मिलता है, पुत्रादि उत्पन्न किये जाते हैं तथा धन-धान्यादि का उपयोग होता है।

काम के हेतु स्त्री, पुरुष दोनों होते हैं। यद्यपि स्त्रियों के तथा पुरुषों के विचित्र स्वभाव होते हैं और अतएव प्रतिव्यक्ति स्वभाव का लेखा लगाना असम्भव है किन्तु सभी मानव तीन प्रकार की प्रकृति के भीतर ही सम्मिलित हैं। अत: भरत ने तीन प्रकृतियों का विवेचन किया है। कामोपचार शृङ्गाररस-पर्यवसायी होता है, जो नायक विशेष में ही (अथवा तद्रूपही) है। अत: उन नायकों का भी भेद कथनीय है, और उस नायक का अन्त:पुर अथवाबाहर कितना तथा किस नाम वाला परिवार होता है इत्यादि सब कुछ कवि एवं नट को ज्ञातव्य होता है।[4] अत: भरतने

---

१. [illegible]

२. वही २२।१४५

३. वही २२।१४६

४. " इह कामोपचार: पूर्वं दर्शित: कामश्च स्त्रीपुरुषहेतुकइत्युक्तम्। स्त्रीणांच पुंसां च यद्यपि विचित्रा:स्वभावास्तथापि ते प्रतिपदमशक्यकलनाइतिप्रकृतित्रयेण ते सर्वे शक्यसंग्रहाइतिप्रकृतित्रयं वक्तव्यम् —— कामोपचारश्च शृङ्गारपर्यवसायी नायकविशेष एवेति नायकभेदा वक्तव्या:। तस्य च नायकस्य अन्त:पुरो बहिर्वा-किन्नामधेय: कियान् वा परिवार इति सर्वं कविना ज्ञातव्यं नटेन च।

— भारती

नायक-नायिका-प्रकृति-परिवार का विचार बड़े विस्तार से किया है। नाटकों में नायक तो प्राय: राजा या कोई राजन्य (क्षत्रिय) युवा ही होता है और उसका केवल आभ्यन्तर भागोपचार होता है। अत: उसके अन्त:पुर से सम्बद्ध स्त्रियों एवं शृङ्गारसहायों का निरूपण किया है। यद्यपि राजाओं का बाह्योपचार नहीं कहा गया है, तथापि राजसम्बन्धी सचिवसेनापतिपुरोहित आदि का तो बाह्योपचार होता ही है, अत: उसका भी नायक-सम्बन्ध से ही निरूपण कर दिया है। अस्तु।

* स्त्रीपुरुषप्रकृतियां—

संक्षेप में, स्त्रियों एवं पुरुषों दोनों की प्रकृति (स्वभाव) तीन प्रकार की होती है १. उत्तमा, २. मध्यमा, तथा ३. अधमा।

पुरुषों की उत्तमा प्रकृति :—

जितेन्द्रिया, ज्ञानवती, नानाशिल्पविचक्षणा, दक्षिणा, महालक्ष्या, भीता अथवा दीनों की परिसान्त्वनी, नाना शास्त्रार्थसम्पन्ना, गाम्भीर्यौदार्यशालिनी तथा स्थैर्यत्याग गुणोपेता होती है।[1]

मध्यमा—

लोकोपचार-चतुरा, शिल्पशास्त्रविशारदा तथा विज्ञानमाधुर्ययुता अथवा (साधारणगुणोपेता) कही गयी है।[2]

और अधमा

रूक्षवाक्, दु:शीला, कुसत्त्वा, स्थूलबुद्धि, क्रोधना, घातका, मित्रघ्ना, अतिमानिनी, पिशुना, उद्धतवाक्या, अकृतज्ञा, अलसा, मान्य और अमान्य में भेद न जानने वाली, स्त्रीलोला, कलहप्रिया, पापकर्मा तथा परद्रव्या-पहारिणी होती है।[3]

इसीप्रकार स्त्रियों की उत्तमा-प्रकृति—

मृदुभावा, अचपला, स्मितभाषिणी, अनिष्ठुरा, गुरुजनों की आज्ञा पालन में दक्षा, सलज्जा विनयान्विता, स्वाभाविक रूप, अभिजनों

---

१. ना०शा० २४।२,३ जी
२. वही, ४
३. वही, ५।७

एवं माधुर्य गुणों से युक्त तथा गाम्भीर्य धैर्य-सम्पन्ना होती है।[१]

मध्यमा-प्रकृति-

पूर्वोक्त उत्तमा से ही सामान्य कोटि के कुछ गुणों से युक्त होती है तथा कुछ स्वल्पदोषानुविद्धा भी होती है।[२]

और अधमा-

प्रकृति भी वही है जो अधमापुरुषप्रकृति कही गई है।[३]

नाटक के नपुंसक भी पात्र होते हैं जो कुछ मिश्र प्रकृति के होते हैं। प्रेष्य आदि भी स्वामी के चित्तानुवर्तन के कारण मिश्र प्रकृति ही होते हैं। शकार तथा विट भी या तो सङ्कीर्ण (मिश्र) या अधम होते हैं।[४] अभिनव ने तो प्रेष्य विट तथा शकार को अधम ही कहा है।[५]

शृङ्गार-नायक-भेद—

इस प्रकार प्रकृति भेद बताकर भरत (शृङ्गार) नायक का भेद बताते हैं। नायक चार प्रकार के होते हैं – १. धीरोद्धत, २. धीरललित, ३. धीरोदात्त तथा ४. धीरप्रशान्त।[६] धीरोद्धत देवता होते हैं, धीरललित राजा लोग, धीरोदात्त, सेनापति तथा अमात्य लोग और धीरप्रशान्त ब्राह्मण तथा वणिक्। यह इस प्रकार का विवेक भरत ने केवल शृङ्गार रस के सम्बन्ध में किया है। अन्य रसों के लिए मनुष्य नायक ही चार प्रकार के कहे गये हैं – जैसे राम-दुष्यन्त आदि धीरोदात्त, युधिष्ठिर आदि धीरप्रशान्त, भीम आदि धीरोद्धत तथा उदयन आदि धीरललित नायक नाट्यलोक में प्रसिद्ध हैं।

इन (शृङ्गार) नायकों के विदूषक भी चार प्रकार के होते हैं। धीरोद्धत देव नायकों के विदूषक 'लिङ्गी' अर्थात् ऋषि होता है, धीरललित राजा नायकों का कोई द्विज, धीरोदात्त सेनापति (अथवा अमात्य) का राजजीवी तथा धीरप्रशान्त

---

१. ना०शा० ६,१०
२. वही ११
३. वही, १२
४. वही, १३,१४
५. परमार्थतस्तुप्रेष्यविटशकारा अधमा एव – भारती
६. वही, १७

ब्राह्मण नायकों का तो शिष्य ही विदूषक होता है ।[१] ये विदूषक संकथातापकुशल तथा विप्रलम्भसुहृद् होते हैं ।

नायक की यही नायकता है कि वह व्यसन में पड़कर भी अपना दु:ख फल कर भी फिर अभ्युदय प्राप्त करे ।[२]

शृङ्गार-नायिका-भेद-

इसी प्रकार नाट्यशास्त्र में (शृङ्गार) नायिका भी चार प्रकार की बताई गई है — १. दिव्या, २. नृपपत्नी, ३. कुलस्त्री तथा ४. गणिका ।

उनमें भी दिव्या एवं नृपपत्नी नायिकाएं —धीरा, ललिता, उदात्ता, निभृता एवंगुणों से युक्त होती है ।[३] कुलस्त्री उदात्ता एवं निभृता कही गयी है । तथा गणिका ललिता एवं अभ्युदात्ता होती है[४] ।

राजा का स्त्री-परिवार-

राजा के अन्त:पुर का स्त्री-परिवार इस प्रकार सत्रह प्रकारका होता है — महादेवी (पटरानी), देवियां, (अन्यरानियां), स्वामिनियां, स्थापितायें, भोगिनियां, शिल्पकारिणियां, नाटकीयायें, सनर्तकायें, अनुचारिकायें, परिचारिकायें, संचारिकायें, प्रेषणकारिकायें, महत्तरायें, प्रतीहारियां, कुमारियां, स्थविरायें तथा आयुक्तिकायें[५]। और नपुंसकादिवर्ग अट्ठारहवां प्रकार है । महादेवी आदि का लक्षण इस प्रकार किया गया है —

महादेवी : पटरानी — वह एक ही होती है अत: एकवचन ही कहा गया है । वह मूर्धाभिषिक्ता (मूर्धनि सर्वेषां प्रधानस्थाने अभिषिक्ता : भारती) कुलशील-समन्विता गुणों से युक्त, वयस्स्था, मध्यमवयस्था में वर्तमान, क्रोधना, मुक्तेर्ष्या, राजा के शील को जानने वाली, सुखदु:ख सहा, निरन्तर शान्ति एवं स्वस्त्ययनों द्वारा भर्ता के मंगल को चाहने वाली, शान्ता, पतिव्रता, धीरा, तथा अन्त:पुर के हित में रता होती है ।[६]

---

१. वही १६, २०
२. वही, २२
३. वही, २४,२५
४. वही, २५,२६
५. वही, २६-३२
६. वही , ३३,३५ (महादेवी तु शृङ्गारोचिता नातीवभवतीति वासवदत्तादिषु महादेवीष्वपि कवयो देवीवाचोयुक्त्या व्यवहरन्ति - भारती)

ब्राह्मण नायकों का तो शिष्य ही विदूषक होता है।[1] ये विदूषक संकथालापकुशल तथा विप्रलम्भसुहृद् होते हैं।

नायक की यही नायकता है कि वह व्यसन में पड़कर भी अपना दु:ख झेल कर भी फिर अभ्युदय प्राप्त करे।[2]

शृङ्गार-नायिका-भेद-

इसी प्रकार नाट्यशास्त्र में (शृङ्गार) नायिका भी चार प्रकार की बताई गई है — १. दिव्या, २. नृपपत्नी, ३. कुलस्त्री तथा ४. गणिका।

उनमें भी दिव्या एवं नृपपत्नी नायिकाएं —धीरा, ललिता, उदात्ता, निभृता एवंगुणों से युक्त होती है।[3] कुलस्त्री उदात्ता एवं निभृता कही गयी है। तथा गणिका ललिता एवं अभ्युदात्ता होती है[4]।

राजा का स्त्री-परिवार-

राजा के अन्त:पुर का स्त्री-परिवार इस प्रकार सत्रह प्रकारका होता है — महादेवी (पटरानी), देवियां, (अन्यरानियां), स्वामिनियां, स्थापितायें, भोगिनियां, शिल्पकारिणियां, नाटकीयायें, सनर्तकायें, अनुचारिकायें, परिचारिकायें, संचारिकायें, प्रेषणचारिकायें, महत्तरायें, प्रतीहारियां, कुमारियां, स्थविरायें तथा आयुक्तिकायें[5]। और नपुंसकादिवर्ग अट्ठारहवां प्रकार है। महादेवी आदि का लक्षण इस प्रकार किया गया है —

महादेवी : पटरानी — वह एक ही होती है अत: एकवचन ही कहा गया है। वह मूर्धाभिषिक्ता (मूर्धनि सर्वेषां प्रधानस्थाने अभिषिक्ता : भारती) कुलशीलसमन्विता गुणों से युक्त, वयस्स्था, मध्यमअवस्था में वर्तमान, क्रोधना, मुक्तेर्ष्या, राजा के शील को जानने वाली, सुखदु:ख सहा, निरन्तर शान्ति एवं स्वस्त्ययनों द्वारा भर्ता के मंगल को चाहने वाली, शान्ता, पतिव्रता, धीरा, तथा अन्त:पुर के हित में रता होती है।[6]

---

१. वही १९, २०
२. वही, २२
३. वही, २४,२५
४. वही, २५,२६
५. वही, २६-३२ (महादेवी तु शृङ्गारोचिता नातीवभवतीति वासवदत्तादिषु महादेवीष्वपि कवयो देवीवाचोयुक्त्या व्यवहरन्ति — भारती)
६. वही, ३३,३५

देवियां - (अन्य रानियां) - महादेवी के गुणों से ही युक्त होती हैं केवल मूर्धाभिषेक संस्कार इनका नहीं होता । ये गर्विता, पतिसौभाग्या, पतिसंभोगतत्परा, एवं सदा उज्ज्वल आकारवाली, प्रतिपक्षाभ्यसूयका, तथा वय, रूप एवं गुणों से सम्पन्न होती है[1]।

स्वामिनियां- सेनापति की अमात्यों की अथवा भृत्यों की तनयायें होती हैं । ये प्रति (पति ?) सम्मान नहीं पातीं, शील, रूप तथा गुणों से सम्पन्न राजा का हित करने वाली एवं अपने गुणों के कारण लब्धसम्माना होती हैं[2]।

स्थापिकायें- रूपयौवनशालिनी, सौभाग्यगर्व के कारण कर्कश, विभ्रम युक्त, रतिसंभोग कुशला, प्रतिपक्ष से अभ्यसूया करने वाली, दक्षा, भर्ता के चित्त को जानने वाली, सदा गन्धमाल्य से उज्ज्वल (चटक) राजा की छन्दानुवर्तिनी ईर्ष्या मान तथा गर्व से रहित, उत्थिता (?) प्रमत्ता (प्रगदशालिनी) त्यक्तालस्या, अनिष्ठुरा तथा मान्यामान्यविशेषज्ञा होती हैं ।[3]

भोगिनियां- कुल एवं शील के कारण पूजा पाने वालीं स्वभाव से मृदु, नात्युद्भटा, मध्यस्था निभृता तथा शान्ता होती हैं ।[4]

शिल्पकारिणियां- नानाकलाविशेषज्ञा, नानाशिल्पविचक्षणा, गन्धपुष्पविभागज्ञा, लेख्यालेख्यविकल्पिका, शयनासनभागज्ञा, चतुरा, मधुरा, दक्षा, सौम्या, स्फुटा, श्लिष्टा, तथा निभृता होती हैं[5]।

नाटकीयायें - स्वरतालयज्ञा, परभावेङ्गितज्ञा, चतुरा, नाट्यकुशला, ऊहापोहविचक्षणा, तथा रूपयौवनसम्पन्ना होती हैं ।[6]

सनर्तका (अथवा नर्तकियां) - हेलाभाव से विशेष-सम्पन्ना, सत्त्व-अभिनय तथा माधुर्य से विभूषिता, आतोद्यकुशला, अङ्गप्रत्यङ्गसम्पन्ना, चौंसठ कलाओं से युक्ता चतुरा, प्रश्रयोपेता (विनियान्विता), स्त्रीदोषवर्जिता, सदाप्रगल्भा,

---

१. वही, ३५-३७ जी
२. वही, ३८-३९
३. वही, ४०-४२
४. वही, ४३
५. वही, ४४-४५
६. वही, ४६,४७

त्यक्तालस्या, जितश्रमा, नानाशिल्पप्रयोगज्ञा, नृत्यगीतविचक्षणा, -गुणौ-
दार्य धैर्य-सौभाग्य-शील-सम्पन्ना तथा पेशल-मधुर-स्निग्ध-अनुनादि-कल-
चित्रकण्ठा होती हैं। बहुत सी नारियों में भी रूप-यौवन तथा कान्ति
में उनके सदृश अन्य कोई नहीं दिखाई पड़ती।[१]

अनुचारिकायें- दक्षिणा, दक्षा, तथा सभी अवस्थाओं में राजा के पास से न हटने
वाली होती है।[२]

परिचारिकायें- अनेक प्रकार की होती हैं - जैसे - शय्यापालिका, छत्रधारी व्यजनधारिणी,
संवाहिका, गन्धयोक्त्री, प्रसाधिका, आभरण-योक्त्री, तथा माल्य -
संयोजिका आदि।[३]

संचारिकायें -ये भी कई प्रकार की होती हैं - नानाकक्ष्याविचारिणियां, उपवनसंचरा,
देवतायतन-क्रीडा-प्रासादपरिचारिका, तथा यामकिनियां (पहरेदारिनियां)
आदि[४]।

प्रेषणकारिकायें- जो गोप्यअगोप्यप्रेषण-कार्यों में परिचारिका नियुक्त की जाती
हैं[५]।

महत्तरायें - जो स्तुति तथा स्वस्त्ययन द्वारा सारे अन्तःपुर की रक्षा में रत रहती हैं[६]

प्रतीहारियां- जो सन्धिविग्रह से संबद्ध अन्य चारसमुत्थित कार्य को निवेदित करती हैं[७]।

कुमारियां- जो अप्राप्तरतिसंभोगा, नसम्भ्रान्ता और न उद्भटा, निभृता तथा सलज्जा
होती हैं।[८]

स्थविरायें - जो पूर्ववर्ती राजाओं की नीति या परम्परा को जानने वाली पूर्ववर्ती
राजाओं ~~की नीति या परम्परा को~~ द्वारा पूजित तथा अनुचरित(अनुगत)

---

१. वही ४७, ५२
२. वही ५२,५३
३. वही, ५३-५५
४. वही ५५-५७
५. वही ५७-५८
६. वही ५८-५९
७. वही, ५९-६०
८. वही ,६०,६१

रखी । [१]

और आयुक्तिकायें – अन्तःपुर में स्थित विभिन्न अधिकरणों (विभागों) की अधीक्षिका होती हैं जैसे – भाण्डागार, आयुधाधिकरण, फलमूल तथा औषधियों का अन्वेषणादि । [२]

अन्तःपुर की इन सत्रह प्रकार की स्त्रियों में कारुका (शिल्पकारिणी) कंचुकीया तथा अन्य आयुक्तिकादि चतुरता, दक्षता, नानापार्श्वसमुत्थिता, विविध-कार्यों में निपुणता, न उद्भटा, न सम्भ्रान्ता, अलुब्धा, अनिष्ठुरा, शान्ता, दान्ता, प्रसन्ना, जितक्रोधा, जितेन्द्रिया, महात्मा (परस्य कामयितुमर्ह अनाश्रयत्वेति -भारती) लोभहीना, तथा स्त्री-दोषों से रहिता होती हैं । [३]

राजान्तःपुर के अन्य परिवार–

अन्तःपुर में कुछ विनीत, स्वल्पसत्ववाले, स्त्री-स्वभाववाले, जाति से निर्दोष, क्लीब (नपुंसक) लोग भी रहते हैं । उन्हें 'वर्षधर' कहा जाता है, वे प्रेषणों में तथा कुमारी बालिकाओं के रक्षण आदि कार्यों में नियुक्त किये जाते हैं ।

इनके अतिरिक्त कुछ काम सम्बन्धी दोषों से रहित कुशल, वृद्ध ब्राह्मण भी रानियों के प्रयोजनों में प्रयोक्तव्य होते हैं ।

यह तो हुआ राजाओं का अट्ठारह प्रकार का अन्तःपुर, जिसका उपयोग शृङ्गार रस के सम्बन्ध में किया जाता है ।

राजबाह्यपरिवार–

भरत ने राजाओं के बाह्य परिवार का भी सविस्तर विवेचन किया है । उनका भी शृङ्गार रस के सम्बन्ध में उपयोग किया जाता है । वे हैं – राजा (इस राजा शब्द का अर्थ अभिनव ने युवराज किया है – 'युवराजो त्र राजशब्देनोक्तः–भारती) सेनापति, पुरोधा, मन्त्रिगण, सचिव, प्राड्विवाक तथा कुमाराधिकृत (७४) उनके लक्षण इस प्रकार किये गये हैं :–

राजा – अर्थात् युवराज–बलवान् बुद्धिसम्पन्न, सत्यवादी, जितेन्द्रिय दक्ष, प्रगल्भ धृतिमान्, शुचि, दीर्घदर्शी, महोत्साह, कृतज्ञ, प्रियवाक्, मृदु, लोकपाल, व्रतधर, कर्ममार्गविशारद, उत्थित, अप्रमत्त, वृद्धसेवी, अर्थशास्त्रविद् परभावज्ञ,

---

१. वही ६१-६२
२. वही ६२-६३ ३. वही ६५-६८

शूर, रक्षा-समन्वित, ऊहापोहविचारी, नानाशिल्पप्रयोजक, नीतिशास्त्रानुकूल, प्रजा में अनुरागवान् , धर्मज्ञ तथा अव्यसनी होता है।[१]

पुरोधा तथा मन्त्रिगण— कुलीन, बुद्धिसम्पन्न, नानाशास्त्र परिचित, स्निग्ध, दूसरों द्वारा जो बहकाये न जा सकें, अप्रमत्त, देशज, अलुब्ध, विनीत, शुचि (पवित्र, अथवा ईमानदार) तथा धार्मिक होते हैं।[२]

सचिव— दक्ष, प्रियंवद, भक्त, शुचि, अनुरक्त (?) विनीत, कुशल, दान्त, तथा प्रभु होते हैं।[३]

सेनापति— बुद्धिमान्, नीतिसम्पन्न, त्यक्तालस्य, प्रियंवद, पररन्ध्रविधिज्ञ, यात्रा (आक्रमण) कालविशेषजित् अर्थशास्त्रकुशल, अनुरक्त, कुलीन, देशवित् तथा कालवित् होना चाहिए।

प्राड्विवाक—(झगड़े के विषय में जो निर्णय पूछे उसे प्राड् कहते हैं जो वादी और प्रतिवादी होते हैं। उनका विवेक जो करे उसे प्राड्विवाक या न्यायाधीश जज कहते हैं।[३] व्यवहारार्थ (मुकदमे के विषय) तत्त्वज्ञ, बुद्धिमान्, बहुश्रुत, मध्यस्थ, धार्मिक, धीर कार्याकार्यविवेकी, शान्त, दान्त, जितक्रोध, तथा सर्वत्र समदर्शी विज्ञों को धर्मासन (न्याय की कुर्सी) पर बैठाना चाहिए[४]।

कुमाराधिकृत- (कुमार अर्थात् राजकुमारों की रक्षा के लिए नियुक्त अधिकारी — 'कुमाराणां राजपुत्राणां रक्षार्थमधिकृताः' —भारती)। उत्थित, अप्रमत्त, त्यक्तालस्य, जितश्रम, स्निग्ध, शान्त, विनीत, मध्यस्थ, निपुण, नयज्ञ, (नयो अर्थशास्त्रंनयहेतुत्वात्- भारती) विनयज्ञ, (विनयो त्रधर्मशास्त्रम् - भारती) ऊहापोहविचक्षण, तथा सर्वशास्त्रार्थसम्पन्न होते हैं।[४]

भरत ने संक्षेप में इनका लक्षण बताकर भी इतना कह दिया है कि इनका विशेष विस्तारपूर्वक लक्षण बृहस्पति (बार्हस्पत्यौशनसादेरित्यर्थः —भारती) प्रोक्त मत से निश्चय कर लेना चाहिए।

---

१. वही २४।७६-८०

२. वही, ८०-८१

३. 'पृच्छन्तिविवादपदे निर्णयमिति प्राशोविवदितारस्तेषां विवेच कउच्यते यैस्ते प्राड्विवाकाः?' — भारती।

४. वही, ८४-८६

राजा की आठ प्रकार की नायिकाएं –

उचित वासक में, अथवा स्त्रियों के ऋतुकाल के समय धर्मवृत्ति नरेश प्रेष्या (वेश्या, दूती आदि) तथा इष्टा का भी सेवन करता है।[1] ये सब आठ प्रकार की नायिकायें होती हैं :–

१. वासकसज्जा, २. विरहोत्कण्ठिता, ३. स्वाधीनभर्तृका, ४. कलहान्तरिता
५. खण्डिता, ६. विप्रलब्धा, ७. प्रोषितभर्तृका तथा ८. अभिसारिका[2]।
इनके लक्षण संक्षेप में इस प्रकार हैं –

१. वासकसज्जा– जो रतिसम्भोग के प्रति साभिलाष हो प्रसन्न होकर उचितवासक में अपना मण्डन करती है[3]।

२. विरहोत्कण्ठिता– जिसका प्रिय अनेक कार्य-व्यासङ्ग के कारण उसके पास नहीं आ रहा है अतः जो उसके न आने से दुःखार्त है।[4]

३. स्वाधीनभर्तृका– जिसका नायक सुरत-रस से आबद्ध हो, उसके पास ही रहता है, अतएव जो सान्द्रामोदमयी अथवा हर्षसौभाग्याभिमानगर्विता होती है[5]।

४. कलहान्तरिता– जिसका ईर्ष्या-कलह के कारण निकला प्रिय पास नहीं आता, अतः जो अमर्षाक्रान्त है।[6]

५. खण्डिता– जिसका प्रिय अन्य-नारियों के सङ्ग के कारण उचित 'वासक' में नहीं आता, अतः जो उसके अनागमसे दुःखार्त रहती है[7]।

६. विप्रलब्धा– जिसका प्रिय दूती द्वारा अथवा अन्य के द्वारा भी सङ्केत देकर किसी कारणवश नहीं आता।[8]

---

१. २२।२१०, जी०
२. २२।२११-१२ जी
३. २२।२१३
४. २२।२१४ जी
५. २२।२१५ जी०
६. २२।२१६, जी
७. वही २१७
८. वही २१८

७. प्रोषितभर्तृका--जिसका प्रिय नाना कार्य से परदेशस्थ होता है, अतः वो उसकी भावना से केशों का शृङ्गार आदि नहीं किये रहती ।[१]

८. अभिसारिका--जो यौवनकृत या मद्यकृत मद के कारण तथा मदनवश लाज छोड़कर प्रिय के पास जाती (अभिसार करती) है ।[२]

बाद के आचार्यों ने ये आठ भेद सामान्यतया सभी नायिकाओं का करने लगे।

वेश्याप्रकृतिभेद-

भरत ने सभी वेश्या नारियों की भी तीन प्रकार की प्रकृति बताई है - (१) उत्तमा, (२) मध्यमा तथा (३) अधमा ।

उत्तमा- वह है, जो प्रिय (नायक) के विप्रिय करने पर भी अप्रिय नहीं बोलती, दीर्घकाल तक रोष नहीं करती, कलाओं में विचक्षणा होती है, अच्छे शील, शोभा तथा कुल वाले पुरुषों द्वारा चाही जाती है, उचित कारण पर रोष करती है, ईर्ष्यारहित बात करती है, कामतन्त्रों में कुशल दक्षिणा तथा रूपवती होती है, कार्यकाल की विशेषज्ञ तथा सुभगा होती है ।[३]

मध्यमा- वह है जो उन पुरुषों को स्वयं भी चाहती है जो उसे चाहते हैं, कामोपचारों में कुशला होती है, प्रतिपक्ष से अभ्यसूया करती है, ईर्ष्यातुरा, अनभिृता, क्षणक्रोधा, अतिगर्विता तथा क्षणप्रसादा होती है ।[४]

अधमा- वह है जो अनुचित कोप करने वाली, दुष्टशीला, अतिमानिनी, चपला, परुषा तथा दीर्घरोषा होती है ।[५]

स्त्रीयौवनविभाग-

स्त्रियों के यौवन का भी चार विभाग (नैपथ्य, रूप, चेष्टा एवं गुणों के अनुसार) किये गये हैं । अभिनव ने बीस वर्ष तक प्रथम यौवन, तीस तक द्वितीय, चालीस तक तृतीय तथा पचास तक चतुर्थ यौवन विभाग किया है । (प्रथमं यौवनं

---

१. वही २१६

२. वही २२।२२०

३. वही २३।३६-३८

४. वही २३।३९-४०

५. वही २३।४१

यावद्विंशति । एवं निश्चत्वारिंशत्पर्यन्तविभाग: -भारती) ।

प्रथमयौवन में - ऊरु, गण्ड, जघन, अधर तथा स्तनों में पीनता, कर्कशता (कठोरता) तथा रतिमनोज्ञता होती है । और इस में शृङ्गारविषयक अनुराग रहता है ।

द्वितीय यौवन में - अङ्गों में पूर्णावयवता पयोधरों में पीनता तथा कटि में नति आ जाती है । यह कामदेव अथवा शृङ्गार का सारभूत यौवन है ।

तृतीय यौवन में -सर्वश्रीसंयुक्तता, रति रणोत्पादनता, रतिगुणाढ्यता तथा कामाप्यायितशोभा होती है । और

चतुर्थयौवन में -गण्ड, जघन तथा स्तनों में तो अम्लानता, किन्तु लावण्य में कुछ ऊनता और काम के प्रति निरुत्साहत्व आ जाता है । अतएव कहा है -

' नव-यौवने व्यतीते तथा द्वितीये तृतीये वापि
शृङ्गाररसानुभूतं यौवनमेतच्चतुर्थे तु ।।[1]

यौवनविभागों में चेष्टायें -

' उनकी चेष्टायें भी यौवन के प्रत्येक विभाग में विभिन्न होती है । प्रथम यौवन में वह दशनादिकृत्य को अत्यधिक नहीं सह सकती, स्त्रियों (पति ?) से न नाराज़ होती है न प्रसन्न ही तथा सौम्यगुणों में व्यापृता होती है । द्वितीय यौवन में कुछ मान, कुछ क्रोध तथा कुछ मत्सर करती है और क्रोध होने पर चुप हो जाती है । तृतीय यौवन में रति संभोग में दक्षा, प्रतिपक्ष के प्रति द्रोह करने वाली, रति-गुणाढ्या (अर्थात् कामतन्त्रप्रयोगप्रगल्भा) तथा अनिभृतगर्वितचेष्टा वाली होती है और चतुर्थयौवन में नारी चित्त-ग्रहण में समर्था, कामाभिज्ञा, तथा अमत्सरोपेता होती है और सदा नायक का अविरह ही चाहती है ।[2]

स्त्री प्रयोग के अनुसार पुरुषों के प्रकार-

इसी प्रकार स्त्री-प्रयोग के विषय में पुरुष भी पांच प्रकार के कहे गए हैं-
१. चतुर, २ उत्तम, ३. मध्यम, ४. नीच तथा ५. प्रवृत्तक[3] ।

---

१. वही २३।४३-४६

२. वही २३।४८-५१ ३. वही २३।५३

चतुर-पुरुष वह है, जो दुःख सहिष्णु, प्रणयक्रोधप्रसादन में कुशल तथा रति उपचारों में निपुण होता है।

उत्तम-पुरुष नारी का विप्रिय नहीं करता, ज्ञात-इंगित-हृदय अर्थात् गम्भीर-हृदय-वाला, स्मृतिमान्, धृतिमान्, मधुर, त्यागी, न राग न मद के वश में होता है तथा नारी से अपमानित होने पर विरक्त हो जाता है।

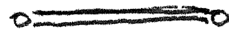
मध्यम-पुरुष वह है जो सर्वथा मध्यस्थ भाव से ही नारी में अनुरक्त होता है, और कुछ दोष देख कर विरक्त भी हो जाता है। मध्यम का एक अन्य रूप भी निरूपित किया गया है -

'काले दाताह्यवमानितो पिन क्रोध मतितरामेति दृष्ट्वा व्यलीकमात्रं विरज्यते मध्यमो यमपि[1]।।

अधम-पुरुष - वह है जो नारी से अपमानित होकर भी निर्लज्जता के कारण बिना चेहरे पर किसी प्रकार के विकार को दिखाये पुन: उसके पास पहुंचाता है। उस नायिका को अन्य-पुरुषसङ्क्रान्तस्नेहा जानकर भी मित्रों द्वारा मना किये जाने पर भी जो उसमें अतिशय अनुरक्त होता है[2]।

और संप्रवृत्तक या संप्रवृद्धक वह है जो भय, अमर्ष आदि की परवाह न करे, मूर्खस्वभाव वाला, सदा खीसें निकाले, एकान्तदृढ़ग्राही कामतन्त्रों में निर्लज्ज, रति-कलह संप्रहारों में अकर्कश, तथा औरतों का खिलौना(Buffoon) होता है।

इस सारे विवेचन में भरत ने कामशास्त्र की मान्यताओं को अपनाया है। यह सारा प्रपञ्च तदनुसार ही हुआ है। स्त्रियों के विविध शील तथा गूढ अभिप्राय वाले हृदय को जानकर ही यथाशक्य उनका संगम करना चाहिए। उनके अनुराग -विराग को जानकर ही, तदनुसार किये गये उपक्रमों द्वारा यथाकामतन्त्र उनका उपभोग करें[3]।



रुद्रट का नायक-विवेचन- नायक-नायिका विवेचन में रुद्रट का महत्वपूर्ण मौलिक योगदान रहा जो परवर्ती आचार्यों के लिए उपजीव्य हुआ।

रुद्रट के शृङ्गाराश्रयनायकनायिका वर्णन की अवतरणिका देते हुए नमिसाधु ने लिखा है -' शृङ्गारश्च नायकाश्रय इति तस्य गुणानाह' अर्थात् शृङ्गार की स्थिति नायक में रहती है, अत: नायक के लक्षण आदि का विवेचन करते हैं। सम्भवत:

---

१. वही २३।५८

२. वही २३।५९-६०

३. वही २३।६३।६४

नायकाश्च में नायक एवं एक-शेष समास में है नायकाश्च नायिका च । उचित यह कहना था कि 'शृङ्गारश्चपुंनार्यो व्यहार: इति यथाक्रमं तयो: पुरुषस्य नार्याश्च [illegible] अस्तु ।

शृङ्गार-नायक का स्वरूप एवं प्रकार -

शृङ्गार का नायक या पुमान् काव्य का नायक होता है । और हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि काव्य या नाटक का नायक एक आदर्श पुरुष होता है । लोक का शृङ्गारवृत्ति वाला व्यक्ति भी यदि शृङ्गार-काव्य का नायक रूप से वर्णित किया जायगा तो वह आदर्श शृङ्गारी होगा । अत: रुद्रट के मत से शृङ्गार का नायक रति सम्बन्धी उपचारों में चतुर, उच्चकुल का, सुरूप, नीरोग, मानशील, नागरिक (अग्राम्य) एवं चटकीले वेशवाला अनुद्धत चेष्टाओं वाला, गम्भीर-स्वभाव, सुभग (प्रिय) कलाओं में कुशल, युवा, त्यागशील, प्रियभाषी, कार्यदक्ष, गम्यास्त्रियों का विश्वासभाजन तथा लोकविख्यात होता है[1]— । उन्होंने नायक के उत्तम ,मध्यम तथा हीन या अधम भेद भी किए हैं —नायकानां—हीनमध्योत्तमानाम्[2] । शृङ्गार का नायक किसी स्त्री से सम्बद्ध होगा ही । अत: स्त्री-सम्बन्ध की दृष्टि से नायक चार प्रकार का होता है — १. अनुकूल, २. दक्षिण , ३. शठ और ४. धृष्ट । इनमें, स्थिर प्रेम के कारण अन्य रमणी से सम्बन्ध न रखने वाला 'अनुकूल' नायक कहलाता है[3]।

दक्षिण नायक वह है जो अपनी पहिले की नायिका के प्रति सद्भाव, गौरवभाव, भय (अदब) एवं प्रेम अक्षुण्ण रखते हुए भी अन्य नायिका में मन लगाता है ।[4] जो(सामने) प्रिय बातें अधिक करे, किन्तु चोरी - चोरी अप्रिय (अन्य नायिका से प्रेम आदि)

---

१. रत्युपचारे चतुरस्तुङ्गकुलोरूपवानरुङ्मानी ।
अग्राम्योज्ज्वलवेषो नुल्वणचेष्ट:स्थिरप्रकृति: ।।
सुभग: कलासुकुशल स्तरुणस्त्यागीप्रियंवदोदक्ष: ।
गम्यासुचविस्रम्भी तत्र स्यान्नायक: ख्यात: ।।

२. का०अ० १२।४७

३. तत्र प्रेम्ण: स्थैर्यादनुकूलो नन्यरमणीक: १२।८

४. खण्डयति न पूर्वस्यां सद्भावं गौरवं भयं प्रेम । अभिजातो न्यमना अपि नार्यां
यो दक्षिण: सो यम् । . — १२।१०

करे। देखने में तो निरपराध लगे, किन्तु कार्य सभी कुटिल ही करे उसे 'शठ' नायक कहते हैं।[१] और धृष्ट (या ढीठ, निर्लज्ज) नायक वह है जो अपनी पद्धति की नायिका का अहित (दूसरी से प्रेम रूप) करके भी निर्भय रहता है, डाटने पर भी नहीं लजाता, और जब उसके दोषों को उससे बताया जाय तो कहता है कि यह सब झूठ है।[२] भरतादि ने इसके चतुर, उत्तम, मध्यम, अधम तथा सम्प्रवृत्तक भेदों के कुछ अनु दिशा में संकेत सा किया था। अस्तु।

शृङ्गार-नायक के सहायक -

शृङ्गार-रस के काव्यों में नायक के क्रीडा-सहायक तीन प्रकार के कर्म साचव होते हैं, जो नायक के भक्त, उसकी बात को गुप्त रखने वाले, परिहास वचन में कुशल, ईमानदार, वाक्पटु (लोगों के अथवा नायक के) चित्त को समझने वाले, तथा प्रतिभावान् होते हैं।[३] ये नर्मसचिव तीन प्रकार के होते हैं - पीठमर्द, विट और विदूषक। इनमें पीठमर्द तो नायक के ही गुणों से युक्त तथा उसका अनुचर होता है। विट में एकादशविधायें होती हैं।[४] विदूषक के कुछ अपने विशेषगुण ही होते हैं। वहनायक का खिलौना जैसा होता है। वह प्रकृत्या, मूर्ख, तथा हास्यजनक आकार, वेष एवं बातोंवाला होता है।[५]

नायिका निरूपण-

इस प्रकार संक्षेप में पुरुष या नायक का विवेचन करके रुद्रट ने नारी या नायिका का विवेचन किया है -क्योंकि 'अन्योन्यानुरक्तयो: पुंनार्यो: रतिप्रकृति व्यवहार: शृङ्गार:' उनकी शृङ्गार की परिभाषा है। नायिकायें प्रथम तीन

---

१. वक्तिप्रियमभ्यधिकं य: कुरुते विप्रियं तथा निभृतम् आचरति निरपराधवदसरलचेष्ट: शठ: स इति। - १२।११

२. कृतविप्रियो प्यशङ्कोय: स्यान्निर्भर्त्सितो पि न विलक्ष: प्रतिपादिते पि दोषे वक्ति च मिथ्येत्यसौ धृष्ट:। - २।१२

३. भक्त:संवृतमन्त्र: नर्मणिनिपुण:शुचि:पटुर्वाग्मी। चित्तज्ञ: प्रतिभावांस्तस्य भवेन्नर्मसचिवस्तु। - १२।१३

४. नमिसाधु की टीका द्रष्टव्य।

५. त्रिविध: स पीठमर्द: प्रथमो थ विटो विदूषकस्तदनु नायक गुणायुक्तो थ च तदनुचर: पीठमर्दो त्र।। विट एकादशविधो विदूषक: क्रीडनीयकप्राय:। निजगुणयुक्तो थ मूर्खो हास्यकराकारवेषवचा:।। - १२।१४,१५।

प्रकार की होती हैं -१. आत्मासक्ता २. अन्यसक्ता तथा ३. सर्वसक्ता। इन्हीं को दूसरे शब्दों में स्वकीया परकीया और सामान्या कहते हैं। रुद्रट का यह विवेचन भरत के विवेचन से स्वतन्त्र मौलिकता है। ये सभी लज्जान्वित होती हैं, तथा जैसे नायक के सात्त्विक गुण होते हैं, वैसे ही इनकी भी सात्त्विक शक्तियां होती हैं।[1]

आत्मीया नायिका-

आत्मीया नायिका पवित्र और परम्परा का पालन करने वाली, अपने चरित्र का सहारा लेने वाली, सरलता एवं क्षमा से युक्त होती है। वह तीन प्रकार की होती हैं -१. मुग्धा, २. मध्या और ३. प्रगल्भा, जो सम्भवतः वयः क्रम के अनुसार किया गया है।[2] नायिका वर्णन में जिस प्रकार अन्य आचार्यों ने,उसी प्रकार रुद्रट ने भी वात्स्यायन कामसूत्र से मुख्यतया सहायता ली है।

आत्मीया मुग्धा-

मुग्धानायिका नवयौवन के कारण मदनविकारों में सकौतुक, सुरतक्रीडा के कौशल से अपरिचित, किंचित्, साध्वस (भय आशङ्का आदि) के कारण अपने प्रेम को छिपाए रखने वाली होती है।[3] उसकी अन्य चेष्टाओं का वर्णन रुद्रट ने इस प्रकार किया है -मुग्धा शय्या पर प्रतिकूल मुख करके पड़ती है, प्रिय के आलिङ्गन के समय कांपती हुई अपने अङ्गों को तथा चुम्बन के समय अपने मुख को हटा लेती है। बहुत पूछने पर कुछ अस्पष्ट बोलती है। जब नायक दूसरी नायिका के साथ प्रेम क्रीडा करता है तो मुग्धा गुस्से में उसके सम्मुख केवल रोती है और किसी सरल उपाय से ही प्रसन्न भी हो जाती है।[4]

---

१. आत्मान्यसर्वसक्तास्तिस्रो लज्जान्विता यथोक्त गुणाः।
सात्त्विकगुणान्वितास्यस्तस्यस्युर्नायिका श्चैमाः ।। १२।१६

२. शुचिशीलाचाररता चरित्रशरणार्जवक्षमायुक्ता ।। आत्मीया तुत्रेधा मुग्धा, मध्या प्रगल्भा च। १२।१७।

३. मुग्धा तथा नवोढा नवयौवनजनितमन्मथोत्साहा।
रतिनैपुणानभिज्ञासाध्वसपिहितानुरागा च ।। - १२।१८

४. तल्पेपरिवृत्यास्तेसकम्पमालिङ्गने ङ्गमपहरति।
वदने च चुम्बने सा पृष्टा बहुशो स्फुटंवक्ति।
अन्यांनिषेवमाणे सा कुप्यति नायके ततस्तस्य.
रोदिति केवलमग्ने मृदुनोपायेनतुष्यति च ।। १२।१६,२०

आत्मीया मध्या-

मध्या नायिका का यौवन पूर्ण विकसित रहता है, मदन क्रीड़ाओं के प्रति उसका बड़ा उत्साह रहता है, कुछ-कुछ प्रगल्भता भी दिखायी पड़ने लगती है, सुरत-क्रीड़ाओं में कुछ कुशलता भी आ जाती है। सुरत व्यापार में कम भी जाती है, सुरति क्रीड़ा में नायक के अड्०गों में मानो प्रविष्ट-सी हो जाती है, सुरतावसान में आनन्द आँखें बन्द किए मानों बेहोश सी हो जाती है। (नायिका की ये चेष्टाएं केवल काव्य में वर्णित की जा सकती हैं उनका नाटकों में प्रदर्शन नहीं किया जा सकता है।) फिर रुद्रट ने प्रिय के प्रति मान के विषय में मध्या के तीन भेद बताए हैं — १. धीरा, २. मध्या और ३. अधीरा। धीरा प्रिय के सापराध होने पर कोप करती है। तथा तीखी वक्रोक्तियों (फब्तियों) को सुनकर उसे चोट पहुँचाती है, और अधीरा कठोर वचन कहती तथा मध्या रोती हुई उपालम्भ देती है[१] —

आत्मीया प्रगल्भा-

प्रगल्भा नायिका रतिकर्म में पण्डिता, समर्थ तथा व्यवहारज्ञ होती है। उसके मन में सदा नायक भरा रहता है। वह विलास सम्बन्धी सूक्ष्म विस्तारों की अभिज्ञ होती है। सुरत क्रीड़ा में उसे कोई घबड़ाहट नहीं होती और नायक के अड्०गों से ऐसे चिपकती है मानो विलीन हो गयी (द्रवतामिव याति) सुरत में उसे इतना भी चेत नहीं रहता है कि 'कोऽयम् काहम् किमेतदिति'। सापराधप्रिय पर धीरा प्रगल्भा कुपित होकर अपने रुष्ट आकार को छिपाये उसका आदर करती है। अपने कोप को प्रकट नहीं होने देती, तथा एकान्त में प्रिय से उदासीन ही रहती है। मध्या प्रगल्भा साभिप्राय प्रिय वचनों से प्रिय को चोट पहुँचाती है और अधीरा प्रगल्भा तो प्रिय को

---

१. आरूढयौवनभरा मध्याविर्भूतमन्मथा त्सुहा।
उद्भिन्न प्रागल्भ्यां किंचिदुद्भूतसुरतचातुर्या
व्याप्रियते सायस्ता सुरते विशतीवनायकाड्०गेषु।
सुरतान्ते सानन्दा निमीलिताक्षी विमुह्यति च
कुप्यति तत्र सदोषे वक्रोक्त्याप्रतिभिनत्तिं धीरा।
परुषवचोभिरधीरा मध्यासाश्रैरुपालम्भे :॥

— का०अ० १२।२१-२३

डाटती भी है और मारती भी ।[1]

मध्या और प्रगल्भा के ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा दो भेद

फिर मध्या और प्रगल्भा के ज्येष्ठा और कनिष्ठा—ये दो भेद और होते हैं किन्तु मुग्धा के कोई अन्य भेद नहीं है काव्यों में इसी रूप में इनकी प्रसिद्धि है[2]—काव्यों में नायक का व्यवहार उन (ज्येष्ठा और कनिष्ठाओं) से दाक्षिण्य और प्रेम के साथ ही होता है । पुनर्विवाहिताऍं तो, अक्षतयोनि होने के कारण, आत्मीया के मुग्धा भेद में ही संगृहीत हैं । इसे ही रुद्रट ने पुनर्भू भी कहा है । विधमान भी भेद नहीं किये जाते हैं ।

परकीया—

परकीया के दो प्रकार होते हैं —१. कन्या तथा २. परोढा । ये दोनों नायक को देख कर या सुनकर उसके प्रति तीव्र मदनभाव से भर जाती हैं । उनको नायक का दर्शन या तो साक्षात् हो जाता है या चित्र में, या स्वप्न में अथवा इन्द्रजाल के द्वारा । इसी प्रकार नायक के विषय में वे स्थानविशेष एवं कालविशेष में सुनती हैं[3]।

---

१. लब्धायति:प्रगल्भा रतिकर्मणि पण्डिता विदग्धा ।
आक्रान्तनायकमना निर्व्यूढविलासविस्तारा ।।
सुरते निराकुलासौ द्रवतामिव याति नायकस्याङ्गे ।
न च तत्र विवेक्तुमलं कोऽयं काहं किमेतदिति ।।
तत्र कुपितापराधिनि संवृत्याकारमधिकमाद्रियते ।
कोपमपह्नुत्यास्ते धीरा हि रहस्युदासीना ।
मध्या तु साधुवचनैः स्तमीदृशंप्रतिभिनति सोल्लुण्ठैः ।
ताड्यति मङ्गदधीरा कोपात् संतर्ज्य संतर्ज्य ।। — का०अ० १२।१४-२७

२. ज्येष्ठकनिष्ठत्वेन तु पुनरपिभ्याद्विधाप्रगल्भा च ।
मुग्धान्वनन्यभेदा काव्येषु तथा प्रसिद्धत्वात् ।। —का०अ० १२।२८

३. परकीया तु द्वेधा कन्योढा चेति हि जायेते ।
मुह्यमदनार्ते नायकमालोक्याकर्ण्य वा सम्यक् ।।
साक्षाच्चित्रेस्वप्ने स्यादर्शनमेवमिन्द्रजाले वा ।
देशेकाले भङ्ग्या साधुतदाकर्णनंचस्यात् ।। का०अ० १२।३०,३१

परकीया-कन्या-

अब कन्या परकीया की कुछ विशिष्टतायें बताते हैं। कन्या नायक को देख कर न उसकी ओर देख सकती है, न बोलते हुए नायक से बात करती है, बल्कि सखी से बात करेगी या सखी उससे बात करती रहेगी। जब नायक उसे नहीं देखता होता तो उसे स्नेहभरे विस्फारित नेत्रों से एकटक देखती है। जब नायक दूर से देख रहा हो उस समय किसी शिशु को गोदी में लेकर उसे चिपकाती है। बिना किसी निमित्त के हंसती हुई सखी से बड़े आदर के साथ कुछ यूंही बातें करती है। अपने किसी रम्य अङ्ग (कुच-बाहुमूल नाभि आदि) को किसी बहाने दिखाती है। अथवा सखी द्वारा बिखेरे अपने केश, कर्णाभूषण, काञ्ची आदि को संभालती है। बड़ी अदाओं के साथ मुग्ध चेष्टायें करती है[1]।

परकीया परोढा

अन्योढा या परकीया भी अनुरागवश उन सारी चेष्टाओं को करती है जिन्हें कन्या करती है। किन्तु उसमें प्रागल्भ्य होता है, अतः वह नायक के सम्मुख स्वयं मिलने जाती है। नायक को देखते मात्र से वह आनन्दातिरेक से भर जाती है, प्रस्खुत-जघनस्थला एवं आर्द्रवसना हो जाती है। उस समय उसके नेत्र एकटक हो जाते हैं। कन्या से और अन्योढा में यह भी एक अन्तर है कि कन्या स्वयं नायक से मिलने (अभियोग), चाहे कितनी भी मदनव्यथित क्यों न हो, कभी नहीं जाती। उसकी उस दुरवस्था का निवेदन उसी की कोई स्नेहमयी सखी नायक से करती है।[2]

सर्वसक्ता अथवा वेश्या-

वेश्या तो सबकी अङ्गना होती है। प्रेम में भी उसे धन की चाह होती है

---

१. द्रष्टुं न संमुखीनं कन्याशक्नोति नायकं दृष्ट्वा
वक्तुं न चङ्क्रमाणं वा भाषते तं सखीं वा मां ।।
पश्यत्यवीक्षमाणं सुस्निग्धस्फारलोचनासततम् ।
दूरात् पश्यतितस्मिन्नालिङ्गति बालमङ्कगतम् ।
अनिमित्तं च हसन्तीसादरमाभाषते सखीं किमपि ।
रम्यं व निजमङ्गं सव्यपदेशं प्रकाशयति ।
सख्या पर्यस्तं वा स्वयत्यलकावतंसप्रसनादि
चेष्टां करोति विविधामनुलक्षणैरङ्गैर्वा ।। १२।३२-३५ (२) अगले पृष्ठ पर देखें

उसे न निर्गुण से द्वेष होता है और न गुणी से राग । जिस पुरुष को गम्य समझती है उसके साथ सुरलता की भाँति चिपक कर उसे प्रसन्न करती है, और जब उसका सारा रस निचोड़ लेती है तो उसे धीरे धीरे निकालने लगती है ।

रुद्रट के अनुसार स्वाधीनपतिकादि नायिकाभेद—

इसके पश्चात् नमिसाधु ने चौदह ऐसी कारिकाओं को उद्धृत किया है जो नायिका के स्वाधीनपतिका आदि आठ भेद और बताती हैं तथा जिन्हें उन्होंने स्वयं 'प्रक्षिप्त' भी कहा है । रुद्रट ने भी और आठ अधिक भेद किये हैं । उन्होंने सर्वप्रथम तो स्वकीया, परकीया, वेश्या— तीनों के अभिसारिका और खण्डिता—दो भेद किये । इस प्रकार वे छः प्रकार की हुई । फिर केवल स्वकीया के स्वाधीनपतिका तथा प्रोषितपतिका दो भेद किये हैं और कुल मिलाकर आठ प्रकार हुई हैं[1]।

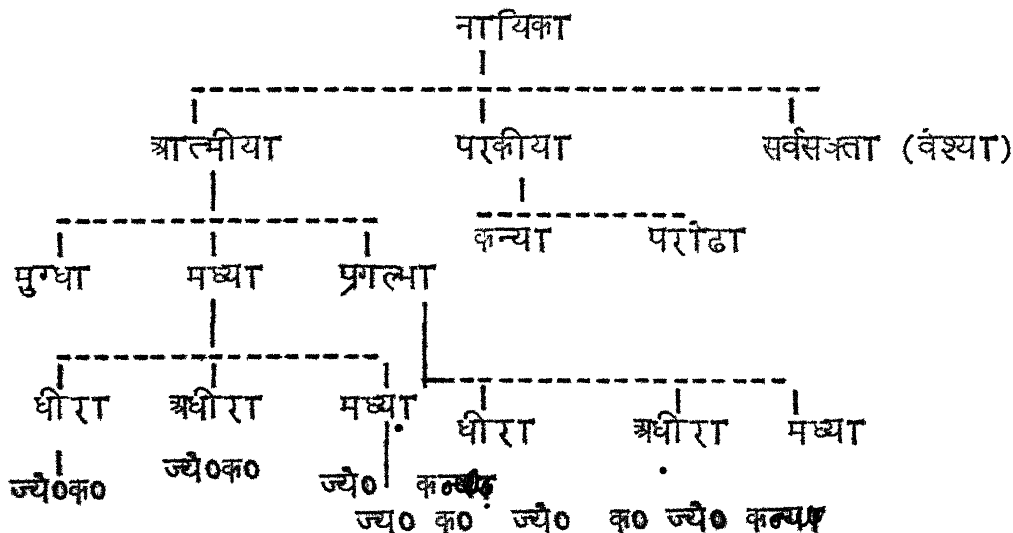
पिछले पृष्ठ का शेष—

२. अन्योऽपि तत्तत्सर्वं कुरुते नुरागमापन्ना ।
नायकमभियुंक्ते सा प्रगल्भभावेन पुरतश्च ।
उद्भूतानन्दभरा प्रस्तुताघनस्थलाङ्कवसना च ।
निःस्पन्दतारनयना भवति तदालोकनादेव ।
अन्यापुरतोऽभियुङ्क्ते न स्वयमेनं गतापिदुरवस्थाम्
सुस्निग्धातदवस्थां सखी, तु तस्मै निवेदयति । —१२।३६—३८

---

१. द्वेधाभिसारिकाखण्डिताक्तात्वयोगाद्भवन्तिताःस्तासु
स्वीया स्वाधीनपतिः प्रोषितपतिका कुले पुनर्द्वेधा ।। १२।४१

इस नायिका परिवार का वृक्ष इस प्रकार का बन सकता है —



अभिसारिका वह है जो दूती या दूत अथवा अकेली ही प्रिय के पास संकेतित स्थान पर पहुँचती[१] है। पुरुष का अभिसरण तो नायक के प्रकारों में चला जायगा, उसे नायिका का प्रकार मानना कुछ विशेष उचित नहीं समझ पड़ता। अभिसरण भी तीनों का विभिन्न प्रकार का होता है। जब वेश्या अभिसार करती है तो काञ्ची, नूपुर की झनकार करती हुई खुले आम जाती है, किन्तु जब स्वकीया या परकीया अभिसार करती है तो वृष्टि में, अँधेरे से अथवा चांदनी में अपने को छिपाए हुए जाती है[२]।

फिर जिस नायिका के निरवच्छिन्न प्रेम-प्रवाह को उसका प्रिय, किसी अन्य नायिका से आसक्ति के कारण खण्डित कर दे उसे खण्डिता नायिका कहते हैं। उसकी बड़ी कहानियां होती हैं।[३]

और, जिसका प्रिय उसके अधीन प्रसन्न हो उसके साथ क्रीड़ायें करता है वह रतिलालसा एवं मण्डनलालसा में आसक्त स्वाधीनपति नायिका कही जाती है।[४]

तथा प्रोषितपतिका वह है जिसका प्रिय नियत या अनियत अवधि के लिए परदेश गया है जायगा या जारहा है। हां, वह वापस आता है अथवा आयेगा अवश्य[५]।

//रुद्रभट्ट का नायक-नायिका विवेचन प्राय: रुद्रट का जैसा ही हुआ है तथापि कुछ उनका अपना भी वैशिष्ट्य है - ~~जैसे~~ - ~~रुद्रट का नायक-नायिका विवेचन प्राय: भरत के एवं महत्वपूर्ण है~~। बाद के आचार्यों ने इस व्यवस्था का अनुसरण अधिक किया है। उसका संक्षेपरूप कुछ इस प्रकार है -

नायक तीन प्रकार - १. उत्तम, २. मध्यम तथा ३. हीन (प्राय: भरत की भांति)

(२) स्त्री सम्बन्ध की दृष्टि से - चार प्रकार - १. अनुकूल, २. दक्षिण, ३. शठ तथा ४. धृष्ट कुछ कुछ भरत के चार ~~-चतुर,~~ उत्तम आदि के आधार पर।

---

१. अभिसारिका तु सायाद्दूत्याद्दूतेन वा सह्कैकावा। अभिसरति प्राणेशं कृतसंकेता यथास्थानम्॥ का० अ० १२।४२

२. काञ्च्यादिरणत्कारं व्यक्तं लोकेप्रयातिसर्वस्त्री।
वृष्टितमोज्योत्स्नाविच्छन्नं स्वीया परस्त्री च॥ - का० अ० १२।४३

३. यस्या: प्रेमनिरन्तरम् अन्या संगेन खण्डयेत् कान्त:।
साखण्डितेति तस्या: कथ्याशरीराणि भूयांसि॥ का० अ० १२।४४

४. यस्या: पतिरायत्त: क्रीडासुत्यासमंरतो मुदित:।
सास्यात् स्वाधीनपती रतिमण्डनलालसासक्ता॥ का० अ० १२।४५

५. सा स्यात् प्रोषितपतिका यस्यादेशान्तरंयात:।
नियतानियतावधिको यास्यति यात्यैत्युपैष्यति च॥ - का० अ० १२।४६

पुनर्भू-नायिका—

रुद्रभट्ट ने एक पुनर्भूनायिका का उल्लेख किया है। उसे मुग्धा के समान ही स्वरूप वाली कह कर उसका पृथक् विवेचन इन्होंने आवश्यक नहीं बताया है[1] — । वात्स्यायन ने पुनर्भू का विवेचन अपने कामसूत्र में किया था किन्तु भरतादिने इसका उल्लेख नहीं किया था। नई केवल मुग्धा ही क्यों ? नवाभ्योनि अवस्था में तो मुग्धा हो सकती है किन्तु अन्य अवस्था में तो वह भी मध्या प्रगल्भा ही समझी जायगी।

परकीया —

परकीया दो प्रकार की होती है — १. कन्या तथा २. परोढा । वे नायक को देखकर या उसके विषय में सुनकर उसके प्रति कामार्त (स्निग्ध) हो जाती हैं। देखना तीन प्रकार से होता है — १. साक्षात्, २. चित्र में तथा ३. स्वप्न में। और किसी विशेष स्थान पर अथवा विशेष समय में विशेष ढंग से सुनना होता है[2]।

रुद्रभट्ट ने इतनी विशेषता उसकी स्पष्ट की है कि कन्या मुग्धा ही कोटि की होती है अत: बहुत मदनव्यथित होकर भी प्रिय के पास स्वयं जाने का साहस नहीं करती[3]। कन्या की मुग्ध मनोहर चेष्टायें रुद्रट की सी हैं।[4]

रुद्रभट्ट ने स्वीकीयादि तीनों नायिकाओं के भेदक तत्त्व का भी उल्लेख किया है — स्वकीया का अपना पति सर्वथा उसका शरण होता है, वह अनन्यशरणा होती है। पराङ्गना अपने प्रिय(Paramour) से केवल प्रेम चाहती है — धन नहीं। (इसीलिए परकीया प्रेमियों को वही जंचती है) और सामान्या तो केवल धन चाहती है —प्रेम आदि कुछ नहीं।[5]

---

१. एकाकारामतामुग्धा पुनर्भूश्च यतो नयो: । अतिसूक्ष्मत्वाभेद: कविभिर्नप्रदर्शित: ।
— शृ० ति० १।४६

२. दर्शनाच्छ्रवणाच्चापि कामार्ताभवतो यथा । साक्षाच्चित्रे तथा स्वप्ने तस्यास्याद्दर्शनंत्रिधा । देशे काले च भङ्गया च श्रवणंचास्य । — शृ०ति० १।५०,५१

३. नाभियुङ्क्ते स्वयं कन्या मुग्धत्वाद्दु: स्थितापितम् । शृति० १।६०

४. शृ०ति०, १।५३—५७

५. अनन्यशरणास्वीया धनाहार्यपराङ्गना ।
अस्यास्तु केवलं प्रेम तेनैषां रागिणां मता ।
सामान्यवनितावेश्या सा वित्तं परमिच्छति ।
शृ०ति० १।६०,६२

सामान्यवनिता-

सामान्यवनिता अथवा वेश्या का निरूपण शृङ्गारतिलक में कुछ अधिक विस्तार से हुआ है। जिसका अनुसरण शारदातनय आदि ने भी किया। वेश्या केवल धन चाहती है। उसे न निर्गुण से विद्वेष न गुणी से अनुराग। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जब इसके प्रेम में रति नहीं तो वह शृङ्गाराभास कहलायेगा। (कुछ आचार्यों ने ऐसा ही माना था) अतः रुद्रभट्ट कहते हैं कि उनका भी कहीं-कहीं अनुराग होता है किन्तु धन के लिए वे अपने कृत्रिम भावों से ग्राम्यनायक को लुभा लेती हैं। ब्रह्मचर्य-वान-प्रस्थ आदि का बाना धारण करने वाले (लिङ्गी) अपनी कामवासनाको समाज में छिपाने वाले, अपने पुरुषत्व की ख्यापना वाले वस्तुतः नपुंसक, बिना मिहनत की कमाई खाने वाले (चोर-जुआरी आदि) तथा बाप की दौलत से फूले हुए आदि ऐसे ग्राम्य-सुख लिप्सुओं को जानकर फिर उनके धन को दुह कर फिर उन्हें इस प्रकार छोड़ देती हैं जैसे पहिले कोई परिचय ही नहीं था। वे मूर्ख इनके लिए तड़पते रहते हैं किन्तु उनमें धनपरायणता होते हुए भी वे कला कैलि में ऐसी कुशल होती हैं कि उनके साथ रमण करने वाले उन वेश्यियों को अन्य स्त्रियां भूल ही जाती हैं, और उन्हें पूर्ण रतिआनन्द प्राप्त होता है[1]। स्वकी स्वीया (कुलाङ्गना) में नायक को ईर्ष्या की उत्तेजना नहीं होती, परकीया में निःशङ्क रतिक्रीड़ा नहीं हो पाती, किन्तु वेश्या में ये दोनों ही वस्तुएं मिलती हैं। इसीलिए तो उन्हें मदन सर्वस्व कहा जाता है।[2] इसको भावप्रकाशन में शारदातनय ने अविकल उद्धृत किया है। इसी प्रसङ्ग में वेश्या के प्रति कुछ भावुक उक्तियां भी रुद्रभट्ट कह पाये हैं - कुद्ध रुद्र

---

१. शृङ्गाराभास एव स्याद् यदि ता रागवर्जिताः। —तस्मात्तासामपि क्वापि रागःस्यात् किन्तु सर्वथा। धनार्थं कृत्रिमैर्भावै ग्राम्यं व्यामोहयन्त्तिता। लिङ्गी-प्रच्छन्नकामश्च नरंमन्यश्च षण्ढकः। सु प्राप्तधनोमूर्खो पितृवित्तेनगर्वितः। इत्या-दीन् प्रथमंग्राम्याञ्ज्ञात्वा कृष्य च तद्धनम्। अपूर्वाइव मुञ्चन्ति तानेतास्ता-प्यन्ति च। किन्तु तासां कलाकेलिकुशलानांमनोरमम्। विस्मारितापरस्त्रीकंसुरतं-जायते ॥

— शृ०ति० १।६४-६८

२. ईर्ष्याकुलस्त्रीषु न नायकस्य निःशङ्ककेलिर्नपराङ्गनासु। वेश्यासु चैतद्वितयं प्रसिद्धं सर्वस्वमेतास्तदहोस्मरस्य ॥ शृ०ति० १।६६

की नेत्राग्नि ज्वाला ने जिस काम को भस्म कर दिया था, उसे वेश्या-कटाक्षों ने फिर से जिला दिया । युक्तिपूर्वक सम्भाल कर सेवन करने पर वेश्यायें आनन्दप्रद होती हैं , अन्यथा तो विनाश ही कर डालती हैं । स्वभावत: वे दुर्विज्ञेयरहस्य बनी रहती हैं । इसीलिए वेश्या को विष-सदृश कहा जाता है ।[१]

प्रोषितपतिकादि भेद-

रुद्रट ने प्रोषितपतिका आदि नायिकाओं का प्रकार कुछ अपने ढंग से किया था । उन्होंने इनमें से केवल चार का उल्लेख किया है, किन्तु शृ०ति० में रुद्रभट्ट ने ये प्रकार सभी के माने हैं जो एक प्रकार से उनकी आठ अवस्थाएं होती हैं ।[२] अन्तर इतना है कि कलहान्तरिता के स्थान पर सन्धिता या अतिसन्धिता नाम रक्खा है[३]। (नमिसाधु ने जिसका उल्लेख किया है) तथा प्रोषितपतिका के स्थान पर प्रोषितप्रेयसी । इनके लक्षण भी सब प्राय: भरत तथा कुछ यथासम्भव रुद्रट के अनुसार ही हुए हैं ।[४] अन्तत: संकलन रूप में नायिकाओं की संख्या रुद्रभट्ट के अनुसार इस प्रकार होगी --स्वीया के तेरह-पराङ्गना के दो तथा वेश्या का एक प्रकार । पुन: इन सोलहों के आठ-आठ प्रकार । और फिर इन एक सौ अट्ठाईस में भी प्रत्येक के उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा तीन-तीन भेद । इस प्रकार कुलभेद तीन सौ चौरासी हुए ।[५] इनके अतिरिक्त जाति, काल, वय, अवस्था, भाव, मदन तथा

---

१. कुप्यत्पिनाकिनेत्राग्निज्वालाभस्मीकृत:पुरा ।
उज्जीवित: पुन: कामो मन्ये वेश्याविलोकितै: ।।
आनन्दयन्ति युक्त्याता: सेविताघ्नन्तिचान्यथा ।
दुर्विज्ञेया: प्रकृत्यैवतस्माद्वेश्याविषोपमा: ।।

— शृ०ति० १।७०,७१

२. ता एवात्र भवन्त्यष्टाववस्थाभि:पुन: — शृ०ति० १।७३

३. शृ०ति० १।७७

४. शृ०ति० १।७४-८६

५. शृ०ति० १।८७-८८

~~कारुक्वासी नटी धात्री प्रातिवेश्या च शिल्पिनी ।~~

~~बाला प्रव्रजिता चेति स्त्रीदूत्यं ज्ञेय: सखीजन: ।।~~

~~— शृ०ति० २।५६~~

नायक की दृष्टि से विवेचन करने पर असंख्य भेद हो सकते हैं किन्तु विस्तार के भय से उन्हें नहीं प्रदर्शित किया गया ।

शृङ्गारनायिका की सखियाँ –

शृङ्गार रस में नायिका की ये सखियाँ कहलाती हैं –कारु, (चित्रकला दिप्रवीण रंगरेजिन, धोबिन आदि) दासी, नटी धात्री, पड़ोसिन, शिल्पिनी, बाला तथा प्रव्रजिता ।[१] सखी के ये गुण होते हैं –कलाकौशल, उत्साह, भक्ति, चित्तज्ञता, स्मृति, माधुर्य, नर्मविज्ञान, तथा वाग्मिता । तथा उसके ये कार्य होते हैं –विनोद, मण्डन, शिक्षा, उपालम्भ, प्रसादन, संगम तथा विरह में आश्वासन देना[२] ।

नायक-प्रकार : धीरललित नायक –

दशरूपक के अनुसार शृङ्गाररस का नायक प्रायः धीरललित ही होता है । उसका राज्यभार मंत्रियों पर रहता है अतः वह स्वयं निश्चिन्त होता है । गीत आदि कला में प्रवीण, सुखी अर्थात् भोगप्रवण, तथा शृङ्गारप्रधान होने के कारण सुकुमार आचरणवाला एवं कोमलस्वभाव वाला होता है ।[३] जैसे रत्नावली नाटिका में ।[४]

"राज्य के सारे शत्रु जीते जा चुके हैं । राज्य शासन का भार सुयोग्य मंत्री को सौंप दियागया है । प्रजा सुपालित एवं सुप्रसन्न हैं, उसके सारे उपद्रव शान्त हैं ।

---

१. कारुदासीनटीधात्री प्रातिवेश्या च शिल्पिनी ।
बाला प्रव्रजिता चेति स्त्रीणां ज्ञेयः सखीजनः ।।

–शृ०ति० २।६५

२. कलाकौशलमुत्साहो भक्तिश्चित्तज्ञतास्मृतिः ।
माधुर्यं नर्मविज्ञानं वाग्मिताचेति तद्गुणाः ।।
विनोदो मण्डनं शिक्षोपालम्भो थ प्रसादनम् ।
संगमोविरहाश्वासः सखी कर्मेति ।। शृ०ति० २।६६,६७

३. `निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः`
सचिवादिविहितयोगक्षेमत्वाच्चिन्तारहितःअतएव गीतादिकलाविष्टो भोग-
प्रवणश्च शृङ्गारप्रधानत्वाच्चसुकुमारसत्त्वाचारो मृदुरिति ललितः ।–द०रू०२।३

४. राज्यं निर्जितशत्रुयोग्यसचिवेन्यस्तः समस्तोभरः
सम्यक्पालनलालिताःप्रशमिताशेषोपसर्गाःप्रजाः
प्रद्योतस्य सुतावसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं
कामः काममुपैत्वयंमम पुनर्मन्ये महानुत्सवः ।

वसन्त ऋतु गाई है, प्रद्योतपुत्री (वासवदत्ता) में, तुम हो, मेरे प्रेम(राम) को सर्वथा सन्तोष है। मेरे लिए यह महान् उत्सव ही रहा है।"—इस प्रकार उदयन एक टकसाली धीरललित नायक चित्रित हुए हैं। नल, उदयन, श्रीकृष्ण आदि कुछ नायक संस्कृत काव्यों में शृङ्गार की दुनियां के राजा माने गए हैं। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि शृङ्गार का नायक केवल धीरललित ही होता है। ललित, शान्त, उदात्त आदि तो नायक का स्वभाव होता है। मालती माधव, मृच्छकटिक नागानन्द आदि के नायक शान्त उदात्त रूप ही हैं। क्योंकि नायक के विनय, माधुर्य आदि जो सामान्य गुण कहे गए हैं उनका रहना तो परमावश्यक है। उनमें ही लालित्य, शान्ति आदि गुणों के अतिशय उद्रिक्त होने पर ये चार प्रकार हो जाते हैं। अत: धीरललित आदि में शृङ्गार आदि रसों की एकान्तनिष्ठा नहीं समझनी चाहिए, वे केवल बाहुल्य के द्योतक हो सकते हैं। अतएव भरत ने शृङ्गार नायक के भी उदात्तादि चारों प्रकार बताए थे। अस्तु।

धनञ्जय के अनुसार दक्षिण, शठ और धृष्ट ये तीन अवस्था-भेद उस शृङ्गारी नायक के हैं जिसकी एक से अधिक नायिकाएं हैं, और ये तीन प्रकार के रूप (क्रमश:) ज्येष्ठा नायिका के प्रति ही होते हैं, नवीना को तो वह अपना निर्व्याज स्नेहभाव सर्वथा समर्पित कर ही देता है। इसी प्रसंग में धनंजय ने नायक का एक और प्रकार बताया है जो 'अनुकूल' कहा जाता है। इस नायक की केवल एक ही नायिका होती है।

किन्तु धनिक ने बहुदार नायक को भी जब तक अन्य नायिका से उसका अनुराग नहीं प्रारम्भ होता 'अनुकूल' कोटि में रक्खा है, फिर तीनों अवस्थायें भी (क्रमश:) उसी की होती हैं। कभी-कभी बहुदार भी नायक ज्येष्ठा के प्रति सदा दक्षिण ही रहता है, उदाहरणार्थ-रत्नावली आदि नाटिकाओं के नायक वत्सराज उदयन। कामदेव पूजा तक तो वत्सराज अनुकूलकोटि के नायक हैं। इसके पश्चात् दूसरी नायिका से प्रेम होने पर वे दक्षिण 'कोटि के हो जाते हैं। यद्यपि यह आपत्ति की जा सकती है कि पहले वत्सराज का छिप छिप कर रत्नावली से प्रेम करने में तथा फिर पता चल जाने पर व्यक्त रूप से प्रेम करने पर उनका वासवदत्ता के प्रति क्रम से 'शठ' एवं 'धृष्ट' रूप भी माना जा सकता है। किन्तु इसका समाधान वत्सराज के व्यवहार से ही हो जाता है —रत्नावली नाटिका की समाप्ति तक वासवदत्ता के प्रति उनका व्यवहार सहृदयतापूर्ण ही रहता है अत: वे अन्यानुरागी होने के कारण चाहे भले

वासवदत्ता के विप्रियकारी हों किन्तु हैं दक्षिण ' ही 'शठ' या 'धृष्ट' नहीं ।[१]
और एक नायक का अपनी ज्येष्ठा कनिष्ठा अनेक नायिकाओं के प्रति स्नेह का होना प्राय: महाकविप्रबन्धों में वर्णित हुआ है — जैसे 'स्नाता तिष्ठति' इस पद्य में बिना किसी विशेष के प्रति पक्षपात किये सभी के प्रति प्राय:तुल्य स्नेह निबन्धन दिखाया गया है ।[२]

कन्या को अन्या या अन्यस्त्री (परकीया) इसलिए कहा है कि वह विवाह के पूर्व पिता-भाई आदि के अधीन होती है । अत: सुलभ नहीं होती । संस्कृत प्रबन्ध काव्यों में परोढा प्रेम का चित्रण नहीं करते, क्योंकि वह समाज के जीवन-आदर्श एवं मर्यादा के प्रतिकूल पड़ता है किन्तु वस्तुस्थिति की भी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए और लोक में परकीया-प्रेमी देखा जाता है — अत: कवियों ने कभी कभी मुक्तक (फुटकल) पद्यों में परकीया के प्रेम की भी झांकी दी है ।[३] कन्या प्रेम को प्रबन्ध का प्रधान तथा गौण दोनों रूप में वर्णन किया जा सकता है ।[४] किन्तु कन्या-प्रेम हमेशा छिप-छिप कर ही होता है , क्यों कि एक तो कन्या के अभिभावकों का भय होता है, दूसरे नायक को अपनी ज्येष्ठा नायिका का भय होता है । अभिभावक भय से प्रच्छन्न कन्या-प्रेम का उदाहरण मालती-माधव में मालती के प्रति माधव का प्रेम है, तथा ज्येष्ठा-भय से प्रेम का उदाहरण रत्नावली में सागरिका के प्रति वत्सराज का

---

१. 'किमवस्थ:पुनरेषां वत्सराजादिनाटिकानायक:स्यात् ? इत्युच्यते पूर्वमनुपात्तनायिकान्तरानुरागो नुकूल:, परतस्तु दक्षिण: । ननुच गूढविप्रियकारित्वाद्व्यक्ततरविप्रियत्वाच्च शाठ्यधाष्र्ये अपि कस्मान्नभवत:, न तथाविधविप्रियकारित्वाद्व्यक्ततरवि त्वे पि वत्सराजादेराप्रबन्ध समाप्तेज्येष्ठांनायिकां प्रति सहृदयत्वाद्दक्षिणतैव ।'
— अव०

२. न चोभयो ज्येष्ठाकनिष्ठयो नायकस्य स्नेहेनभवितव्यमितिवाच्यम् । अविरोधात् महाकविप्रबन्धेषुच-स्नातातिष्ठति कुन्तलेश्वरसुतावारोह०गराजस्वसु:द्यूते रात्रिरियं जिता कमलया देवीप्रसाधाद्य च । इत्यन्त:पुरसुन्दरी:प्रतिमयाविज्ञायविज्ञापिते देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्रा:स्थितं नाडिका: इत्यादावपक्षपातेन सर्वनायिकासुप्रतिपत्त्युपनिबन्धनात् — अव० ।

३. यथा- दृष्टिंहे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मिन्गृहेदास्यसि प्रायेणास्य शिशो:पितानविरसा: कौपीरप: पास्यतिएकाकिन्यपि यामि सत्वरमित: स्रोतस्तमालाकुलंनीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदानलग्रन्थय: । (अगले पृष्ठ पर देखें)

प्रेम है ।[१] किन्तु कन्या-प्रेम का वर्णन करते समय इतना आवश्यक ध्यान रखना पड़ता है कि अन्त में उन दोनों को पति-पत्नी के रूप में सम्बद्ध करना चाहिए, अर्थात् उस प्रेम की परिणति विवाह के रूप में होनी चाहिए ।

धनंजय ने तीसरे प्रकार की नायिका साधारण स्त्री या गणिका कही है, जो संगीत-नृत्यादि-कलाचतुर, प्रगल्भ एवं धूर्त होती है ।[२] धनंजय ने इसका विशेष विवेचन करना आवश्यक न समझा क्यों कि वह वात्स्यायन तथा भरत आदि के ग्रन्थ से विशेष विस्तार से जानी जा सकती है । हां, संक्षेप में इतना कह दिया कि गणिका का प्रेम किनसे और कैसा होता है --जो लोग छिपकर कामतृप्ति करना चाहते हैं (जैसे वेदपाठी, श्रोत्रिय, वणिये, संन्यासी आदि) जो विना प्रयास के धन पा जाते हैं तथा सुख की अभिलाषा रखते हैं, मूर्ख, स्वतन्त्र या निरंकुश, अहंकारी तथा पण्डक अर्थात् नपुंसक आदि लोगों से गणिका ऐसे व्यवहार करती है मानों उनसे सचमुच प्रेम करती है, किन्तु तभी तक जबतक उनके पास पैसा है । और जब उन्हें भली प्रकार दुह लेती है तो अपनी मां या अन्य किसी के द्वारा उन्हें घर से निकलवा देती है ।[३] प्रहसन के अतिरिक्त प्रकरण आदि में तो इसको नायकविशेष से अनुरक्तारूप में ही दिखाते हैं (जैसे मृच्छकटिक में वसन्तसेना चारुदत्त के साथ अनुरक्त कही गयी है) किन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो मृच्छकटिक में वसन्तसेना केवल जन्म या नाम भर को गणिका है उसका व्यापार तो अन्य कुलीन महिला की ही भांति दिखाया गया है । प्रहसन में गणिका अनुरागशून्य ही दिखायी जाती है, किन्तु जब नाटक का नायक कोई दिव्य कोटि का पुरुष हो, अथवा राजा हो, तो वहां गणिका के प्रेम का निबंधन

पिछले पृष्ठ का शेष —

४. अन्यस्त्री कन्यकोढा च नान्योढा ह्ङ्गिरसे क्वचित्
कन्यानुरागमिच्छातः कुर्यादङ्गाङ्गिसंश्रयम् ।। द०रू० २।२०-२१

---

१. 'तस्यां —सुलभायामपि परोपरोधस्वकान्ताभयात् प्रच्छन्नं कामित्वं प्रवर्तते, यथा-मालतीमाधवस्य सागरिकायां च वत्सराजस्य' - अवलोक

२. साधारणस्त्रीगणिका कलाप्रागल्भ्यधौर्त्ययुक् ।

३. छन्नकामसुखार्थाज्ञस्वतन्त्राहंयुपण्डकान् ।
रक्तेवरंजयेदाढ्यान्निःस्वान्मात्राविवासयेत् ।। २।२२

नहीं करना चाहिए ।[1]

भरत ने वासकसज्जा आदि आठ प्रकार की नायिकायें बताई थीं । धन० ने उनकी आठों को अपनाते हुए पूर्वोक्त प्रकार की नायिकाओं के ये आठ अवस्थाभेद किये हैं । भरत ने भी नाटक के नायिकाओं की ये आठ अवस्थायें ही बताई थीं ।[2] किन्तु धनंजय का विवेचन थोड़ा व्यवस्थित समझ पड़ता है । उनका कहना है कि पूर्वोक्तों की स्वाधीनपतिका आदि आठ अवस्थायें होती हैं ।[3] पूर्वोक्त स्वान्या आदि भेद का इन आठ प्रकारों से क्या सम्बन्ध है तथा इनकी संख्या आठ ही क्यों मानी जाय, कुछ कम ज्यादा क्यों नहीं हो सकती, — आदि विषय पर धनिक ने बड़ा युक्तिपूर्ण विवेचन किया है । 'स्वाधीनपतिका , वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितपतिका,वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा तथा अभिसारिका ये आठ स्वीया आदि की अवस्थायें हैं । वैसे तो नायिकाओं के पूर्वोक्त भेद (मुग्धा-मध्या आदि) भी अवस्था के ही द्योतक हैं किन्तु इनका अवस्था नाम इसलिए किया गया है कि पूर्वोक्त अवस्थाओं को धर्मी मान लिया गया है और इनको धर्म । अब जैसे गुण गुणी में रहता है तथा जैसे विशेषण विशेष्य के साथ सम्बद्ध होता है, उसी प्रकार ये स्वाधीनपतिका आदि अवस्थायें मुग्धा-मध्या आदि की होती हैं ।[4] और ये अवस्थायें आठ ही होती हैं । न कम न बेसी । इनमें किसी का किसी दूसरी में अन्तर्भाव नहीं हो सकता । जैसे - वासकसज्जा और स्वाधीनपतिका एक नहीं मानी जा सकतीं, क्योंकि स्वाधीनपतिका का पति उसके पास होता है जब कि वासकसज्जा का पति नायिका के समीप में नहीं होता, वासकसज्जा प्रिय की प्रतीक्षा में साज-सज्जा से विभूषित होती है) उसका पति आनेवाला होता है, इस प्रकार वह एष्यत्प्रिया है । अब यदि एष्यत्प्रिया को भी स्वाधीनपतिका मान लिया जाय तो फिर प्रोषितप्रिया भी अलग भेद न माना जाना चाहिए । हमारे पास देश-काल के व्यवधान की दूरी नापने का कोई मापदण्ड नहीं, जिससे कि हम

---

१. एकैव त्वप्रहसने, नैषादिव्यनृपाश्रये — द०रू० २।२३

२. आस्ववस्थासु विज्ञेया नायिका नाटकाश्रया: —ना०शा० २४।२१३

३. आसामष्टाववस्था: स्यु: सवाधीनपतिकादिका: — द०रू० २।२३

४. 'नायिकाप्रभृतीनामप्यवस्थारूपत्वे सत्यवस्थान्तराभिधानंपूर्वासां धर्मित्व-प्रतिपादनार्थ'

अमुक दूरी रहने पर वासन्ति रहे और अमुक दूरी पर दूरस्थता। इसी प्रकार खण्डिता भी स्वतन्त्र भेद है, क्योंकि खण्डिता वही है जिसके प्रिय के अपराध का पता लग जाता है। अतः वह नायिका जिसे प्रिय के अपराध का पता नहीं चलता अर्थात् जो अविदितप्रियव्यलीका है, वह खण्डिता नहीं कहा जाती। जो नायिका किसी नायक के साथ रतिक्रीड़ा में प्रवृत्त है या भोगेच्छा से युक्त है, उसे प्रोषितप्रिया नहीं कहा जा सकता। और वह अभिसारिका नहीं कही जा सकती है क्योंकि न वह स्वयं नायक के पास जाती है और न नायक को अपने पास बुलाती है। इसी प्रकार उत्कण्ठिता (विरहोत्कण्ठिता) भी पूर्वोक्त स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, प्रोषित प्रिया, खण्डिता या अभिसारिका से भिन्न है। जो नायिका नायक के आने के उचित समय के व्यतीत हो जाने पर उसके न आने से व्याकुल रहती है, वह वासकसज्जा नहीं मानी जा सकती, उसे विरहोत्कण्ठिता ही मानना होगा। इसी तरह विप्रलब्धा का प्रिय आने का वादा करके भी नहीं आया है, इस प्रकार यहाँ प्रतारणा की अधिकता पाई जाती है। अतः विप्रलब्धा वासकसज्जा तथा उत्कण्ठिता दोनों से भिन्न है। खण्डिता नायिका अपने प्रिय के पर-नारी-सम्भोग रूप अपराध को जान जाती है। कलहान्तरिता में भी यह बात तो खण्डिता के समान ही पाई जाती है, किन्तु वह नायक के अनुनय विनय करने पर भी नहीं मानती है, न प्रसन्न होती है, किन्तु बाद में जब नायक चला जाता है तो पश्चात्ताप के कारण प्रसन्न हो जाती है। इसप्रकार कलहान्तरिता भी खण्डिता से भिन्न सिद्ध होती है। अतः यह सिद्ध होता है कि नायिकाओं की आठ ही अवस्थाएं होती हैं।[1]

---

१. न च वासकसज्जादेः स्वाधीनपतिकादावन्तर्भावः। आसन्नप्रियत्वाद्वासकसज्जायाः न स्वाधीनपतिकात्वम्। यदि चैवमपि स्वाधीनपतिका प्रोषितप्रियापि न पृथग् वाच्या, न चैवं तावधानेन आसत्तिरिति नियन्तुं शक्यम्। न चाविदितप्रियव्यलीकायाः खण्डितात्वम्। नापि प्रवृत्तरतिभोगेच्छायाः प्रोषितप्रियात्वम्। स्वयमगमनान्नायकं प्रत्यप्रेषितत्वान्नाभिसारिकात्वम्। एवमुत्कण्ठिताप्यन्यैव पूर्वाभ्यः। औचित्यप्राप्तप्रियागमनसमयातिवृत्तिविधुरा न वासकसज्जा, तथा विप्रलब्धापि वासकसज्जावदन्यैव पूर्वाभ्यः —उक्त्यानापात इति प्रतारणापि अत्राभ्यधिका वासकसज्जोत्कण्ठिताभ्यः पृथक्। कलहान्तरिता तु यद्यपि विदितव्यलीकतयाप्यगृहीतप्रियानुनयापि पश्चात्तापप्रकाशितप्रसादा पृथगेव खण्डितायाः॥ तत् स्थितमेतत् अष्टाववस्था इति ।

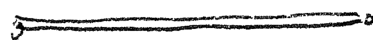
— अ०

भरत ने बड़े विस्तार के साथ इन आठों अवस्थाओं की नायिकाओं में प्रत्येक के उन्माद एवं लीलाव्यंजक चिंता, निश्वास आदि के अभिनय का भी 'कामतन्त्र' नामसे निरूपण किया है। धनञ्जय ने उसी को संक्षेप में इस प्रकार आठों की एक एक चेष्टा का उल्लेख किया है, जिनमें छः तो दुःख का द्योतक रूप होने के कारण अभूषण, कही जा सकती हैं और दो भूषण रूप। इनका क्रम इस प्रकार है —

स्वाधीनपतिका	—	क्रीडौज्ज्वल्य	भूषण
वासकसज्जा	—	प्रहर्षित	
विरहोत्कण्ठिता	—	चिन्ता	अभूषण
खण्डिता	—	निःश्वास	
कलहान्तरिता	—	खेद	
विप्रलब्धा	—	अश्रु	
प्रोषितप्रिया	—	वैवर्ण्य	
अभिसारिका	—	ग्लानि [1]	

फिर धनिक ने स्वकीया, परकीया आदि की स्वाधीनपतिका आदि आठ अवस्थाओं की व्यवस्था का विवेचन किया है। स्वकीया की तो ये आठों अवस्थाएं हो सकती हैं किन्तु कन्या तथा परोढा रूप परकीया नायिका संकेत स्थल पर प्रिय से मिलने के पूर्व विरहोत्कण्ठिता की, तथा बाद में विदूषक, दूती, सखी आदि के साथ प्रिय के पास छिपकर जाने के कारण अभिसारिका की कोटि में आती हैं। कभी नायक संकेत स्थल पर नहीं आ पाया तो वे विप्रलब्धा हो जाती हैं। इस तरह परकीया नायिका की तीन ही अवस्थाएं होती हैं, आठ नहीं, क्योंकि इनका प्रिय स्वाधीन न होने के कारण, दूसरी अवस्थायें इनमें नहीं पाई जा सकतीं।

परकीया नायिका को प्रिय के समागम न होने के पूर्व ही प्रिय के दूर-देशस्थ होने पर, प्रोषितप्रिया नहीं माना जायगा, क्योंकि वह उसका उत्कण्ठित रूप ही है, अतः वह उत्कण्ठिता ही मानी जायगी, क्योंकि अभी तक उसे प्रिय प्राप्त नहीं हो सका है, तथा उसके अधीन नहीं है।



---

१. चिन्ता निःश्वासखेदाश्रुवैवर्ण्यग्लान्यभूषणैः।
युक्ताः षडन्त्या द्वे चाद्ये क्रीडौज्ज्वल्यप्रहर्षितैः॥

— दशरूपक २।२८

रति का आलम्बनविभाव—नायक

भोजने शृङ्गारप्रकाश के पन्द्रहवें प्रकाश में रति भाव का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। इस प्रकाश में आलम्बन विभाव तथा नायक-नायिका का सविस्तर वर्णन किया गया है। यह विषय स०क० में भी संक्षेप में उल्लिखित है।

ये विषय प्राय: भरत के अनुसार हुए हैं। विभाव दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन तथा उद्दीपन। आलम्बन दो प्रकार के होते हैं—नायक और नायिका। नायक के चार प्रधान प्रकार होते हैं—धीरोदात्त, २. धीरोद्धत, ३. धीरललित और ४. धीरशान्त (शृ०प्र०, पृ० ८५)। फिर ये चार प्रकार के नायक भी गुण, प्रकृति प्रवृत्ति और परिग्रह के अनुसार अनेक प्रकार के होते हैं। गुण-महाकुलीनता आदि चौबीस कहे गये हैं।[1] इन गुणों की दृष्टि से मनुष्यों को उत्तम, मध्य और अधम इन तीन कोटियों में विभक्त किया गया है।[2] प्रकृति के अनुसार तीन प्रकार के—१. सात्त्विक, २. राजस तथा ३. तामस[3]। प्रवृत्ति के अनुसार चार प्रकार के—१. शठ, २. धृष्ट, ३. अनुकूल तथा ४. दक्षिण[4], परिग्रह अर्थात पत्नियों की दृष्टि से दो प्रकार के—१. साधारण तथा २. अनन्यजानि (या असाधारण)[5], धीरता की दृष्टि से (सरस्वतीकण्ठाभरण में) चार प्रसिद्ध प्रकार के—१. उद्धत, ललित, शान्त तथा उदात्त[6] नायक बताए गए हैं। इन पूर्वोक्त प्रकारों से नायक का परिगणन करने पर कुल संख्या १०४ होती है[7] (उदात्त ८, उद्धत ४४, ललित४४, प्रशान्त ८, कुल-योग १०४)।

---

१. सरस्वती कण्ठाभरण में तो बारह गुण इस प्रकार गिनाए गए हैं—

महाकुलीनतौदार्यं महाभाग्यं कृतज्ञता।
रूप यौवनवैदग्ध्यशीलसौभाग्यसंपद:॥

मानितौदारवाक्यत्वमदरिद्रानुरागिता।
द्वादशेति गुणानाहुर्नायकेष्वाभिगामिकान्॥ —स०क० ५।१२२,१२३

२. नायकस्तत्र गुणतउत्तमोमध्यमो धम: —स०क० ५।१०७

३. प्रकृते: सात्त्विक: सस्याद् राजसस्तामसस्तथा — स०क० ५।१०७

४. शठो धृष्टो नुकूलश्च दक्षिणश्च प्रवृत्तित: —स०क० ५।१०६

५. साधारणो नन्यजानि: स विज्ञेय: परिग्रहात् ।स०का० ५।१०८

६. उद्धतोललित: शान्त: उदात्तो धैर्यवृत्तित: स०क० ५।१०६

७. एवमन्ये पि विज्ञेया:भेदा:संभेदतोमिथ:। चतुर्णामपि लक्ष्येषु नायकानां मनीषिभि:॥

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

रति का आलम्बनविभाव—नायिका

इसी प्रकार नायिकाओं के भी अनेक दृष्टियों से प्रकार किए गए हैं — गुण की दृष्टि से नायिका उत्तममध्यम और अधम —तीन प्रकार की गयी हैं। अवस्था और कौशल की दृष्टि से उसके मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा —ये तीन प्रकार बताए गए हैं।[१] इसी प्रकार —धैर्य के विचार से —धीरा और अधीरा, परिग्रह (पत्नी) रूप में —स्वा और अन्यदीया, विवाह के विचार से —ऊढा और अनूढा, क्रम की दृष्टि से ज्येष्ठा तथा कनीयसी, मान की मात्रा से —उद्धता, उदात्ता, शान्ता और ललिता, वृत्ति (चरित्र) की दृष्टि से सामान्या, पुनर्भू और स्वैरिणी, जीविका (आजीव) के विचार से —गणिका, रूपाजीवा और विलासिनी, तथा अवस्था (परिस्थिति की दृष्टि से खण्डिता आदि प्रसिद्ध आठ प्रकार हैं —१खण्डिता,२कलहान्तरिता ३. विप्रलब्धा, ४. वासकसज्जा, ५. स्वाधीनपतिका, ६. अभिसारिका, ७. प्रोषितभर्तृका तथा ८. विरहोत्कंठिता[२]।

फिर खण्डिता आदि आठों के लक्षण प्राय: भरत आदि जैसे ही दिए गए हैं। और अन्त में सब जोड़ कर ३२ प्रकार की नायिकायें बताई गई हैं।[३]

इस प्रसंग में शृ०प्र० के विवेचन में कुछ अन्तर साफ पड़ता है। वहां पहिले तो चार भेद किए गए —(१) स्वकीया,(२) परकीया, (३) पुनर्भू तथा ४. सामान्या। फिर प्रथम दो (स्वकीया और परकीया) के उत्तमा, मध्यमा भेद किए गए हैं। पुनर्भू के —अक्षता, क्षता, यातायाता तथा यायावरा —ये चार भेद किए गए हैं। सामान्या के —ऊढा, अनूढा, स्वयंवरा, स्वैरिणी और वेश्या —ये पांच प्रकार

---

१. पिछले पृष्ठ का शेष—

धीरोदात्तादिभेदेन चतुरश्चतुरोऽपि च। चतुश्शतविधान् वेत्तिनायकान् सकवि: कवि:।
परिग्रहप्रवृत्तिभ्यां गुणप्रकृतियोगत:। चातुर्विध्य च धैर्यस्यनायकत्वंनियम्यते।

---

१. (गुणतो नायिकापिस्यादुत्तमामध्यमाधमा
मुग्धामध्याप्रगल्भा च वयसाकौशलेनवा
धीराधीरा च धैर्येण स्वान्यदीयापरिग्रहात्
ऊढानूढोपयमानात् क्रमाज्ज्येष्ठा कनीयसी
मानर्द्धेरुद्धतोदात्ता शान्ता च ललिता च सा
सामान्या च पुनर्भूश्च स्वैरिणी चेति वृत्तित: 'आजीवतस्तुगणिका रूपाजीवाविलासिनी।
अवस्थातो पराश्चाष्टो विज्ञेया:खण्डितादय:।। स०कं० ५।११०-११३

रति का आलम्बन विभाव — नायिका

इसी प्रकार नायिकाओं के भी अनेक दृष्टियों से प्रकार किए गए हैं — गुण की दृष्टि से नायिका उत्तममध्यम और अधम — तीन प्रकार की गयी है। अवस्था और आयु की दृष्टि से उसके मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा — ये तीन प्रकार बताए गए हैं।[1] इसी प्रकार — धैर्य के विचार से — धीरा और अधीरा, परिग्रह (पत्नी) रूप में — स्वा और अन्यदीया, विवाह के विचार से — ऊढा और अनूढा, क्रम की दृष्टि से ज्येष्ठा तथा कनीयसी, मान की मात्रा से — उद्धता, उदात्ता, शान्ता और ललिता, वृत्ति (चरित्र) की दृष्टि से सामान्या, पुनर्भू और स्वैरिणी, जीविका (आजीविका) के विचार से — गणिका, रूपजीवा और विलासिनी, तथा अवस्था (परिस्थिति की दृष्टि से खण्डिता आदि प्रसिद्ध आठ प्रकार हैं — १ खण्डिता, २ कलहान्तरिता ३. विप्रलब्धा, ४. वासकसज्जा, ५. स्वाधीनपतिका, ६. अभिसारिका, ७. प्रोषितभर्तृका तथा ८. विरहोत्कंठिता[2]।

फिर खण्डिता आदि आठों के लक्षण प्राय: भरत आदि जैसे ही दिए गए हैं। और अन्त में सब जोड़ कर ३२ प्रकार की नायिकायें बताई गई हैं।[3]

इस प्रसंग में शृ०प्र० के विवेचन में कुछ अन्तर साफ पड़ता है। वहाँ पहिले तो चार भेद किए गए — (१) स्वकीया, (२) परकीया, (३) पुनर्भू तथा ४. सामान्या। फिर प्रथम दो (स्वकीया और परकीया) के उत्तमा, मध्यमा भेद किए गए हैं। पुनर्भू के — अक्षता, क्षता, यातायाता तथा यायावरा — ये चार भेद किए गए हैं। सामान्या के — ऊढा, अनूढा, स्वयंवरा, स्वैरिणी और वेश्या — ये पांच प्रकार

---

१. पिछले पृष्ठ का शेष —

धीरोदात्तादिभेदेन चतुरश्चतुरोऽपि च। चतुश्शतविधान् वेत्ति नायकान् [illegible] कवि:।
परिग्रहप्रवृत्तिभ्यां गुणप्रकृतियोगत:। चातुर्विध्यं च धैर्यस्य नायकात्वं नियम्यते।

१. (गुणतो नायिकापि स्यादुत्तमामध्यमाधमा
मुग्धामध्याप्रगल्भा च वयसा कौशलेन वा
धीराधीरा च धैर्येण स्वान्यदीयापरिग्रहात्
ऊढानूढोपयमनात् क्रमाज्ज्येष्ठा कनीयसी
मानर्द्धेरुद्धतोदात्ता शान्ता च ललिता च सा
सामान्या च पुनर्भूश्च स्वैरिणी चेति वृत्तित: 'आजीवतस्तु गणिका रूपाजीवा विलासिनी।।
अवस्थातो पराश्चाष्टौ विज्ञेया: खण्डितादय:।। स०क० ५।११०-११३

बताए गए हैं। ईर्ष्या के तीन प्रकार होते हैं — गणिका, २. नितासिनी और ३. पापीना। इन विभिन्न भेदों को मिला देने से स्वकीया १९३ प्रकार की होती है[1]। काव्यनाट्य में तथा लोक में भी विभिन्न प्रकार की नायिकाओं की चेष्टाओं एवं स्वरूपों को देखकर ही सम्भवत: भोज ने इस निरूपण में इतना विस्तार किया है। भोज का वैशिष्ट्य विभिन्न दृष्टियों से व्यवस्था करने में सफलता प्राप्ति। भोजने भी शृंगार-प्रकाश में वात्स्यायन की भाँति स्वकीया की प्रशंसा की है।[2] परकीया के भी इसी प्रकार १४३ भेद तथा उदाहरण दिए हैं तथा पुन:र्भू और सामान्या के भी यथासम्भव उत्तमादिभेद किए गए हैं[3]। फिर खण्डिता आदि आठ भेद, जिनका निरूपण सरस्वती-कण्ठाभरण में हुआ है, शृङ्गारप्रकाश में भी कहे गए हैं, किन्तु उनके क्रम में अन्तर है, जो इस प्रकार है — १. वासकसज्जा, २. अभिसारिका, ३. विप्रलब्धा, ४. खण्डिता, ५. कलहान्तरिता, ६. प्रोषितपतिका, ७. विरहोत्कण्ठिता तथा ८. स्वाधीनपतिका[4]। इस प्रकार पन्द्रहवें प्रकाश में उन्होंने आलम्बन-विभाव के नायक-नायिका दोनों पक्षों का विवेचन समाप्त कर दिया। इस प्रकाश का नाम ही भोज ने रत्यालम्बनविभाव-प्रकाश दिया है।

रति के उद्दीपनविभाव

फिर सोलहवें प्रकाश में उद्दीपन विभाव का विवेचन है। सरस्वतीकण्ठाभरण में इसका केवल कुछ अंश ही अतिशय संक्षिप्त रूप में कहा गया है। शृङ्गारप्रकाश में ऋतु, देश, काल, कला आदि का भूयान् विस्तार कियागया है।

१. ऋतुएँ — संख्या से छ: हैं। प्रत्येक की चार अवस्थायें — १. सन्धि, २. उत्पत्ति (राजशेखर ने इसे 'शैशव' कहा है) ३. प्रौढ़ि, ४. अवसिति (राश० ने उसे अनुवृत्ति कहा है)। फिर इन्हीं की चारों अवस्थाओं के उदाहरण दिए गए हैं।

शेष — द्वात्रिंशदितिनायिका: । स०क० ५।१२०

---

१. शतमेतत् स्वकीयानां त्रिचत्वारिंशदुत्तरम् ।
उत्तमादिविभेदेन नायिकानामुदाहृतम् ।। — शृ०प्र० १३६

२. श्रुतिप्रवृत्तितोधर्म: तथार्थोपत्यलक्षण: ।
प्रायोविप्रम्भज:काम: स्वकीयास्वेवतिष्ठति ।।

३. एवं पुनर्भूसामान्ययो: यथासम्भवमुत्तमादिभेदो द्रष्टव्य: ।

४. इतिप्रपंच:कथितोऽङ्गनानां क्रमात्स्वकीयादिविभेदभिन्न: । चतुष्प्रकारं तममुं निबन्ध कविश्चवर्गफलम्भेत । ।

२. गाल्य, ृङ्गराग गादि न्य उद्दीपनों ा भी उदा रण िया गया है ।

३. दे -- में ग्राम, पत्तन (नगर) उपवन, पर्वत, तरित्, ागरादि ा उदा रण प्रस्तुत िया गया है ।

४. ाल -- रात्रि गादि । भोप ने इन पूर्वोक्तों ी प्रशंसा ी है और फिर आगे उद्दीपन रूप में ताओं ा विचार िया है ।[१]

५. चौंसठ लायें -- तुष्षष्टि ला ६४ मूल लायें हैं । उन्हें इन वर्गों में बांटा है-- २४ कर्माश्रय लायें, २० धूताश्रय लायें (जिनमें १५ निर्जीव तथा ५ सजीव) १६ यनोपचारिकी और ४ उत्त लायें । इनके अतिरिक्त बहुसंख्यक न्य भी वान्तर कलाएं हैं, जिनका विवेचन कलाविषयक ग्रन्थों में हुआ है । भोज ा हना है कि ग्रन्थ-गौरव के डर से हम उनका विवेचन नहीं कर रहे हैं (१) भोज ने कलाओं के विवेचन में कामसूत्र की जयमंगलाटीका ा ही प्राय: अनुसरण किया है -- कामसूत्र का भी नहीं ।[२]

तदनन्तर उद्दीपनों में ४ वय: या वस्थाओं का सोदा रण निरूपण किया है । वह है -- सन्धि, उत्पत्ति, प्रौढि एवं अतिप्रौढि ।

फिर -- वत्स्योपदे, सन्देश, उपचार, दैवसम्मत और उपचारस्मरण का विवेचन किया गया है ।

~~बबेब~~ भोज ने अपने इस उद्दीपन-विवेचन को सर्वथा पूर्ण नहीं कहा है -- हो भी कैसे सकता था । ऋतुओं का यह वर्णन तो शृङ्गाररस का दीपक है ।

नायक -- भोज ने काम शृङ्गारनायक धीरललित के ४४ प्रकार या भेद बताए हैं । फिर

---

१. ऋतूपकरणैरेभि:इतिहासोपवर्जनै: (पवर्णनै)
देशकालोपसेवाभि:चित्तजन्मा प्रदीप्यते ।।
नात: परतरं पुष्पधनुषस्तीक्ष्णमायुधम् ।
ऋतूपकरणादीनां यदेतद्रामणीयकम् ।।
ऋतुरुपकरणं तथेति हास: कथितमिदं सहदेशकालभेदै: ।
पृथगनभिहितं कलाविचार-प्रभृतिक(म)ल्पमथोपदर्श्यामः ।।

२. जयमङ्गला में इन कलाओं का नामोल्लेख करके अन्त में कहा है -- इति चतु:षष्टि-मूलकला: । आस्वेवनिविष्टानामवान्तरकलानामष्टादशाधिकानिपंचशतान्युक्तानि आदि । -- का०सू० १।३।१५, पृ० २८,२६

लालित्य, पर भी व्याख्या की है, जो उसके चित्त का वैशिष्ट्य है तथा सारी उसकी सारी चेष्टाओं को प्रभावित करता है। नाट्यशास्त्र की भांति धीरललित के भी गुणों का उल्लेख किया है। फिर उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट नायकों से सम्बद्ध ४६ भावों के उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं। धीरललित के गुण नकारात्मक दो वर्गों में इस प्रकार विभक्त हैं[1]—

१. प्रथम वर्ग में अभ्युदयादि से प्रमोद, शोकादि से वैक्लव्य, व्यसन (कष्ट, विपत्ति) आदि से दीनता, विलासों में तथा व्यसनों (लतों) में अभिनिवेश (आसक्ति) विषयों के प्रति अत्यासक्ति, धर्म तथा अर्थ के प्रति व्यर्थ लोगों का संसर्ग (साथ) हंसी मजाक में प्रवृत्ति (रुचि) शरीर की भी अपेक्षा न करना, सर्वनाश हो जाने पर भी अनुताप भाव सुलभ वस्तुओं के प्रति अपमान भावना, दुर्लभ वस्तुओं के प्रति आकांक्षा, अपने वर्णन (प्रशंसा) में उत्कर्ष, चाटुकारिता में प्रगल्भता, जात्यादि के कारण अभिमान हैं।

२. द्वितीय वर्ग में आठ विशेष गुण दिये गये हैं — सुवेषता, संप्रियता, यौवन, स्वतन्त्रता(वदान्यता) प्रियंवदता, लालित्य, माधुर्य तथा दृढ़भक्तता। प्रौढ़ा शृङ्गार में स्वकीया नायिका तथा धीरप्रशान्त नायक होता है[2]। फिर धीरप्रशान्त के गुणों का दो वर्गों में सविस्तर निरूपण किया है[3]—

विशेषण गुणाः — क्षमा, वशित्वम्, सन्तोषः, प्रशमः, शौचम, आर्जवम्, वैराग्यम् वैराग्यम्।[4]

---

१. अभ्युदयादिभिः प्रमोदः, शोकादिभिः वैक्लव्यम्, व्यसनादिभिःदीनत्वम्, विलासेषु व्यसनेषु अभिनिवेशः, विषयेषु अत्यासङ्गः, धनार्थिभिः नात्यादरः अनर्थकैःसंसर्गः, हासेषुप्रवृत्तिः, शरीरेऽपिनापेक्षा, सर्वनाशेऽपिनानुतापः।
सुलभेष्वमानः दुर्लभेष्वाकाङ्क्षा, सवर्णनासुउत्कर्षः।
चाटूक्तिषुप्रागल्भ्यम्, जात्यादिभिश्च अभिमानः॥

२. आत्मीयाकान्ता शान्तश्च नायकः

३. सुखदुःखयोर्माध्यस्थ्यम्। व्यसनोत्सवयोरविशेषः।
इन्द्रियार्थेषु अनास्था। विलासेषु उपहासः।
शरीरादावनात्मबुद्धिः। प्रशंसासुनोत्कर्षः।
निन्दास्वपि न कोपः। भव्यप्राणिषु प्रमोदः।
सर्वभूतेषु प्रमोदः। सर्वभूतेषु अनुकंपा। साधुजनेषु मैत्री।
अधार्मिकेषु उपेक्षा/सदाचारेषु आदरः। सर्वधर्मसुफलानीप्सा।
रागादिभिः नधर्मबाधा। कर्मातिशयेः अविस्मयः। जात्यादिभिः नाभिमान

नायक-नायिका : प्रकार, गुण आदि –

भोजके नायक, प्रतिनायक,उपनायक एवं अनुनायक–इन चारों में प्रत्येक धीरोदात्त आदि चार प्रकारों में विभक्त होने के कारण कुलसंख्या सोलह बताई है। नायिका भी (नायक की ही भांति) नायिका, प्रतिनायिका, उपनायिका और अनुनायिका पहिले चार प्रकार की, फिर उदात्ता, उद्धता, ललिता और शान्ता चार प्रकार से सोलह प्रकार की बताई है।

फिर नायक के जाति, अन्वय आदि गुणों का पुन: सोदाहरण विवरण किया गया है। नायिका के इन १६ गुणों का भी उल्लेख किया गया है – १. महाकुलीनता, २. रूपसम्पत्ति, ३. यौवन, ४. सुवेषता, ५. सौभाग्य, ६. शुचिता, ७. शीलसम्पत्, ८. प्रियंवदता, ९. चातुर्य, १० वाग्मिता, ११. शास्त्रज्ञान, १२. अदीनवाक्यता, १३. अविकत्थनत्व, १४. मानिता, १५. कृतज्ञता, १६. दृढ़भक्तित्व। जैसाकि इस नायक-नायिका प्रसंग का उपसंहार करते हुए स्वयं भोज कहते हैं –

ये ते षोडश प्रोक्ता नायकानायिकाश्च या: ।
तेषां ये धीरोदात्तादिकुलीनत्वादयो गुणा: ।।
युक्त स्तैरुत्तमस्तेषां पादहान्या तु मध्यम: ।
अर्धहान्या कनिष्ठस्स्यात् नायिकास्वप्यं विधि: ।।
उदात्ता गूढमानास्यात् उद्धता मानशालिनी
ललिता साध्यमानेह शान्ता निर्मानिमानगा
मनसिशयमहास्त्रं शास्त्रसर्वस्वमेतत्
निरुपमरमणीयं चेष्टितं नायकानाम्
कथितमथ यथावत् कामशृंगारसार: ।।

शृङ्गार के आलम्बन–

शारदातनय ने प्रत्येक रस के विभावों का अलग अलग नामकरण किया है, उनमें शृंगाररस के विभावों को 'ललित' (तथा हास्यरस के ललिताभास) संज्ञा दी गयी है।[१] शृङ्गार के ये ललित-संज्ञक विभाव इन्द्रियों के विषय बन कर मन को

---

१. ललितालिलिताभासा भावा: शृङ्गारहास्ययो: । ११४

आह्लाद देते हैं तथा शृङ्गारोत्कर्ष के साधक होते हैं।[1] इस प्रसंग में शारदातनय ने प्रत्येक रस के आलम्बन-विभावों का विशिष्ट रूप से उल्लेख भी कर दिया है - यद्यपि इस प्रकार का उल्लेख अन्य आचार्यों ने नहीं किया है, क्योंकि कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि कोई एक पदार्थ किसी के लिए एक भाव का आलम्बन बनता है, वही दूसरे के लिए दूसरे भाव का। यही बात अनुभावों तथा संचारियों पर भी है, यही कारण है भरत के रस सूत्र में ध्वनि के लिए अ मिश्रित कर एक पद से निर्दिष्ट हुए हैं[2]। किन्तु शारदातनय ने सभी रसों के आलम्बनों का पृथक्-पृथक् विशिष्ट रूप से उल्लेख किया है। उनमें शृङ्गाररस का आलम्बन रूप-यौवन-भरे मधुर तथा सुकुमार युवतियां अथवा युवक होते हैं[3]।

नायक के भेद-

नायक तीन प्रकार का होता है -१ ज्येष्ठ, २. मध्य तथा ३. कनिष्ठ[4]। उनमें सब गुणों से युक्त नायक ज्येष्ठ कहलाता है, दो-तीन या पांच-छ: गुणों से हीन मध्यम तथा बहुत अधिक गुणों से हीन अधम कहलाता है।[5] फिर धीरोदात्तादि क्रम से नायक चार प्रकार के माने गये -धीरललित, धीरशान्त, धीरोदात्त तथा धीरोद्धत। इनमें किसी में आभिगामिक गुण अधिक होते हैं सांग्रामिक कम, किसी में

---

१. ये मनोह्लादकास्त दिन्द्रियगोचरा: ।
ललितास्तेविभावा: स्यु: शृंगारोत्कर्षहेतव: । --१।४

२. जैसा कि आचार्य मम्मट ने स्पष्ट शब्दों में कहा है -
व्याघ्रादयोविभावा भयानकस्येववीराद्भुतरौद्राणाम् , अश्रुपाताद्यो अनुभावा: शृंगारस्येव करुणभयानकानाम् इति पृथगनैकान्तिकत्वात् सूत्रे मिलिता निर्दिष्टा : (का०प्र०च०उल्लास)

३. मधुरा:सुकुमाराश्च रूपयौवनशालिन: । शृंगारालम्बनाभावास्तरुण्यस्तरुणाश्च:। --१।५

४. ज्येष्ठो मध्य:कनिष्ठश्च त्रिधा नायक उच्यते ।

५. उत्कर्षगुणोपेतो ज्येष्ठ इत्यभिधीयते ।
त्रिचतुर्पंचषैर्वापि गुणैर्हीनो य मध्यम: ।
हीनो गुणैश्चबहुभिरधम: परिकीर्तित: । ४।६१-६२

किसी में सांग्रामिक अधिक होते हैं, कामिनामिक कम । इनमें 'ललित' वह नायक है जो राजभोगों के विषय में सचिन्त रहे, यौवन की पूर्णता से सुशोभित हो, विलासी रति-प्रिय तथा भोगरसिक हो ।[1]

'शान्त' वह है जो कलासक्त, क्षमायुक्त, कहीं-कहीं गम्भीर तथा कहीं-कहीं ललित आदि गुणों से युक्त होता है ।[2]

'उदात्त' वह है जो महासत्त्व, अतिगंभीर, क्षमाशील, अविकत्थन, स्थिर, निगूढाहङ्कार तथा दृढ़व्रत हो ।[3] और आत्मश्लाघी, चंचल, प्रचण्ड, मायावी, छद्म-परायण, मात्सर्ययुक्त तथा अहंकारी नायक धीरोद्धत कहा जाता है ।

इनमें शृङ्गारी 'ललित' नायक की यह विशेषता होती है कि वह संगीत तथा अन्त:पुर में आसक्त होता है । युद्धादि में उसकी बड़ी आस्था नहीं होती । उसकी कार्यसिद्धि अमात्य के अधीन होती है ।[4]

फिर शृङ्गाररस की अपेक्षा से उन नायकों का नायिकाओं के प्रति व्यापारों के अनुसार १. अनुकूल, २. दक्षिण, ३. शठ और ४. धृष्ट — ये चार प्रकार होते हैं ।[5]

ये इस प्रकार सोलह भेद वाले नायक प्रत्येक ज्येष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ भेद से तीन-तीन प्रकार होते हैं और कुल नायक-संख्या अड़तालीस हो जाती है ।[6]

---

१. राजभोगेष्वनिश्चिन्तो यौवनाभोगभूषित: ।
विलासी भोगरसिको ललित: स्याद्रतिप्रिय: । ४।६२ ।।

२. कलासक्त: क्षमायुक्तो गम्भीरस्सक्वचित्क्वचित् ।
धीरशान्तोभवेल्लक्वापिललितादिगुणैर्युत: ।। --४।६२

३. महासत्वो निर्भीरस्वक्षमावानविकत्थन: ।
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रत: ।। ४।६२

४. सङ्गीतान्त:पुरासक्तो युद्धादिष्वनिनादृत: ।
अमात्यायत्तसिद्धि:स्यात्शृंगारीललित: स्मृत ।। ४।६२,६३

५. शृंगारापेक्षयातेषां नायिकासुचवृत्तिभि: ।
अनुकूलादिभेदेन चातुर्विध्यं प्रसिद्ध्यति ।। --४।६३
अनुकूलो दक्षिणश्चशठोधृष्टउदीर्यते ।। ४।६४

६. एवं षोडशधा भिन्नाज्येष्ठादित्रयसंयुता: ।
एते अष्टचत्वारिंशत् स्युर्नायका: कविकल्पिता: ।। ४।६३

उपनायक तथा अन्य सहायक-

पताकानायक को उपनायक कहते हैं। वह नायक का ही भक्त तथा अनुचर होता है और उससे गुणों में कुछ घटकर होता है[1]।

नायक के काम-सचिव पीठमर्द, विट, विदूषक तथा सखी आदि परिवारजन होते हैं।[2] फिर विटविदूषक पीठमर्द आदि का वही रूप बताया गया जो प्राय: पूर्व के आचार्यों ने बताया था।

इन नायक-नायिकाओं के परस्पर विषय में दूती का कार्य ये लोग करते हैं -लिंगिनी, लिङ्गनी, दासी, कुमारी, कारुशिल्पिनी, पाषण्डिनी, प्रातिवेश्या (पड़ोसिन)सखी, रङ्गोपजीविनी, धात्रेयिका तथा प्रेक्षणिका।[3]

फिर कैसे व्यक्ति को दूत या दूती न बनाये, दूत के क्या गुण अपेक्षित हैं, तथा कहाँ प्रथमगिलन उचित है आदि का निर्देश किया गया है।[4]

नायिका के भेद-

नायिका के भी पहिले तो १. स्वीया, २. अन्या, ३. साधारणा तीन भेद किये गये[5]। इनमें स्वीया के मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा ये तीन प्रकार होते हैं।[6] मध्या के अधीरा, धीरा तथा धीराधीरा ये तीन भेद किये

---

१. पताकानायकस्तेषामुपनायक उच्यते।
तस्यैवानुचरो भक्त: किंचिन्न्यूनश्च तद्गुणै: ।। ४।६३

२. एतेस्यु: कामसचिवा: पीठमर्दो विटस्तथा।
विदूषकश्चसख्यादिपरिवारेणसंयुत: ।। ४।६३

३. लिङ्गिनी लिङ्गिनी दासी कुमारी कारुशिल्पिनी।
पाषण्डिनीप्रातिवेश्यासखीरङ्गोपजीविनी।
धात्रेयिका प्रेक्षणिका दूत्य: स्त्रीपुंसयोर्मिथ: ।। ४।६४

४. न दीनं नार्थवन्तं च न वातिचतुरं जडम्।
दूतं वापिहि दूतीं वा कदाचन च सन्दिशेत्
देशकालज्ञता भाषामधुरत्वं विदग्धता
प्रोत्साहनेषु प्रौढत्वं तथा संवृतमन्त्रता
यथोक्तकथनं चेति गुणा दौत्यप्रशस्यताम्

(क्रमश:)

नती है।[1] प्रगल्भा के ज्येष्ठा, मध्यमा तथा कनिष्ठा ये तीन प्रकार होते हैं[2]।
फिर उन दोनों (मध्या तथा प्रगल्भा) के उदात्त, ललित और शान्ति (शान्त) ये
तीन भेद हुये हैं।[3]

अन्या नायिका दो प्रकार की होती है — १. ऊढा तथा २. कन्या[4]।

और साधारण स्त्री गणिका जो कहते हैं जो एक ही प्रकार की होती
है, उसके भेद नहीं होते।[5]

इस प्रकार स्वीया की तरह, अन्या के दो तथा साधारणा (वेश्या) के
एक प्रकार होते हैं।[6] फिर अण्डित्यादि अवस्था भेद से उनके आठ प्रकार और होते
हैं तथा उत्तम, मध्यम, अधम रूप से सबके तीन-तीन प्रकार और नायिका इस प्रकार
कुल योग (१६× ८ × ३ = ३८४) तीन सौ चौरासी होता है। तारतम्य से यह
मत रुद्रटाचार्य (रुद्रभट्ट) के अनुसार किया है।[7]

पिछले पृष्ठ का शेष— नवानुरागं मानादिविरहे वा समागमः
नानोपायैर्विभि:स्वाद्भीभि:पुरुषाश्रय:
उत्सवे रात्रिसञ्चारउधाने नात्विवेश्मनि
धात्रीगृहे च सख्यास्वतथाचैवनिमन्त्रणो
व्याधादिव्यपदेशेन शून्यागारनिवेशने
नवानुरागे कर्तव्यौनृणांप्रथमसङ्गम: ।। ४।६४।।

५. मध्यात्त्वधीरा व धीराच धीराधीरेतिभिद्यते । ४।६४
६. भिन्नेज्येष्ठाकनिष्ठेति प्रगल्भामध्यमापिच । ४।६५

---

१. मध्यात्त्वधीरा धीरा च धीराधीरेतिभिद्यते ४।६४
२. भिन्नेज्येष्ठाकनिष्ठेति प्रगल्भामध्यमापिच । ४।६५
३. स्योरुदात्तललितशान्ति (न्त) भेदैस्त्रिधाभिदा । ४।६५
४. उढा च कन्यकाचेति द्विधान्याङ्गनाभवेत् । ४।६५
५. साधारणस्त्रीगणिकासाप्येकैव न भिद्यते । ४।६५
६. अत्रोदशविधास्वीया द्विविधान्याङ्गना मता ।
एका वेश्या ---------------------- ४।६५
७. पुनश्चाष्टाववस्थाभेदतो पि: ता : । पुनश्चता: त्रिधासर्वा उत्तमाधममध्यमा: । ।
इत्थं शतत्रयं तासामशीतिश्चतुरुत्तरा:। सङ्ख्येयंरुद्रटाचार्यैरुपभोगायदर्शिता ।।४।६५

शारदातनय ने कुलांगनाओं के साथ ही अन्या (परकीया) के केवल तीन भेद का भी उल्लेख किया है। उनके अनुसार प्रथम अवस्था में परकीया विरहोन्मना होती है फिर (दूसरी अवस्था में) अभिसारिका होकर प्रिय से संकेत स्थल पर मिलती है और (तीसरी अवस्था में) यदि संकेत में प्रिय नहीं मिलता तो विप्रलब्धा बनती है। पराधीन होने के कारण परकीया की अन्य अवस्थायें होती ही नहीं।[1] यदि कोई स्त्री अपने सच्चरित्र को त्यागकर निरन्तर किसी एक पुरुष का सहवास करे तो वह स्त्री भी अन्या (परकीया) हो जाती है, और इस प्रकार से गणिका भी अन्या (परकीया) हो जाती है।[2]

साधारण स्त्री-विवेचन-

साधारण स्त्री को ही गणिका कहते हैं। वह परकीय धन चाहती है। उसे न निर्गुण से कोई विद्वेष और न गुणवान् से कोई राग। शारदातनय का कहना है कि गणिका-सम्बन्धी वह शृंगार रस वस्तुतः शृङ्गाराभास माना जायगा ऐसा रुद्रट का मत है।[3] " वेश्या यद्यपि रागशून्य होती है किन्तु उसका, कला कौशल-

---

१. अन्याकृतास्त्रैवैत्यैवं कथयन्ति मनीषिणः ।
प्रथमायामवस्थायामन्यास्याद्विरहोन्मना ।
ततो भिसारिका भूत्वा संकेते पश्यति प्रियम् ।
सङ्केताच्चेत् परिभ्रष्टा विप्रलब्धा भवेत् पुनः ।।
पराधीनतया तस्या नान्यावस्था विलोक्यते ।। ४।६५

२. स्वीयं सुवृत्तमुल्लङ्घ्य य एकेन चिरंवसेत्
सान्यास्याद् गणिका प्येवं भवेत् सान्याभिरुच्यति ।। ४।६५

३. साधारणस्त्री गणिका सा वित्तं परमिच्छति
निर्गुणेऽपि न विद्वेषो न रागो स्यात् गुणिन्यपि
शृङ्गाराभास एव स्यान्न शृंगारः कदाचन
इति किमन्यमुद्दिश्य प्राहश्री रुद्रटः कविः ।। ४।६५

होता है। [illegible] उसके प्रति लोगों का मनोरम सुरत होता है। क्रुद्ध पिनाकी की नेत्राग्निज्वाला से भस्म हुए [illegible] को, मैं समझता हूं, पुन: इन वेश्याओं की नज़रों ने ही जिलाया है। [illegible], [illegible], विदग्धताओं का निवासरूप तथा पुरुषों के सौभाग्य एवं वैदग्ध्य की [illegible] [illegible] को किसने रचा है? नायक को कुलाङ्गना के प्रति ईर्ष्या नहीं होती क्योंकि उसमें अन्य प्रेम की शंका नहीं होती। परकीयाओं के साथ निर्भय रति नहीं हो पाती, किन्तु वेश्या के साथ ईर्ष्या भी चलती है तथा निर्भय रति भी होती है, अत: मदन की वस्तुत: ये ही सर्वस्व हैं[1]।"

स्वकीयात्व आदि का विवेक—

अग्नि को साक्षी बनाकर जिस समान-कुल-शील वाले व्यक्ति ने उद्वहन किया उसकी तो वह स्वकीया होती है किन्तु दूसरे को पति (उपपति) बनाने पर वह उस (पहले पतिकी) अन्या (परकीया) हो जाती है।[2]

इसी प्रकार कन्या यदि (चरित्र) व्यतिक्रम करती है तो अन्या कहलाती है, कुलाङ्गना नहीं। वह अन्या यदि केवल भोगेच्छु है तो स्वकीयारूप है, यदि भोग और धन दोनों चाहती है तो अन्या तथा यदि केवल धनेच्छु है तो गणिका-रूप। कवि को उसी रूप में वर्णित करना चाहिए।[3]

---

१. [illegible]लोकेषु सतां मनोरमम्। [illegible]परस्त्रीकं सुरतं जायते नृणाम्।
क्रुध्यत्पिनाकिनेत्राग्निज्वालाभस्मीकृत: पुरा।
उज्जीवित: पुन: कामोमन्येवेश्याविलोकितै:।।
[illegible]विदग्धकलिर्गणिका[illegible]:। पुंसां सौभाग्यवैदग्ध्य[illegible]:[illegible]निर्मित:।।
ईर्ष्या कुलस्त्रीषु न नायकस्य
निश्शङ्ककेलिर्नपराङ्गनासु
वेश्यासुचैतद्वितयं प्ररूढं
सर्वस्वमेतास्तदहो स्मरस्य।। ४।६६

२. समानकुलशीलेन येनोढा वह्निसाक्षिकम्।
सा स्वीया तस्य सैवान्या भवेद् भर्तृव्यतिक्रमे।। ४।६६

३. व्यतिक्रमे तु कन्यायासाप्यन्या न कुलाङ्गना।
भोगेप्सव: स्यु: स्वीयास्चेदन्या भोगधनेप्सव:।।
अर्थेप्सव:स्युर्गणिकास्तास्ततथा वर्णयेत् कवि:।। ४।६६।

नायिका के उदात्ता आदि भेद

आगे भरतमुनि कहते हैं कि कुछ आचार्य उनके उदात्ता आदि प्रकार भी मानते हैं। ये प्रायः आर्यवर्त्त में दिखाई पड़ते हैं[1]—

इन नायिकाओं की अवस्थाओं में परस्पर अति स्वल्प अन्तर होने के कारण बहुत भेद-विचार नहीं किया गया है। कन्या तथा परोढा की चेष्टाओं को मुग्धा की चेष्टाओं में कह दिया जायगा, वेश्या तथा अन्या की चेष्टायें स्वतन्त्रा और परतन्त्रा के प्रसंग में कहेंगे।[2]

`उदात्ता` नायिका में ये गुण होते हैं -- वह केश, वस्त्र, अङ्गचारुता, माल्य तथा अलङ्करण के विषय में बड़ी रुचि रखती है। शय्या, आभरण, प्रसाधन को जुटाने वाली होती है। उसका स्नेह स्थिर होता है। आश्रितों के प्रति वात्सल्य भाव रखती है एवं उन्हें कृतज्ञता के साथ दान आदि भी देती है।[3] वह माननीयों का सम्मान करती है। सदा उत्सवों को मनाया करती है। भाई-बन्धुओं की भीड़ से प्रसन्न होती है। वचन प्रिय बोलती है[4]-।

`उद्धता` इस प्रकार होती है —उसे अपने सौन्दर्य, ऐश्वर्य, सौभाग्य, विद्या तथा भोगसुखों का अहंकार होता है। विद्या सम्पन्न, सत्कुल में उत्पन्न अपने बन्धु-बान्धवों का भी वह अपमान करती है। वह गर्व एवं अभिमान से भरी, माया-कपट-परायणा, अपने ही पेट को भरने वाली, घोर स्वभाववाली होती है[5]।

---

१. उदात्तादिभिदा:केचित् सर्वासामिति मानते ।
तेऽपिप्रायेण दृश्यन्ते सर्वासामपि आर्यतः ।। ४।६७

२. अल्पवैषम्यतोऽवस्थाभिदा न पृथगीरिता: । कन्योढाचेष्टितं मुग्धाचेष्टितेषु प्रवक्ष्यते ।
वेश्या न्यदीया चेष्टास्वस्वतन्त्रा परतन्त्रादिलक्षणे ।
वक्ष्यामस्तत्रतत्रैवविद्भिर्लोकवर्त्मनाम् ।। ४।६७

३. उदात्ताकेशवासा ङ्गमाल्यभूषासुसादरा
शय्याभरणसंस्कारपरिच्छेदसमेधिनी ।
स्थिरस्नेहाकृतज्ञाच ददात्याश्रितवत्सलता ।। ४।६७

४. `मानयन्ती च मानार्हान्नित्योत्सवरतापि च
बन्धुसम्बाधमुदिता कृतज्ञाप्रियवादिनी
एवमादिगुणैर्युक्तामुदात्तां परिचक्षते ।। ४।६८

५-

(शेष अगले पृष्ठ पर)

'शान्ता' नायिका सुखानुभूति वाली, सदासन्तुष्ट, मानापमान में तुल्य, किसी के प्रति स्पृहा नहीं, अहङ्कार तथा अभिमानरहित, मात्सर्यरहित, अपकार करने वालों का भी उपकार करने वाली, तथा बन्धुओं के प्रति उचित उपचार का निर्वाह करने वाली होती है।[1]

और 'ललिता' वह नायिका है जो रूपयौवनसम्पन्ना हो सखियों के साथ केलि में संलग्न रहे, विविध वस्त्र, अंगराग, माल्य, ऋतु, समुद्रतट, पर्वत तथा नदी आदि की रुचि वाली हो, सम्भोग की रसिका हो, हेला तथा हावभाव से भरी हो, और कलाशिल्प में सम्पन्न हो।[2]

शारदातनय का पूर्वोक्त चार प्रकार का नायिकाभेद उनकी मौलिक उद्भावना समझ पड़ती है जो उदात्त आदि चार प्रकार के नायक भेदों के आधार पर किया गया समझ पड़ता है।

ये पूर्वोक्त (उदात्तादि) गुण वस्तुतः सभी नायिकाओं में देखे जा सकते हैं। स्वकीया में ये निश्चित पाये रहते हैं। परकीया में मध्यरूप में तथा साधारणा या वेश्या में तो प्रच्छन्न रूप में दिखायी पड़ते हैं[3]।

नायिका यौवन के चार प्रकार

भरत की भांति शारदातनय ने भी स्त्रियों का यौवन चार प्रकार का, अथवा यों कहें कि यौवन के चार पड़ाव बताए हैं।[4]

पिछले पृष्ठ का शेष — सौन्दर्यैश्वर्यसौभाग्यविद्याभोगैरहङ्कृता।
विद्याभिजनसम्पन्नान्बन्धूनप्यवमन्यते।
गर्वाभिमानभरिता वाक्कूटपरायणा।
मात्सर्यकुटिलस्वान्ताधीरामौद्धतापरिकीर्तिता।। ४।९८

---

१. सुखिनी नित्यसन्तुष्टा तुल्यमानावमानयोः।
असूयया दूरहीना मानहीना विगतमत्सरा।
उपकारपरा नित्यमपकारपरेष्वपि।
उपाचरति बन्धून् या सा शान्तेति च कथ्यते।। ४।९८

२. रूपयौवनसम्पन्ना सखीकेलिकृतोपमा।
वासोऽङ्गरागमाल्यर्तुवेलाशैलसरित्प्रिया।
संभोगरसिका हेलाभावहावसमेधिता।
कलाशिल्पविशालाचाललिताचपरिकीर्तिता।। ४।९८ (शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

और पुरुषों का यौवन जो सोलह से बत्तीस वर्ष तक माना जाता है तथा उसमें चेष्टायें प्राय: एक रूप ही हुआ करती हैं। पर, सम्पत्ति, प्रकृति तथा गुणों के कारण उनमें विशिष्टता अवश्य आ जाती है।[1]

स्नेहपात्र होने योग्य पुरुष तथा स्त्री-

महोदय, महाभाग, कृतज्ञ, रूपवान्, युवा, मानी, सुशील, सुभग, विदग्ध वंशवान्, अभीरु, अल्पनिद्र, मधुरवाक्, नायक स्त्रियों का अभिगम्य होता है।[2]

उसी प्रकार विज्ञानसम्पन्ना, रूपसम्पन्ना, यौवनसम्पन्ना, देशकालविज्ञाना, कला एवं शिल्प में विचक्षणा, कार्य तथा अकार्य के वैशिष्ट्य को जानने वाली, भावावबोध-चतुरा विनयान्विता, लज्जाशीला, क्षमानुरक्ता, लोकयात्रा का अनुपालन करने वाली नायिका भी पुरुषों की स्नेहपात्र बनती है।[3]

वैशिक-नायक तथा उसके प्रकार-

शारदातनय ने इसी प्रसंग में वैशिक नायक का स्वरूप बताया है - भरत ने इसे सामान्य पुरुष-गुण के रूप में कहा था और पांच प्रकार बताये थे। शारदातनय के अनुसार शास्त्रवेत्ता, शीलसम्पन्न, रूपवान्, प्रियदर्शन, विक्रमी, धृतिमान्, वय-वेष तथा कुल से सम्पन्न, सुगन्धप्रेमी, मधुर, त्यागी, सहिष्णु, अविकत्थन, अशंकित

---

३. सर्वासामेव नारीणामेतैसाधरणा:गुणा: ।
स्वीयासुनिभृतास्तेस्युरन्यदीयासुमध्यमा: ।
साधारणासुप्रथिताबुधैरूह्यायथारसम् ।। ४।१०२ ।।

४. स्त्रीणां प्रायेण सर्वासां यौवनं च चतुर्विधम् ।५।१०३

---

१. आरभ्य षोडशाद्वर्षाद्द्वात्रिंशद्वत्सरावधि ।
यौवनं पुरुषाणां तु तथा यौवनचेष्टितम् ।
साधारण्येन सर्वेषामेकरूपमितिस्मृतम् ।
तदेव सम्पत्प्रकृतिगुणादिपरिवर्धितम् ।।
तत्तद्विविशेषतस्तेषु विशिष्टमिवदृश्यते । ५।१०५

२. महोदयो, महाभाग: कृतज्ञो रूपवान् युवा ।
मानी, सुशील:सुभगो विदग्धो वंशवान् अपि ।
अल्पनिद्रो, मधुरवाक्अभिगम्यो भवेत्स्त्रिया । ५।१०५ ।।

प्रियतापी, चतुर, सुरूप, शुचि, उपचार-कुशल, विचक्षण, देशकालवेत्ता, मानवाक्य नीतिवाला, प्रियवाक्, वाग्मी, दक्ष, प्रियंवद, अलुब्ध, सुभोगी, धनवान्, दृढ़-व्रती, गम्य स्त्रियों के प्रति भी विश्वास न करने वाला, तथा मानी पुरुष वैशिक होता है उसे वैशिक इसलिए कहते हैं कि वह सभी कलाओं को विशिष्ट रूप से जानता है अथवा इसलिए कि वह वेश्योपचार में कुशल होता है।[1] वैशिक तीन प्रकार का होता है — १. उत्तम, २. मध्यम, तथा ३. कनिष्ठ ।

प्रणय एवं कोप में नायक के प्रति संबोधन

फिर शारदातनय ने भी भरत की भांति नायिकाओं द्वारा प्रिय को प्रणय में दी गयी संज्ञाओं का उल्लेख किया है — प्रणयी, दयित, कान्त, नाथ, स्वामी, प्रिय सुहृत्, नन्दन, जीवितेश, सुभग तथा रुचिर आदि[2]। इनका अलग अलग लक्षण भी पूर्ववत ही है।[3]

पिछले पृष्ठ का शेष—

३. विज्ञानरूपसम्पन्नाऽप्यौवनशालिनी ।
देशकालविभागज्ञा कलाशिल्पविचक्षणा ।
कार्याकार्यविशेषज्ञा मावज्ञा विनयान्विता ।
व्रीडावती दयायुक्ता लोकयात्रानुवर्तिनी
एवमादिगुणैर्युक्ता पुंसां गम्यैव नायिका । ५।१०५-१०६

---

१. ५।१०६

२. प्रणयी दयितः कान्तो नाथः स्वामी प्रियः सुहृत् ।
नन्दनो जीवितेशश्च सुभगो रुचिरस्तथा
इत्थं नायकसंज्ञाः स्युः स्त्रीभिः प्रीतिप्रयोजिताः । ५।१०७

३. प्रसादयन्नसखीपर्वशैलोद्यानवनादिषु । मिथ्यागरुषानलुषितां प्रणयीत्यभिधीयते ।१०७-८
वासो हृङ्गरागमाल्याद्यैः ।। हृद्यैः प्रेयसीं हरन् ।
प्रसादयन् प्रीणयति दयितः सोऽभिधीयते ।।इत्यादि।। ५।१०७-८

~~भी~~ इसी प्रकार लोप में प्रिय को जो उपाधियाँ दी जाती हैं उनका भी उल्लेख है —वाम, विरूप, दुःशील, निर्लज्ज, निष्ठुर, शठ, धृष्ट, दुराचार[1]। इनके भी अपने लक्षण दिये गए हैं।

नायिकाओं के शील—

फिर सभी नायिकाओं का स्वभाव (सत्त्व) (भरत के अनुसार ही) बताया है। देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पक्षी, पिशाच, नाग, व्याल, नर, वानर, हस्ती, मृग, मीन, उष्ट्र, मकर, खर, सूकर, अश्व, महिष, श्वा, गौ आदि के समान शील वाली स्त्रियाँ होती हैं।[2] यहाँ शारदातनय ने भरत का[3] ही पूर्णरूपेण अनुगमन किया है। नाट्य शास्त्र में, मेरी समझ में, इनकी इस प्रकार मीमांसा की कोई आवश्यकता नहीं थी। अस्तु। लक्षण भी प्रायः उन्हीं शब्दों लिया गया है।[4] और अन्त में तो कह भी दिया है —एवं प्रदर्शितं शीलं स्त्रीणां भरतवर्त्मना। ५।११२। इस विषय में भरत ने कामशास्त्र की दुहाई दी है और शारदातनय ने भरत की। हाँ, इनका ढंग अपना है।

उत्तम प्रकृति के ही पुरुष और स्त्री इसके शृङ्गारके आश्रय एवं आलम्बन होते हैं। इसको और स्फुट करते हुए वे कहते हैं —परोढा नायिका तथा अनुरागहीना वेश्या नायिका को छोड़कर सभी नायिकाएं एवं दक्षिण आदि (उत्तम) नायक इसके उचित आलम्बन तथा चन्दन, मधुकर गुंजरित आदि उद्दीपन माने गए हैं।

---

१. वामो विरूपो दुश्शीलो निर्लज्जो निष्ठुरः शठः।
धृष्टो दुराचार इति व्याक्षरारा गोपसम्भवाः।। ५।१०८

२. देवदानवगन्धर्वयक्षरक्षः पतत्रिणाम्।
पिशाचनागव्यालानां नरवानरहस्तिनाम्।
मृगीमीनोष्ट्रमकरखरसूकरवाजिनाम्।
महिषाश्वगवादीनां तुल्यशीलास्स्त्रियः स्मृताः।। ५।१०६

३. देखिए ना०शा० २४।६३ — १३५

४. भावप्रकाशन ५।१०६— ११२

नायक विवेचना-

नायक-नायिका विषय का विवेचन साहित्यदर्पण में सामान्य रस के आलम्बन में हुआ है। और नायिकाओं का इस प्रसंग में सारा विवेचन शृंगार-तिलक तथा दशरूपक एवं शारदातनय के ही आधार पर हुआ है।

परन्तु विश्वनाथ ने किसी आचार्य का पूर्वोक्त नायिकाभेद में मतान्तर प्रस्तुत किया है। उनका मत है कि कन्यका तथा परोढा प्रकार की दोनों परकीया नायिकाओं की स्वाधीनपतिका आदि पूर्वोक्त आठ अवस्थायें न होकर तीन ही युक्तिसंगत होती हैं। वे इस प्रकार होंगी — १. संकेत से चुकने पर मिलने तक उनकी विरहोत्कण्ठिता की अवस्था होती है। फिर २. विदूषक आदि के साथ अभिसरण करने पर अभिसारिका की अवस्था और ३. किसी कारणवश नायक के संकेत स्थान पर न पहुँचने पर विप्रलब्धा की अवस्था होती है। अर्थात् ये (कन्यका तथा परोढा) दोनों प्रकार की नायिकायें स्वाधीनपतिका नहीं रहती हैं।[1] किन्तु यह मत तभी ठीक होता जब स्वाधीनपतिका आदि में प्रयुक्त पति, शब्द भर्ता का वाचक माना गया होता। परन्तु यहाँ पर पति शब्द प्रिय या कामुक अर्थ में ही उपचारतया प्रयुक्त है। अतः स्वाधीनपतिका का अर्थ हुआ स्वाधीनकामुका। और यह अवस्था कन्यका तथा परोढा के लिए, पिता तथा पति के घर में रहते हुए भी सम्भव है। वहाँ वे प्रच्छन्नरूप

---

१. इह च परस्त्रियौ कन्यकान्योढे संकेतात्पूर्वं विरहोत्कण्ठिते। पश्चाद्विदूषकादिना सहाभिसरन्त्यावभिसारिके। कुतोऽपि संकेतस्थानमप्राप्ते नायके विप्रलब्धे। इति त्र्यवस्थैवानयोः। अस्वाधीनप्रियत्वादवस्थान्तरायोगात्। इति कश्चित्।

वि०ना० ने यह मत सम्भवतः भावप्रकाशन , पृ० ११६ की इन पंक्तियों से उद्धृत किया है —

अन्यास्त्ववस्थैवेत्येके कथयन्ति मनीषिणः।
प्रथमायामवस्थायामन्यास्याद्विरहोन्मनाः।
ततोऽभिसारिका भूत्वा संकेते पश्यति प्रियम्।
संकेताच्चेत् परिभ्रष्टा विप्रलब्धा भवेत्पुनः।
पराधीनतया तस्या नान्यावस्थाविलोक्यते।।

भा०प्रकाशन ४। पृ० ६५

में दूसरे से प्रेम करती है, और वह अभिलाषा आदि भी अवस्थायें भोगती ही ।

नायिकाओं के पूर्वोक्त प्रकार में कभी-कभी काव्य-नाटकों में साङ्कर्य भी देखा जाता है ।[1]

नायिका के अलङ्कार-

फिर, (प्रा० द० में) नायिकाओं के २८ अलंकार भी प्राय: भरत, धनञ्जय के अनुसार कहे गये हैं । ये उनकी यौवन की शोभा हैं । इन अलंकारों के तीन वर्ग हैं । १. अङ्गज, २. अयत्नज, तथा ३. स्वाभावज । इनमें १. भाव, २. हाव तथा ३. हेला—ये तीन 'अङ्गज' अलंकार हैं । सात 'अयत्नज' अलंकार कहे गये हैं । १. शोभा, २. कान्ति, ३. दीप्ति, ४. माधुर्य, ५. प्रगल्भता, ६. औदार्य तथा ७. धैर्य । और १८ 'स्वाभाविक अलंकार' गिने गये हैं — लीला, २. विलास, ३. विच्छित्ति, ४. विब्बोक, ५. किलकिंचित् ६. मोट्टायित, ७. कुट्टमित, ८. विभ्रम, ९. ललित १०- मद, ११- विहृत १२ तपन, १३. मौग्ध्य १४. विक्षेप, १५. कुतूहल, १६. हसित, १७. चकित तथा १८. केलि । इनमें तीन अंगज तथा सात अयत्नज ये दस अलंकार नायक के भी यौवन में होते हैं ।[2] इनके लक्षण आदि प्राय: पूर्व आचार्यों के अनुसार ही हुए हैं ।

---

१. क्वचिदन्योन्यसाङ्कर्यमासां लक्ष्येषु दृश्यते ।

२. यौवने सत्त्वजास्तासामष्टाविंशतिसंख्यका: ।
अलंकारास्तत्र भावहावहेलास्त्रयोऽङ्गजा: ।
शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता
औदार्यं धैर्यमित्येते सप्तैव स्युरयत्नजा: ।
लीलाविलासो विच्छित्तिर्विब्बोक: किलकिंचितम्
मोट्टायितं कुट्टमितं विभ्रमो ललितं मद: ।
विहृतं तपनं मौग्ध्यं विक्षेपश्च कुतूहलम् ।
हसितं चकितं केलिरित्यष्टादशसंख्यका: ।
स्वभावजास्तमासां स्युः पुंसामपि भवन्त्यपि ।।

—सा०द० ३।८९-९३

प्रतापरुद्र यशोभूषण में विभावना का विवेचन संक्षेप में ना०शा० एवं दशरूपक का अनुगामी है। अतः उसका कोई विशिष्ट महत्त्व नहीं।

शिङ्गभूपाल ने तो नायक के निरूपण से ही अपने ग्रन्थ का प्रारम्भ किया। नाट्य में नायक प्राणरूप होता है। वही उसका रसोत्कर्ष है। शिङ्गभूपाल ने शृङ्गाररस के नायक का विवेचन इस प्रकार प्रारम्भ किया है – शृंगार की अपेक्षा तो नायक तीन प्रकार के होते हैं – १. पति, २. उपपति तथा ३. वैशिक[1]। (र०सु० विधिपूर्वक पाणिग्रहण करने वाला नायक पति कहलाता है। अपने व्यवहार के अनुसार वह भी चार प्रकार का कहा गया है – १. अनुकूल २. शठ, ३. धृष्ट तथा ४. दक्षिण[2]।

यहाँ शिङ्गभूपाल ने धीरोदात्तादि को भी शृङ्गाररस के भेदों के अनुसार विभक्त किया है। जैसे एक नायिकावाला अनुकूल प्रकार का पति धीरोदात्त, धीरललित, धीरशान्त तथा धीरोद्धत चारों में होगा। इसी प्रकार शठ, धृष्ट तथा दक्षिण में भी होंगे। इनके लक्षण तो पूर्वाचार्यों की ही भाँति हैं[3]।

सदाचार का उल्लंघन कर स्त्री विधि-विरुद्ध रूप से जिसके साथ संगम करती है (जिसे अपना पति बनाती है) उसे उपपति कहते हैं।[4] उपपति के दक्षिण अनुकूल तथा धृष्ट भेद तो अनिष्ट होने के कारण उचित नहीं हैं। वह केवल शठ ही होता है।[5]

शृंगाररस का तीसरा नायक वैशिक कहलाता है। र०सु० में उसका पर्याप्त विस्तार के साथ विवेचन हुआ है। कुछ तो शृङ्गारतिलक के आधार पर और अधिक भाव

---

१. र०सु० १।७६-८०

२. र०सु०, १।७८-८१

३. र०सु० १।८१-८२

४. लङ्घितमर्यादाचारः यस्तु विनापिविधिना स्त्रिया।
सङ्केतं नीयते प्रोक्तो बुधै रुपपतिस्तु सः ।। र०सु० १।८३

५. दाक्षिण्यमानुकूल्यं च धाष्टर्यं चानियतत्वतः।
नोचितान्यस्य शाठ्यं स्यादन्यचित्तत्वसम्भवात् ।।

— र०सु० १।८४

प्रकाश के अनुसार ।

परोढा के विषय में शि०भू० का कहना है कि वह दूसरे से व्याही गई होकर भी दूसरे के साथ सम्भोग की अभिलाषा रखती है । उसका वर्णन सप्तशती (गाथा सप्तशती) आदि क्षुद्र(फुटकर) प्रबन्धों (रचनाओं) में किया जाता है ।[1]

गणिका भी दो प्रकार की होती है - १. रक्ता तथा २. विरक्ता ।[2] नाटक में रक्ता वेश्या का अप्रधान रूप से वर्णन किया जाता है । जैसे (मालविकाग्निमित्र में) राजा अग्निमित्र की इरावती ।[3] और नाटक के अतिरिक्त अन्य रूपकों में तो उसका प्रधान अप्रधान दोनों रूप हो सकते हैं । किन्तु यदि दिव्या वेश्या है तो प्रधान रूप से ही वर्णित होगी ।[4]

और विरक्ता तो प्रहसन के पात्रों में वर्णित की जाती है । उसके धौर्त्य आदि गुण उसके लिए उपयोगी होते हैं ।[5] वह श्रोत्रियआदि (प्रच्छन्नकामभागना वाले) रति सुख के पीछे मूढ, बाल, पाषण्डी, नपुंसक आदि को, जब तक धनी देखती है, अनुरक्ता सी प्रसन्न करती है, किन्तु जब धन दुह लेती है तो अपनी माता (अथवा किसी अभिभावक) से निकलवा देती है ।[6] इस प्रसंग में शि०भू० ने एक धार्मिक विवाद छेड़ा है ।

---

१. परोढा तु परेणोढा प्यन्यसम्भोगलालसा ।
तस्याः क्षुद्रप्रबन्धे सा सप्तशत्यादिके बुधैः ।। र०सु० १।१०६

२. एषा स्याद् द्विविधा रक्ताविरक्ता चेति भेदतः । र०सु० १।११०

३. तत्र रक्ता तुवर्ण्यास्यादप्राधान्येननाटके ।
अग्निमित्रस्य विज्ञेया यथा राज्ञ इरावती ।। र०सु० १।१११

४. प्रधानमप्रधानं वा नाटकेतररूपके ।
सा चेद् दिव्या नाटके तु प्राधान्येनैववर्ण्यते ।। र०सु० १।११२

५. विरक्ता तु प्रहसन-प्रकृतिष्वेववर्ण्यते ।
तस्या धौर्त्यप्रभृतयो गुणास्तदुपयोगिनः । र०सु० १।११३

६. छन्नकामानरतार्थाज्ञान् बालपाषण्डषण्ढकान् ।
रक्तेव रंजयेदिभ्यान् निःस्वान् मात्रानिवासयेत् ।। र०सु० १।१४

सामान्या का प्रेम तथा नायिकात्व-

कुछ आचार्यों का कहना है कि गुणीनायक के साथ भी गणिका का कोई अनुराग नहीं होता। और ऐसी सरसता का समावेश करने पर रसाभास का प्रसंग आ सकता है। अतः नाटक आदि में उसका वर्णन नहीं करना चाहिए। जैसा कि कहा जाता है कि सामान्य वनिता वेश्या होती है। वह केवल द्रव्य चाहती है। उसे न निर्गुण से कोई द्वेष न गुणी से कोई अनुराग। अतः उसके प्रेम को सदा शृंगाराभास ही कहा जायगा शृङ्गाररस कभी नहीं। [१]

शिङ्गभूपाल इसका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि नायिका उसी को माना जाता है जिसमें (नायक के प्रति) भावानुबन्ध (प्रेमभाव) हो। वेश्या को भी प्रकरण आदि रूपकों की नायिका माना गया है। अतः उसका भी नायक के प्रति सच्चा प्रेम होता है। तभी तो उसमें शृङ्गाररस माना जाता है। यदि उसमें सच्चा प्रेम न होगा तो वह नायिका भी न होगी, और तब प्रकरण का रस रसाभास हो जायगा। और फलतः यह एक नीरस रचना माना जायगा। फिर रस (शृंगार) की तो दस दशाएं कही गयी हैं, वे सब जब दिखाई पड़ें तो उसे तो सच्चा ही प्रेम समझना चाहिए। अतः वेश्या का भी गुणीनायक में भावानुबन्ध होता ही है। [२] इस विषय में

---

१. अत्र केचिदाहुः — 'गणिकाया नानुरागो गुणवत्यपिनायके।
रसाभासप्रसङ्गः स्यात्सरसतापरवर्णने।
अतश्च नाटकादौ तु वर्ण्या सा न भवेदिति।'

तथा चाहुः —— सामान्यवनितावेश्या सद्रव्यं परमिच्छति।
गुणहीने न च द्वेषो नानुरागो गुणिन्यपि।
शृंगाराभास एतत् स्यान्न शृंगारः कदाचन।' इति।

२. तन्मतं नानुमनुते धीमान् श्रीशिङ्गभूपतिः।
भावानुबन्धाभावेन नायिकात्वपराहतेः ।।
तस्याः प्रकरणादौ च नायिकात्वविधानतः।
अनायिकावर्णने तु रसाभासप्रसङ्गतः।
तथा प्रकरणादीनामरसाश्रयता गतेः।
रसाश्रयं तु दशधेत्यादिशास्त्रविरोधतः।
तस्मात् साधारणस्त्रीणां गुणशालिनिनायके।
भावानुबन्धः स्यादेवरुद्रटस्यापि भाषणात् ।। र०सु० १।११-२०

उन्होंने रुद्रट (रुद्रभट्ट) की इन्ही 'ईर्ष्याकुलस्त्रीषु' वाली कारिका को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है, क्योंकि पूर्वपक्षी ने उन्हीं की 'सामान्यवनिता वेश्या' आदि कारिका को उद्धृत करके अपना मत स्थापित किया था ।[1]

रुद्रभट्ट के मत को रुद्रट का अथवा रुद्रभट्ट को रुद्रट मानने वालों में शारदातनय तथा शिङ्गभूपाल दो प्रधान शृंगारव्याख्याता आचार्य हुए हैं । दोनों के लिए इस विषय में 'शृङ्गारतिलक' ही सबसे प्रधान प्रामाणिक ग्रन्थ था । और दोनों ने उसे रुद्रट की कृति कहा है । अस्तु ।

परकीया की केवल तीन ही अवस्थायें-

नायिका की इस प्रकार तीन सौ चौरासी की ही संख्या शिङ्गभूपाल ने भी बताई है ।[2] इस संख्याकलन में एक मतान्तर का भी शि०भू० ने उल्लेख किया है, जिसके अनुसार परकीया की केवल तीन ही अवस्थायें होती हैं (आठ नहीं) । पहिले तो वह विरहोत्कण्ठिता होती है फिर स्वयं अभिसार करती है, और संकेत से परिभ्रष्ट होने पर विप्रलब्धा होती है । उसका प्रिय पराधीन होता है, अतः उसकी (स्वाधीनपतिका आदि) अन्य अवस्थायें सम्भव नहीं हैं ।[3]

---

१. तथाह रुद्रटः—

ईर्ष्याकुलस्त्रीषु न नायकस्य निश्शङ्ककेलिर्न पराङ्गनासु ।
वेश्यासु चैतद् द्वितयं प्ररूढं सर्वस्वमेतास्तदहो स्मरस्य ।। इति ।

— र०भा० १, पृ० ३०

२. स्वीयात्रयोदशविधा, द्विविधा च पराङ्गना ।
वेश्यैकैव (वेश्यैकैव) षोडशधा ताश्चावस्थाभिरष्टाभिः ।
एकैकमष्टधातासामुत्तमादिप्रभेदतः ।
त्रैविध्यमेवं सचतुरशीतिस्त्रिशती भवेत् । — र०सु० १।१५८-५६

३. अवस्थात्रयमेवेति केचिदाहुः परस्त्रियाः ।
यथा- त्र्यवस्थैव परस्त्री स्यात् प्रथमं विरहोन्मनाः ।
ततो भिसारिकाभूत्वाभिसरन्तीव्रजेत्स्वयम् ।
संकेताच्चपरिभ्रष्टा विप्रलब्धा भवेत् पुनः ।
पराधीनपतित्वेन नान्याऽवस्थात्र सङ्गता । —र०सु० १, पृ० ३७ .

शृङ्गार के उद्दीपन विभाव--

अथ०के अनुसार शृङ्गाररस का उद्दीपन चार प्रकार का होता है --इनमें तीन उसके आलम्बन के समाश्रित होते हैं तथा चौथा पृथक् ही रहता है -१. गुण, २. चेष्टा, ३. अलङ्कार तथा ४. तटस्थ[1]।

इनमें आलम्बन के ये गुण उद्दीपन होते हैं -यौवन, रूप, लावण्य, सौन्दर्य, अभिरूपता, मार्दव तथा सौकुमार्य ।[2]

दूसरे प्रकार का उद्दीपन आलम्बन की चेष्टाएं हैं। वे लीला विलास आदि अनेक हैं, जिनका विवेचन आगे अनुभावों के प्रकरण में किया जायगा[3] ।

तीसरे उद्दीपन हैं आलम्बन के अलङ्कार, जो वस्त्र, आभूषण, माल्य तथा अनुलेपन रूप से चार प्रकार के होते हैं ।[4]

तटस्थ उद्दीपन तो वे ही प्रसिद्ध वस्तुएं हैं -चन्द्रिका, धारागृह, चन्द्रोदय, कोकिल की कूक आम्र (तथा अशोक आदि) मन्दमारुत, भ्रमण लतामण्डप, भूगेह, दीर्घिका, मेघगर्जन (तथा विद्युत् आदि) प्रासादगर्भ, संगीत, क्रीडा, अद्रि, सरित् आदि इसी प्रकार की यथाकाल उपभोग के लिए उपयोगी वस्तुएं[5]।

---

१. अथ शृङ्गारस्योद्दीपनविभावा :-

उद्दीपनं चतुर्धा स्यादालम्बन-समाश्रयम् ।
गुणाश्चेष्टालंकृतयस्तटस्थाश्चेति ते मता: ।। र०सु० १।१६२

२. तत्र गुणा:— यौवनं रूपलावण्ये सौन्दर्यमभिरूपता ।
मार्दवं सौकुमार्यं चेत्यालम्बनगतागुणा: ।। र०सु० १।१६३

३. तच्चेष्टालीलाविलासाद्य: ते ह्यनुभावप्रकरणेवक्ष्यते । र०सु०१, पृ० ४४

४. चतुर्धालङ्कृतिर्वासोभूषामाल्यानुलेपनै: ।। र०सु० १।१८७

५. तटस्थाश्चन्द्रिकाधारागृहचन्द्रोदयानपि ।
कोकिलालापमाकन्दमन्द मारुतषट्पदा: ।
लतामण्डपभूगेहदीर्घिकाजलदारवा: ।
प्रासादगर्भसंगीत क्रीडाद्रिसरिदादय: ।।
एवमूह्या यथाकालमुपभोगोपयोगिन: ।। र०सु० १।१८७-८६

शृङ्गार का आलम्बन विभाव-नायिका

भानुदत्त ने तो शृंगार के विभावों का बड़ा विपुल विवेचन किया है अपितु उनका एक पूरा ग्रन्थ ही प्रायः इसी विषय का विवेचन करता है। इनकी रसमञ्जरी केवल नायक-नायिका विषय को लेकर ही लिखी गई है। उनके पूर्व यह विवेचन या तो नाटक या रस के प्रसङ्ग में साहित्यशास्त्र के आचार्य करते आए थे। किन्तु उन्होंने भानुदत्त अपना एक सम्पूर्णग्रन्थ इस विषय में लगाकर इसे एक पृथक् स्वतन्त्र विषय के रूप में विवेचन करने की प्रथा चलाई जिसका अनुसरण उनके पश्चात् कुछ संस्कृत के आचार्यों ने किया और अधिकतया हिन्दी आदि बोलचाल की भाषा के आचार्यों ने किया। शृङ्गार के परस्पर आलम्बन हैं नायिका तथा नायक- नायिकाएं तीन प्रकार की होती हैं १— स्वीया, २. परकीया तथा ३. सामान्या[1]।

स्वीया नायिका वह है जो केवल अपने पति में अनुरक्त हो।[2] यहां यह शंका होती है कि जो स्त्री विवाहित तो है किन्तु परगामिनी भी है, अर्थात् पति एवं उपपति दोनों में अनुरक्त है, उसकी गणना स्वीया रूप में न हो पायेगी। अतः वहां यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि स्वीया केवल वही कही जा सकती है जो पति-व्रता हो। पूर्वोक्त नायिका तो परगामिनी भी है, अतः उसे नायिका के परिगणन में परकीया की कोटि में रक्खा जायगा।[3]

स्वीया की चेष्टाएं होती है —पति की शुश्रूषा, अपने शील का संरक्षण आर्जव तथा क्षमा।[4]

स्वीया भी तीन प्रकार की (अवस्थावाली) होती है — १. मुग्धा, २. मध्या तथा ३. प्रगल्भा। मुग्धा स्वीया वह है, जिसमें यौवन अंकुरित हुआ हो।[5]

---

१. सा च त्रिविधा— स्वीया, परकीया, सामान्या चेति।

२. तत्र स्वामिन्येवानुरक्ता स्वीया। र०म०, प

३. न च परिणीतायां परगामिन्यामव्याप्तिः अत्र पतिव्रताया एव लक्ष्यत्वात्। तस्याश्च परगामित्वात् परकीयात्वमपि समायाति ।। —र०म०, पृ० ५।

४. अस्याश्चेष्टाभर्तुः शुश्रूषा, शीलसंरक्षणमार्जवं क्षमा चेति ।। र०त०, पृ० ५

५. तत्रांकुरितयौवना मुग्धा —र०म०, पृ० ७

और वह मुग्धा भी दो प्रकार की मानी गयी है -- १. अज्ञातयौवना तथा २. ज्ञातयौवना अर्थात् एक वह जिसमें अपने यौवनागम का बोध न हो-- अल्पहुश्और दूसरी वह जिसे यह चेत हो गया हो कि उसमें यौवन आ रहा है।

वह मुग्धा ही एक अन्य दृष्टि से नवोढा, तथा विश्रब्धनवोढा दो अन्य प्रकार की भी होती है। नवोढा वह है जिसकी रति लज्जा अर्थात् संकोचशीलता एवं भय अर्थात् पूर्व से अपरिचित पति के सङ्गम से नितान्त शंका से भरी होती है।[1] और जब कुछ दिन के परिचय से पति के प्रति विश्वास एवं विनय आ जाता है तो वही विश्रब्ध नवोढा हो जाती है।[2] इस प्रकार मुग्धा की रति में लज्जा, भय तथा विश्रम्भ का क्रमिक अवतार होता है।[3]

और प्रगल्भा स्वीया वह है जो केवल अपने पति के प्रति रतिक्रीड़ाओं में प्रवीण हो।[4] वेश्या तथा कुलटा भी केलिकला-कोविद होती है, किन्तु उनका पति-मात्रविषयत्व कोविदत्व नहीं होता, अतः वे इस प्रगल्भा से भिन्न है।[5] इस प्रगल्भा की विशेषता है कि उसका सम्भोग में आनन्द सम्मोहनावस्था तक पहुंच जाती है।[6]

भानुदत्त के अनुसार ये धीरादि भेद जैसे स्वीया के वैसे ही परकीया एवं सामान्या के भी माने जाने चाहिए। इस विषय में उन्होंने उस प्राचीन मत का प्रतिवाद किया जिसमें ये भेद केवल स्वीया के ही कहे गए हैं। भानुदत्त ने उस मत को युक्ति-संगत नहीं माना है। उनका कहना है कि ये धीरत्व अधीरत्व आदि गुण मान से सम्बन्ध रखते हैं। यदि परकीया तथा सामान्या मान कर सकती है तो धीरत्वादि का होना भी आवश्यक ही होगा। और इसको इनकार किया ही नहीं जा सकता कि परकीया में मान होता ही नहीं।[7]

---

१. सैव क्रमशः क्रमशोलज्जाभयपराधीनरति र्नवोढा। र०म०, पृ० ८

२. सैव क्रमशः सप्रश्रयविश्रब्धनवोढा। र०म० ६

३. अथवा-कृतान्तः कान्तो वा समजनि भेदः प्रथमतस्ततोद्वित्रैर्मासैर्मनुजइतिसम्प्राप्तहृदयम्‌ आदि

४. पतिमात्रविषयक-केलिकलाकलापकोविदाप्रगल्भा -र०म०, पृ० २१

५. वेश्यायां कुलटायां च पतिमात्रविषयत्वाभावान्नातिव्याप्तिः -र०म०, पृ० २१

६. अस्याश्चेष्टारतिप्रीतिरानन्दात्सम्मोहः -र०म०, पृ० २१

७. धीरादिभेदःस्वीयायामेव, न परकीयायामिति प्राचीनमतंसम्भाव्यसामान्यम्।
धीरत्वमधीरत्वं तदुभयं वा माननियतम्। परकीयायां मानश्चेत् तेषामावश्यकत्वात्।
मानश्चन परकीयायामितिवक्तुमशक्यत्वादिति।। र०म०, पृ० २६

फिर ये भी (स्वीया-गत) मध्या और प्रगल्भा के धीरा आदि भेद प्रत्येक ज्येष्ठा और कनिष्ठा रूप से दो-दो प्रकार के होते हैं।[१]

जो विवाहित पति से अधिक स्नेह पाती है वह ज्येष्ठा है तथा जो पति से कम स्नेह पाती है वह कनिष्ठा है।[२]

ये ज्येष्ठा कनिष्ठा भेद स्वीया के ही होते हैं, सामान्यवनिता (तथा परकीया) के अपने प्रिय या उपपति से अधिक या लघु स्नेह पाने पर भी उन्हें ज्येष्ठा कनिष्ठा वर्गों में नहीं रखा जाता, क्योंकि वह परिणीता नहीं होती।[३] परकीया की सारी चेष्टाएं गुप्त ही रहती हैं[४]।

१. गुप्ता, २. विदग्धा, ३. लक्षिता, ४. कुलटा ५. अनुशयाना, ६. मुदिता आदि नायिकाएं परकीया में ही अन्तर्भूत हो जाती हैं। अथवा यों कहें कि ये परकीया के ही प्रकार हैं।[५] इनमें गुप्ता परकीया तीन प्रकार की होती है -१. वृत्त, सुरतगोपना, २. वर्तिष्यमाणसुरतगोपना तथा ३. वृत्तवर्तिष्यमाणसुरतगोपना। विदग्धा के भी दो भेद हैं -- १. वाग्विदग्धा तथा २. क्रियाविदग्धा। इसी प्रकार अनुशयाना के तीन प्रकार गिनाये जाते हैं - १. वर्तमान संकेत स्थान के विघटन से, २. भविष्य में संकेत स्थान न मिलेगा इस शंका से तथा ३. अपनी अनुपस्थिति में प्रिय को संकेत-स्थल पर जाने का अनुमान कर।[६]

फिर इन पूर्वोक्त नायिकाओं के १. अन्यसम्भोगदु:खिता २. वक्रोक्तिगर्विता तथा ३. मानवती -ये तीन भेद होते हैं।[७]

---

१. एते च धीरादिषड्भेदाद्विविधा:। धीराज्येष्ठाकनिष्ठा च, अधीरा ज्येष्ठाकनिष्ठा च धीराधीराज्येष्ठा कनिष्ठा च। -र०म०, पृ० ४२ :।

२. परिणीतत्वेसति भर्तुरधिकस्नेहाज्येष्ठा, परिणीतत्वेसति भर्तुर्न्यूनस्नेहाकनिष्ठा -र०म०

३. अधिकस्नेहान्यून्यूनस्नेहासु सामान्यवनितासु नातिव्याप्ति: परिणीतपदेनव्यावर्तनात्-
-- र०म० पृ० ४३

४. अस्या गुप्तैव सकलाचेष्टा -र०म०, पृ० ४६

५. गुप्ताविदग्धालक्षिताकुलटानुशयानामुदिताप्रभृतीनां परकीयायामेवान्तर्भाव:।
-र०म०, पृ० ५२

६. अनुशयानायथावर्तमानस्थानविघटनेन, भाविस्थानाभावशंकया स्वानधिष्ठितसंकेतस्थलं प्रति भर्तुर्गमनानुमानेन चानुशयानात्रिधा -र०म००, पृ० ६२

७. एताअन्यसम्भोगदु:खिता, वक्रोक्तिगर्विता मानवत्यश्चेति तिस्रो भवन्ति।
-र०म०, ७४

वक्रोक्तिगर्विता भी दो प्रकार की होती है १. प्रेमगर्विता तथा २. सौन्दर्यगर्विता ।[१]

मानवतियों में मान होता है। प्रिय के अपराध की सूचिका चेष्टा को मान कहते हैं ।[२] वह तीन प्रकार का होता है — १. लघु, २. मध्यम और ३. गुरु । जो आकस्मिक कुतूहलादि अल्प उपायों द्वारा ही दूर किया जा सके वह लघु, जो अन्यथावाद शपथआदि कष्टतर उपायों द्वारा वह मध्यम तथा जो भूषणदान चरण-पतन आदि कष्टमय उपाय द्वारा, वह गुरु मान कहलाता है ।[३] नायिका का कोई मान असाध्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि तब तो फिर मानों एक आश्रय से रति हट ही गई, और वह इस प्रकार रसाभास हो जायगा ।[४] लघुमान नायक द्वारा अन्य स्त्री को ताकने आदि से उत्पन्न होता है, भूल से दूसरी नायिका का नाम ले लेने आदि से मध्यममान होता है तथा अन्य नायिका के संग-चिह्नादि में गुरु मान उत्पन्न होता है ।[५]

कुछ आचार्यों ने फिर इन पूर्वोक्त नायिकाभेदों में जाति के अनुसार दिव्या अदिव्या तथा दिव्यादिव्यारूप से तीन-तीन प्रकार किये थे । दिव्या, जैसे इन्द्राणी आदि, अदिव्या (या मानवी) जैसे मालती आदि तथा दिव्यादिव्या जैसे सीता आदि (अवतार) और इस प्रकार संख्या ११५२ बताई थी । उसे भानुदत्त ने स्वीकार नहीं किया है । उनका तर्क है कि नायिका के भेद उनकी अवस्था या दशा विशेष के भेद से ही किए जाने चाहिए, जातिभेद से नहीं — क्योंकि जातिभेद से भेद मानने पर तो नायकों के भी इसी प्रकार अनन्त भेद हो जायेंगे । क्योंकि जातिभेद में तो इन्द्र आदि भी दिव्य, माधव आदि अदिव्य तथा राम आदि दिव्यादिव्य नायक होंगे ।[६]

---

१. वक्रोक्तिगर्विता द्विविधा प्रेमगर्विता सौन्दर्यगर्विता च । —र०मं०, पृ०७६

२. प्रियापराधसूचिकाचेष्टा मानः —र०मं०, पृ० ७६

३. अल्पापनेयो लघुः कष्टतरापनेयो मध्यमः, कष्टतमापनेयो गुरु : —र०मं०, पृ० ७६
अन्यथा सिद्धकुतूहलाद्यपनेयो लघुः अन्यथावादशपथाद्यपनेयो मध्यमः, चरणापतनभूषणादानाद्यपनेयो गुरु : —र०म०, पृ० ८१

४. असाध्यस्तु रसाभासः —र०म०, पृ० ८०

५. अपरस्त्रीदर्शनादिजन्मा लघुः , गोत्रस्खलनादिजन्मामध्यमः, अपरस्त्रीसंगजन्मा गुरु : ।
— र०मं०, पृ० ८०

६. यत्तु एतासां दिव्यादिव्योभयभेदेन गणनयादिपंचाशदधिकशतयुतं सहस्रं भेदाभवन्ति । दिव्याइन्द्राण्यादयः, अदिव्या मालत्यादयः दिव्यादिव्याःसीतादयइति । तन्न, अवस्थाभेदेनैव नायिकानां भेदात् जातिभेदेन भेदस्वीकारे नायकानामप्येवमानन्त्यं स्यात् । तथा भेदा नायकानामपि सन्तिदिव्या इन्द्रादयः, अदिव्यामाधवादयः दि...
रामादय इति ॥ र० म०, पृ० ८८, ८६

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जैसे मुग्धा नायिका के धीरा, अधीरा आदि भेद नहीं माने जाते, क्योंकि उसमें धीरात्व आदि के लिए पाये जाने वाले सभी आवश्यक तत्त्व नहीं होते, वैसे ही प्रोषित भर्तृका आदि आठ प्रकार भी उसके नहीं होने चाहिए, क्योंकि इन अवस्थाओं के लिए जो तत्त्व आवश्यक होते हैं वे भी तो उसमें उसी प्रकार नहीं होते। भानुदत्त ने इसको स्वीकार (अभ्युपगम) सा करते हुए समाधान इस प्रकार किया है कि मुग्धा के भी ये भेद केवल प्राचीन आचार्यों की परम्परा निभाने के लिए (मुग्धा के) नवोढा (विश्रब्धनवोढा) भेद को ध्यान में रख कर किये गये हैं।[1] अस्तु !

नायिकाओं के पूर्वोक्त भेदोपभेद विवेचन में एक बात पुन: स्पष्ट कर देनी आवश्यक है कि ये प्रोषितपतिकादि आठ भेद अवस्था या प्रेमदशा की दृष्टि से किये जाते हैं, जो मुग्धादि सभी पूर्वोक्त प्रकार की नायिकाओं के सम्भव होंगे। किन्तु मुग्धादि भेद कुछ अपना वैशिष्ट्य रखते हैं, जो उनके आठों में मिलेंगे, जिससे वे पृथक् प्रकार (Type) गिने जाते हैं और ये प्रोषितपतिकादि आठों उनसबके यहाँ सेवा में उपस्थित रहते हैं। मुग्धा में लज्जा की प्रधानता होती है, मध्या में लज्जा और मदन का साम्य रहता है, प्रगल्भा में प्राकाश्य (या धृष्टता) का प्राधान्य रहता है, धीरा में धैर्य, अधीरा में अधैर्य, धीराधीरा में धैर्याधैर्य, ज्येष्ठा में स्नेहाधिक्य, कनिष्ठा में स्नेह-न्यूनत्व, परोढा में रहस्यगोपन, मुग्धा की भाँति कन्या में लज्जा तथा सामान्य वनिता में (वेश्या)में धन प्राप्ति प्रधान होती है।[2]

---

१. यद्यपि मुग्धाया यथा धीरादिभेदाभाव: तथाविध प्रज्ञासामग्र्यभावत्, तथात्राप्यष्टविधत्वाभावोभवितुमर्हति। तथापि प्राचीनलेखानुरोधेननवोढामालम्ब्यैते भेदा अवगन्तव्या:। —र०म०, पृ० ८०

२. मुग्धायालज्जाप्राधान्येन, मध्यायालज्जमदनसाम्येन प्रगल्भाया: प्राकाश्यप्राधान्येन, धीराख्यायाधैर्य प्राधान्येन अधीराया अधैर्यप्राधान्येन, धीराधीराया धैर्याधैर्यप्राधान्येन, ज्येष्ठाया: स्नेहाधिक्यप्राधान्येन, कनिष्ठाया: स्नेहन्यूनत्वप्राधान्येन, परोढा या: संगुप्तिप्राधान्येन, मुग्धाया इव कन्यकायाश्च, सामान्यवनितायाधनप्राप्तिप्राधान्येनाष्टनायिकावर्णनमिति विशेष : —

—र०म०, पृ० १४५

पूर्वोक्त आठ अवस्थाओं के अनुसार आठ प्रकार की नायिकाओं के अतिरिक्त एक नवें प्रकार की भी नायिका होती है -प्रवत्स्यत्पतिका ।[1] उसका पूर्व वर्णित किसी भी प्रकार में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता । प्रिय उसके पास में है, अत: प्रोषितपतिका, विप्रलब्धा तथा उत्का से वह पृथक् है । उसने अपने प्रिय से न कलह किया है, न उसका अपमान ही, अत: कलहन्तिरिता से भी वह पृथक् है । प्रिय अन्य सम्भोगचिह्नित रूप में उसके पास नहीं आया है, अतएव उसे कोप नहीं है, अपितु काकुवचन कातरप्रेक्षण आदि हैं । प्रिय से मिलने को न वार नियत है अतएव न सज्जीकरण है, अपितु निर्वेद आदि स्पष्ट दिखायी पड़ते हैं, अत: उसे वासकसज्जा भी नहीं कह सकते । अभी अगले ही क्षण प्रिय से वियोग हो जायगा, अत: वह स्वाधीनपतिका भी नहीं, क्योंकि स्वाधीनपतिका अपने प्रिय से कभी वियुक्त नहीं होती यही आचार्यमत-सम्प्रदाय है । बल्कि पति जाने लगे तो भी स्वाधीनपतिका उसे रोक लेती है अन्यथा उसका पति (प्रिय) पर उसकी स्वाधीनता कैसी ? किन्तु इस प्रवत्स्यत्पतिका का तो प्रिय अवश्य विदेश जायगा । और फिर इसको निर्वेद अश्रुपात तथा नि:श्वास वैशिष्ट्य होते हैं जबकि स्वाधीनपतिका के वनविहार मदनमहोत्सव आदि देखे जाते हैं । इसी प्रकार अभिसारिका में भी प्रवत्स्यत्पतिका का अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि उसे कोई अभिसारोल्लास नहीं रहता, उल्टे मन में विरहताप दिखायी पड़ने लगता है । अत: यह नवां प्रकार भानुदत्त के मत से उचित ही है ।[2]

यथा —

१. प्रस्थानं वलयै: कृतं प्रियसखै रस्रै रजस्र गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं बुद्ध्यापि गन्तुं पुर:
यातुं निश्चित-चेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता:
गन्तव्ये सति जीवित, प्रियसुहृत्सार्थ: किमुत्यज्यते ।

यस्या पतिरग्रिमक्षणे देशान्तरं यास्यत्येव सा प्रवत्स्यत्पतिका - र०म०, पृ० १४७

२. अग्रिमक्षणेदेशान्तरनिश्चितगमने प्रेयसिप्रवत्स्यपतिका पि नवमी नायिका भवितु मर्हति । यथा हि तस्या: प्रोषितपतिका विप्रलब्धोत्कासु नान्तर्भाव:, भर्तु: सन्निधिवर्तित्वात् न कलहान्तरितायामान्तर्भाव: कलहाभावादनवमानितपतित्वाच्च । नापि खण्डितायामन्तर्भाव: प्रियस्यान्योपभोगचिह्नितस्यागमनाभावात् प्रियाया: कोपाभावदर्शनात् काकुवचन कातरप्रेक्षणादिसन्वितान्त: पक्षपातित्वदर्शनाच्च । न वासकसज्जायामन्तर्भाव: वारनियमाभावात् सज्जीकरणाभावनिर्वेदादिदर्शनाच्च न स्वाधीनपतिकायामन्तर्भाव:अग्रिमक्षण एव संगस्य विच्छेददर्शनात् । नहिस्वाधीनपतिका निरुध्यते अन्य-

शेष

प्रवत्स्यत्पतिका की ये चेष्टायें होती हैं — काकुवचन, कातरप्रेक्षण, गमन में विघ्नोपदर्शन, निर्वेद, सन्ताप, सम्मोह, निश्श्वास, बाष्प आदि ।[१]

नायक के १. मानी, २. चतुर ये दो भेद और जो कभी-कभी किये जाते हैं, वे शठ में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं (तीनों नायक प्रोषित भी होते हैं — १. प्रोषितपति, २. प्रोषितउपपति तथा, ३. प्रोषितवैशिक) । जो नायक सांकेतिक चेष्टा तथा ज्ञान से रहित हो उसे नायकाभास कहते हैं ।[२]

नायक के प्रोषितपत्नीक आदि भेद सम्भव नहीं

नायिका के जैसे प्रोषितभर्तृका आदि आठ अवस्था भेद से भेद किये जाते हैं, वैसे ही नायक के भी प्रोषितपत्नीक आदि भेद नहीं किये जा सकते, क्यों कि नायिकाऽ तो अवस्था भेद से भेद होते हैं किन्तु नायक के स्वभाव भेद से । और अनुकूलता दक्षिणता, धृष्टता, तथा शठता ये ही तो नायक के स्वभाव हैं ।[३]

और फिर यदि अवस्था भेद से नायकों के प्रकार माने जायें तो उत्क, विप्रलब्ध खण्डित आदि प्रकार के भी नायक माने जाने लगेंगे । और साहित्यविदों के सम्प्रदाय के अनुसार तो संकेतस्थल पर न पहुंचने से अन्य स्त्री के साथ सम्भोग की आशंका , अन्य समागम में धूर्तता अथवा शठता तथा अन्य सम्भोग चिह्नितता आदि नायकों के विषय में ही

शेष— धाभर्तरिस्वाधीनत्वमेव भज्यते । नेह तथा सर्वथाभर्तुर्विदेशगमनात् । किं च निर्वेदाश्रुपात निःश्वासवनविहारा दिपदनमत्सवव्यतिरेकदर्शनाच्च । नाप्यभिसारिकायामन्तर्भावः , अभिसारो त्स्वभावात्वन्तस्तापदर्शनाच्चेति युक्त मुत्पश्याम: ।। र०म०,पृ०१४७

---

१. अस्याचेष्टा: काकुवचनकातरप्रेक्षणगमनविघ्नोपदर्शननिर्वेदसन्तापनिश्श्वासबाष्पाद्य: । र०म०, पृ० १४७

२. अनभिज्ञो नायको नायकाभास एव — र०म०, पृ० ८८१

३. न च नायिकाया इव नायकस्यापि ते ते भेदा: सन्त्विति वाच्यम् तस्या अवस्थाभेदेन भेद:, तस्य च स्वभावेन भेद इति विशेषात् । अनुकूलत्वं दक्षिणत्वं शठत्वमिति चत्वार एवनायकस्य स्वभावाइति । र०म०, पृ० ८८२

नायिकाओं द्वारा की जाती है नायकों की नहीं ।[1] क्योंकि नायिका में नायक द्वारा करने पर तो अनौचित्य-प्रवृत्ति होने के कारण वह रसाभास हो जायगा ।[2] कोई भी सहृदय ऐसे नायक का वर्णन, जो अपनी नायिका को अन्य सम्भोगचिह्नितता देख कर खिन्न है, अथवा पहिले आई हुई नायिका को अन्य सम्भोगचिह्नितता देखकर खिन्न है, अथवा पहिले आई हुई नायिका का अपमान करके ग्लानिपूर्ण है, अथवा संकेतस्थल पर नायिका द्वारा वंचित है, अथवा फिर संकेत स्थान पर नायिका के न जाने पर उसका अन्य नायक के साथ संगम का सन्देह करता है, आस्वाद्य या रमणीय नहीं मानता है । क्योंकि इन सारी परिस्थितियों में अनौचित्य के कारण रसभंग हो जायगा । अत: नायक का खण्डित, कलहान्तरित, विप्रलब्ध तथा उत्क—ये भेद उचित नहीं । ऐसे ही न नायिका का प्रवास ठीक है और न नायक का सुरतसामग्री सजाना । अत: न नायक प्रोषित-पत्नीक होगा और न वासकसज्ज । और पत्नी तो पति के अधीन होती ही है उसके वर्णन में क्या चमत्कार, अत: नायक का स्वाधीनपत्नीक भेद भी ठीक नहीं । उसी प्रकार अभिसार तो चाहे जो करे, उसकी प्रेरणा नायिकामूलक होती है, अत: अभिसारिका नायिका ही होती है नायक को अभिसारक नहीं कह सकते । अस्तु ।

कृष्णकवि के अनुसार शृङ्गाररस का नायक कलावेद में विशेष रुचि रखता है ।[3] उसके चार प्रकार शृङ्गार व्यापार या चेष्टा में प्रवृत्ति की दृष्टि[4] से होते हैं – १. धृष्ट २. अनुकूल, ३. शठ तथा ४. दक्षिण । शठ और धृष्ट में वंचना प्रधान रूप से होती है तथा अनुकूल और दक्षिण में कपटशून्यता[5] (अवंचना) । उनके संक्षेप

---

१. अन्यच्चावस्थाभेदेनभेदो यदि नायकस्य स्यात् तदोत्क-विप्रलब्ध-खण्डितादयोनायका अपि स्वीकर्तव्या । तथा च संकेतव्यवस्थायांस्त्रीणांगमने व , सम्प्रदायादन्यसमागमशंका धूर्त त्वां वा न्य सम्भोगचिह्नितत्वंवानायकानां न तु नायकानाम् । —र०प्र०, पृ० १८३

२. तासु प्रति तदुद्भावने रसाभासापत्ति रिति । र०प्र०, पृ० १८३

३. कलावेदविशेषानुरक्त: शृङ्गारनायक: — म०च०, पृ० ७७

४. धृष्टादयश्चचत्वार: स्वव्यापारप्रवृत्तित: —म०च०, पृ० १६

५. अकापट्यं त्वितरयोर्वञ्चनं शठधृष्टयो: — म०च०, पृ० ७७

सं

में लक्षणउदाहरण देकर फिर उन चारों के दो-दो भेद किये हैं (तीन नहीं) ।
१. पति तथा २. उपपति[1]। पाणिगृहीता तो पति है और आचारहानि का हेतुभूत प्रिय उपपति है ।

मं०मं०च० में साधारण नायक के कई विचारों से भेद किये गये हैं । उनमें कुछ भेद तो ऐसे हैं जो शृङ्गार-नायक के भी होंगे --जैसे, गुण की दृष्टि जो उत्तम, मध्यम तथा अधम । प्रकृति के विचार से १. सात्त्विक २. राजस तथा ३. तामस । परिग्रह (पत्नी) की दृष्टि से १. साधारण (अनेक पत्नियों वाला) तथा असाधारण (एक पत्नीवाला) । योनि के विचार से -१. दिव्य, अदिव्य तथा दिव्यादिव्य। जाति के विचार से १. दत्त (पद्मिनीनायिका का वल्लभ) २. भद्र चित्रिणी-प्रिय ३. कूचिमार, हस्तिनीपति तथा ४. पाञ्चाल शंखिनीप्रिय । और धैर्यवृत्ति की दृष्टि से - उदात्त २. शान्त, ३. ललित तथा ४. उद्धत[2] ।

शृङ्गार की नायिका-

युवक के अनुरंजन योग्य आकार एवं चेष्टा वाली शृङ्गाररस की नायिका होती है -जो अपने विलासों से युवकों के मन को मुदित करती है ।[3]

उसमें मुग्धा के दो भेद होते हैं -१. ज्ञात यौवना और २. अज्ञात यौवना । फिर इनमें भी प्रत्येक के दो भेद -१. शुद्धनवोढा तथा २. विश्रब्धनवोढा ।[4]

---

१. पतिश्चोपपतिश्चैति स चतुर्धा पुनर्द्विधा- म०च० , पृ० ७८

२. पुनस्त्रिधासगुणात उत्तमो मध्यमो धमः । प्रकृतेः सात्त्विको पिस्याद्राजसस्तामसो पि च । इति त्रिधा पुनर्नेता, पुनर्द्वेधा प्रकीर्तितः । साधारणस्तथासाधारणो ज्ञेयः परिग्रहात् । साधारणो नैकजानिरन्यो नियतभार्यकः पुनर्दिव्यस्त्वदिव्यश्चदिव्यादिव्यइतित्रिधा । नायकस्तत्र दिव्यस्तु पौलोमीपतिरुच्यते । विक्रमादिरदिव्यः स्यात्कृष्णादिरुभयात्मकः । पुनश्चतुर्धाकथितः कामशास्त्रेषुजातितः । दत्तोभद्रः कूचिमारः पांचालः इतिसूरिभिः । पद्मिनी वल्लभो दत्तो भद्रःस्याच्चित्रिणीप्रियः पांचालकूचिमारौ तुहस्तिनीशंखिनीप्रियौः । उदात्तशान्तललितोद्धताःस्युर्धैर्यवृत्तिः । धृष्टादयश्चचत्वारः स्वव्यापारप्रवृत्तिः । - म०म०च०, पृ० ७८-७६

३. युवानुरञ्जनाकारचेष्टा शृंगारनायिका ।
बितनोति मुदं यूनां विलासैःसुन्दरीमणि : । म०म०च०, पृ० ७६

४. मुग्धा तत्र द्विधा ज्ञातयौवनाज्ञातयौवना । द्विधोमेशुद्धविश्रब्धनवोढाभेदतःपुनः।
-म०म०च०, ७६

प्रौढा दो प्रकार की होती है –१. रतिप्रिया तथा २. आनन्दमोहिता[1]।

मध्या और प्रौढा के तीन-तीन भेद और होते हैं –१. धीरा २. अधीरा तथा ३. धीराधीरा। और उन तीनों में प्रत्येक के १. ज्येष्ठा, तथा २. कनिष्ठा दो-दो भेद होते है।[2]

और सामान्या और परकीया दोनों केवल प्रौढ़ा ही होती हैं (अत: उनके मुग्धा, मध्या आदि प्रकार से भेद नहीं किए गये[3])

कृष्ण कवि का कहना है कि स्वाधीनपतिका आदि आठ अवस्थाभेद मुग्धा के नहीं होते। किन्तु कुछ अन्य आचार्यों ने मुग्धा सहित सबके ये आठों भेद माने हैं इसे भी वे ठीक ही मानते हैं।[4]

नायिकाओं के भी गुण के विचार से १. उत्तमा, २. मध्यमा, ३. अधमा यौनिके विचार से १–दिव्या २. अदिव्या तथा ३. दिव्यादिव्या, धैर्यवृत्ति के विचार से १. उद्धता, २. उदात्ता, ३. ललिता तथा ४. शान्ता तथा ५. ~~[illegible]~~ फिर भोज आदि के अनुसार १. अज्ञाता, २. ज्ञाता, ३. यातायाता तथा ४. यायावरा, काम-शास्त्र में कथित जाति के अनुसार १. पद्मिनी, २. चित्रिणी, ३. शंखिनी तथा ४. हस्तिनी तथा प्रकृति के अनुसार –१. कफिनी, २. वातला, तथा पित्तला प्रकार की नायिकायें होती हैं।[5] इन्होंने अभिसारिका के दिवाभिसारिका तथा श्यामाभिसारिका

---

१. प्रौढ़ारतिप्रियानन्दमोहितेतिद्विधामता। म०प्र०च० ८०

२. मध्याप्रौढे पुनस्त्रेधा धीराधीरोभयात्मना।
ज्येष्ठा कनिष्ठाभेदेन त्रिविधेतिपुनर्द्विधा। म०प्र०च०, पृ० ८०

३. सामान्या परकीयेद्वेप्रौढे इत्येवसम्मते –पृ० ८०

४. (क्या कन्या के भी मुग्धा, मध्या भेद नहीं होंगे?)

५. विनामुग्धामष्टविधाअवस्थाभेदतश्चता:। समुग्धाअप्यष्टविधा इत्येता:केचिदूचिरे, पृ०८०

५. गुणातस्तास्त्रिधापि स्युरुत्तमामध्यमाधमा:।
पुनश्चतास्त्रिधाज्ञेयादिव्यादिव्योभयात्मना।
पुनस्त्रियधोद्धतोदात्तालिलताशान्तिकाइति।
अज्ञाताचज्ञातायातायातायायावरेत्यपि।
पुनश्चतुर्धा कथिता पूर्वभोजादिभिर्बुधै:।
पद्मिनी चित्रिणी चैव शंखिनीहस्तिनीति च।
पुनश्चतुर्धा कथिता: कामशास्त्रेषुजातित:।
कफिनी वातलापित्तलाप्रकृत्यापुनस्त्रिधा।। म०प्र०च०, पृ० ८०

और स्यामाभिसारिका ने भी ज्योत्स्नाभिसारिका तथा तमस्विन्याभिसारिका दो भेद अभिसार की वेला के अनुसार किए हैं।[१]

प्रधान नायिका से इतर नायिकायें—

कृष्णाकवि ने भी भोज के अनुसार जैसे नायक, उपनायक, प्रतिनायक तथा अनुनायक चार प्रकार केकहे हैं वैसे ही नायिका के भी १. नायिका २. प्रतिनायिका, ३. उपनायिका तथा ४. अनुनायिका चार प्रकार के हैं। कथाव्यापिनी तो नायिका है, जैसे वेणीसंहार में द्रौपदी, प्रतिनायक की पत्नी प्रतिनायिका है जैसे — वही दुर्योधन की पत्नी भानुमती। नायिका से गुणों में थोड़ा सी ऊन किन्तु पूज्य उपनायिका होती है और उसके बराबर या घटकर अनुनायिका कही गयी है।[२]

शृङ्गाररस का आलम्बन— नायिका—

बड़े साहब अकबर शाह ने शृङ्गाररस के आलम्बनरूप स्त्री को नायिका कहा है[३]। इनका विवेचन रुद्रभट्ट के शृङ्गारतिलक का अनुगामी तथा भानुदत्त - प्रताप-रुद्रीय का तो टीका रूप ही हुआ है। अपने परिणेता में अनुरक्ता को स्वीया कहते हैं।[४]

---

१. म०म०च०, पृ० ८४

२. सा चतुर्धा पुनरपि नायिकाप्रतिनायिका।
उपपूर्वा तथा चानुपूर्विकानायिकेति च।
स्यात्कथाव्यापिनी सर्वगुणयुक्ताचनायिका।
यथा द्रुपदजा प्रोक्ता वेणीसंहारनाटके।
हेतुरीर्ष्यारुधादीनां सपत्नाप्रतिनायिका।
दुर्योधनस्यदयिता तत्र भानुमती यथा।
तस्याः कैश्चिद् गुणैर्हीना पूज्याचैवोपनायिका।
समान्यूनापिवाकिंचित् कीर्त्यस्यनुनायिका। —म०म०च०पृ० ८६

३. शृङ्गाररसालम्बनं स्त्री नायिका —शृ०म०

४. स्वपरिणेतर्यनुरक्ता स्वीया —शृ०म०

रसमंजरी में स्वीया को स्वाभिन्येवानुरक्ता (केवल पति में अनुरक्ता) कहा है। शृ०म० में उसे सदोष बताया गया है। उसमें 'एव' (केवल) पद निष्प्रयोजन है। क्योंकि स्वामिन्यनुरक्ता (पति में अनुरक्ता) इतना ही पर्याप्त है, केवल पति में, कहने की कोई आवश्यकता नहीं। यहां एक सन्देह हो सकता है कि जो पति के साथ उपपति में भी अनुरक्ता है फिर उसे भी स्वीया कहा जायगा। इसका समाधान यह है कि जो उपपति में अनुरक्ता होती है उसका स्वपति में अनुराग होता ही नहीं।[१] अपने इस मत के पोषण में उन्होंने (रसमंजरी के टीकाकार) आमोदकार का उल्लेख किया है। उसमें भी रसमंजरी के 'एव' पद की कटु आलोचना की गयी है। और कहा गया है कि परकीया का स्वपति के साथ जो सम्भोगेच्छा आदि है वह अनुराग नहीं है। वह तो इसलिए कि जिससे पति सन्तुष्ट रहे और उपपति के साथ मिलने वाले रति-सुख में बाधक न बने। उस सम्भोगेच्छा को अनुराग नहीं कहना चाहिए। अनुराग तो एक भाव-बन्धन है, जो परकीया का केवल उपपति के साथ होता है और स्वामी में ही अनुरक्ता का अर्थ यह भी है कि जीवनपर्यन्त स्वामिमात्र में अनुरक्ता। तो परकीया-भेद भी न हो पायेगा — क्योंकि स्वकीया ही तो परकीया बनती है। अत: 'एव' पद व्यर्थप्रयुक्त है, और 'स्वामिन्यनुरक्ता स्वीया' यही लक्षण पर्याप्त है। यहां प्रयुक्त स्वामी पद भी बहुत उचित नहीं, क्योंकि स्वामी का अर्थ सामान्यत: प्रभु (मालिक) होता है केवल पति ही नहीं। अत: यहां 'स्वामी' पद छोड़कर 'परिणेता' पद प्रयुक्त करना चाहिए। और 'स्वपरिणेतर्यनुरक्ता स्वीया' यह लक्षण करना चाहिए। यदि स्वीया जीवन भर पति में ही अनुरक्त रही तो वह पतिव्रता कहलाती है। (अन्यथा वह परकीया भी हो सकती है।) स्वीया के भेद करते समय प्राय: आचार्यों ने लज्जा और मदन भाव के परस्पर औसत का ही ध्यान रक्खा है। मुग्धा में लज्जा अधिक मदनभाव कम, मध्या में दोनों समान तथा प्रगल्भा में लज्जा कम मदन भाव अधिक होता है।

स्वीया-मुग्धा— स्वीया के तीन भेद होते हैं। १. मुग्धा, २. मध्या तथा ३. प्रगल्भा। रसमञ्जरीकार ने मुग्धा का लक्षण बताया है — जिसमें यौवन अंकुरित हुआ हो।[२]

---

१. नन्वेवकारो यदि न दीयते तर्ह्यन्यत्रानुरागवत्यामपि पत्यावनुरागिण्यां परकीयायामतिव्याप्ति:स्यादितिचेद् न, परकीयाया अनुराग उपपतावेव, न पत्यौ। शृ०म०

२. अङ्कुरितयौवना मुग्धा।.

किन्तु इसमें अति-व्याप्ति-दोष की आशंका होती है, क्योंकि परकीया तथा सामान्या में भी यह लक्षण लागू होता है। शृंगारमंजरी का मत है कि नायिकाओं के भेदनिरूपण में उनका स्वरूप निर्धारित करने के लिए गुण या धर्म ही प्रधान तत्त्व माना जाता है, अवस्था नहीं।[१]

इसी प्रकार प्रतापरुद्रीयकार ने मुग्धा का लक्षण किया है — जिसकी लज्जाभावना ने उसकी मन्मथ-भावना को दबा दिया हो।[२] किन्तु इस लक्षण में भी अतिव्याप्ति दोष है, क्योंकि यह भी अज्ञातयौवना में पाया जाता है। अत: यह साधु नहीं है।

अत: 'मुग्धा वह नायिका है जिसने किसी पुरुषविशेष को (नायक रूप में) नहीं जाना है'।[३]

मुग्धा के भी दो रूप होते हैं —१. अज्ञातयौवना तथा २. ज्ञातयौवना। जिसे अपने यौवनागम का ~~पूर्ण~~ चेतना न ~~पथ्य~~ वह अज्ञात यौवना कहलाती है।[४] और जिसे अपने यौवनागम का पूरा चेत हो वह ज्ञात यौवना कहलाती है।[५]

फिर ज्ञातयौवना के दो भेद होते हैं —नवोढा तथा २. विस्रब्धनवोढा। नवोढ़ा की रति लज्जा और भय से आक्रान्त होती है।[६] और विस्रब्धनवोढ़ा विश्वास बढ़ जाने से पति के लालन (फुसलाने) में प्रतीति कर लेती है।[७]

---

१. अस्मिन्ग्रन्थे नायिकाभेदे लक्षणानां निर्णये गुणएव कारणं न वय: शृ०म०,पृ० ३
२. लज्जाविजितमन्मथा १।५५
३. पुरुषविशेषानभिज्ञा मुग्धा , शृ०म० पृ० ४
४. स्वकीययौवनोत्पत्तिं या न जानाति सा अज्ञातयौवना —शृ०म०, पृ० ४
५. स्वयौवनोत्पत्ति याजानाति सा ज्ञातयौवना—पृ० ४
६. लज्जाभयपराधीनरति: — पृ०४
७. विश्वासाधिक्येपत्युर्लालिने या प्रत्येति सा विस्रब्धनवोढा —पृ० ४)

नवोढ़ा केवल मुग्धा का भेद—

रसमञ्जरीकार ने मध्या का एक भेद अतिविस्रब्धनवोढ़ा किया है। शृङ्गार मञ्जरीकार उसे संगत नहीं मानते, क्योंकि नवोढात्व केवल मुग्धा में होता है तथा अति विस्रब्धत्व केवल प्रगल्भा में होता है। मध्या में ये दोनों धर्म नहीं होते। अतः मध्या अतिविस्रब्धनवोढा कैसे होगी।[१] और यदि ऐसा माना जाय कि जिसका प्रिय के साथ प्रथम बार मिलन (संभोग) होता है वह नवोढ़ा है, और इस नियम के अनुसार यदि मुग्धा का प्रथम मिलन होता है तो वह अतिविस्रब्धनवोढा कही जायगी। तो इस नियम के अनुसार अति प्रौढ़ वयवाली प्रथम मिलन में राजकन्यायें आदि नवोढ़ा ही कही जायेंगी (क्यों कि वे प्रगल्भा ही होती हैं), और गणिका भी प्रथम मिलन के समय नवोढा ही होगी।[२]

मध्यानिरूपण

अतः शृंगारमञ्जरीकार मध्या का लक्षण देते हैं — जिस स्वीया नायिका में लज्जा और मदन के भाव सम कोटि के हों वह मध्या कही जाती है।[३] उसके दो प्रकार मिलते हैं — १. प्रच्छन्न-मध्या तथा २. प्रकाशमध्या।[४] जिसके लज्जा और मदन की समता को केवल उसका पति ही जानता है वह प्रच्छन्न मध्या है।[५] और प्रकाशमध्या वह है जिसकी लज्जा तथा अनुराग (मदन) की समता को सखियां आदि सब जानती हैं[६]।

प्रगल्भानिरूपण—

प्रगल्भा का लक्षण रसमंजरी में इस प्रकार दिया गया है — केवल पति के साथ केलिकलाप में कोविद प्रगल्भा कहलाती है।[७] इस लक्षण में पतिमात्र पद नहीं

---

१. नवोढात्वं मुग्धायामेव अतिविस्रम्भश्च प्रगल्भायामेव। तदुभयमपि मध्यायां नास्तीति मध्या अतिविस्रब्धनवोढा कथंभवेत। — शृ०म०, पृ० ४

२. ननु प्रथम संभोगो मुग्धायाश्चेत् नवोढा, मध्यायाश्चेत् अतिविस्रब्धनवोढाइति चेन्न एवं सति अतिप्रौढवयस्का अपि राजकन्या नवोढा : स्युः गणिकाश्च प्रथमसुरतानवोढाः स्युः। — शृ०म०, पृ० ४

३. समानलज्जा मदना — शृ०म०, पृ० ४

४. सा द्विविधा-प्रच्छन्नमध्याप्रकाशमध्या च — शृ०म०, पृ० ४

५. यस्या लज्जा-मनोज-साम्यं पतिरेवजानाति, शृ०म०,पृ० ५

६. यस्या लज्जानुरागसाम्यं सख्यादिभिर्ज्ञायते। शृ०म० ४ (शेष अगले पृष्ठ पर)

रखना चाहिए। क्योंकि फिर परकीया और सामान्या को प्रगल्भा नहीं कहा जायगा। और यह भी नहीं कह सकते कि वे दोनों प्रगल्भा ही नहीं होतीं, क्योंकि मुग्धा व मध्या तो वे हो नहीं सकतीं, अत: उनका केवल प्रगल्भा ही रूप तो माना जायगा[१]। इसलिए रसमञ्जरीकार का लक्षण स्वीया प्रगल्भा के पक्ष में तो ठीक हो सकता है, किन्तु साधारण प्रगल्भा के पक्ष में नहीं। यहाँ आमोदकार का यह लक्षण अधिक संगत एवं मान्य है — जिसकी लज्जा को मदन-भाव दबा रक्खे उसे प्रगल्भा कहते हैं। आमोद में प्रगल्भा का लक्षण इस प्रकार किया गया है — 'मदनविगलितलज्जा त्वं सम्पूर्णार्थावर्तित्वं वा तल्लक्षणम्।[२] यही लक्षण शृंगारमंजरीकार को भी स्वीकृत है। और स्वीया प्रगल्भा का लक्षण होगा — जो पति का प्रेम से लालन-पालन करे उसे प्रगल्भा कहते हैं।[३] प्रगल्भा दो प्रकार की होती है — १. रतिप्रीतिमती तथा २. रत्यानन्दपरवशा। जो बार-बार पतिसंगम का अभिलाष करे उसे रतिप्रीतिमती कहते हैं तथा जो संगम में संतुष्ट हो वह रत्यानन्दपरवशा है।

मध्या तथा प्रगल्भा के धीरा आदि भेद—

मध्या और प्रगल्भा के तीन—धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा —भेद होते हैं। प्राचीन आचार्यों ने ये धीरादि भेद स्वीया के ही माने हैं, परकीया और सामान्या के नहीं। रसमंजरीकार का तो मत है कि चूंकि ये धीरादि भेद कोपजन्य होते हैं, और जब कि परकीया तथा सामान्या में भी कोप होता ही है, तो ये भेद उनके भी क्यों न होंगे।[४] किन्तु आमोदकार का मत इससे पृथक् है। परकीया का अनुराग छिपा होता

पिछले पृष्ठ का शेष—

७. पतिमात्रविषयककेलीकलापकोविदाप्रगल्भा ।

---

१. तयोर्मुग्धात्वमध्यात्वे विना प्रागल्भ्यानुभवस्य दुरपलापत्वात्। —शृं०मं०, पृ० ५

२. पृ० ६०

३. पतिं प्रेम्णा या लालयति सा प्रगल्भा ।

४. एतेषां भेदानां कोपजन्यत्वात् कोप: परकीयासामान्ययोर्वर्तत इति, धीरादिभेदा: कथं न भवन्तीति ।

—शृं०मं०, पृ० ६

है प्रकट नहीं । यधपि उस अनुराग में भी कोप होता है, किन्तु जब लोकापवाद के भय से वह अनुराग ही छिपाया जाता है तो तज्जन्य कोप भला कैसे प्रकट हो पायेगा । अथवा परकीया तथा उसके यार (जार) का संगम ही कठिनाई से हो पाता है । फिर जब संगम हुआ तो वह तो यही समझती है कि मुझे प्रिय संगम रूप बड़ी दुर्लभवस्तु प्राप्त हुई, और कोप होगा ही नहीं ।[१] अत: परकीया के ये भेद नहीं होते हैं । इस विषय में शृ०म०कार का अपना विचार कुछ इस प्रकार है -- परकीया दो प्रकार की होती है -- १. उद्बुद्धा तथा , २ उद्बोधिता । प्रथमत: स्वयम् अनुराग प्रारम्भ करने वाली उद्बुद्धा कहलाती है तथा नायक से प्रेरित होकर अनुराग युक्त होने वाली उद्बोधिता । ये दोनों अनुरागवती होती हैं । और जिसके प्रति ईर्ष्या होती है उसके प्रति मदन (अनुराग) भी होता है इस सिद्धान्त के अनुसार यदि उनमें अनुराग (मदन) है तो कोप, ईर्ष्या की भी सम्भावनापूर्ण है । और अतएव कोपजन्य ये धीरादिभेद स्वभावत: हो जायेंगे । आमोद-कार का मत तो स्वयम् अनुराग करने वाली उद्बुद्धा के विषय में सहीमाना जा सकता है, वह कोप नहीं कर सकती, किन्तु नायक से प्रेरणा पाकर अनुराग करने वाली उद्बोधिता के विषय में ठीक नहीं -- क्योंकि वह तो कोप करसकती है, दो चार वक्रोक्तियां तो सुना सकती है -- खुल कर नहीं, एकान्त में ही सही । परकीया का तो संगम ही एकान्त में होता है । अत: एकान्त के आधार पर परकीया के वक्रोक्ति-तर्जन और अतएव धीरा आदि भेद संभव हो जाते हैं । और, आमोदकार ने ही परकीया के पतिवंचिका तथा साहसिका इन दो भेदों की कल्पना की है । यदि उसमें वञ्चन और साहस है तो कोप के होने में क्या आश्चर्य है ? और फिर सामान्याओं तक के भी तो धीरा आदि भेद होते हैं फिर परकीया को तो होने ही चाहिए । आमोदकार तथा अन्य प्राचीनों ने भी इसे माना ही है । और फिर यह तो अनुभव की बात है कि वक्रोक्ति आदि को सुनाने से रति के प्रति उदासीन भाव तो उनका हो ही जायगा अत: उनके ये धीरा आदि भेद माने ही जाने चाहिए ।

---

१. आमोदकारा: परकीयानुरागस्याप्रकटत्वात् तादृगनुरागस्य कोपजनकत्वे पि परकीयायां स्वानुराग: प्रच्छाद्यते इति तद्भव: कोपो पि परापवाद भयेन प्रच्छाद्यत इति परकीया-जारयो: संगमस्य दुर्लभत्वात् संगमसमये अतिदुर्लभ: प्रियसंगमएव मे लाभ इति कोप एव न जायते इतिहेतोर्वा परकीयायां नैतेभेदाभवन्तीत्याहु: -- शृ०पृ० ६.

परकीयानिरूपण-

शृङ्गारमञ्जरी में परकीया के लक्षण का बड़े विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। रसमंजरीकार ने परकीया लक्षण किया है - जिसका परपुरुषानुराग प्रकट न हो (अप्रकटपरपुरुषानुरागा परकीयेति)। किन्तु शृङ्गारमंजरीकार का कहना है कि यह ठीक लक्षण नहीं है, क्योंकि परकीया के 'लक्षिता' तथा 'कुलटा' भेदों में, जिनका अनुराग सखियाँ तथा अन्य लोग जान लेते हैं, यह लक्षण लागू न होगा अतः अव्याप्ति दोष से दूषित होगा [१] - कुछ लोगों ने इस 'अप्रकट' पद का केवल पति को प्रकट न हो। किन्तु वह भी संगत नहीं, क्योंकि जिसके परपुरुषानुराग को जानते हुए भी पति प्रेम के कारण फिर भी उसे नहीं त्यागता, वह परकीया तो फिर इस लक्षण से बाहर हो जायगी।[२] यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि यह तो परपुरुषानुरागिणी है, पति इसे केवल अपनी ओर से अपनाये हुए हैं। अतः पति का उसके प्रति यह अनुराग (अनुभयनिष्ठ होने के कारण) रसाभास ही कहलायेगा, और उसका आलम्बनविभाव होने के कारण वह नायिकाभास तथा परकीयाभास होगी।[३] किन्तु इसका समाधान यह है कि वह तो इसीलिए परकीया कही जाती है क्योंकि उपपति में उसका गाढ़ अनुराग है। वस्तुतस्तु उसका पति ही पत्याभास है, वह तो परकीया वास्तविक रूप से है, परकीयाभास नहीं।[४] जो पति के समक्ष ही पतिवंचना करती है उसे परकीयाभास तो नहीं कहा जाता, तो फिर इसे क्यों परकीयाभास कहा जायगा।[५]

---

१. लक्षिता-कुलटयो रनुरागस्य सख्यादिषु इतरेषु च प्रकटत्वादव्याप्तेः - शृ०मं०

२. पत्यापि ज्ञातपरपुरुषानुरागा प्रेमातिशयेन तेन चापरित्यक्ता या सुन्दरी तस्या- मव्याप्तेः — शृ०मं०

३. नन्वियंपरपुरुषानुरागिणीपत्या सङ्गृहीतेत्येतदनुरागस्य रसाभासत्वादालम्बन विभावस्य नायिकाभासत्वाच्च परकीयाभासत्वं भवितु मर्हतीति चेत्। शृ०मं०

४. इयमुपपतौ गाढ़ानुरागवती परकीया भवत्येव। पतिरेतादृशीं सङ्गृहीतवान् इति स एव पत्याभासो भवितुमर्हति न तु सा परकीयाभासः। -- शृ०मं०

५. या पतिवंचिका पत्युः समक्षमेव पतिवंचनांकरोति सा परकीयाभासो न भवति, इयमेव कथं परकीयाभासः — शृ०मं०

नागोदकार ने उस परकीयालक्षण का समर्थन इस प्रकार किया है कि 'अप्रकट पर-पुरुषानुराग के अत्यन्त अभाव का अधिकरण न होना परकीया लक्षण है'[१]। इसका आशय यह है कि जिस क्षण युवती में उपपति के प्रति प्रेम भाव का उदय होता है, उसे समय तो कोई दूसरा जानता नहीं, अतः उसमें अप्रकट परपुरुषानुराग का अत्यन्ताभाव तो न हुआ। क्षणमात्र भी यदि उसका अनुराग अप्रकट रूप में रहा तो उतना पर्याप्त है —उसका अत्यन्ताभाव तो न कहा जायगा किन्तु परकीया को जो परगुण-श्रवण से अनुराग उत्पन्न होता है, उसमें अप्रकटपरपुरुषानुराग का अन्यन्ताभाव ही है क्योंकि नायक के सौन्दर्यादि गुणों को सुनने की ही वेला से उसकी चेष्टा सखियों को तो प्रकट ही हो जाती है और फिर, क्षण भर को भी अनुराग का प्रकट न होगा, यह लक्षण करना ही उपहासास्पद है, क्योंकि जब तक उसके परपुरुषानुराग का प्रकटीकरण न होगा तब तक उसे कोई परकीया कहेगा भी कैसे। जो पर से अनुराग करती है उसी को तो परकीया कहा जाता है। जब वह अनुराग ही छिपा है तो फिर लोग जानेंगे कैसे कि यह अन्य पुरुष से अनुराग करती है —तब तो वह स्वीया अपने परणेता की ही है। अतः परकीया के लक्षण में, 'अप्रकट' सर्वथा असंगत अथवा व्यर्थ है।

अतः शृङ्गारमञ्जरीकार परकीया का अपना लक्षण कहते हैं — जो पर पुरुष में अनुरक्ता हो उसे परकीया कहते हैं।[२] यहां एक प्रश्न उठता है कि फिर अप्रकट पद न रखने पर परकीया और सामान्या में क्या अन्तर रह जायगा ? उसका समाधान यह है कि सामान्या को तो कोई स्व कोई पर ऐसा विचार ही नहीं होता। अतः उनके भेद के लिए तो परकीया के विषय में प्रयुक्त 'स्व' 'पर' शब्द ही पर्याप्त होंगे। परकीया के कन्यका भेद में यह लक्षण इस प्रकार लागू होगा कि कन्या अपने मातापिता के अधीन होती है —कन्यका के जिस अनुरागपात्र को वे भी स्वीकार कर लेंगे वह तो उसका पति होगा, और अन्य अनुराग-पात्र पर पुरुष' अथवा (उपपति) कहलायेगा। अन्य कोई भी परकीया स्वीया नहीं बनेगी —परकीया ही रहेगी —

---

१. अप्रकटपरपुरुषानुरागात्यन्ताभावानधिकरणत्वं परकीयात्वम्

२. परपुरुषानुरक्तापरकीया।

किन्तु कन्यका जिससे अनुराग करती है, यदि उसके माता-पिता ने उसी को दे दिया तो वह उसकी स्वीया हो जायगी जैसे 'यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा' आदि पद्यों में वर्णित है।

परकीयाभेदनिरूपण-

परकीया दो प्रकार की प्रसिद्ध ही हैं -१. कन्या तथा २. परोढा। अब तक आचार्यों ने कन्या के अतिरिक्त परकीया के सभी भेदों को परोढा में ही अन्तर्भुक्त किया था। शृ०म० कार ने अपनी ओर से मौलिक रूप में परकीया के १. उद्बुद्धा तथा, २. उद्बोधिता -इन दो भेदों की कल्पना की है।[1] उनका विवेचन कुछ इस प्रकार हुआ है -'पहिले परकीया के दो भेद -१. कन्या तथा २. परोढा। फिर परोढा दो प्रकार की-१. उद्बुद्धा तथा २. उद्बोधिता। उद्बोधिता भी तीन प्रकार - १. धीरा, २. अधीरा तथा ३. धीराधीरा। उद्बुद्धा के भी तीन प्रकार-१. गुप्ता, २. निपुणा तथा ३. लक्षिता। १. गुप्ता भी तीन प्रकार की १. वृत्त-सुरत-गोपना २. वर्तिष्यमाणसुरतगोपना तथा ३. वृत्तवर्तिष्यमाणसुरतगोपना। निपुणा के भी तीन प्रकार १. वाङ्निपुणा, २. क्रियानिपुणा तथा ३. पतिवंचनानिपुणा। लक्षिता भी चार प्रकार की होती है -१. कुलटा, २. मुदिता, ३. अनुशयाना तथा ४. साहसिका। अनुशयाना के भी तीन प्रकार -१. विघटितसंकेता २. अप्राप्तभाविसंकेता तथा ३. शंकितसंकेतागमना। इस प्रकार सब मुख्य अवान्तर भेद मिल कर संख्या में पच्चीस होते हैं।[2] परकीया का इतने विस्तार से विवेचन करना शृ०मं० की अपनी मौलिक उद्भावना है। इनके लक्षण तो प्रायः उन पद्यों से स्पष्ट हो जाते हैं, फिर भी शृ०म० कार ने उन्हें इस प्रकार विवेचित किया है -'उद्बोधिता वह है जो नायक द्वारा किसी प्रकार प्रेरणा (इशारा) पाकर अनुराग करती है।[3]

---

१. प्राचीनग्रन्थावर्णितम् उद्बुद्धा उद्बोधिता इति भेदद्वयं कल्पितमस्माभिः -शृ०म०

२. एवं मुख्यावान्तरभेदाश्च पंचविंशति संख्याका भवन्ति -शृ०म०

३. केनचित् प्रकारेण नायकप्रेरितानुरागवती -शृ०म०)

जो नायक के सौन्दर्य को देखकर स्वयम् अनुरागिणी हो जाय वह उद्बुद्धा कहलाती है[1]--

जो अपने (सुरत) कार्य को छिपाने वाली हो उसे गुप्ता कहते हैं —(स्वकार्य-गोपनशीला) ।

निपुणा वह है जो जारिणी होने में बड़ी कुशल हो --इसी को स्वयंदूती भी कहते हैं ।[2]

आमोदकार ने उसे चतुरा कहा है ।[3]

वाङ्०निपुणा वह है जो अपनी सुरतेच्छा को अपने वाक्चातुर्य से ज्ञापित करती है —(सुरतेच्छा वक्चातुर्येण या ज्ञापयति) जो क्रियाओं अथवा चेष्टाओं से अपनी सुरतेच्छा को प्रकट करती है वह क्रियानिपुणा है ।[4] और पतिवंचना निपुणा वह है जो पति के देखते देखते अथवा पति का अनादर कर उपपति के साथ सम्भोग कर लेती है[5]।

जिसके उपपति उपभोग को सखियाँ जानती हों वह लक्षिता है ।[6] प्रच्छन्न-लक्षिता वह है जिसके परपुरुषानुराग को सखियाँ आदि अपनी बुद्धि से विचारकर ताड़ लेती हैं ।[7] और जिसकी कटाक्ष आदि चेष्टाओं द्वारा लोगों लोगों को उसके उपपति --अनुराग का स्फुट ज्ञान हो जाय उसे प्रकाशलक्षिता कहते हैं ।[8] इसमें कुलटा वह है कि जो उपपति के घरों को जाया करे (जारकुलाटनशीला) । जो अपने इष्ट को पाकर हर्षित होती है उसे मुदिता कहते हैं ।[9]

---

१. नायकसौन्दर्यंदृष्ट्वास्वयमेवानुरागिणी । शृ०म०

२. जारिणीवर्तनचतुरानिपुणा । सैव स्वयंदूती ।

३. पुंश्चलीभावे चतुरा विदग्धा । एषैव स्वयंदूती त्युच्यते —आमोद~~कार ने उसे चतुरा~~
पृ० १७४, आड्यार पाण्डुलिपि:)

४. सुरतेच्छा वक्चातुर्येण या ज्ञापयति ।

५. पश्यत्यैव पत्यौ जारसम्भोगकारिणी —शृ०म०पृ० १०

६. सख्यादिज्ञातजारसम्भोगा लक्षिता ।

७. सख्यादिभि:स्वबुद्ध्या आलोच्य परपुरुषानुरागिणी या बुद्ध्यते —शृ०म०, पृ० ११

८. कटाक्षादिचेष्टाभिर्लोकै: स्फुटविज्ञायमानजारानुरागा ।

९. इष्टप्राप्त्या या हर्षं प्राप्नोति ।

इसी प्रकार लक्षिता का एक भेद अनुशयाना होता है, जिसका लक्षण है संकेत की सम्प्राप्ति के अभाव से जो व्याकुल हो[1]– शृं०मं० कार का कहना है कि इसके बहुत से भेद कल्पित किये जा सकते हैं। रस-मंजरी में तीन भेद कहे गए हैं । इस विषय में आमोदकार प्रौढचिन्तक हैं। उन्होंने बहुतर भेद किये हैं। शृं०मं०कार ने ग्रन्थ-विस्तार के भय से तीन ही भेद किये। प्राचीन काल के किसी भी लक्षण ग्रन्थों में तो अनुशयाना के तीन भेदों का भी नाम नहीं है। इसके तीन भेद इस प्रकार हैं १. विघटित-संकेता, २. अप्राप्तभाविसङ्केता तथा ३. स्वकृतसङ्केतस्थानागमना। इनके लक्षण प्राय: इनके नाम के पदों से स्पष्ट हो जाते हैं।

साहसिका नायिका वह है जो साहस के साथ परपुरुषसम्भोग करे।[2]

सामान्यानिरूपण–

सामान्या के विवेचन में भी शृङ्गारमञ्जरीकार ने पर्याप्त विस्तार एवं मौलिकता दिखाई है। रसमञ्जरीकार ने केवल वित्त के लिए जो सभी पुरुषों से अनुराग करे उसे सामान्या कहा है। शृं०मं० में उस लक्षण को सदोष (असंभवदोषयुक्त) माना है क्योंकि जो अनुराग वित्त के लिए किया जाता है वह वस्तुत: अनुराग ही नहीं है, और अनुराग तो एक ही से किया जा सकता है, बहुतों के साथ जो मन का लगाव होता है वह अनुराग नहीं, अनुरागाभास है। अत: ऐसा लक्षण करने पर (अर्थात् उसे अनुरागाभास या रत्याभास का आश्रय बनाने पर) तो सामान्या को नायिका कोटि से ही पृथक् करना पड़ेगा।[3]

---

१. संकेतसंप्राप्त्यभावेनव्याकुला

२. साहसकृतजारसंभोगा

३. रसमञ्जरीकार : वित्तमात्रोपाधिकसकलपुरुषानुरागा सामान्येतिलक्षणमाह। तदसत् वित्तोपाधिकत्वात्तस्या अनुराग एव नास्ति। तथा च लक्षणस्यासमन्वय इत्यसंभव: अन्यच्च, अनुरागस्त्वेकत्रैव, बहुपुरुषेषु यो मनस्सङ्गःसो नुराग एव न भवति, किन्तु अनुरागाभास:। एतादृशे लक्षणे क्रियमाणे सामान्या नायिकैव न भवति।

कुछ लोगों ने इच्छा को ही अनुराग माना है। और वेश्या में भी वित्त के लिए पुरुषेच्छारूप अनुराग तो रहता ही है, अतः वह क्यों न नायिका होगी ? किन्तु शृ०म०कार का कहना है कि यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अनुराग तो केवल वह इच्छा कहलाती है जो स्त्री-पुरुष की सौन्दर्य आदि गुणों को देखकर परस्पर रति इच्छा रूप में उत्पन्न होती है। शृङ्गारग्रन्थों में इसी इच्छा को अनुराग कहा गया है, दूसरी किसी को नहीं ।[1] बन्धु-पुत्र आदि के विषय में जो इच्छा होती है उसे ममता कहते हैं, गुरुओं के विषय में जो इच्छा होती है उसे भक्ति कहते हैं। इसी प्रकार इच्छा को अनेक नाम दिये जाते हैं। अब इच्छा मात्र को ही यदि अनुराग कहते हैं तो सभी स्वीया नायिकायें परकीया कही जानी चाहिए क्योंकि उनकी भी तो विविध इच्छाएं होती है।[2]

आमोदकार का मत है कि सामान्या जितने समय किसी एक में अनुरक्त रहती है, उतने समय तक दूसरे से अनुराग नहीं करती, अतः उसके अनुराग को रसाभास न समझना चाहिए ।[3] शृ०म० कार इसका भी प्रतिवाद करते हैं --उनका कहना है कि अनुराग तो वह है जिसके (एक के पास) रहने पर दूसरे के प्रति इच्छा ही नहीं होती अन्यथा तो उसे अनुराग ही नहीं कहेंगे।

अनेक पुरुषों के प्रति जो हो वह कैसा अनुराग ? अब प्रश्न उठता है कि (यदि अनेक पुरुषानुराग को रसाभास ही माना जाता है तो) फिर बहुपुरुषानुरक्त कुलटा के अनुराग को रसाभास क्यों नहीं माना जाता ? इसका समाधान केवल यह है कि उस कुलटा का अनुराग तो जो उसके साथ गाढरति वाला होता है उसीके

---

१. केचिदिच्छैवानुराग इति वित्तनिमित्तपुरुषेच्छारूपानुरागस्यविद्यमानत्वात् कथं न नायिका भवेदित्याहुः। तदप्यसत्। इच्छाया बहुविधत्वे पि सौन्दर्यादिगुणं दृष्ट्वा स्त्रीपुरुषयोः परस्परं रतीच्छैवानुरागो भवति। शृंगारग्रन्थाष्वियमेवेच्छा अनुरागत्वेनोच्यते नान्या।

२. बन्धुपुत्रादिषु येच्छा सा ममतोच्यते, गुरुषु येच्छा सा भक्तिरित्युच्यते, एवमिच्छा नानानामानि लभते। इच्छामात्रमनुरागश्चेत सर्वा अपि स्वीयाः परकीयाः स्युः तासामपि नानाविधेच्छायाविद्यमानत्वात्। शृ०म० : ।

३. वित्ताद्युपाधिना सर्वसाधारण्या अपि यावत् कालम् एकस्मिन् पुरुषे नुराग स्तावत् कालं नान्यत्रेति बहुसक्तिकृतो पि न रसाभासः - ।

— आमोद, आड्यार पाण्डुलिपि, पृ० २३१

के प्रति होना है। उस प्रकार के पुरुष की खोज में ही उसका अनेकों के साथ संगम होता है — इसका उदाहरण स्वयं आमोदकार का ही यह श्लोक है —

गतिसुजातसवर्णसुवान: परीक्षिताहि भवा
हृदयानुरंजनविधौ मधुरिपुणा कस्साभवेत् ।

इसी प्रकार : सामान्या का भी अनुराग एक ही से होता है उसका अनेक पुरुषों के साथ सङ्गम तो जीविका के लिए होता है। इस तथ्य की पुष्टि उस प्राचीन आन्ध्रभाषा की कविता से भी होता है, जिसका यह अर्थ है — सामान्या का अनुराग कहीं नहीं होता यह तो न समझने वाला कहता है। वह अनुराग सत्य रूप से किसी के प्रति गुप्त रूपमें रहता है। दिखावटी कपट अनुराग तो बहुतों के प्रति रहता है।[१]

शृ०म० में सामान्या का विवेचन कुछ अधिक विस्तार के साथ किया गया है। रसमंजरी कार के लक्षण की कटु आलोचना करते हुए वे कहते हैं — 'केवल वित्त के लिए सभी पुरुषों से अनुराग करने वाली सामान्या[२] होती है उनका यह लक्षण ठीक नहीं, क्योंकि जो अनुराग वित्त के लिए होगा वह अनुराग ही नहीं कहा जायगा[३]। और फिर, अनुराग तो ऐसा भाव है जो एक ही में होता,है, वह अनुराग तो है नहीं, हां अनुरागाभास अवश्य कहा जा सकता है और ऐसा लक्षण करने पर अर्थात् जिसमें अनुराग ही नहीं, उस सामान्या को काव्यशास्त्र में नायिका रूप माना ही न जायगा। कुछ आचार्यों ने इच्छा को ही अनुराग मान लिया है और सामान्या में, वित्त के निमित्त ही सही, पुरुषेच्छा तो रहती ही है, अत: अनुराग ही माना जायगा, और इस प्रकार सामान्या के नायिकात्व को अक्षुण्ण माना है।[४] किन्तु शृ०म०कार ने उसे भी ठीक नहीं कहा है। इनका मत है कि इच्छायें तो अनेक प्रकार की होती हैं किन्तु उनमें सभी को अनुराग नहीं कहते। अनुराग तो केवल स्त्री-पुरुष

---

१. सामान्याप्येकत्रैवानुरागिणी बहुपुरुषसङ्गमो वृत्यर्थः। प्राचीनान्ध्रभाषोदाहरणादप्ययमर्थः सिद्धः तस्यार्थो लिख्यते —सामान्यायाः क्वाप्यनुरागो नास्तीत्यज्ञोक्तिः। कुत्रचिद्वर्तते सत्या को गुप्त:। कपटानुरागस्तुबहुस्थलेषु इति रसमजरीकारोक्तलक्षणम युक्तमिति।

२. वित्तमात्रोपाधिकसकलपुरुषानुरागा सामान्या — शृ०म०

३. वित्तोपाधिकत्वात्तस्या अनुरागएवनास्ति। — शृ०म०।

४. केचिदिच्छैवानुराग इति वित्तनिमित्तक पुरुषेच्छारूपानुरागस्य विद्यमानत्वात् कथं न नायिका भवेदित्याहुः। — शृ०म०

की, परस्पर के सौन्दर्य आदि गुणों को देख कर उत्पन्न हुई रतीच्छा को कहते हैं। यही शृंगारग्रन्थों की मान्यता है।[१] आमोदमें भी यही मत इन शब्दों में कहा गया है।[२] बन्धु पुत्र आदि के प्रति जो इच्छा होती है उसे ममता कहते हैं, गुरुजनों के प्रति जो इच्छा होती है उसे भक्ति कहते हैं। इसी प्रकार इच्छा के अनेक नाम होते हैं[३]। और यदि सभी प्रकार की इच्छाओं को अनुराग कहा जाय तो सभी स्वीया नायिकाएं परकीया हो जायंगी -क्यों कि उनकी भी तो अनेक प्रकार की इच्छायें (अनेक प्रकार के लोगों के साथ) होती है[४]।

आमोदकार ने सामान्या के अनुराग को वास्तविक अनुराग इसलिए माना है कि सामान्या जितने समय तक जिससे संगत रहती है उतने समय तक केवल उसी से अनुराग करती है। अतः उसके अनुराग को रसाभास नहीं कहना चाहिये[५]। किन्तु शृ०म० में इसे भी ठीक नहीं माना गया है क्योंकि अनुराग तो वह है जिसके किसी के प्रति रहने पर फिर दूसरे के प्रति वह इच्छा ही न उत्पन्न हो, नहीं तो वह अनुराग ही नहीं है। जो अनेकों में है वह अनुराग ही क्या[६] ?

यहाँ एक शंका उठ सकती है कि इस प्रकार तो अनेक पुरुषों में अनुरक्त रहने वाली कुलटा (परकीया) का अनुराग फिर रसाभास माना जाना चाहिए। किन्तु इसका समाधान यह है कि उसका गाढ़रति करने वाले में तो अनुराग रहता ही है, और उस प्रकार के पुरुष को पाने के लिए ही वह अनेकों के साथ संगम करती है[७]।

---

१. इच्छाया बहुविधत्वे पि सौन्दर्यादिगुणं दृष्ट्वास्त्रीपुरुषयोः परस्परं रतीच्छैवा- नुरागो भवति। शृंगारग्रन्थष्विययमेवेच्छा अनुरागत्वेनोच्यते। -नान्या। शृ०म०

२. अत्र सुरतानुकूलस्यैवानुरागस्य विवक्षित त्वादिति -श्रृंगार, पा०लि०, पृ० ३५

३. बन्धुपुत्रादिष्वयेच्छा सा ममतोच्यते, गुरुष्वयेच्छा सा भक्ति रित्युच्यते, एवमिच्छा नानानामानिलभते।

४. इच्छामात्रमनुरागश्चेत् सर्वाअपि स्वीयाः परकीयाः स्युः तासामपिनानाविधेच्छा- विद्यमानत्वात् -शृ०म०

५. आमोदकारः:सामान्याप्रत्येकं यावत् कालपर्यन्तं येन सह०तता तावत्कालपर्यन्तं तस्मिन्नेवानुरागवती तस्यां न रसाभास इति। शृ०म०

६. यस्मिन् सत्यपरस्मिन्निच्छैव चेन्न, सो नुरागः। अन्यथानानुरागः। अनेकेषु पुरुषेषु यः स किमनुरागः ? — शृ०म०

(शेष अगले पृष्ठ पर

अत: यही मानना चाहिए कि सामान्या का भी अनुराग तो एक के ही साथ रहता है, अनेक के साथ सङ्गम अपनी वृत्ति या जीविका चलाने के लिए होता है।[१]

शृं०म० में सामान्या को आमोदकार की भांति नायिका की एक जाति नहीं मानी है। आमोदकार ने अपने मूल ग्रन्थ के वित्त मात्र के लिए अनुराग वाले सामान्या के लक्षण में वित्तमात्र यह पद केवल मानवी वेश्याओं के लिए तो सही माना है, किन्तु देव-वेश्याओं को तो वित्त की कोई इच्छा ही नहीं। अत: वेश्या एक जाति ही मानी जानी चाहिए। और यही लक्षण स्ववेंश्याओं में भी चरिताथे होगा[२]। शृं०म०कार ने उसे युक्तियुक्त नहीं माना है क्योंकि तीन प्रकार की शृङ्गारनायिकाओं में स्वकीया और परकीया में तो गुण या धर्म में भेद के कारण भेद माना गया और सामान्या में जाति के कारण मानना क्रमभंग हो जायगा। यदि जाति की दृष्टि से नायिका भेद किया जाय तो दिव्य अदिव्य, तथा दिव्यादिव्य भेदों के द्वारा नायिका के अनंत भेद होंगे[३]।

आमोदकार ने रसमञ्जरीकार के सामान्यालक्षण (वित्तमात्रोपाधिकसकलपुरुषानुरागवती सामान्या) में 'मात्र' पद का यह प्रयोजन बताया है कि जो सकलपुरुषानुराग करने वाली परकीया भी यदि (गुण का लोभन कर केवल) वित्त ग्रहण करता है तो वह भी सामान्या ही कही जावगी।[४] किन्तु शृं०म०कार ने उसे ठीक नहीं कहा है, क्योंकि परकीया के संभोग में द्रव्य पैदा करना निमित्त नहीं है, किन्तु स्नेह ही है। नहीं तो पर के कार्यों के लिए अपने पति से वित्त लेने वाली स्वीया की भी गणना सामान्या

पिछले पृष्ठ का शेष—

७. ननु बहुपुरुषानुरक्तायां कुलटायां कुतो न रसाभासत्वमिति चेत् तस्या गाढ़रतिकारिणि पुरुषे अनुरागो वर्तते, तादृक् पुरुषपरीक्षार्थमेवबहुभि:सङ्गमस्तस्या:।

---

१. सामान्याप्येकत्रैवानुरागिणी, बहुपुरुषसङ्गमो वृत्त्यर्थ: — शृं०म०

२. अत्र वयं ब्रूम:-वित्तमात्रे त्याद्विकं तु मूललक्षणोक्तं मनुष्यवेश्यालक्षणम्। देववेश्यास्वननुगतं लक्षणं तु वेश्यात्वजातिरिव — आह्वयार, २२६-३०

३. तन्न युक्तम्। स्वकीयापरकीययोर्गुणभेदेननायिकात्वम्, सामान्याया जात्येति क्रमभङ्गात् जात्यैवनायिका भेदनिरूपणे दिव्य-अदिव्य-दिव्यादिव्यादिभेदैनायिकानन्त्यं स्यात् —शृं०म०।

४. या वित्तंगृहीत्वापि परकीयासंभावितसकलपुरुषानुरागवतीसापिसामान्यास्यात्।शृं०म०

में होनी चाहिए । अतः मात्र पद का कोई प्रयोजन नहीं । अतएव हम सामान्या का यह लक्षण करते हैं कि जो विना परिणयरूप फल को निमित्त बनाये अनेक के साथ सम्भोग करे उसे सामान्या कहते हैं । इसका एक पुरुष में तो सहज अनुराग होता है और उसके साथ प्रीति ही फल या निमित्त है, अन्य के साथ वित्त-निमित्तक इच्छा रहती है, अनुराग नहीं । अतः सामान्या में रसाभास नहीं मानना चाहिए । स्वर्ग की वेश्यायें भी इस लक्षण से गृहीत हो जायेंगी ।[1]

सामान्या के भेद--

शृं०म०कार का कहना है कि सामान्या के पाँच भेद होते हैं --जो किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं मिलेंगे --१. स्वतन्त्रा, २. जनन्यधीना, ३. नियमिता, ४. क्लृप्तानुरागा तथा ५. कल्पितानुरागा ।[2] यहाँ एक सन्देह होता है कि कल्पितानुराग का तो अनुराग कल्पित होता है, सहज नहीं, फिर उसे नायिका कैसे माना जायगा[3] । तो इसका समाधान यह है कि सामान्या कहीं तो सहजानुराग ही रखती है, अन्यत्र अनुराग न रहने पर भी वित्त लेने के लिए अनुराग का प्रदर्शन करती है । अब यदि इसमें अनुराग की सत्ता ही न मानी जायगी तो किसी के साथ उसका अभिनय भी वह किस प्रकार कर पायेगी ।[4] वस्तुतस्तु सामान्या के भेदों की मीमांसा कुछ इस प्रकार होगी जिसके साथ अनुराग करती है उसके प्रति क्लृप्तानुरागा कहलाती है, वित्त ग्रहण के लिए ब

---

१. वयं तु अपरिणीतफलनिमित्तकानेकसंभोगा सामान्ये तिलक्षणांब्रूमः । अस्या एकत्र सहजानुरागोस्तीति नायिकात्वं, तत्र प्रीतिरेवफलम् । अन्यत्र वित्तफलनिमित्तकेच्छा, नत्वनुरागः तस्माद् रसाभासो नास्याम् । अतएव फलम् । नलकूबरानुरक्तारम्भा स्वर्गतपुण्यात्मानुरक्त स्ववेंश्याश्चफलनिमित्त सम्भोगवत्य इतीदृभेवलक्षणंयुक्तम्- शृं०मं०

२. अत्र ग्रन्थान्तरेष्वलिखिताःस्वतन्त्रा, जनन्यधीना,नियमिता, क्लृप्तानुरागा, कल्पितानुरागेति पञ्चभेदाःसामान्यायां कल्पिताः । शृं०म० ।

३. ननुकल्पितानुरागायाःसहजानुरागो नास्तीति कथं नायिकात्वम् इति ? -शृं०म०

४. सामान्या क्वचित् सहजानुरागवती भूत्वा, अन्यत्रानुरागाभावे पि वित्तग्रहणार्थमनुरागवती भवति । अस्या अनुराग एव नास्तीति चेत अन्यत्र कथमनुरागस्वरूपमभिनयेत् ।

-शृं०म०

जहाँ अनुराग का अभिनय करती है उसके प्रति कल्पितानुरागा कही जाती है। जब अपने सभी प्रयोजनों (affairs) का स्वयं देख रेखकरने वाली होती है तो 'स्वतन्त्रा' कहलाती है। वही जब माता के अधीन रहती है तो जनन्यधीना बोली जाती है । जब कोई खास व्यक्ति उसको कहीं नियत करता है तब नियमिता कहलाती है। जब कहीं स्वयम् अनुरक्ता होती है तो क्लृप्तानुरागा कहलाती है और जब धनप्राप्ति के लिए किसी के साथ अनुराग का अभिनय करती है तो कल्पितानुरागा कहलाती है। यदि चेष्टाभेद के कारण ही नायिकाओं का भेद किया जाता है तो सामान्या के भी पांच भेद पूर्वोक्त प्रकार से होंगे ही[१] और मदन के साथ ईर्ष्या भी रहती है। इस सिद्धान्त के अनुसार (ईर्ष्यादिमूलक)धीरा आदि भी सामान्या के होते हैं, यह स्वीया-प्रकरण में ही कह चुके हैं[२]।

स्वीयादि के साधारण भेद--

तदनन्तर स्वीया, परकीया तथा सामान्या के साधारण भेदों का निरूपण किया गया है। रसमंजरीकार ने इनमें प्रत्येक के १. अन्यसम्भोगदु:खिता, २. वक्रोक्ति गर्विता तथा ३. मानवती ये तीन भेद किये थे।[३] शृ०मं०कार ने इसका खण्डन किया है। उनका कहना है कि चूंकि अन्यसंभोगदु:खिता तथा मानवती ये दोनों भेद कोप-जन्य हैं। अत: वे खण्डिता के ही प्रकारान्तर माने जाने चाहिए। अब बची केवल वक्रोक्तिगर्विता, जो अकेले भेदतो बना नहीं सकती, अत: उसे स्वाधीनपतिका आदि साधारण भेदों के साथनवां भेद मानना ठीक होगा।[४] वे नो भेद इस प्रकार

---

१. क्रियाभेदेन नायिकाभेद इत्यत्रापि सामान्याया पंच भेदा: कल्पिता: -शृ०म०

२. स्वीयाप्रकरणे यत्रेर्ष्या मदनस्तत्रेति न्यायात् सामान्याया अपि धीरादिभेदा: सन्तीतिसाधितम् -शृ०म० पृ० १४

३. अत्र रसमञ्जरीकार:स्वीयापरकीया सामान्यास्वेकैका अन्यसम्भोगदु:खिता वक्रोक्ति-मानवती चेति त्रिधा भवतीति लिखितवान् -शृ०म०

४. वयम् अन्यसंभोगदु:खितामानवती चेत्युभौ भेदौ कोपजन्या विति खण्डिताभेदेष्वेव लिखाम: वक्रोक्तिगर्वितेव कथमेकाकिनी लेखनीयेतिसाधारणप्रकरणेलिखाम: ।

— शृ०मं०

होंगे — १. स्वाधीनपतिका, २. वासकसज्जिका , ३. विरहोत्कण्ठिता, ४. विप्रलब्धा ५. खण्डिता, ६. वक्रोक्तिगर्विता , ७. कलहान्तरिता, ८. प्रोषितभर्तृका तथा ६. अभिसारिका ।

शृङ्गारमञ्जरी में इन नवों प्रकारों की नायिकाओं का अन्य आचार्यों की अपेक्षा कुछ विशिष्ट ढंग से लक्षण किया गया है । रस-मञ्जरी में इसे स्वाधीन-पतिका कहा है जिसका प्रियतम उसके अभिप्रायों एवं आज्ञाओं का सदा पालन करता है[1]। शृ०मं० कार ने इस लक्षण में `सदा` शब्द के प्रयोग को व्यर्थ बताया है — क्यों कि फिर उसके अन्य अवस्थाकृत (सात या आठ) भेद न हो सकेंगे-जबकि अवस्थाविशेष कृत रूप ही नायिकाभेद का प्रयोजक होता है ।[2] अत: शृ०मं० में `जिसका प्रिय उसके अनुकूल हो उसे स्वाधीनपतिका कहा गया है ।[3]

प्राचीन आचार्यों ने स्वाधीनपतिका के धीरा आदि भेदों का परिगणन किया था । किन्तु शृ०मं० कार उसे ठीक नहीं समझते, क्योंकि स्वाधीनपतिका का पति तो उसके अनुकूल ही रहता है, अत: उसे कोप तो उत्पन्न ही नहीं होगा , फिर कोप या मानमूलक ये भेद उसके कैसे सम्भव होंगे ।[4] नायिका भेद की भिन्नता वस्तुत: उसकी विभिन्न अवस्थाओं के कारण मानी गई है । जब पति अन्य नायिका के कोप का हेतु होगा और कोप के उत्पन्न होने पर अवस्था भेद हो जाने से वह नायिकाउस समय खण्डिता वर्ग में गिनी जायगी । उसकातो स्वाधीनपतिकात्व ही नष्ट हो जायगा । फिर स्वाधीनपतिका के धीरा आदि भेद कैसे हो सकते हैं ।[5] स्वाधीनपतिका के १. दूतीवञ्चिका तथा २. भाविशंकिता — इन दो नवीन भेदों की कल्पना शृ०म० कार ने की है ।[6] इस प्रकार स्वाधीनपतिका कुल आठ प्रकार की

---

१. सदा साकूताज्ञाकरप्रियतमा स्वाधीनपतिका — रु०म०

२. अत्र सदाशब्दस्त्याज्य: । नो चे दवस्थाकृतनायिकाभेदो भेद: (भेदो न) स्यात् । अवस्था कृतभाव एव नायिका भेदे प्रयोजक: शृ०म० ।

३. वर्यत्वनुकूलप्रियास्वाधीनपतिकेतिलक्षणंब्रूम: — शृ०म०

४. स्वाधीनपतिकाया:पत्युरनुकूलत्वात् कोपानुत्पत्ते: शृ०म०

५. नायिकाभेदस्यावस्थाभेदेन भिन्नत्वात् पत्युरत्यनायिकासक्तत्वे नुकूलत्वाभावे नायका पराधास्य नायिकाकोपहेतुत्वेनकोपोत्पत्तौ खण्डितात्वे सति स्वाधीनपतिकात्वमेव व्याहन्यते । तत्कथं स्वाधीनपतिकायां धीरादिभेदाभवितु`मर्हन्ति — शृ०म०

६. स्वाधीनपतिकायां दूतीवञ्चिका भाविशङ्कितेतिभेदद्वयं नवीनं कल्पितमस्माभि: — शृं म० ।

होती है —१. स्वीया, २. मुग्धा, ३. मध्या, ४. प्रगल्भा, ५. परकीया, ६. सामान्या, ७ दूतीवञ्चिका तथा ८. भाविशङ्किता ।[१] उनमें औरों के लक्षण तो कहे जा चुके हैं, केवल दो नये भेदों का लक्षण यहाँ इस प्रकार किया गया है । इनमें दूतीवञ्चिका उसे कहते हैं, जो अपने प्रेम को छिपाकर परिहास के लिए, प्रिय की सम्मति से, झूठा मान प्रकट कर दूती को ठगती है ।[२] और भाविशङ्किता वह है जो प्रिय से संयुक्त हो कर भी भावी शङ्का करती है ।[३]

वासकसज्जिका का लक्षण प्राचीन आचार्यों (प्रतापरुद्रयशोभूषणकार) ने इस प्रकार किया है —" जो प्रिय के आगमन की वेला में अपने को तथा अपने क्रीडागृह को रह रह कर सजाती है । उसे वासकसज्जिका कहते हैं ।[४] निघण्टु (कोष) में 'वासक' के छः अर्थ दिये हैं —१. वार २. अकाल ३. प्रवास से आगमन, ४. रुष्टा-प्रसादन, ५. नायिका उत्सव तथा ६. नवोढ़ा की अभ्युपपत्ति)(मिलाना)[५] चूंकि यहाँ प्रवास से आने की क्रिया भी रहती है, अतः नायिका का तन्निमित्तक अवसितप्रवासपतिका नामक भेद वासकसज्जिका में ही अन्तर्भूत किया जा सकता है ।[६] वस्तुतस्तु वासकसज्जिका शब्द से ही अवसितप्रवास पतिका का वासकसज्जिका में अन्तर्भाव सूचित हो जाता है । कुछ ग्रन्थकारों ने अवसित प्रवास पतिका को प्रोषित भर्तृका में अन्तर्भूत किया है क्योंकि प्रिय का परदेशगमनरूप रूप कारण दोनों का एकरूप ही होता है ।[७] किन्तु यह ठीक

---

१. शृ०म०, पृ० १५

२. प्रेम सङ्गोप्य परिहासार्थं प्रियसम्मत्यामायामानं प्रकटीकृत्य दूतीं या वंचयति सा दूतीवञ्चिका : । — शृ०म०

३. प्रियेण संयुक्तापि भाविनीं शंकांयाकरोति सा — शृ०म०

४. प्राचीनाः — प्रियागमनवेलायां मण्डयन्ती मुहुर्मुहुः । केलीगृहमथात्मानं सा स्याद्वासकसज्जिका । इति लक्षणमाहुः — कृ०म०

५. निघण्टौ —" वारश्च अकालश्च प्रवासादागतक्रिया ।
प्रसादनं च रुष्टाया नायिकायास्तथोत्सवः
नवोढाभ्युपपत्तिश्च षडेते वासकास्स्मृताः ।"

६. अत्र प्रवासादागतक्रियाया विद्यमानत्वात्
अवसित प्रवासपतिका वासकसज्जिकाभवितुमर्हति ।। शृ०म०

७ - शेष-

नहीं, क्योंकि प्रोषितभर्तृका बेचारी तो पति के विदेश जाने के कारण उत्पन्न दु:ख के वश में होती है, जब कि अवसितप्रवासपतिका पति के घर वापस आने के आनन्दोल्लास से पागल रहती है। यद्यपि पति के आने पर उसके सामने अवसित-प्रवासपतिका अपने दु:ख का वर्णन करती है और आंसू बहाती है अत: उसके मन में दु:ख की सत्ता समझ कर उसे प्रोषितभर्तृका ही समझने का सन्देह हो सकता है। किन्तु ध्यान से देखने पर दोनों में अन्तर स्पष्ट समझ पड़ता है। अवसितप्रवासपतिका के पति के आने पर आनन्द अथवा सन्तोष के आँसू बहते हैं, वह पतिप्रवासजनित अपने दु:ख की रामकहानी कहती है, उस समय कोई दु:ख नहीं होता है अपितु सुख ही रहता है। अत: अवसितप्रवासपतिका का अन्तर्भाव प्रोषितभर्तृका में नहीं हो सकता। (शृ०म०) शृ०म० का कहना है कि आमोदकार ने अवसितप्रवासपतिका को, उसमें सन्तोष की भावना होने के कारण स्वाधीनपतिका में अन्तर्भूत किया है।[1] "आमोद टीका ने अपनी ओर से अवसितप्रवासपतिका भेद की उद्भावना नहीं की है। रसमंजरी में आठ प्रकार की नायिकाओं का विवेचन हो चुकने के बाद प्रवत्स्यत्पतिकानामक नवें प्रकार के प्रसंग में इस भेद का उल्लेख हुआ है। आमोद का कहना है कि 'विलासरत्नाकर' में प्रवत्स्यपतिका भेद को नहीं स्वीकृत किया गया है क्योंकि तब फिर 'अवसितप्रवासपतिका नामक एक दसवां भेद भी स्वीकार करना पड़ेगा। वहीं उस विलासरत्नाकर के आक्षेप के उत्तर में आमोद ने लिखा है कि अवसितप्रवासपतिका भेद का अन्तर्भाव तो स्वाधीनपतिका में हो सकता है। वस्तुतस्तु आमोदकार केवल आठ ही भेद के पक्ष में है, क्योंकि अन्यथा अनेक भेद की अव्यवस्था का भय हो सकता है।"[2] किन्तु वह भी उचित नहीं क्योंकि स्वाधीनपतिका को तो इतना ही सन्तोष होता है कि प्रिय मुझे नहीं छोड़ सकता है, मुझे अपने प्रिय से वियोग नहीं है और इसका तो प्रवास से आये दुर्लभ प्रियतम के समागम से महान् सन्तोष होता है। अत: दोनों में बड़ा अन्तर है।[3] अत: निघण्टु से सम्मत होने के कारण अवसितप्रवासपतिका को सब

---

1. केचन ग्रन्थकारा: परदेशगमनरूपकारणस्यैकत्वात् अवसित प्रवासपतिकां प्रोषितभर्तृकायामन्तर्भावयन्ति ।। शृ०म०

2. डा० राघवन्

3. स्वाधीनपतिकायास्त्वेतावानेव सन्तोषो यत् प्रियो मां न मुंचति, न मे प्रियवियोग इति। अस्यास्तु प्रवासादागतदुर्लभप्रियतमसमागमनसंभवमहासन्तोषसद्भावात् महान् भेद:
— शृ० म०

प्रकार से वासकसज्जा ही कहा जा सकता है। और फिर नायक की अनुकूलता रहने पर नायिका को स्वाधीनपतिका कहा जाता है और अचलितप्रवासपतिका को वासकसज्जा का कहे जाने के कारण नायिका का उत्सव है[१] अत: वासकसज्जिका का लक्षण होगा- जो नायक की अपेक्षा से सन्तोष अथवा आनन्द के साथ प्रयत्न हो।[२]

विरहोत्कण्ठिता का लक्षण रसमंजरीकार ने कुछ इस प्रकार किया है, संकेत-स्थल पर प्रिय के न आने का कारण जो सोत्कण्ठ हो सोचे।[३] किन्तु शृ०म० कार के अनुसार यह लक्षण ठीक नहीं -क्योंकि फिर परिणय के पूर्व नल में अनुराग करने वाली मिलन के पूर्व ही उत्कण्ठित, दमयन्ती को विरहोत्कण्ठिता न कहा जायगा, और लक्षण में अव्याप्ति दोष होगा।[४] और फिर कहीं कार्यविलम्ब से घर आने में ही प्रिय के विलम्ब करने पर जो नायिका घर पर बैठी ही उत्कण्ठिता रहती है उसका भी ग्रहण कर इसके पूर्वोक्त लक्षण के अनुसार न हो सकेगा।[५] साथ ही अन्य अनेकपूर्ववर्ती ग्रन्थों में किये गये विरहोत्कण्ठिता के लक्षणों की भी शृ०म० में संक्षिप्त समालोचना की गई है।[५] (यद्यपि ऐतिहासिक क्रम से उनकी चर्चा नहीं हुई है । साहित्य रत्नाकर में उनका लक्षण किया गया है।

---

१. अन्यच्च स्वाधीनपतिकात्वप्रयोजकं नायकानुकूलत्वम्, अचलितप्रवासपतिकाया वासक-सज्जिकात्वप्रयोजकोनायिकोत्सव: -- शृ०म०, पृ० १७

२. नायकापेक्षया सन्तोषकृतप्रयत्ना वासकसज्जिका --शृ०म०, पृ० १७

३. संकेतस्थलं प्रति भर्तुरनागमनकारणं चिन्तयति सोत्का - शृ०म०

४. परिणयात् पूर्वं नले प्रत्यनुरागवत्यां सह०घटनात् प्रथम मुत्कण्ठितायां दमयन्त्याम-व्याप्ते: । --शृ०म०

५. किं च कार्यविलम्बेन स्वेश्मस्थितैव पत्युर्विरहवती योत्कण्ठिता तस्यामव्याप्ते : -- शृ० म०

५. साहित्य रत्नाकर में उसका लक्षण -

'विरहे कृतोत्कण्ठा विरहोत्कण्ठिता मता।'

भरत के नाट्यशास्त्र में -

'अनेककार्यव्यासङ्गाद्यस्या नागच्छति प्रिय: ।
कामतस्सैव दु:खार्ता विरहोत्कण्ठिता मता। (ना०शा० २२।२००)

प्रतापरुद्रीय में उसका लक्षण इस प्रकार किया गया है - 'चिरयत्यधिके कान्ते विरहोत्कण्ठतोन्मना: -१-४५

और ६. नायकभूषण में इस प्रकार कहा है -

(अगले पृष्ठ पर देखें)

शृ०म० कार का कहना है कि वे सभी लक्षण प्रोषितभर्तृका में भी अतिव्याप्त हो जायेंगे, अत: ठीक[1] नहीं -आमोदकार ने विरहोत्कण्ठिता का जो लक्षण किया है--"अप्रोषित अविप्रलब्ध-प्रिय-सम्भोग-अभाव-कृतोत्कण्ठा विरहोत्कण्ठिता," यह लक्षण भी इसलिए ठीक नहीं है कि इसमें विरुद्ध या भिन्न प्रकार की नायिका के विशेषणों द्वारा समझाया गया है।[2] अत: शृ०म० कार के अनुसार विरहोत्कण्ठिता का लक्षण होगा --अपने निवास पर ही जिस नायिका को प्रिय का कार्यान्तर में व्य व्यासक्ति के कारण, विरह हो उसे विरहोत्कण्ठिता कहते हैं।[3] इसके अनुसार दमयन्ती आदि तो विरहोत्कण्ठिता कोटि में आ जायगी, किन्तु विप्रलब्धा तथा प्रोषितभर्तृका में उत्कण्ठत्व या उत्कण्ठा न होने के कारण वे इससे पृथक् ही रहेंगी[4]।

प्राचीनों ने विरहोत्कण्ठिता के पांच प्रकार माने हैं। किन्तु शृ०म० कार ने शृंगाररस के अनुकूल उसके दो भेद किये हैं -१. कार्यविलम्बितसुरता तथा २. अनुत्पन्नसंभोगा। फिर अनुत्पन्नसम्भोगा भी चार प्रकार की होती है - १. दर्शनानुतापिता, २. श्रवणानुतापिता, ३. चित्रानुतापिता तथा ४. स्वप्नानुतापिता।

विरहोत्कण्ठिता में अतिप्रबल अनुराग होने के कारण मुग्धा को छोड़कर मध्या आदि सभी भेद होते हैं। 'कार्यविलम्बितसुरता' वह है जो कान्त के विलम्ब करने पर रति के लिए खिन्न हो।[5] और अनुत्पन्न -सम्भोगा' वह है जो भविष्य में रति के अभाव को सोच कर खिन्न हो।[6] और उसके पूर्वोक्त चार भेद भी क्रम

(शेष) उद्दाममन्मथमहाज्वरवेपमानां रोमांचकञ्चुकितमङ्गकम् (आवहन्तीम् ?)
गाढानुरागवचना पुरत: सखीनामुत्कण्ठितां वदति तां भरत: कवीन्द्र: ।

---

१. एतानिलक्षणानिसर्वाणिप्रोषितभर्तृकायां च सङ्कीर्णानीति न युक्तानि--शृ०म०

२. तदपि तद्भिन्नविशेषणाविशिष्टम् इतित्याज्यम् --शृ०म०

३. निवास एव कार्यान्तरव्यासङ्गप्रयुक्तप्रियविरहवती विरहोत्कण्ठिता इति -शृ०म०

४. शृ०म०, पृ० १६

५. चिरयतिकान्ते रत्यर्थं या खिन्ना सा -शृ०म०

६. भविष्यद्रतिर्नास्तीति या खिद्यते सा भविष्यत्प्रियसङ्घटनापर्यन्तं विरहोत्कण्ठाकुला। -शृ०म०

से प्रियको देख कर, सुनकर, चित्र में देखकर तथा स्वप्न में देखकर जो विरहाकुल हो जाय, इस दृष्टि से किये गये हैं।[१]

विप्रलब्धा का लक्षण रसमंजरीकार ने इस प्रकार किया है --संकेतस्थल पर प्रिय को न देखकर समाकुलहृदया को विप्रलब्धा कहते हैं। किन्तु शृ०म० के अनुसार यह ठीक लक्षण नहीं क्योंकि जब स्वकीया और सामान्या को उसके अपने ही स्थान पर प्रिय वंचना करना है, वह कार नहीं मिलता है, तो वे विप्रलब्धा होकर भी इस लक्षण के अनुसार न हो सकेंगी।[२]

प्रतापरुद्रीयकार ने विप्रलब्धा का लक्षण इस प्रकार किया है -- 'प्रिय कहीं संकेत देकर वंचित करे उससे जो स्मरार्त होती है उसे विप्रलब्धा कहते हैं।[३] किन्तु यह लक्षण केवल नायक-वञ्चिता परकीया में ही घटित होता है। न सखीवञ्चिता में और न ही अपने स्थान में स्थित वञ्चिता स्वीयापरकीया तथा सामान्या में। अत: यह लक्षण ठीक नहीं।[४]

अत: शृ०म० में ऐसा लक्षण किया गया जो सर्व विप्रलब्धा में चरितार्थ हो--जिसे वंचना के कारण विरहवेदना मिली हो, उसे विप्रलब्धा कहते हैं।[५] अमर-कोश में भी विप्रलम्भ शब्द वंचना, विसंवाद तथा विवाद अर्थ में प्रयुक्त होता है। अत: यहाँ नायिका के विप्रलब्धत्व का कारण वंचना ही है[६]। यद्यपि सम्प्रति उपलब्ध अमर कोश में यह पाठ इस प्रकार का मिलता है - 'विप्रलम्भो विप्रयोग: ।'

विप्रलब्धा दो प्रकार की होती है -- १ नायक वंचिता तथा २. सखीवंचिता। इनमें प्रथम तो नायक से वंचिता होतीहै, किन्तु दूसरी वह है जिसकी सखी नायक को केलि-स्थल पर लाकर कहीं छिपाकर परिहास के लिए उससे वंचना करे। 'आमोद' में सखी

---

१. शृ०म०

२. स्वस्थलस्थयोरेव स्वकीयासामान्ययो यर्यदा वञ्चनं करोति प्रिय:तदा तयो रव्या-प्तिरिति। -- शृ०म०

३. क्वचित् सं०केतमावद्य दयितेनाथवञ्चिता। स्मरार्ता विप्रलब्धेति कलाविदभि: प्रकीर्तिता -- १।४७

४ येन तल्लक्षण नायकवंचितायां परकीयायां संभवति, न सखीवञ्चितायां, स्वस्था एवस्थित स्वीयापरकीयासामान्यासुचाव्याप्तिरिति न युक्तम्। शृ०म०

५. वञ्चनाप्रयुक्तविरहवेदनावती विप्रलब्धा-- शृ०म०

६. विप्रलब्धस्यायमर्थो मरकोशे विप्रलम्भो वंचने स्याद् विसंवादविवादयो ? इति (अथवा) सम्प्रति--

वंचिता भेद को नहीं माना है।

खण्डिता का लक्षण रसमञ्जरीकार ने इस प्रकार किया है — जिसका पति प्रात: अन्यसम्भोगचिह्नित आये[2]। किन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि, जो नायक के अपराध को सुनती है, अथवा जिसका पति उसका अनादर कर अन्यत्र आसक्त होता है, वे दोनों ही खण्डितायें पूर्वोक्त लक्षण से गृहीत न हो सकेंगी[3]। और फिर नाम के अनुकूल अथवा अन्वर्थलक्षण-कल्पना होनी चाहिए।[4] 'खण्डता' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार होगी — खण्ड का अर्थ है 'शकल' टुकड़ा उससे 'तारकादिभ्यइतच्'[5] से इतच् प्रत्यय करने पर खण्डिता बनेगा, जिसका अर्थ होगा — कोप के कारण जिसका प्रेम टुकड़े टुकड़े हो जाय[6]-। अब चूंकि शृङ्गार प्रकरण में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है अत: इसका लक्षण होगा — शृङ्गारानुकूल कोपवाली नायिका[7]।

यह कोप चार प्रकार का उत्पन्न होता है। और सभी कोपजन्यनायिका भेद 'खण्डिता' ही कहे जायेंगे। कोप की उत्पत्ति के समय तो वह खण्डिता ही है, वही जब मान कर रही होगी तो मानवती कहलायेगी, वही जब वक्रोक्ति आदि सुनाने लगती है तो धीरा आदि रूप से गिनी जाती है, वही जब नायक के परोक्ष में सखियों के सामने कोपप्रकाशन किया करती है, तो अन्यसम्भोगदु:खिता कहलाती है।[8] यहां एक प्रश्न उठता है, कि कलहान्तरिता की भी प्रथम अवस्था में कोप रहने के कारण उसे भी खण्डिता में ही ग्रहण कर लिया जाय[9]। इसका समाधान करते हुए शृ०म० कार कहते हैं कि माना कि कोप के समय वह खण्डिता है किन्तु कलह के पश्चात् की अवस्था को

---

१. सख्या नायकं क्वचिद् गोपयित्वा केलिस्थलमानीय परिहासार्थं वंचितासखीवञ्चिता। शृ०म०

२. अन्यसम्भोगचिह्नित: प्रातरागच्छति यस्या:पति:सा खण्डिता।

३. नायकापराधं या शृणोति, यामनादृत्य यस्या: पतिरन्यत्रासक्तस्ते उभे अपि खण्डिते भवत: तयोरिदंलक्षणमव्याप्तम्। — शृ०म०

४. अन्यच्च नामानुकूलाकल्पना कार्याऽस्माभि: — शृ०म०

५. पा० ५।२।३६

६. कोपेनशकलीकृतप्रेमवती खण्डितेत्यर्थ: — शृ०म०

७. शृङ्गारानुकूलकोपवती खण्डितेतिलक्षणंब्रूम: — शृ०म०

८. कोपजन्यनायिकाभेदा: सर्वा: खण्डिता एव नायिका। कोपोत्पत्ति समये खण्डिता, सैवमानं कुर्वती चेन मानवती, सैव वक्रोक्त्यादिवक्ति चे धीरादि:, सैव नायकपरोक्षं सखीनां पुरत:कोपप्रकाशनशीला अन्य-सम्भोगदु:खिता — शृ०म०

९. ननुकलहान्तरितापिपूर्वावस्थायांकोपसमुद्भवात्खण्डितायामन्तर्भवतीति चेत् — शृ०म०

लेकरतो यह भेद किया गया है । कलहान्तरिता तो यह तो कहलाती है ही[१]।

यहां 'कोप' और 'मान' शब्द का भी ठीक अर्थ समझ लेना आवश्यक है । प्रियापराध के कारण उत्पन्न हुए कोप या क्रोध की जो मौन आदि चेष्टा प्रिय के प्रति होती है उसे मान कहते हैं । अर्थात् मान कोप-जन्य होता है, कोप ही कहीं नहीं है । अत: कोप को ही मान कहना उचित न होगा[२]।

इस खण्डिता के पांच भेद होते हैं -मानवती २. धीरा ३. अधीरा ४. धीराधीरा तथा ५. अन्यसम्भोगदु:खिता । इन्हीं में से ईर्ष्या-गर्विता भी एक भेद है जो अन्य सम्भोगदु:खिता का माना जायगा , और इस प्रकार खण्डिता , के छ: प्रकार होंगे[३]--चूंकि मुग्धा में अनुराग की प्रबलता रहती है अत: उसका खण्डिता भेद सम्भव नहीं, यह शृ०म०कार की अपनी मान्यता है ।[४]

शृ०म० में मानवती का निरूपण इस प्रकार किया गया है - प्रिय के अपराध के कारण उत्पन्न कोप के कारण मौन को मान कहते हैं । ऐसा मान जिसे हो उसे मानवती कहते हैं । वह मान तीन प्रकार होता है १. लघु २. मध्य तथा गुरु । इन मानों का लक्षण उनके शान्ति-उपाय को दृष्टि में रखकर इस प्रकार किया गया है --विनोद वार्ता आदि प्रयत्न के बिना भी जो दूर किया जा सके वह लघुमान है । जो शपथ आदि बहुल प्रयत्न करने पर हटे वह मध्य मान है तथा जो (चरण) वन्दना आदि अत्यधिक प्रयत्नों से दूर किया जा सके वह गुरु मान कहा गया है ।[५]

धीरा वह है जो वक्रोक्तियों द्वारा अपने व्यंग्य को प्रकाशित करे ।[६] अधीरा

---

१. कलहोपशमने सति भेदस्यभिन्नत्वात् खण्डिता कथं स्यात् । कोपसमये खण्डितेव । अवस्थाभेदेन कलहान्तरिता --शृ०म०

२. अत्र प्राञ्च:- अपराधभव: कोपो यूनो मान उदाहृत: । इदमनुचितम् । एवम् उच्यते चेत् खण्डितापि मानवती स्यात् । मानस्तु कोपो न भवति , कोपोत्पन्नमौनं:कोप-चेष्टा मान इति । अत्र रसमंजरी कार: - प्रियापराधसूचिका चेष्टा मान इति सङ्गतमुक्तवान् । शृ०म०

३. तस्मादियं खण्डिता षडविधा ।

४. मुग्धानुरागस्य प्राबल्यभावात् मुग्धायां खण्डिताभेदो न इत्यस्माभिरुच्यते -शृ०म०

५. समानस्त्रिधा- लघुमध्यगुरुभेदात्-तेषां मानानां शान्तिप्रकारविशिष्टानि लक्षणा-न्युच्यन्ते-विनोदवार्तादिप्रयत्नापनेयोलघुमान: शपथादि बहुप्रयत्नापनेयोमध्यमान: , वन्दनादिबहुतरप्रयत्नापनेयो गुरुमान: -शृ०म०, पृ० २५

६. वक्रोक्त्याव्यङ्ग्यप्रकाशिका धीरा -शृ०म०

जो अपने कोप को सीधे बिना व्यंग्यरूप का सहारा लिए प्रकाशित करे, और धीराधीरा वह है जो व्यंग्य तथा अव्यंग्य दोनों रूप से अपने कोप को प्रकाशित करे ।[१]

अन्य सम्भोगदु:खिता को प्राचीन आचार्यों ने केवल दूती-सम्भोगदु:खिता रूप ही माना था । किन्तु 'अन्य' शब्द केवल दूती का ही पर्याय तो है नहीं, अत: अपने से इतर नायिका के साथ सम्भोग यही अर्थ अन्य सम्भोग शब्द का होगा ।[२] अन्य सम्भोग-दु:खिता तीन प्रकार की होती है — १. दूती सम्भोगदु:खिता २. दूतीसमागमचिह्नदु:खिता तथा ३. इतररतिश्रुतिखिन्ना । शृं०म० कार इसी अन्य संभोगदु:खिता का ही एक चौथा प्रकार भी मानते हैं + ४. ईर्ष्यागर्विता ।[३]

अन्य सम्भोगदु:खिता स्वभाव से नायक के परोक्ष में अपने कोप को प्रकाशित करती है[४] — ~~ई~~ ईर्ष्यागर्विता भी नायक के परोक्ष में ही नायक विषयक कोपव-क्रोक्ति द्वारा प्रकाशित करती है ।[५]

इसके अनन्तर कलहान्तरिता का निरूपण किया गया है — जो कोप के कारण प्रिय का तिरस्कार करके पश्चाताप पाये उसे कलहान्तरिता कहते हैं[६] । वह दो प्रकार की होती है १. ईर्ष्याकलहान्तरिता तथा २. प्रणयकलहान्तरिता । इनमें प्रथम प्रकार की तो वह है जो अन्यकान्ता में आसक्त प्रिय का अपमान कर पश्चाताप पाती है ।[७] तथा दूसरी वह है जो अपनी आज्ञा उल्लंघन करने के कारण कोप से नायक का अपमान कर

---

१. व्यङ्ग्याव्यङ्ग्यकोपप्रकाशिकाधीराधीरा — शृं०म०

२. प्राचीना : दूतीसम्भोगदु: खितामेवान्यसंभोगदु:खितामाहु: । तन्न युक्तम् । अन्यशब्दस्य स्वेतरार्थकत्वात् दूतीसंभोगदु: खितैवकथमन्यसंभोगदु:खिता भवति । स्वेतरनायिकासंभोग-दु:खिता अन्यसम्भोगदु:खिता । अयमर्थो न्यशब्दपर्यालोचनयैव सिद्ध: |इदमेव युक्तम् । शृं०म०

३. इत: परम् ईर्ष्यागर्वितेति भेदान्त रमस्माभि: कल्पितमितिचतुर्धा — शृं०म०

४. नायकपरोक्षकोपप्रकाशनशीला ।

— शृं०म०

५. वक्रोक्त्या नायक परोक्षं नायकविषयककोपप्रकाशिका ईर्ष्यागर्विता ।

६. कोपात् कान्तं पराभूय पश्चात्तापसमन्विता — शृं०म०

७. प्रियमन्य कान्तासक्तं पराभूय पश्चात्तापवती ।

— शृं०म०

पश्चाताप पाती है।[१] इनमें मुग्धा को छोड़ कर अन्य सभी भेद होते हैं।

वक्रोक्तिगर्विता वह नायिका है जो अपने गर्व को वक्रोक्ति के द्वारा प्रकाशित करे।[२] वह चार प्रकार की होती है — १. प्रेमगर्विता, २. सौन्दर्यगर्विता, ३. सौभाग्य-गर्विता तथा ४. नैपुण्यगर्विता।

सौन्दर्यगर्विता के भी चार प्रकार होते हैं — १. स्मितगर्विता, २. यौवन-गर्विता, ३. सौकुमार्यगर्विता तथा ४. विलासगर्विता। इसमें चौथा भेद शृं०म० की अपनी कल्पना है।[३]

आमोदकार ने प्रेमगर्विता से सौभाग्यगर्विता को पृथक् नहीं माना है।[४] किन्तु सौभाग्य को प्रेम से पृथक् मानना ही चाहिए, क्योंकि सौभाग्य प्रेम का सम्पादक या हेतु होता है।[५] वक्रोक्तिगर्विता के सभी भेदों का यही लक्षण है कि उन उन वस्तुओं को वक्रोक्ति के द्वारा प्रकाशित करे।

प्रोषितभर्तृका का लक्षण शृंगारमंजरीकार ने इस प्रकार किया है -- पति के परदेश चले जाने पर जो सन्ताप से व्याकुल हो उसे प्रोषितभर्तृका कहते हैं।[६] शृं०म० में यहाँ 'प्रोषितभर्तृका' शब्द के पद एवं अर्थ के विषय में बड़ा शास्त्रार्थ हुआ है आमोदकार ने यह प्रश्न उठाया था कि 'प्रोषित' पद में भूतार्थक 'क्त' प्रत्यय होने के कारण प्रोषित भर्तृका वही नायिका कही जायगी, जिसका पति परदेश चला गया हो। जिसका परदेश जा रहा हो अथवा भविष्य में जायगा अर्थात् प्रवत्स्यत्पतिका और

---

१. स्वाज्ञोल्लंघनजनितकोपेन नायकं परिभूयपश्चात्तापवती।

२. स्वगर्वं वक्रोक्त्या या प्रकाशयति --शृं०म०

३. विलासगर्वितानवीनभेदो स्माभिःकल्पित इति सौन्दर्यगर्विता चतुर्धा — शृं०म०

४. सौभाग्य गर्वितायाः प्रेमगर्वितायामेवान्तर्भावः — आमोद, शृंगार, पृ० १५२

५. प्रेमसम्पादकादृष्टं सौभाग्यम् — शृं०प्र०, पृ० २६

६. देशान्तरगतेभर्तरि सन्तापव्याकुला प्रोषितभर्तृका —

— शृं०म०

प्रवत्स्यत्पतिका का ग्रहण इस प्रोषितपतिका पद से न हो सकेगा । अत: उन दोनों के लिए अलग से नामोल्लेख होना चाहिए । इसका समाधान करते हुए शृ०म०कार कहते हैं – प्रोषित में प्रत्यय ' नपुंसके भावे क्त: ' (पा०३।३।११४) से भाव(क्रिया) - अर्थ में कालसामान्य में हुआ है । इस प्रकार प्रोषित का अर्थ यहाँ प्रवास होगा फिर 'प्रोषितं भर्तरि यस्या:' इस प्रकार सप्तमीगर्भ-व्यधिकरण बहुव्रीहि समास किया जायगा – जैसे 'गरुडध्वज' "रथाङ्गपाणि" "इन्दुचूड" में होता है । और क्त प्रत्यय वर्तमान अर्थ में भी[1] तो होता है और वर्तमान में होने के कारण ' वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा ' [2] नियम से भूत, भविष्य काल का भी अर्थ दे सकेगा, और इस प्रकार प्रोषितभर्तृका पद से भूत, वर्तमान, भविष्य तीनों कालों से परदेशी पतियों का ग्रहण हो जायगा, अथवा प्रोषित शब्द को भाव में क्त प्रत्यय करके फिर ' प्रोषितम् अर्थात् प्रवास: अस्ति अस्य ' इस अर्थ में मत्वर्थक अच् प्रत्यय करके 'प्रोषित' शब्द बनेगा ' जिसका अर्थ होगा प्रवासवान् या प्रवासी । और तब - प्रोषित: प्रवासीभर्ता यस्या : इस प्रकार समानाधिकरण बहुव्रीहि से ही काम चलाया जायगा ।[2]

तो, रसमञ्जरीकार का प्रोषितभर्तृका का लक्षण हुआ – पति के देशान्तर चले जाने पर जो सन्ताप से व्याकुल हो[3] इसी रूप का प्रतापरुद्रीय कार का भी लक्षण है – जो कान्त के देशान्तर चले जाने पर खिन्ना हो [4] किन्तु ऐसे लक्षण प्रवसत्पतिका तथा प्रवत्स्यत्पतिका के सम्बन्ध में लागू न होंगे अत: उपादेय नहीं है ।[5] अत: शृ०म० कार ने यह लक्षण किया ' जो पति के प्रवास से खिन्न हो उसे प्रोषितपतिका कहते हैं ।' वह प्रवास तीनों काल का सामान्यरूप से कहा गया है अत: लक्षण तीनों के लिए संगत होगा ।[6]

---

१. पा० २।३।६

२. पा० ३।३।१३१

२क. एवं त्रैकालिका: क्त प्रत्ययान्ता महाकवि प्रयोगा उपलभ्यंते तथा प्रोषितशब्दं विजानीम: । —शृ०म०

३. देशान्तरगते भर्तरिसन्तापव्याकुला ।

४. देशान्तर गते कान्ते खिन्नाप्रोषितभर्तृका ।

५. एतल्लक्षणाद्वयमपि प्रवसत्प्रवत्स्यत्पतिकयो रव्याप्तम् इतिनोपादेयम् —शृ०म०

६. स प्रवास: त्रैकालिकसाधारणोभवतीति तिसृष्वपिसमञ्जसं भवति ।

—शृ०म०

प्रोषितभर्तृका के तीन प्रकार होते हैं — १. प्रवत्स्यत्पतिका २. प्रवसत्पतिका तथा ३. प्रोषितभर्तृका शृ०म०कार ने सख्यनुतापिता एक अन्य भेद भी कल्पित किया है[1]।

प्रवत्स्यत्पतिका का लक्षण रसमञ्जरीकार ने इस प्रकार किया है — 'जिसका पति अगले क्षण देशान्तर जा रहा हो'[2]। किन्तु शृ०म० कार इस लक्षण को ठीक नहीं मानते, क्योंकि जिस नायिका का पति गाले क्षण न जाकर कल या परसों परदेश जायगा फिर उसका ग्रहण इस लक्षण से न हो सकेगा[3]। अत: शृ०म० ने उसका लक्षण इस प्रकार किया है — प्रियप्रवास के यत्नोद्यम को जानकर जो वेदनावती हो वह प्रवत्स्यत्पतिका कहलाती है।[4] इसी कारण विगलित प्रस्थानपतिका' यह एक भेदान्तर हमने कल्पित किया है।'[5]

पूर्वोक्त दो नये कल्पित भेदों के लक्षण इस प्रकार किये गए हैं -- विगलित-प्रस्थानपतिका वह है, जिसकी वेदना को देखकर प्रियप्रस्थान योजना को स्थगित कर देता है।[6] तथा सख्यनुतापिता वह है जिसके नायक के परदेश चले जाने के पश्चात् ढाढस बंधाने वाली सखी भी कहीं चली जाय।[7]

और, अभिसारिका नायिका का लक्षण र०म० के अनुसार तो इस प्रकार है, जो प्रिय के पास स्वयं जाय या उसे अपने पास बुलाये[8]। शृ०म० को यह लक्षण उपयुक्त नहीं जान पड़ता क्योंकि जो स्वयम् प्रिय के पास जाती है वह तो अभिसारिका ठीक ही है, जैसा कि काव्यप्रकाशकार भी कहना है — 'कान्तार्थिनी तु या याति संकेत सामि-सारिका (अ०को० २।६।१०) किन्तु जो प्रिय को अपने पास अभिसार करवाती है

---

१. प्रोषितपतिकायां सख्यनुतापितेति भेदान्तरमस्माभि: कल्प्यते।

२. यस्या: पतिरग्रिमक्षणे देशान्तरं यास्यतीति :

३. श्व: परश्वो वा यस्या:पति: प्रवत्स्यति तस्यामव्याप्ति: — शृ०म०

४. प्रियप्रवास-यत्नोद्यमं ज्ञात्वा वेदनावती प्रवत्स्यत्पतिकेति — शृ०म०

५. शृ०म०

६. यस्या वेदनामालोक्य प्रिय: प्रस्थानान्निवर्तते शृ०म०

७. नायकपरदेशगमनानंतरं स्वसमाधानकर्त्री सख्यपि चेत् क्वचित् प्रयाणं करोति सा। — शृ०म०

८. स्वयमभिसरति प्रियमभिसारयति वा सा — शृ०म०

वह तो वासकसज्जिका कहलायेगी[1]। यद्यपि इसमें वारका नियम न होने के कारण आमोद-कार ने उसे वासकसज्जिका मानने में आपत्ति की है[2]। माना कि यहाँ वारनियम नहीं है, किन्तु प्रिय के आने का ध्यान कर जो सुरतसामग्री की तैयारी करती है वह नायिका आखिर किस प्रकार की नायिका में अन्तर्भूत हो जायगी ? और फिर वासक शब्द के तो अनेक अर्थ हैं, अतः केवल वार नियम ही कहीं यहाँ न लिया जायगा, अपितु प्रिय के आगमन के कारण जो संभोगार्थ प्रयत्न करती है उसे वासकसज्जिका कहते हैं। अतः शृ०म० का कहना है कि जो प्रिय को अपने पास बुलाये वह वासकसज्जिका युक्ततया समझी जायगी, और रसमंजरी का मत ठीक नहीं। अभिसारिका तो वही है जो प्रिय के पास स्वयं जाय[3]:

परकीया अभिसारिका पांच प्रकार की होती है — १. ज्योत्स्नाभिसारिका २. तमोभिसारिका, ३. दिवाभिसारिका, ४. गर्वाभिसारिका तथा ५. कामाभिसारिका। शृ०म० ने एक छठे भेद की भी कल्पना की है — ६. प्रेमवाक्याभिसारिका। 'रसिकप्रिया' के रचयिता ने प्रेमाभिसारिका नामक एक नवी भेद की कल्पना की थी, किन्तु शृ०म० ने उसका प्रत्याख्यान किया है, क्योंकि प्रेम के कारण तो सभी अभिसारिकायें हैं ही — प्रेम तो अभिसार के मूल में ही है।[4]

इनमें बहुतों का लक्षण तो उनके नाम से ही जाना जा सकता है। केवल दो एक के लक्षण यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं, जैसे गर्वाभिसारिका वह नायिका है जो प्रिय के पास संकेतस्थल पर पहुँच कर, कहे कि 'मैं तो एक अन्य कार्य से आयी थी' और इस प्रकार अपने प्रेम को छिपाकर वार्तालाप करे[5]। उसी प्रकार प्रेम वाक्याभिसारिका वह है जो नायक के निकट जाकर प्रेमभरी बातें करती है।[6]

नायिका के उत्तमादि भेद —

फिर इन पूर्वोक्त सभी प्रकार की नायिकाओं में प्रत्येक के उत्तम, मध्यम तथा अधम ये तीन-तीन भेद होते हैं — रसमंजरी कार ने 'प्रियतम के अहित करने पर भी जो

---

१. प्रियं या अभिसारयति सा तु वासकसज्जिका भवति — शृ०म०

२. ननु दूत्यादिमुखेन या प्रियमभिसारयति सा वासकसज्जैव किं न स्यादिति चेन्न, तस्या वारनियमाभावात् — आमोद पृ० ४०५

३. प्रियं या भिसरति सा अभिसारिकेति — शृ०म०।

४. सर्वाअप्यभिसारिकाः प्रेम्णैव भवन्तीति — शृ०म०, पृ० ३७

५. प्रियसंकेतं गत्वा मया कार्यान्तरार्थमागतमिति मिषेण स्वप्रेमाच्छाद्य वार्तालापं या करोति सा — शृ०म०, पृ० ३८ —(शेष अगले पृष्ठ पर)

हित करे उसे उत्तमा कहा है। फिर उसकी व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं — खण्डिता तो सापराध प्रिय के प्रति प्रकुपित होती है, स्वाधीनपतिका का पति कभी अपराध करता ही नहीं तथा प्रिय का अपमान करने वाली कलहान्तरिता में यह लक्षण व्याप्त नहीं होगा, यह शंका होती है, अतः इन तीनों में पूर्वोक्त `उत्तमा` का लक्षण इस रूप में उपयुक्त किया जायगा — नायक के अधिक अपराध करने पर भी उतना अधिक कोप न करना खण्डिता का प्रियतम के प्रति हित कारिणी ही होना हुआ, प्रिय का कुछ थोड़ा अपमान कर अत्यधिक अनुताप करना कलहान्तरिता का हितकारिणीत्व हुआ। वस्तुतस्तु पति के साथ कलह करना अहित कारिणीत्व है तथा संभोगार्थ प्रयत्न करना हितकारिणीत्व है।`

किन्तु शृं०मं० कार इससे सहमत ही नहीं हैं। उनका कहना है कि कलहान्तरिता जब कोप करती है तो खण्डिता ही है और जब पश्चात्ताप करती है तब कलहान्तरिता कही जाती है। अतः उत्तमा आदि का युक्तियुक्त लक्षण इस प्रकार होगा— `प्रिय के हित से अधिक हित करने वाली `उत्तमा` तुल्य हित करने वाली मध्यमा तथा न्यून हित करने वाली `अधमा` कहलाती है।[१]

इसके पश्चात् पूर्वोक्त लक्षण-लक्षित उत्तमादि तीनों भेदों को सभी प्रकार की नायिकाओं में घटित करने का रम्य प्रयत्न शृं०म० में किया गया है। उसका उद्धरण यहाँ इस प्रसंग में उपयोगी ही होगा —शृंगाररस का आलम्बन रूप इन नायिकाओं में उत्तमादि भेद इस प्रकार होंगे —

नायिका की प्रगल्भात्वदशा उत्तमदशा है (क्योंकि उस समय वह प्रिय का अधिक हित कर सकती है) मध्यात्व दशा मध्यामात्व दशा है, तथा मुग्धात्व, अधमात्व दशा है (क्योंकि तब तो प्रिय का वह कोई हित नहीं कर सकती —मारे लाज के स्वयं मरी जाती-स्खलित रहती है)।

स्वीया में उत्तमा वह है जो पति में अनुराग बाँध कर जीवनपर्यन्त उसकी अनुज्ञावर्तिनी रहे-उसी को पतिव्रता भी कहते हैं।

जो नायक के हित एवं अनुराग के अनुकूल लोकव्यवहार के अनुसार अनुवर्तन करे वह मध्यमा तथा, जो चंचलमतिवाली होती है वह अधमा है।[२]

---

१. उत्तमाप्रियहिताधिक्य हितकारिणी, मध्यमा प्रियहितेन समं हितकारिणी, अधमा प्रियहितान्न्यूनहितकारिणी — शृं०म०

२. शृं०म० ३६

परकीया में उत्तमा वह है जो जीवन पर्यन्त उपपति में अपने अनुराग को दिल में सं संजोए रहे ।[१] जो उपपति के प्रति अपने अनुराग को प्रकाशित कर दे वह मध्यमा है, तथा चंचलहृदयवाली सर्वत्र अनुराग करने वाली अधमा कहलाती है ।[२]

सामान्या वह है जो स्वयं अनुराग करने वाली (क्लृप्तानुरागा) तथा किसी से नियमित हो, मध्यमा वह है जिससे अनुराग उत्पन्न कराया जाय (कल्पितानुरागा) तथा स्वतन्त्र हो, और अधमा वह है जो कल्पितानुरागा एवं जननी के अधीन हो ।

स्वाधीनपतिका उत्तमा वह है जिसे प्रिय प्रणाय कलह करके फिर स्वयं प्रसन्न करे, जो स्वयं प्रिय से प्रणाय-कलह करके फिर स्वयं उसे प्रसन्न करे – वह मध्यमा है, तथा जो स्वयं तो प्रणायकलह करे, किन्तु प्रसन्न होने के लिए नायक के अनुनय की प्रतीक्षा करे, वह अधमा है ।

वासकसज्जका उत्तमा वह है जो प्रियतम के मन को भाने वाला (प्रियतमहृदया-नुरंजन) मण्डन अपने अंगों में करके बारबार सखी को भेजकर प्रिय की राह पर नजर लगाये उसके मिलन के उत्सव में लीन होकर जो उसके आगमन की प्रतीक्षा करे । जो प्रिय की , भेजे श्रृङ्गार आदि को धारण कर उसकी प्रतीक्षा करे वह मध्यमा, तथा जो प्रिय के आगमन के समय भी अपने सहज श्रृङ्गार ही धारण करे उसे अधमा कहते हैं ।

विरहोत्कण्ठिता उत्तमा वह है जिसे निमेषमात्र के विरह से भी असह्य वेदना हो , वल्लभ को न देखने से जिसे मोह (मूर्च्छा) एवं वेदना हो वह मध्यमा तथा नायक के विलम्ब वियोग से जि से वेदना हो वह अधमा कहलाती है ।

उत्तमाविप्रलब्धा वह है जो अन्यकान्ता में आसक्ति के कारण वंचना करने वाले प्रिय के प्रेम की न्यूनता तथा वंचना को भी भुला कर उसके लिए अत्यन्त व्याकुल हो जाय । यहाँ वंचना से नायक के प्रेम की न्यूनता तथा वंचिता नायिका की चिन्ता एवं व्याकुलता से उसके प्रेम का आधिक्य प्रकट होता है । इसी प्रकार प्रेम के अधिक कम

---

१. उपपतौ यावज्जीवमनुरागं सङ्गोप्य या वर्तते सोत्तमा ।

२. शृ०मं०, पृ० ४०

मात्रा से इसके मध्यमा तथा अधमा भेद होंगे ।

खण्डिता में उत्तमा वह है जो नायक के अपराधाधिक्य रहने पर भी थोड़ा कोप करे , जो अपराध के बराबर कोप करे वह मध्यमा तथा जो नायक के अपराध से अधिक कोप करे वह अधमा है ।

मानवती में भी जो लघुमान करे वह उत्तमा, जो मध्य मान करे वह मध्यमा, तथा जो गुरु मान करे वह अधमा नायिका है ।

धीरादि भेदों में भी इसी प्रकार उत्तमादि भेद होते हैं । जो धीरा व्यंग्य भरे कोप के वाक्यों को गूढ रूप में बहुमानपुरस्सर कहे वह उत्तमा, जो व्यंग्य रूप में कोप-वाक्यों को बहुमानपुरस्स ही (खुले रूप में) कहे वह मध्यमा तथा जो थोड़े व्यंग्य रूप में कोप वाक्यों को कहे वह अधमा कहलाती है । इसी प्रकार जो अधीरा स्फुट रूप में कोप भरे वाक्यों को प्रिय को लघु करके कहे वह उत्तमा, तर्जन करने वाली मध्यमा तथा ताड़न करने वाली अधमा कहलाती है । और धीराधीरा में धीरा तथा अधीरा के उत्तमादि भेदों की चेष्टाओं को लेकर उत्तमा आदि भेद किये जायेंगे ।

वक्रोक्तिगर्विता उत्तमा वह है जो अपने से अधिक ~~पश्चात्ताप-पाती~~ अपने प्रिय का वर्णन करे, जो अपना और प्रिय का समान रूप से वर्णन करे वह मध्यमा तथा जो केवल अपना ही वर्णन करे वह अधमा कहलाती है ।

कलहान्ततरिता में उत्तमा वह है जो प्रियानुनयदशा से पूर्व अधिक पश्चात्ताप पाती है जो दोनों दशाओं में समानरूपा हो वह मध्यमा तथा जो बादवाली दशा में कम सन्ताप पाये वह अधमा है ।

प्रोषितभर्तृका में उत्तमा वह है जो प्रिय के प्रवासकथन मात्र से व्याकुल हो , पति के वर्तमान प्रवास से जो खिन्न हो वह मध्यमा है तथा जो अतीत के प्रवास से वेदना-वती हो वह अधमा है ।

अभिसारिका में उत्तमा वह है जो अपने शरीर को भी भूल कर:(परवाह न कर) अकेले केवल साहस के सहारे अभिसार करे । इसी को कामाभिसारिका भी कहते हैं, जो किसी सहायक के साथ अभिसार करे वह मध्यमा, तथाजो समय को ~~समझकर को~~ समझ बूझ कर अभिसारकरे वह अधमा नायिका होती है ।

नायिकाओं के अतिरिक्त सखी आदि में उत्तमादिवर्ग होते हैं । जो सखी अत्यन्त हित चाहे वह उत्तमा, जो मनोनुकूलवाक्य बोले वह मध्यमा, तथा जो इधर उधर की कुछ कर दे वह अधमा सखीकहलाती है ।

१- कृ०म०, पृ०-४१

नायिका की सहायिकायें -

इस प्रकार इतने विस्तार से नायिका - निरूपण कर चुकने के पश्चात् नायिका के सहायक सखी आदि का निरूपण किया है। उनमें सखी का स्थान प्रथम उल्लिखित होता है, यद्यपि सखी दूती का भी कार्य करती ही है। सखी का लक्षण रसमंजरीकार ने इस प्रकार किया है -विश्वास तथा विश्राम उत्पन्न कराने वाली पार्श्वचारिणी सखी कहलाती है।[1] शृ०म० ने यही लक्षण स्वीकृत किया है। फिर रसमंजरी तथा आमोद में सखी के ये कार्य गिनाये हैं -मण्डन, उपलम्भ, शिक्षा, परिहास , प्रशंसा, विनोद, मानापवाद, मानोपदेश, आशयप्रश्न, विरहाश्वास, वनलडोला-कैलि, पाञ्चाल, कन्दुक, भ्रमण निमीलन, द्यूत, मधुपान तथा कैलि। इनमें शृ०म०कार ने कुछ और जोड़ दिये हैं -लंघन, हल्लीसक, पुष्पावचय तथा वसन्तकैलि।[2]

दूती वह है जो अपने व्यापार में पारंगत हो (दूतीव्यापारपारङ्गमादूती)। दूती आठ प्रकार की मानी गई है -दासी, सखी, कारु, धात्रेयी, प्रतिवेशिनी, लिङ्गिनी शिल्पिनी तथा स्वयं (शृ ०मं०)। आमोदकार ने कुछ और भी संख्या बढ़ाई है -योगिनी, प्रव्रजिता, अज्ञातमन्मथविकारा बाला, सम्बन्धिनी, शकुनज्ञापिका, विप्रश्निका, गाननटन, पाटवती तथा नटी। ये भी दूती का काम कर देती है। शृ०म० कार ने इनके भी ऊपर दो और भेद लिखे हैं -विक्रेत्री तथा शंकिता। विक्रेत्री वैसे तो अनेक प्रकार की होती है, किन्तु उसके चार ही प्रकार दूती-कर्म के लिए उपयोगी एवं रमणीय माने गये हैं -१. काचविक्रेत्री, २. पटवासविक्रेत्री, ३. मणिविक्रेत्री तथा प्रसूनविक्रेत्री। शंकिता दूती वह है जो इस शंका से कि नायिका के परुष वाक्यों को सुनकर नायक दुःखी हो जायगा उससे सरस बातों द्वारा ही दूतकर्म करती है।[3] वेषधारण करने पर प्रव्रजिता, विप्रश्निका, तथा विक्रेत्री सभी लिङ्गिनी समझी जायेंगी। ये दूत्यकर्म कहे गये हैं -संघटन, विरहानुरागनिवेदन, प्रोत्साहन, नायकात्म-सम्भोगकथन, सन्देशहरण तथा चित्रज्ञता।

---

१. शृ०म०, पृ० ४१ (विश्वासविश्रामकारिणीपार्श्वचारिणी सखी इति)
२. शृ०म०
३. शृ०म०।

शृङ्गाररस का नायक—

शृ०र० के नायक को शृ०म० में पुरुष आलम्बनविभाव रूप में कहा गया है[1]। उसके तीन प्रकार होते हैं —१. पति, २. उपपति तथा ३. वैशिक । परिणेता को पति कहते हैं —शृ०म०कार ने उसके ६ भेद माने हैं — १. अनुकूल, २. दक्षिण, ३. धृष्ट, ४. शठ, ५. मानी तथा ६. चतुर । इनमें औरों के स्वरूप को प्राय: पूर्ववत् ही माने गये हैं, जो दो नये कहे गये हैं उनमें 'मानी' वह है,स्वयं अपराध करके भी नायिका के कोप करने पर कुपित हो, और 'चतुर' वह है जो किसी प्रकार से नायिका के प्रति अपनी रति की इच्छा सूचित करे । प्राचीन आचार्यों ने मानी और चतुर का अन्तर्भाव शठ में ही किया था —वह ठीक नहीं, क्योंकि शठ तो वह है जो गुप्त रूप में अपराध करके भी अज्ञानी की भाँति आये ।[2] और मानी चतुर के लक्षण पूर्वोक्त प्रकार से पृथक् हैं, अत: उनके लक्षण से ही उनका पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है —(तल्लक्षणाभ्यां तद्व्यतिरेकस्य स्फुटत्वात् —शृ०म०) अत: छ: प्रकार ही करना उपयुक्त है ।

शृ०म० में धृष्ट नायक का एक भेद 'धूर्त' कहा गया है, जो अपराध करके नायिका के कोप से पहिले ही स्वयं कोप दिखलाये —(अस्मिन् धूर्तभेद: अस्माभि: कल्पित: । सापराध: सन् नायिकाकोपात् प्रथमं कोपकारी धूर्त: । शृ०म०)

शठ नायक वह है जो सापराध होता हुआ भी निरपराध की भाँति बना रहे —(सापराधोऽपिनिरपराधवद् वर्तमान: शठ:— शृ०म०) । वह दो प्रकार का होता है —१. प्रच्छन्न तथा २. प्रकाश । प्रच्छन्न वह है जिसके अपराध को केवल नायिका जानती है (शृ०म०) । और प्रकाशशठ वह है, जो नायिका के कोप को जानकर बाहर जाकर कोप के शमन हो जाने पर ही अपने को दिखाये — (नायिका कोपं ज्ञात्वा बहिर्निर्गत्य य: कोपोपशमने सत्यागत्यात्मानं दर्शयति स प्रकाशशठ: — शृ०म०, पृ० ५०)

---

१. 'शृङ्गारालम्बनविभाव. पुरुषो नायक:' शृ०म०

२. 'गुप्तापराध:सन्नज्ञानीवागच्छन् शठ: ' —शृ० म०

परस्त्रीरत उपपति तथा सामान्यासक्तवैशिक कहलाता है ।

ये तीनों ही प्रकार के शृङ्गार-नायक प्रत्येक उत्तममध्यमाधम भेद से तीन-तीन प्रकार के होते हैं । उत्तम वह है जो कुपितनायिका का उपचार करे, जो नायिका के कोप के समय अपने कोप तथा अनुराग को न प्रकट कर नायिका के कोप को सहता हुआ उसके आशय को समझता है, वह मध्यम नायक है, तथा जो लज्जा, दया से रहित हो सम्भोग की इच्छा रखे वह अधम नायक है ।

फिर ये सभी नायक १-प्रोषित, २. अमिलित तथा ३. विरही भेद से प्रत्येक तीन तीन प्रकार के होते हैं । 'प्रोषित' वह है जो स्त्री से वियुक्त प्रवास गमन के कारण खिन्न हो - (स्त्रीविमुक्त:सन् प्रवासगमनेन खिन्न: शृ०म०) । 'अमिलित' वह है जो स्त्री संगम से पूर्व विरहवेदना वाला हो- (स्त्री संगमात् प्राग् विरहवेदनावान्) । तथा विरही वह है जो समीप में होकर भी कार्य में विलम्ब के कारण नायिका-संयोग से रहित हो -(समीप एवं कार्य-विलम्बेन नायिका-संयोग-रहितो विरही-शृ०म०-पृ० ५१) ।

नायक के सहायक पीठमर्द, विट, चेट तथा विदूषक पूर्ववत् कहे गये हैं ।

शृङ्गार के आलम्बन-नायक-

सामराज दीक्षित ने भी शृङ्गार के आलम्बनभूत नायक-नायिकाओं का निरूपण प्राय: पूर्वाचार्यों के ही अनुकरण पर किया है ।

सामराज का कहना है कि मुग्धा आदि तीन भेद केवल स्वीया के ही होते हैं । परकीया और सामान्यवनिता के केवल मध्या और प्रगल्भा -ये ही दो भेद माने जाने चाहिए । शकुन्तलादि नायिकायें उदितयौवनारूप में विवाह से पूर्व ही मध्या थीं । उनकी मुग्धा की अवस्था ही बीत चुकी थी[1] ।

मुग्धा वह है जिसको नवयौवन प्रथम अवतीर्ण हुआ है ।[2] उसके भी दो भेद

---

१. 'शकुन्तलादीनामुदितयौवनानांमध्यात्वमेव नतु मुग्धात्वम् । सुयोगं विनरतिकालेन तस्यापगमात् — (शृ०अ०ल०)

२. तत्र प्रथमावतीर्णनवयौवनामुग्धा ।

है — १. ज्ञातयौवना तथा २. अज्ञातयौवना । मुग्धा को ही नवोढा भी कहते हैं। परोढा को अङ्गीरस का आलम्बन (अथवा प्रधान नायिका) नहीं बनाना चाहिए — 'नान्योढाङ्गिरसे क्वचित् ।'

फिर १. गुप्ता, २. विदग्धा, ३. लक्षिता, ४. मुदिता, ५. कुलटा तथा ६. अनुशयाना भेदों को परकीया में ही अन्तर्भूत अथवा परकीया के ही भेद करते हैं।

गुप्ता दो प्रकार की होती है —१. वृत्तसुरतगोपना तथा २. वर्तिष्यमाण-सुरतगोपना । विदग्धा भी दो प्रकार की होती है — १. क्रियाविदग्धा तथा २. वाग्विदग्धा ।

सामान्यवनिता वह है जो केवल वित्त के लिए सब पुरुषों में अपना अनुराग जमावे । कभी वित्त के लिए कभी कामवश उसके अनुराग को कहना तो उसका स्वरूप अथवा स्वभाव कहना हुआ । लक्षण तो उसका वही है — प्रकटसकलपुरुषानुरागा ।

फिर इनके तीन प्रकार किये गये हैं —१. अन्यसम्भोगदु:खिता २. वक्रोक्ति-गर्विता तथा ३. मानवती ।

सामराज ने प्रवत्स्यत्पतिका का पृथक् भेद नहीं माना है। उसे प्रोषित-पतिका में ही अन्तर्भूत कर लिया है।

रामानन्द ठक्कुर ने आलम्बन विभाव रूप नायिका का प्रथम निरूपण किया है। उन्होंने प्राय:, रुद्रट, भानुदत्त,तथा भोज का ही अनुसरण किया है। उन्होंने नायिका के गुप्ता, विदग्धा, कुलटा, अनुशयाना, लक्षिता, मुदिता, राजकन्या आदि भेदों का परकीया में ही अन्तर्भाव कर दिया है[1]। उन्होंने भी सामान्यवनिता के १. स्नेहगर्विता, २. अन्यसम्भोगावदूषिता, ३. वक्रोक्तिगर्विता तथा ४. मानवती ये चार भेद माने हैं।[2]

शृङ्गार नायक के भेदों का निरूपण करते हुए रामानन्द ने मानी और चतुर प्रकारों को शठ (पतिनायक के प्रकार-विशेष) के अन्तर्गत माना है[3](मानीचतुर

---

१. गुप्ता विदग्धा कुलटा नुशयानादयस्तुया: ।
परकीयासु सर्वासामन्तर्भावो निरूपित: ।। र०त० २।४०
आदि-पदेन लक्षितामुदिताराजकन्याप्रभृतय: ।

२. र०त० ३।५६

३. मानी च चतुरश्चैव शठस्यान्तर्गतौ बुभौ । —र०त० ६।२७२

उन्होंने पति,उपपति तथा वैशिक तीनों प्रकार के नायकों का एक भेद प्रोषित भी माना है ।[१] तथा रस भावों के अनभिज्ञ को नायकाभास कहा है ।[२]

रसदीर्घिकाकार विद्याराम ने नायक को समान्यत: सभी रसों का और विशिष्टतया शृङ्गाररस का आलम्बन विभाव कहा है ।[3] उनका यह कथन कुछ विवेकपूर्ण नहीं समझ पड़ता क्योंकि नायक रस का आश्रय आलम्बन दोनों होता है -केवल आलम्बन ही नहीं,अतएवश्री गोपालनारायण बहुरा ने, टिप्पणी में कहा है -नायक इत्युपलक्षणं सर्वप्राणिनां इति -पृ० ४ ।

उन्होंने अपने शृङ्गारनिरूपण में रसमञ्जरी तथा रसप्रकाश का भूय: अनुसरण किया है । परोढा परकीया के लक्षिता, मुदिता आदि अनेक भेद बताए -(लक्षिता मुदितेत्यैवं परोढा विविधाङ्गना-र०दी० २।२६) । वेश्या के शृ० को विद्याराम ने शृङ्गाराभास कहा है क्योंकि उसके चित्त में रति भाव नहीं रहता, वहां तो केवल द्रव्यलोभ होता है[४]। प्रोषितपतिका के स्थान पर विद्यारमा अपने अनुष्टुप् छन्द की आवश्यकता वश व्याकरण नियम की अवहेलना कर `प्रोषित्पतिका` लिखा है[५] । अभिसारिका के शुक्ला, कृष्णादि भेदों का इन्होंने भी उल्लेख किया है[६]। इसीप्रकार रसचन्द्रिकाकार विश्वेश्वर पाण्डेय ने पूर्ववर्ती विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि आचार्यों के मत का अनुवाद -मात्र किया है ।

---

१. पतिश्चोपपतिश्चैववैशिक: प्रोषितो भवेत् -र०त० ६।१७७
२. अनभिज्ञोरसानां यो नायकाभास एव स: । -र०त० ६।१७७
३. आलम्बनविभावस्तु रसानां नायकोमत: । सामान्यतोह्यशेषाणां शृङ्गारस्य विशेषत: ।
-र०दी० १।२४
४. तस्या द्रव्यैकचित्त्वाच्छृङ्गाराभासएवस: । -र०दी० २।३२
५. साप्रोषित्पतिका यस्या:प्रियोदेशान्तरं गत: -र०द० २।३६
६. शुक्ला कृष्णादिभेदेनानेकधास्त्यभिसारिका -र०दी० २।४३

षष्ठ अध्याय

शृङ्गार - अनुभाव

षष्ठ अध्याय

शृङ्गार - अनुभाव

अनुभाव—

अनुभाव भी, अलौकिक शब्द है । विविध स्थायी व्यभिचारी भावों के व्यञ्जक वाङ्गसत्त्वकृत अभिनय, जो उन भावों का सामाजिकों को अनुभव कराते हैं, अत: — अनुभाव कहे जाते हैं [1]। अनुभव का अर्थ है कवि की चित्तवृत्ति के साथ तन्मय होना । लोक में इसे कार्य ही कहते हैं । कौन विभाव कहलाते हैं और कौन अनुभाव —इसका मुनि ने कोई परिगणन नहीं किया है, क्यों कि वे लोक-स्वभावानुगत होते हैं, उन्हें बुध जन अभिनयों से ही जान लेते हैं । [2] ये अनुभाव और विभाव प्रति-व्यक्ति जो विविध होते हैं, अत: उनकी ईदृक्ता तथा इयत्ता निश्चित नहीं की जा सकती है —क्योंकि देखा जाता है कि (विभावों में) वही वस्तु किसी की रति का हेतु तथा किसी की जुगुप्सा का हेतु होती है [3]। जैसा कि भागवत में उल्लेख अलङ्कार द्वारा कंस की सभा में श्रीकृष्ण का वर्णन किया गया है [4] । अनुभावों में कोई अपनी रति को क्रीड़ा द्वारा व्यक्त करता है, कोई हंसकर कोई कलह कर तथा कोई रोकर ही ।

---

१. वाङ्गाभिनयनेह यतस्त्वर्थोनुभाव्यते ।
वाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्तत:स्मृत: ।। —ना०शा० ७।५

२. लोकस्वभावसंसिद्धालोकयात्रानुयायिन:
अनुभावविभावाश्चज्ञेयास्त्वभिनयैर्बुधै: ।।
—ना०शा० ७।६

३. एक एव पदार्थस्तुत्रिधाभवति वीक्षित: ।
कुणप.कामिनी मांसं योगिभि: कामिभि:श्वभि: ।।

४. मल्लानामशनिर्नृणां नरवर: स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान् ।
गोपानां स्वजनोऽसतांक्षितिभुजांशास्तास्वपित्रो: शिशु: ।
मृत्युर्भोजपते विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गत:साग्रज: ।।
— १०।४३।१७

शृङ्गाररस के अनुभाव—

यहां विभाव बताते समय तो भरत ने केवल सम्भोग का उल्लेख किया। विप्रलम्भ का नहीं, किन्तु अनुभावों के विवेचन के प्रसङ्ग में सम्भोग आदि का भी सम्बन्ध नहीं बताया। किन्तु यहां जिन चेष्टाओं के अभिनय द्वारा शृङ्गार रस का प्रदर्शन बताया गया है, वे तो केवल सम्भोग की ही कही जा सकती है —नयनों की चतुराई भ्रूविभ्रम के साथ कटाक्षसञ्चार, ललित, मन्थर, मधुरनयनाभिरामअङ्गों का संचालन, सुकुमार, श्रवण-सुखकर वाक्यप्रयोग इत्यादि अनुभावों द्वारा शृङ्गाररस का अभिनय किया जाता है।[1] अभिनव ने अन्त में बड़े विशद ढंग से इसका निष्कर्ष निकाला है —'ये आश्रय की आङ्गिकी वाचिकी तथा सात्त्विकी चेष्टायें अभिनीत होकर सहृदयों में विभावों से उद्दीप्त हुए शृङ्गार का और अधिक अनुभव कराती हैं। अर्थात् आश्रय के नेत्र, शरीर वाणी तथा अङ्गचालन में जो लालित्य तथा माधुर्य अभिनीत होता है वही शृङ्गार का अनुभाव होता है।'[2]

सात्त्विकभाव—

इसी प्रकार सात्त्विक भाव भी जो सत्त्वजन्य हैं, वे ही भाव कहलाने योग्य हैं, नहीं तो वे भी अनुभाव ही माने जाने चाहिए – यह कहा जा चुका है। सात्त्विक शब्द की व्युत्पत्ति भरतमुनि ने इस प्रकार की है —'इह सत्त्वं नाम मनःप्रभवम्। तच्च समाहित-मनस्त्वात् उत्पद्यते। मनःसमाधानाच्च सत्त्वनिर्वृत्तिर्भवति। तस्य च यो सो स्वभावः स्तम्भस्वेदरोमाञ्चाश्रुवैवर्ण्यादिको न दृश्यते मनसाकर्तुमिति लोकस्वभावानुकरणात्वाच्च नान्यस्यसत्त्वमीप्सितम्। —---- एतदेवास्य सत्वं यद्दुःखितेन सुखितेन व अश्रुरोमाञ्चौ दर्शयितव्याविति व्याख्यातम्।'[3]

---

१. तस्यनयन-चातुर्यभ्रूदीपकटाक्षसंचारललितमधुराङ्गहारवाक्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। —ना०शा०, अ० ६

२. 'एता आङ्गिक्यो वाचिक्यः सात्त्विक्यश्चआश्रयस्य अभिनीयमानाश्चेष्टाः सहृदयेषु पूर्वप्रतिपादितैरुद्दीपितंशृङ्गारमधिकमनुभावयन्ति। आश्रयंस्यचक्षुषि वपुषि वचसि अङ्गचालने च यल्लालित्यं यच्च माधुर्यमभिनीयते तदेवशृङ्गारस्य अनुभावो भवतीतिनिष्कर्षः॥ —(अभि०भा०

३. ना०शा०, अ० ७

सात्त्विकों के विभाव एवं अनुभाव—

इन सात्त्विक भावों को भावरूप माने जाने के कारण ही इनके विभावों तथा अनुभावों का भरत मुनि ने उल्लेख किया है —इनमें क्रोध, भय, हर्ष, लज्जा, दु:ख श्रम, रोग, ताप, घात, व्याघात, क्लम, घाम तथा सम्पीडन से स्वेद , हर्ष, भय, शोक, विस्मय, विषाद तथा रोष आदि से 'स्तम्भ', शीत, भय ,हर्ष ,रोष, स्पर्श, जरा तथा रोग से 'कम्प', आनन्द, अमर्ष, धूम, अञ्जन, जृम्भण, भय शोक, निर्निमेष अवलोकन, शीत तथा रोग से 'अश्रु' , शीत क्रोध, भय , श्रम , रोग, क्लम तथा ताप से 'वैवर्ण्य' स्पर्श, भय शीत, हर्ष, क्रोध तथा रोग से 'रोमाञ्च' भय, हर्ष, क्रोध, जरा, रौक्ष्य रोग तथा मद से 'स्वरभङ्ग' तथा श्रम, मूर्छा, मद, निद्रा, अभिघात तथा मोहादि से 'प्रलय' भाव का उदय होता है।[1]

इसी प्रकार इनके अनुभावों का विस्तार के साथ निरूपण किया गया है।[2]
स्तम्भ मे निःसंज्ञ निष्प्रकम्प स्मित शून्यजडाकृति तथा स्कन्न गात्र,
स्वेद में व्यजनडुलाना, पसीना, पोंछना, तथा हवा की इच्छा, वेपथु में वेपन, स्फुरण तथा कम्पन, स्वरभङ्ग में बदले हुए गद्गद शब्द, रोमाञ्च में बार बार रोयों का खड़ा हो जाना, गिनगिनी (उल्लुकसन) तथा गात्र-संस्पर्शन, अश्रु में आंखों को पोंछना तथा अश्रुजल, वैवर्ण्य में मुख के रंग को बदलना और प्रलय में कठिनाई से अङ्गों को संभालना तथा भूमि पर गिरना होता है।[3] इस प्रकार यह सात्त्विकों के विभावों तथा अनुभावों का विवेचन भरत की ही विशेषता है। इससे सात्त्विकों का भावत्व पूर्ण प्रमाणित हो जाता है। इस भाव-प्रकरण के अन्त में भरत ने एक बार पुन: स्मरण दिलाया है कि (विभाव, अनुभाव, से युक्त तो स्थायी, सञ्चारी तथा सात्त्विक तीनों होते हैं, किन्तु) रस पद को तो विभावानुभाव तथा संचार से युक्त स्थायी भाव ही प्राप्त करते हैं —

'विभावानुभावयुतो ह्यङ्गवस्तुसमाश्रय: ।
सञ्चारिभिस्तु संयुक्त: स्थाय्येवतुरसोभवेत् ।[4]

---

१. ना०शा० ७।६४-६८
२. ~~स्तम्भ में नि:संज्ञ निष्प्रकम्प स्मित शून्यजडाकृति तथा स्कन्नगात्र~~ ।
३. ना०शा० अ० ७
४. ना०शा०

शृङ्गार के अभिनय—

यहाँ कुछ शृङ्गाररस सम्बन्धी अभिनयों पर भी विचार किया गया है। भरत-मुनि ने रसों के निरूपण के प्रसङ्ग में अभिनयों का अत्यधिक उपयोग बताया है क्योंकि वे ही रस-निष्पत्ति के प्रधान साधन हैं।[1] सभी भावों को अभिनयों द्वारा ही तो प्रदर्शित अथवा व्यक्त कियाजाता है। अभिनय चार प्रकार के होते हैं — १. आङ्गिक, २. वाचिक, ३. आहार्य, तथा ४. सात्त्विक[2]।

आङ्गिक अभिनय — १. शरीरज, २ मुखज, तथा ३. चेष्टाजन्य रूप से तीन प्रकार का बताया गया है।[3] फिर, इस आङ्गिक अभिनय को सिर, हाथ, उरस्, पार्श्व, कटी तथा चरण इन छः अङ्गों द्वारा एवं नेत्र, भ्रू नासिका, अधर, कपोल तथा चिबुक —इन छः उपाङ्गों द्वारा सम्पादित किया जाता है।[4] सिर के अभिनय तेरह प्रकार के बताये गये हैं।[5] इनमें निहञ्चितना का शिर के अभिनय में बाहुशिखर उठा हुआ तथा कन्धरा भी उठी हुई होती है। यह अभिनय स्त्रियों के गर्व, विलास, ललित, बिव्वोक, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित तथा स्तम्भमान में प्रयुक्त होता है।[6]

इसी प्रकार दृष्टियां भी प्रत्येक रस में विभिन्न प्रकार की होती है। शृङ्गार रस में कान्ता तथा रति भाव में स्निग्धा दृष्टि भरत मुनि को अभीष्ट है। फिर — १. शून्या, २. मलिना, ३. श्रान्ता, ४. लज्जान्विता, ५. ग्लाना, ६. शङ्किता, ७. विषण्णा, ८. मुकुला, ९. कुञ्चिता, १०. अभितप्ता, ११. जिह्मा, १२. सललिता, १३. वितर्किता, १४. अर्धमुकुला, १५. विभ्रान्ता, १६.

---

१. विभावयन्ति यस्माच्च नानार्थान्हि प्रयोगतः।
 शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्तस्मादभिनयः स्मृतः॥ — ना०शा० ८।७

२. ना० शा० ८।९

३. वही ८।११

४. वही ८।१३

५. ना०शा०८।१७—३९

६. उत्क्षिप्तबाहुशिरसस्तथाञ्चितशिरोधरः।
 निहञ्चितं तु विज्ञेयं स्त्रीणामेतत् प्रयोजयेत्।
 गर्वे विलासे ललिते बिव्वोके किलकिञ्चिते
 मोट्टायिते कुट्टमिते स्तम्भमाने निहञ्चितम्॥ —ना०शा० ८।३०,३१

१६. विप्लुता, १७. आकेकरा, १८. विकोशा १६. त्रस्ता तथा २०. मदिरा — ये बीस प्रकार की संचारी भावों की दृष्टियां कही गयी हैं क्योंकि ये प्राय: सभी रसों में होती हैं। इन सभी प्रकार की दृष्टियों में भी शृङ्गार रस में होने वाली हर्ष और प्रसाद से उत्पन्न, अत्यधिक मन्मथ भावनापरी, भ्रूक्षेप तथा कटाक्ष से युक्त कान्ता दृष्टि मानी गई हैं[1]। रति भाव में प्रफुल्लमध्या, मधुरा, स्मेरतारा, अभिलाषिणी, आनन्दाश्रु से युक्त स्निग्धा दृष्टि होती है।[2] रतिभाव के रहने पर दृष्टि में विकास तो स्वाभाविक ही होती है। शृङ्गार रस में प्राय: सभी सञ्चारिणी दृष्टियों का उपयोग होता है।

रस-भाव के अनुसार ही तारा-पुट तथा भौंहों की भी क्रिया का उल्लेख किया गया है। शृङ्गार में तारों की विवर्तन-क्रिया होती है[3]। तारा का दर्शन अथवा अवलोकन सम अर्थात् समतार तथा सौम्य होता है।[4] नेत्रपुट कर्म भी शृङ्गार रस में सम माना गया है।[5]

भौंहों की भी गति सात प्रकार की कही गयी है — १. उत्क्षेप, २. पातन, ३. भ्रुकुटी, ४. चतुर, ५. कुञ्चित, ६. रेचित, तथा ७. सहज।[6] इनमें यद्यपि शृङ्गार में ललित में तथा सौम्य स्पर्श के समय चतुर नामक भ्रूगति होती है, जिसमें कुछ उच्छ्वास के साथ भौंहें मधुर आयत हो जाती हैं, तथापि ये सातों प्रकार की भ्रूगतियां शृङ्गार में उपयोज्य हो सकती हैं — क्यों कि शृङ्गार में सभी प्रकार की मधुरात्मिका चेष्टाओं का समाहार हो जाता है।

अभिनय में नासिका भी छ: प्रकार की बतायी गयी है — १. नता, २. मन्दा, ३. विकृष्टा, ४. सोच्छ्वासा, ५. विघूर्णिता तथा ६. स्वाभाविका।[7]

---

१. ना०शा० ८।४४

२. वही, ८।५३

३. शृङ्गारे च विवर्तितम् — ना०शा० ८।६६

४. समतारं च सौम्यं च यद् दृष्टं तत् समं स्मृतम्। — ना०शा० ८।१०२

५. शृङ्गारे च समं स्मृतम् — ना०शा० ८।११२

६. ना०शा० ८।११४-११५

७. ना०शा० ८।१२४

इसी प्रकार गण्डस्थली भी छ: प्रकार की अभिनीत होती है । शृङ्गार के संभोग तथा विप्रलम्भ पक्षों में प्राय: सभी प्रकारों का उपयोग होता है ।[१]

अधर के छ: प्रकार के अभिनय हैं ।[२]

चिबुक (ठुड्डी) भी दांत, ओष्ठ तथा जिह्वा की क्रियाओं से सात प्रकार से अभिनीत होता है ।[३]

दृष्टि-क्रम के अनुसार आस्य (मुख) के भी छ: कर्म होते हैं ।[४] अभिनयों में मुखराग की सबसे अधिक महिमा कही गई है । इनमें अद्भुत, हास्य तथा शृङ्गार में प्रसन्न मुख राग होता है[५]। तदनन्तर नव प्रकार का ग्रीवाभिनय ।[६] इसके पश्चात् हस्ताभिनय का रसभाव के अनुसार निर्देश किया गया है ।[७]

हस्तकर्माभिनय—

इसी प्रसङ्ग में मुनि ने रस भाव के अनुसार हस्तकर्मों का भी उल्लेख कर दिया है जो इस प्रकार है -१.उत्कर्षण, २. विकर्षण, ३. अपकर्षण, ४. परिग्रह, ५. निग्रह, ६. आह्वान, ७. नोदन, ८. संश्लेष, ९. वियोग, १०. रक्षण ११. मोक्षण, १२. विक्षेप, १३. धूनन, १४. विसर्ग, १५. छेदन, १६. भेदन, १७. स्फोटन, १८. मोटन तथा १९. ताडन[८]। इनमें सभी हस्ताभिनय तथा सभी हस्त-क्रियायें शृङ्गार रस में उपयोज्य होती हैं, कुछ संयोग में कुछ विप्रलम्भ में तथा कुछ दोनों में ।

उरोभिनय[९], पार्श्वाभिनय,[१०] उदराभिनय,[११] कटी-अभिनय[१२],

---

१. ना०शा० ८।१३०-३५

२. वही ८।१३५-१४०

३. वही ८।१४१-१४६

४. वही ८।१४१-६तक

५. वही ८।१४७-५४

५. वही ८।१६२

६. वही,८।१७०

७. वही ना०शा० ९।१४५

८. वही,९।१५७-५९

९. वही, १०।१९ ,   १०. वही १०।११-१७,   ११. वही १०।१८-२०

१२. वही, १०।२१-२६

उरु अभिनय,[१] जङ्घाभिनय,[२] तथा पादाभिनय[३] का भी विवेचन किया गया है।

गति-विवेचन--

नाट्य की प्रकृतियाँ तीन प्रकार की होती हैं -- दिव्या, २. मानुषी तथा ३. दिव्यमानुषी। नाट्यरङ्ग पर उनकी भी गतियाँ रस के अनुसार विभिन्न प्रकार की बताई गई हैं।[४] शृङ्गारिणी अभिसारिका मार्ग पर दूर तक दृष्टि डालने वाली, हृद्य गन्ध वस्त्र तथा अलङ्कारों से विभूषित तथा पुष्पों एवं सुगन्धित मालाओं से समलङ्कृत तथा ललित चरणों से चलती हुई प्रवेश करनी चाहिए।[५]

अर प्रच्छन्न कामिनी को सभी लोगों को विसर्जित कर, केवल दूती के साथ लिए हुए, दीप बुझाये, अधिक भूषणों से बिना अलंकृत, वेला में समान रंगवाला वस्त्रधारण किये हुए निःशब्द मन्दचरणों द्वारा, शब्दशक्ति के प्रति उत्सुक अवलोकन-तत्पर, वेषभावान्तरवाली, शङ्कता तथा बारबार लड़खड़ाती होनी चाहिए।[६]

इसके पश्चात् शृङ्गाररस की नायिका-सर्वस्वभूत स्त्रियों की गति-विचेष्टित का विशेष प्रकार से निरूपण किया है। उसमें भी सर्वप्रथम तो स्त्रियों की गतियों में तथा आभरण* (आभाषणों ?) में स्थानों (Poses) का विवेचन किया है[७]--। ये स्थान (Poses) तीन प्रकार के बताये गये हैं -- आयत,[८] २. अवहित्थ[९] तथा ३. अश्वक्रान्त।[१०]

---

१. ना०शा० १०।३३

२. वही १०।३४-४०

३. वही १०।५५

४. वही, १३।२ (यथामार्गं रसोपेतं प्रकृतीनां प्रवेशनम्)

५. ना०शा० १३।३६-४२

६. वही १३।४४-४७

७. " स्त्रीणां स्थानानि कार्याणि गतिष्वाभरणेषु च " -- ना०शा० १३।१५८

८. वही १३।१५६

९. वही १३।१६३-१६५

१० वही १३।१६८

स्थान के पश्चात् विविध पात्रों सम्बन्धी गतियों का विवेचन किया गया है --गर्भिणी, स्थवीयसी, प्रेष्या, कापुरुष, बाला, नपुंसक, पुलिन्दशबराङ्गना, व्रतस्थ, तपःस्थ, लिङ्गस्थ तथा स्वस्थ स्त्रियों की अभिनेय गतियों का निरूपण किया है[1]। फिर आसन विधि (उपवेशन आदि के प्रकार) का विवेचन हुआ है। और ~~अध्याय के~~ अन्त में शयनकर्म का भी निरूपण किया गया है।

भरत ने इसी प्रसङ्ग में प्रवृत्तियों आदि के विवेचन के पश्चात् वागअभिनय पर विचार किया है। यह वागभिनय नाट्य का शरीर माना जाता है। सभी अङ्ग नेपथ्य आदि वाक्यार्थ को ही अभिव्यञ्जित करते हैं।[2] इसका आशय यह है कि अङ्गों द्वारा तथा नेपथ्यों से जो व्यञ्जित करना अभीष्ट है उसे वाणी से भी कहा जा सकता है। और नाट्य की वाणी सदा वृत्त अथवा लय के साथ ही प्रयुक्त होती है, क्योंकि वृत्त अथवा छन्द की संख्या अनन्त है। अतएव भरत ने बड़े मार्मिक ढंग से कहा है कि 'छन्दो-हीनो न शब्दो स्ति.न छन्दः शब्दवर्जितम्। तस्मादुभयसंयुक्तेनाट्यस्योद्योतके स्मृते ।।[3] और इस प्रकार पूरे पन्द्रहवें तथा सोलहवें अध्याय में वृत्तों या छन्दों का लक्षण दिया है, जो दूसरे शब्दों में वागभिनय का ही निरूपण कहा जायगा।

आहार्य-अभिनय (नैपथ्याभिनय)

आगे भरत ने आहार्य अभिनय के प्रसङ्ग में शृङ्गारोपयोगी नेपथ्य का विचार किया है। नेपथ्य का महत्त्व बताते हुए भरत ने कहा है कि सारा नाट्य आहार्य अभिनय पर ही आधारित होता है।[4] अतएव अभिनव ने आहार्य अभिनय को भित्तिरूप तथा समस्त नाट्यप्रयोग को उसके ऊपर चित्ररूप कहा है, जिससे सभी प्रकार के अभिनयों के अभाव में भी नेपथ्य-विशेष को ही देख कर ही विशिष्ट भाव का बोध

---

१. ना०शा० १३।१७०-१९२

२. 'वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाट्यस्येयं तनुः स्मृता ।
अङ्गनेपथ्यतत्त्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि ।। --ना०शा० १५।२

३. ना०शा० १५।४

४. यस्मात् प्रयोगः सर्वो यमाहार्याभिनयेस्थितः । --ना०शा० २१।१

बहुत कुछ हो जाता है। इस प्रकार नेपथ्य अत्यधिक भावाभिव्यञ्जक माना गया है। शृङ्गार (विप्रलम्भ) में प्रोषितपतिका, तथा व्यसनाभिहता का वेष मलिन तथा सिर के केश एक वेणी में लिपटे रहे गये हैं। सानान्य पसे विप्रलम्भ में नारी का वेष आभरणहीन और मान्य किया है।[1]

श्मश्रु-अभिनय--

इसी प्रकार पुरुषों की श्मश्रु का विवेचन करते हुए भरत कहते हैं कि शुक्ल, श्याम, विचित्र तथा रोमश--इन चार प्रकार की श्मश्रुओं में शृङ्गारप्रिय तथा यौवनोन्मादवाले लोगों की श्मश्रु विचित्र करनी चाहिए। शृङ्गारियों के सिर के केश कुञ्चित ही किये जाने चाहिए[2]।

सात्त्विक अभिनय--

तदनन्तर सभी अभिनयों में सामान्यरूप से विद्यमान सत्त्वपात्मक अभिनयों का निरूपण किया गया है। चित्तवृत्ति ही संवेदन-भूमि में पहुँचकर शरीर में भी व्याप्त होती है। उसी को सत्त्व कहते हैं[3]। सात्त्विक अभिनय में बड़ी सावधानी से प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि नाट्य सत्त्व में ही प्रतिष्ठित रहता है। नाट्य-रसमय होता है और रस का सबसे बड़ा अन्तरङ्ग है सात्त्विकभाव। अतः वह रस के प्रसंग में सर्वाधिक अभ्यर्हित होता है[4]। सात्त्विक के अभाव में तो अभिनय क्रिया नाम भी नहीं सुनाई पड़ सकता है।[5] भावों तथा रसों का आधारभूत, अव्यक्तरूप, स्वाश्रयस्थचित्तवृत्तिरूप सत्त्व को अपने रोमाञ्च आदि गुणों (अनुभावों) से जाना जाता है।[6]

---

१. ना०शा० २३।७०-७२, चौ०

२. वही २३।१४७,चौ०

३. " इह चित्तवृत्तिरेव संवेदनभूमौ संक्रान्ता देहमपि व्याप्नोति। सैव च सत्त्वमित्युच्यते।
-भारती

४. रसमयं हि नाट्यं, रसे चान्तरङ्ग:सात्त्विकस्तस्मात् स एवाभ्यर्हित इति "
-भारती २२।६, जी

५. "सात्त्विकाभावे ह्यभिनयक्रियानामापिनोन्मीलति" -भारती भाग २२।२ जी०

६. अव्यक्तरूपं सत्त्वं हि भावरसाश्रयम्। यथास्थानरसोपेतं रोमाञ्चास्रादिभिर्गुणैः।
-ना०शा० २२।३, जी०

जिस रस का जो स्थान अथवा आश्रय होता है, उसी के सत्त्व से वे व्यक्त होते हैं — जैसे शृङ्गाररस से उत्तम कोटि के स्त्री-पुरुष, रौद्र से राक्षस दानव आदि, भयानक के अधम पात्र इत्यादि[1]।

यौवन में स्त्री के अलङ्कार—

इसमें स्त्रियों के यौवनकाल में मुख एवं अन्य अङ्गों पर अतिशय वर्धमान बहुत से विकार अथवा चिह्न दिखायी पड़ते हैं। उन्हें नाट्यशास्त्र की भाषा में 'अलङ्कार' कहा गया है।[2] ये अलङ्कार केवल देहनिष्ठ होते हैं, उन्हें चित्तवृत्तिरूप नहीं समझना चाहिए। ये अलंकार केवल शृङ्गार रस की ही वस्तु हैं।

ये अलङ्कार केवल यौवन में उद्रिक्त दिखायी पड़ते हैं — बाल्य अवस्था में ये उद्भिन्न नहीं होते, तथा वार्धक्य में तिरोहित हो जाते हैं। उन्हें यौवन में प्रकट करने वाला हेतु रतिभाव है, जैसे दीपक घट को प्रकट करता है।[3]

अलङ्कार-भेद—

इन अलङ्कारों में तीन अङ्गज, दस स्वाभाविक तथा सात अयत्नज होते हैं। अङ्गज अलङ्कार:— अङ्गज अलंकार शरीर-स्थित विकार रूप हैं जो १. भाव, २. हाव तथा ३. हेला — तीन माने गये हैं। इनका परस्पर हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्ध होता है।[4] सत्त्व जब शरीरात्मक होता है, तो उससे भाव उत्पन्न होता है, फिर भाव से हाव एवं हाव से हेला की उत्पत्ति होती है।[5]

---

१. यस्य रसस्य यत् स्थानं तद्यथा शृङ्गारस्य(उत्तमौ)स्त्रीपुंसौ, रौद्रस्य रक्षोदानवादि: भयानकस्याधमप्रकृति:। --भारती — २२।३, जी०

२. अलङ्कारास्तु नाट्यज्ञैर्ज्ञेया नाट्यरसाश्रया:।
यौवने त्वभ्यधिका: स्त्रीणां विकारा वक्त्रगात्रजा:॥ ना०शा० २४।४

३. 'ते हि यौवने उद्रिक्ता दृश्यन्ते, बाल्ये त्वनुद्भिन्ना वार्धके तिरोभूता:। यदाहुर्यावन्त एते तरुणीजनस्वभावा: समुद्भूमितान्यपि। रात्राविवदृश्यानिवतान् घटादीन् कामप्रदीप: प्रकटीकरोति"॥ —भारती २२।४ जी०

४. भावो हावश्च हेला च परस्परसमुत्थिता:।
सत्त्वभेदा भवन्त्येते शरीरप्रकृतिस्थिता:॥ — ना०शा० २४।६ जी

५. देहात्मकं भवेत् सत्त्वं सत्त्वाद्भाव:समुत्थित:।
भावात् समुत्थितो हावो हावाद्धेलासमुत्थिता॥ ना०शा० २२।६

भाव (अङ्गज अलंकार)

इन अङ्गज अलङ्कारों में प्रथम भाव है। इस भाव का भी लक्षण भरत ने वही किया है जो सप्तम अध्याय में निरूपित (रत्यादि) भाव का, जैसे —

'वागङ्गमुखरागैश्च सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतंभावं भावयन् भाव उच्यते ॥'[1]

किन्तु यह भाव तो केवल स्त्रियों का ही माना गया है —यौवने ऽभ्यधिकाः स्त्रीणाम्। तो फिर 'कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भावः।' इसकी यहाँ क्या संगति होगी ? वस्तुतः इस कारिका की यहाँ इस प्रकार अन्विति करनी पड़ेगी— स्त्री पात्र के वागङ्गमुखरागों द्वारा, सत्त्व द्वारा तथा अभिनय द्वारा जो कवि अर्थात् सहृदय को स्वान्तर्गत भाव की भावना कराये वही स्त्री पात्र का अङ्गज विकार भाव कहलाता है। यहाँ 'कवेः' में कर्मणि षष्ठी माननी होगी [2]। इस प्रकार यह भाव संभोगेच्छा अथवा रतिभाव का प्रथम प्रकृतिविपर्यास अथवा विकृति रूप है। यह उद्बुद्धमात्ररूप होता है, स्फुट प्रतीयमानरूप नहीं —जैसा कि शकुन्तल के प्रथम अङ्क में शकुन्तला के इस वाक्य से व्यक्त होता है —'किं नु खलु इमं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता।'

हाव (अङ्गज अलङ्कार)

जब वही भाव अक्षि-भ्रू-विकारादि से सम्पन्न हो श‍ृङ्गाररस का सूचक बनता है तो 'हाव' कहलाता[3] है। जैसे कुमारसम्भव के इस श्लोक में —

---

१. १. ना०शा० २२।८ बी०

२. 'वागङ्गमुखरागैणेत्यादिपाठः परैभावाध्यायश्लोको नास्य तुल्यो थैस्त्वन्य एव नतु श्रीशङ्कुकेनार्थ (धं ?) स्वार्थं वक्तव्यम्। तस्मादयमर्थः —वागङ्गमुखरागैः सत्त्वेन च लक्षितो भावः वागङ्गसत्त्वविशेष एव बालिकायाःभाव इत्युच्यते इत्यर्थः। किमपि विशेषणेनेत्याह। किंत्वन्तर्गतवासनात्मतयावर्तमानं रसाख्यभावं भावयन् सूचय(च) यन् किं सर्वस्य नेत्याह, कवेः सूक्ष्मासूक्ष्मानप्यर्थान् पश्यति तस्य सहृदयस्येत्यर्थः।'

—भारती २२।८, जी.

३. तत्राक्षिभ्रूविकाराढ्यश‍ृङ्गाररससूचकः।
सग्रीवारेचकोज्ञेयो हावस्थित-समुत्थितः॥ ना०शा० २४।१० बी०

'विण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैस्फुरद्बालकदम्बकल्पैः ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्त-विलोचनेन । ३।६८

अतएव अभिनव 'हाव' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं —
'शृङ्गारोचितनायकं सहृदयान् प्रत्यर्पणेन हृद्यं सूचयतीति हावः ।
एष हि स्वचित्तवृत्तिपरत्र जुह्वती ददती तां कुमारीं ज्ञापयति ।'—भारती

हेला (अङ्गज अलङ्कार)

यही 'हाव' जब अधिकतर रागात्मक विकार तथा ललिताभिनयात्मक हो, तो उसे 'हेला' कहते हैं।[1] भाव-हाव-हेला यद्यपि पुरुष में भी होते हैं किन्तु अलंकार स्त्रियों के ही कहलाते हैं।

स्वाभाविक अलङ्कार—

इसी प्रकार दस स्वाभाविक अथवा स्वभावज अलङ्कार होते हैं। वे ये हैं—
१. लीला, २. विलास, ३. विच्छित्ति, ४. विभ्रम, ५. किलकिंचित् ६. मोट्टायित, ७. कुट्टमित, ८. बिब्बोक, ९. ललित तथा १०. विहृत। प्रियतम के प्रति प्रीति तथा बहुमान के कारण उसकी मधुर वाग्, वेष तथा अलंकार आदि की अनुकृति को लीला कहते हैं।[2]

प्रियसङ्गम के समय अथवा प्रिय के सन्दर्शन आदि से जो स्थान, आसन, गमन में तथा हस्त-भ्रू-नेत्र की चेष्टाओं में वैशिष्ट्य आ जाता है वही विलास कहलाता है।[3]

माल्य, आच्छादन (वस्त्र) भूषण, तथा विलेपन आदि की बेपरवाही के साथ की गई स्वल्प भी रचना जो परमशोभा उत्पन्न करती है उसे विच्छित्ति कहते

---

१. 'यो वै हावः स एवैषा शृङ्गाररस-सम्भवा ।
समाख्याता बुधैर्हेला ललिताभिनयात्मिका ।। २२।११ (जी)

२. 'वागङ्गालंकारैः शिष्टैः प्रीतिप्रयोगजनितैर्मधुरैः ।
इष्टजनस्यानुकृतिर्लीला ज्ञेया प्रयोगज्ञैः ।।

—नाट्यशास्त्र, २२।१४ (जी०)

३. ना० शा० २२।१५

हैं।[1] यह नाभाग्यगार्व की महिमा कही गयी है।

मद, राग अथवा हर्ष के कारण वाक्, अङ्ग, आहार्य तत्त्वसम्बन्धी विविध विषयों का अन्यथा न्यास विभ्रम कहलाता है।[2] और यह व्यत्यासविधि दयितागमनादि में होती है, जैसे कुछ की जगह कुछ कह देना, हाथ में धारण करने की वस्तु को पैर में ले लेना, मेखला को गले में पहिन लेना। जैसे —

'त्वायान्तं पति: कान्तमवलोक्यविभ्रमया।
भालेऽञ्जनं द्गोलंजितकपोले तिलक: कृत:।। (सा०द०)

जो हर्ष के कारण स्मित, रुदित, हसित, भय, हर्ष, गर्व, दु:ख, श्रम तथा अभिलाष का अनेक बार सङ्कर होता है उसे 'किलकिञ्चित' कहते हैं।[3]

प्रियविषयिणी चर्चा होने पर अथवा प्रिय के दर्शन होने पर जो तद्भाव-भावितचित्ता नायिका का लीला-हेलादिक होने लगता है उसे 'मोट्टायित' कहते हैं।[4]

प्रियतम द्वारा केश-स्तन आदि के पकड़े जाने पर हर्षसम्भ्रम से उत्पन्न सौख्य को जो बाह्य दु:खोपचार के रूप में प्रदर्शित किया जाता है उसे कुट्टमित कहते हैं[5]।

स्वाभीष्ट वस्त्रअलंकार आदि पदार्थों के प्राप्त होने पर जो अभिमान गर्व-सम्भूत अनादर होता है उसे विब्बोक कहते हैं[6]।

---

१. माल्याच्छादनभूषणाविलेपनानामनादरन्यास:।
स्वल्पो पि परां शोभां जनयति यस्माद् विच्छित्ति:।। ना०शा० २२।३६ जी०

२. विविधानामर्थानां वागङ्गाहार्यतत्त्वयोगानाम्।
मदरागहर्षजनितो व्यत्यासो विभ्रमो ज्ञेय:।। २२।३७जी०

३. स्मितरुदितहसितभयहर्षगर्वदु:खश्रमाभिलाषाणाम्।
सङ्करणं हर्षादसकृत् किलकिञ्चितं ज्ञेयम्।। — ना०शा० २२।३८ जी

४. इष्टजनस्याकथायां लीलाहेलादि दर्शनेवापि।तद्भावभावनाकृतमुक्तंमोट्टायितं नाम।२२।३९

५. केशस्तनाधरादिग्रहणादतिहर्षसंभ्रमोत्पन्नम्।
कुट्टमितं विज्ञेयं सुखमपि दु:खोपचारेण।। ना०शा०, २२।२०

६. इष्टानांभावानां प्राप्तावभिमानगर्वसम्भूत:।
स्त्रीणामनादरकृतो विब्बोको नाम विज्ञेय:।। ना०शा० २२।२१

सुकुमारता के कारण जो भ्रू-नेत्र , ओष्ठ-सहित करचरणादि अङ्गों का विन्यास होता है, उसे ललित कहते हैं[१]।

अवसर मिलने पर भी कहने योग्य वाक्यों को जो किसी व्याज से अथवा स्वभाव से न कह पाये उसे विहृत कहते हैं ।[२]

अयत्नज अलङ्कार—

इसके पश्चात् सात अयत्नज अलङ्कार बताये गये हैं — १. शोभा, २. कान्ति, ३. दीप्ति, ४. माधुर्य, ५. धैर्य,६.प्रागल्भ्य तथा ७. औदार्य ।

रूप, यौवन तथा लावण्य, जो प्रिय द्वारा उपभुक्त होने के कारण और अधिक बढ़े रूप में अङ्गों का अलङ्कृत करते हैं, उसे शोभा कहते हैं ।[३] जब शोभा ही आपूर्णमन्मथ होती है तो 'कान्ति' कही जाती है ।[४] और यही कान्ति 'अतिविस्तीर्ण होकर ' ' दीप्ति' कहलाती है ।[५] इन शोभा , कान्ति तथा दीप्ति में परस्पर तारतम्य होता है ।[६]

जैसे रतिक्रीड़ादिक ललित भावों में, वैसे ही क्रोधादिक दीप्तभावों में तथा सभी अवस्था-विशेषों में जो चेष्टाओं में कोमलता होती है, उसे माधुर्य कहते हैं ।[७] अपने रूप, यौवन, आदि के विषय में जो अविकत्थना तथा चापल्य से अनुपहत व जो स्वाभाविक चित्तवृत्ति हो उसे धैर्य कहते हैं ।[८]

---

१. ' हस्तपादाङ्गविन्यासो भ्रूनेत्रौष्ठप्रयोजित: ।
सौकुमार्याद्भवेद्यस्तु ललितं तत्प्रकीर्तितम् ।। ना०शा० २२।२२ जी०

२. 'वाक्यानां प्रीतियुक्तानां प्राप्तानां यदभाषणम् ।
व्याजात् स्वाभावतो वापि विहृतं नाम तद्भवेत् ।। ना० शा० २२।२४ जी०

३. रूपयौवनलावण्यैरुपभोगोपबृंहितैः।
अलंकरणमङ्गानां शोभेति परिकीर्तिता ।। २२।२८

४. 'विज्ञेया च तथा कान्ति: शोभैवापूर्णमन्मथा । ना० शा० २२।२८ जी०

५. कान्तिरेवातिविस्तीर्णा दीप्तिरित्यभिधीयते । वही, २२।२८ जी० .

६. ' तान्येव रूपादीनि (रूपयौवनलावण्यानि) पुरुषेणोपभुज्यमानानि छायान्तरं श्रयन्ति सा च्छाया मन्दमध्यातीवृत्वं क्रमेण संभोगपरिशीलनाद्भजतीति शोभां कान्तिं दीप्तिं चेत्यर्थ: । — (भारती)

७. सर्वावस्थाविशेषेषु दीप्तेषु ललितेषु च । अनुल्बणत्वं चेष्टाया माधुर्यमिति संज्ञितम् । २२।३जी

८. चापलेनानुपहता सर्वार्थेष्वविकत्थना । स्वाभाविकी चित्तवृत्तिर्धैर्यमित्यभिधीयते । २२।३०

चौदहवाँ प्रकार है नागरादिकों में जो निस्साध्वसता (बिना झिझक के प्रवृत्ति) होती है वही स्त्रियों का 'प्रागल्भ्य' कहलाता है[१]।

जो अमर्ष, ईर्ष्या, क्रोध आदि सभी प्रकार की अवस्थाओं में भी परुषवचन आदि का न कहना, उसे ही 'औदार्य' कहते हैं।[२]

शृङ्गाररस के भी (रस-सामान्य की भाँति) सुकुमार तथा दीप्त दो पक्ष सम्भव हैं। उनमें सुकुमार वह पक्ष है, जिसमें अन्योन्यसंभोग तथा विप्रलम्भ आदि भेद होते हैं, तथा दीप्त वह है, जिसमें ईर्ष्या, अमर्ष, दीप्ति आदि प्रकार होते हैं जब शृङ्गार का सुकुमार पक्ष प्रयुज्यमान होता है, उस समय उसमें पूर्वोक्त लीला आदि अलङ्कारों का अभिनय किया जाता है। और जब ईर्ष्या अमर्ष आदि दीप्त पक्ष प्रयुज्यमान होता है उस समय विलास तथा ललित को छोड़ कर शेष सभी का क्रमिक अथवा युगपद् संभव अवश्य होता है। अतः उनका अभिनय वहाँ करना चाहिए किन्तु इतना ध्यान रखना चाहिए कि ये सब स्त्रियों के ही 'अलङ्कार' कहे गये हैं।

पुरुषों के भी सात्त्विक अलङ्कार—

इसी प्रकार पुरुषों के भी आठ सात्त्विक अलंकार होते हैं, जो इस प्रकार हैं—१. शोभा, २. विलास, ३. माधुर्य, ४. स्थैर्य, ५. गाम्भीर्य, ६. ललित, ७. औदार्य तथा ८. तेज[३]।

जिस सात्त्विक से दाक्ष्य, शौर्य, उत्साह, नीच वस्तुओं के प्रति जुगुप्सा तथा उत्तमगुणों के साथ स्पर्धा व्यक्त होती है, उसे शोभा कहते हैं।[४]

---

१. प्रयोगनिस्साध्वसता प्रागल्भ्यं समुदाहृतम् ।। २२।३१ जी०

२. औदार्यं प्रश्रयः प्रोक्तः सर्वावस्थानुगो बुधैः ।। २२।३१जी०

३. 'शोभाविलासौ माधुर्यं स्थैर्यं गाम्भीर्यमेव च ।
ललितौदार्य-तेजांसि सत्त्वभेदास्तु पौरुषाः ।। ना०शा० २२।३३ जी०

४. दाक्ष्यं शौर्यमथोत्साहो नीचार्थेष्वजुगुप्सनम् ।
उत्तमैश्च गुणैः स्पर्धा यतः शोभेति सा स्मृता ।।
— ना०शा० २२।३४ जी०

धीरस चारिणी दृष्टि, गवेन्द्र की-सी गति, तथा स्मितपूर्वक आलाप ये `विलास` कहे जाते हैं।[१]

अभ्यासवश जो युद्ध, नियुद्ध, व्यायाम आदि बड़े विकारों में भी कर, चरण आदि क्रियाओं की श्लिष्टता (अनुल्वणता) बनी रहती है, उसे माधुर्य कहते हैं।[२]

शुभ अथवा अशुभ संकल्प से समुत्थित धर्मार्थकामफल वाले व्यवसाय से न डिगना स्थैर्य कहलाता है।[३]

अभिनव ने इस स्थैर्य के विषय में व्याख्यान्तर भी उपस्थित किया है — `अन्ये तु वीरस्यैतदनुचितमिति मत्वा यथाव्याचक्षते --शुभाशुभयोः समुत्थित इति तेन यच्छास्त्रोक्तमुचितमनुचितं चारभ्यते तत्र क्रियमाणे (शुभं) सुलभत्वा र्थलाभः, अशुभं दायव्ययादिरूपकमस्तु, तथापि तदविषयाध्यवसायादविचलनं स्थैर्यं देहविकाररूपमेव। — (भारती)

जो हर्ष, क्रोध, भय आदि भावों में भी आकार अविकृत-सा दिखाई पड़ता है वह `निस्तमितदेहस्वभाव` गाम्भीर्य कहलाता है।[४]

निर्विकार सत्स्वरूप में, अबुद्धिपूर्वक शृङ्गारानुकूलचेष्टता को `ललित` कहते हैं[५]। स्वजन अथवा परजन को दान देना, परित्राण आदि के याचक को अपना लेना तथा प्रियभाषण `औदार्य` कहलाता है[६]।

पर के द्वारा अर्थात् शत्रु द्वारा (गुरु मित्र आदि के द्वारा नहीं) प्रयुक्त अधिक्षेप अपमाना आदि को जो प्राणों की भी न परवाह कर न सहन करना, उसे

---

१. धीरसंचारिणीदृष्टिः गतिर्गोवृषभान्विता।
स्मितपूर्वमथालापो विलास इति कीर्तितः॥ वही २२।३५ जी०

२. अभ्यासात् करणानां तु श्लिष्टत्वं यत्र जायते।
महत्स्वपि विकारेषु तन्माधुर्यमितिस्मृतम्॥ ना०शा० २२।३६ जी०

३. धर्मार्थकामसंयुक्ताच्छुभाशुभसमुत्थितात्।
व्यवसायादचलनं स्थैर्यमित्यभिधीयते॥ ना०शा० २२।३७ जी०

४. यस्यप्रभावादाकाराः हर्षक्रोधभयादिषु।
भावेषु नोपलक्ष्यन्ते तद् गाम्भीर्यमितिस्मृतम्। — २२।३८

५. अबुद्धिपूर्वकं यत्तु निर्विकारस्वभावजम्। शृङ्गाराकारचेष्टत्वं ललितं तदुदाहृतम्॥
ना०शा० २२।३९ जी०

६. `दानमभ्युपपत्तिश्च तथा च प्रियभाषणम्।
स्वजने च परे वापि तदौदार्यं प्रकीर्तितम्॥ ना०शा० २२।४०

'तेज' कहते हैं ।[१]

अनुभाव के अन्तर्गत ही कुछ और भी शारीरिक अथवा आङ्गिक अभिनयों का मुनि ने उल्लेख किया है, जो सर्वरससाधारण कहे जायेंगे । वे इस प्रकार हैं – १. वाक्य, २. सूचा, ३. अङ्कुर, ४. शाखा, ५. नाट्यायित, तथा ६. निवृत्यङ्कुर।[२]

इसी प्रकार दशरूपकों के वाचिक अभिनय भी भावरस के अनुसार बारह प्रकार के कहे गये हैं ।[३] वे इस प्रकार हैं – १ आलाप, २. प्रलाप, ३. विलाप, ४. अनुलाप ५. संलाप, ६. अपलाप, ७. सन्देश, ८. अतिदेश, ९. निर्देश, १०. उपदेश, ११. अपदेश, १२. व्यपदेश ।

ये आङ्गिक तथा वाचिक दोनों प्रकार के अभिनय सामान्याभिनय कहे गये हैं क्योंकि ये सभी रसों में सामान्यरूप से अभिनेय होते हैं ।[४]

कामोपभोग के प्रकार–

नाट्य में कामोपभोग को भरत ने दो प्रकार का बताया है – १. आभ्यन्तर तथा २. बाह्य । अभ्यन्तर अन्तःपुर को कहते हैं – वहाँ होने वाले कामोपभोग को आभ्यन्तर कहते हैं । और वह केवल पार्थिवों का वर्णित किया जाता है – क्योंकि वे ही अनुकरणीय नागरिक होते हैं । और बाह्य सम्भोग तो केवल वेश्या सम्बन्धी माना गया है, जो प्रकरण नामक रूपक में प्रदर्शित होता है ।

उपचारविधि–

इसके पश्चात् भरत ने कामतन्त्र के अनुसार उपचारविधि की व्याख्या की है ।

---

१. 'अधिक्षेपावमानादेः प्रयुक्तस्य परेणयत् ।
प्राणात्यये प्यसहनं तत्तेजः समुदाहृतम् ।। ना०शा० २२।४१ जी०

२. 'एतेषां तु भवेन्मार्गो यथाभावरसान्वितः ।

३. ना०शा० २२।५१-६० जी०

४. ना०शा० २२।४२-५० जी०

देवदानकादि भरतने

प्रकृत्येव विविध शील वाली स्त्रियों को भरतने पुनः तीन प्रकार की प्रकृतियों में विभक्त किया है – १. वाह्या, २. आभ्यन्तरा तथा ३. बाह्याभ्यन्तरा ।[1] इनमें कुलीन स्त्री आभ्यन्तरा कहलाती है, वेश्या बाह्या तथा [illegible] बाह्याभ्यन्तरा कही जाती है, जो कोई वेश्या या पुनर्भवा भी होती है।

राजा का बाह्योपचार–

राजोपचार में बाह्यस्त्रीभोग (वेश्यापभोग) नहीं [illegible] जाता ।[2] राजाओं का केवल आभ्यन्तर भोग ही वर्णित किया जाता है । इतरजनों ([illegible]) का बाह्य वर्णित होता है । क्यों कि समाज में नायक राजा उच्चजातिवर्ग का [illegible] होने के कारण वेश्यागामी नहीं दिखाया जा सकता है, और यदि राजा का बाह्योपचार (वेश्याङ्गनाराङ्गम) वर्णन ही करना हो, तो वह केवल दिव्य वेश्याङ्गना (अप्सरा) के साथ होगा, जैसे पुरुरवा का उर्वशी के साथ । और यदि राजा का किसी [illegible] के प्रति कामिता वर्णित करनी होगी, तो वह कन्यारूप ही होगी । राजा की वेश्या भी कुलजातुल्य ही होती है ।[3]

कामसमुद्भवप्रदर्शनविधि–

नाट्य में वह कामसमुद्भव श्रवण, दर्शन अङ्गलीलाविचेष्टित तथा मधुरालाप (रूप अनुभावों) द्वारा प्रदर्शित किया जाता है ।[4] रूपवान् गुणवान् , कलाविज्ञान-यौवनादिसमलंकृत किसी पुरुष को देखकर नारी मदनातुर हो जाती है ।[5] इसी प्रकार अन्य भी कामोत्पत्ति का निमित्त होता है । अभिनव ने इसके लिए एक उदाहरण दिया है, जैसे 'तापसवत्सराजचरित' में पद्मावती के प्रति वत्सेश्वर की मदनोत्पत्ति बतायी

---

१. ना०शा० २२।१५२

२. वही २२।१५४ बी०

३. ना०शा० २२।१५७

४. वही २२।१५८ जी

५. " रूपगुणादिसमेतं कलादिविज्ञानयौवनोपेतम् ।
दृष्ट्वा पुरुषविशेषं नारी मदनातुरा भवति ।। —ना०शा० २२।१५६

गई है और उसका निमित्त अतिशय अनुवृत्ति (पीछे पड़ना) बताई गई है।[1]

भरत ने कामयमान पुरुषों एवं स्त्रियों की प्रत्यङ्ग स्वभाव की चेष्टाओं का निरूपण किया है, जिन्हें काव्य तथा नाटक में उसके विशेष प्रयोग लक्षित करते हैं उस समय दृष्टि--ललिता(वलितान्ता, अर्धविलोकिनी) चलपक्ष्म, मुकुलेक्षणा तथा सस्तोत्तरपुटा (जिसकी ऊपर की पलकें गिरती हुई हों) होती है।[2] मुखराग -- जिसका गण्डस्थल ईषत् संरक्त हो, स्वेदलवों से युक्त, तथा प्रस्पन्दमान रोमाञ्च होता है। वेश्या में अपने मदनभाव को सखटाक्षनिरीक्षणों, आभरणसंस्पर्शों, कर्णकण्डूयनों, अङ्गुष्ठाग्रविलेखनों स्तननाभिप्रदर्शनों, नखनिस्तोदनों (नाखून काटने) तथा केशसंयमनों द्वारा प्रदर्शित करती है।[3] जबकि कुलाङ्गना मदनभावप्रेरिता होकर आँखों से हंसती-सी देखती है, निगूढ मुस्काती है, अधोमुखी होकर बातें करती है, स्मितोत्तरवीर वाक्य बोलती है, अपने स्वेदाकार को छिपाती है, उसके अधर फड़कते हैं तथा दृष्टि चकित रहती।[4]

काम के दस स्थान अथवा अवस्थायें --

इस प्रकार मदनभाव (स्नेह) के उदय होने पर सुरतोत्सव (संयोग) की प्राप्ति तक के बीच में (अर्थात् पूर्वराग की विप्रलम्भ में) (वेश्या, कुलाङ्गना) सभी प्रकार की स्त्रियों तथा पुरुषों का भी काम (स्नेहभाव) दशस्थान (अवस्था) गत दिखाया जाता है।[5] स्त्रियों की भांति पुरुषों में प्रेम मनोविकार के उत्पन्न होने पर वे अभिलाषा विद्रू अवस्थायें देखी जाती हैं। इनका लक्षण भरत ने सविस्तर किया है।[6]

इन दस काम-अवस्थाओं का वर्णन यहां मुनि ने कामतन्त्र की समीक्षा से किया है। इसमें भी नाट्य में 'मरण' का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। पुरुष की भी

---

१. 'यथा तापसवत्सराजचरिते पद्मावतीं प्रति नानोत्पन्निर्वत्सैत्वरस्य निमित्तमत्यन्तानुवृत्तिर्नाम्। तथा वाङ्मयिमनः प्रणिबाधधृताजटा न गणितः स्वजनोननवंवयः, अनुनैरिति-मामनुरागिणीव्यवसितादपनेतुमिवेच्छति' इति।'

-- ४।८ भारती:

२. वही, २२।१६१ जी
३. वही २२।१६४-६५
४. वही २२।१६७-६८ जी
५. वही २२।१७०-७२ जी
६. वही २२।१७३-१६१

ये निप्रलम्भगत ... नहीं होती हैं, किन्तु पुरुषों में मिलन के उपाय सुलभ होते हैं। अत: वे बीच में (बिना सभी अवस्थायें भोगे) भी समागम कर सकते हैं, किन्तु स्त्रियों के लिए यह सम्भव नहीं। अतएव ये कामावस्थाएं स्त्रियों के ही सम्बन्ध में कही गई हैं। पुरुषों में तो अतिदेश रूप ही उनकी सत्ता मानी जाती है।[1] पूर्वोक्त दसों काम-दशाओं में कुछ सामान्यगुण अथवा धर्म भूयिष्ठ अभिनेय होते हैं, जैसे - चिन्ता, निश्वास, खेद, हृदयाभिनय, अनुगमन, ऊर्ध्वनिरीक्षण, स्पर्श, मोटन तथा उपाश्रयाश्रय आदि।[2] ~~अर्थात् १. पार्टी पर, २. ... ३. ... ४. प्रसव के अनन्तर, ५. वस्त्र आदि पर विपत्ति के ... ६. पुत्र ... आदि उत्सव के समय।[3]~~

नारी के विषय में नीति-पञ्चक -

नारी के विषय में मुनि ने नीति-पञ्चक के प्रयोग का उपदेश किया है -- १. साम, २. उपप्रदान, ३. भेद, ४. दण्ड तथा ५. उपेक्षा[4]।

साम में-`मैं तुम्हारा ही हूँ`, `तू मेरी ही है, मैं तेरा दास हूं, तू मेरी प्रिया है।` इत्यादि रूप से स्वभाव प्रदर्शन होता है। (६६)

उपप्रदान में यथावसर प्रमोद-व्यसन आदि किसी निमित्त से भूयोभूय: धनदान होता है। (६७)

भेद में -उस नायिका के अन्य प्रिय के दोषों को इस प्रकार दिखाया जाता है कि वे उसे सत्य रूप ही प्रतीत होते हैं। इस प्रकार पूर्वप्रिय से सोपाय विमुख किया जाता है। (६७)

दण्ड में -बन्धन तथा ताडन ही होता है। (६८)

बाद के आचार्यों ने इन्हें मान-भङ्ग के उपाय के रूप में निरूपित किया है। इनमें नायिकाविशेष के साथ उपायविशेष का प्रयोग भी बताया गया है। मध्यस्था (किञ्चित् स्निह्यन्तीमित्यर्थ: -भारती) को साम उपाय से, लुब्धा को उपप्रदान से, तथा अन्य पुरुष के साथ बद्धभावा को भेद से अपनी ओर सम्मुख करे। और भागने या पुरुषान्तर के घर में रहने पर मृदु दण्ड तथा बन्धन दे।[5] और यदि सामादिक उपायों का यथाक्रम प्रयोग करने पर भी कोई फल

---

१. पुरुषस्य सुलभोपायत्वान् मध्य एव समागम: शक्यक्रिय:, न तु योषितामित्याशयेन कामावस्था: स्त्री ~~षूपदिष्टा: पुरुषे~~ष्वतिदिष्ट: -भारती: ।

२. ना०शा० २२।१६५-६७बी०

~~३. ना०शा० २२।२०१ बी~~

४. वही २३।६५ ५. वही २३।६६-७०

न मिले अर्थात् वह वश में न आये तो बुद्धिमान् नायक उसकी केवल उपेक्षा करे (७२)।

स्त्रियों के मुख के रङ्ग से, नेत्रों से तथा भावव्यञ्जक चेष्टाओं द्वारा पता चल जाता है कि कौन उनका द्वेष्य है, कौन उनका प्रिय अथवा अप्रिय तथा कौन मध्यस्थहै।

मानिनी वेश्याओं के लिए अर्थवश प्रिय अथवा अप्रिय पुरुष गम्य ही होता है। किन्तु दिव्याङ्गनाओं अप्सराओं के विषय में यह बात नहीं है। उनमें अर्थ-परायणता नहीं होती। यद्यपि वेश्या का हृदय दुर्लक्ष्य होता है। बातों से वह अपने मनोभाव के प्रतिकूल भी आचरण करती है —द्वेष्य को भी प्रिय कहती है, प्रिय को अप्रिय बताती है। इसी प्रकार दुश्शील को सुशील तथा निर्गुण को गुणाढ्य बनाती है। किन्तु जिसे देख कर उत्फुल्ल-तारक नेत्रों द्वारा हंसती हुई प्रसन्न मुख-राग दिखायी पड़े उसके साथ उसका भाव-बन्धन समझना चाहिए।[१] इस प्रकार भावाभावों को जानकर ही नारी (वेश्या) का कामतन्त्रानुसार यत्नपूर्वक उपयोग करे। (७७)। उपचारप्राचुर्य के कारण तथा बीच-बीच में विप्रलम्भ का पुट पा जाने के कारण वेश्याओं में काम काष्ठाग्नि की भांति दुश्चिकित्स्य रूप में निष्पन्न होता है (७८)। इतना सारा यौषित् -उपचार विवेचन भरत ने वैशिक पुरुष के प्रसंग में किया है जो प्रकरण नामक रूपक तथा नाटक में यथायोग (अर्थात् पताकानायक आदि के साथ) उपयोज्य है।[२]

नाटक का सुकुमारप्रयोगत्व—

भरत का कहना है कि इस प्रकार विभावों तथा अनुभावों के निदर्शन द्वारा भावों का अभिनय करना चाहिए।[३] जैसे मालाकार नानाप्रकार के पुष्पों से माला गूंथता है उसी प्रकार अङ्गों, उपाङ्गों रसों तथा भावों द्वारा नाट्यप्रयोग करना चाहिए।[४]

---

१. वही २३।७६

२. वही २३।७९

३. ना०शा० २५।४०

४. वही २५।११७

नाटक, प्रकरण, भाण तथा [illegible] प्रयोग होने के कारण सुकुमार प्रयोग कहे गये हैं। सुकुमारप्रयोग राजाओं को आमोद देते हैं, क्योंकि उनमें स्त्रियों का एक [illegible] विलास दिखायी पड़ता है। स्त्रियों के शृङ्गाररस को लेकर यह सुकुमार प्रयोग किया जाता है।[1] नाट्य में [illegible] वाले उत्तम-मध्यम-अधम, वृद्ध-बालिश तथा स्त्रियाँ रूप प्रकृतियों का प्रतिनिधित्व किया जाता है। नाट्य में पुरुषार्थचतुष्टय का निरूपण होता है। भरत के ही शब्दों में —

> "तुष्यन्तितरुणाः कामेविदग्धाःसमयान्विते ।
> अर्थेष्वर्थपराश्चैवमोक्षेष्वथविरागिणः ।
> शूरास्तुवीररौद्रेषु नियुद्धेष्वाहवेषु च ।
> धर्माख्यानेपुराणेषु वृद्धास्तुष्यन्तिनित्यशः ।।
> नाशक्यमधमैर्ज्ञातुमुत्तमानांविचेष्टितम् ।
> तत्त्वभावेषु सर्वेषु तुष्यन्ति सततं बुधाः ।
> बालामूर्खाः स्त्रियश्चैव हास्यनैपथ्ययोः सदा[2]।।

किन्तु वास्तविकप्रेक्षक तो वह है जो (नाटक-नायक के) तुष्ट होने पर तुष्टिप्राप्त करता है, शोक में शोक अनुभव करता है, क्रोध में क्रुद्ध होता है तथा भय में भीत होता है।[3] जैसा कि अभिनव ने सहृदय का लक्षण अपने ध्वन्यालोक लोचन में किया है — "येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशात् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाज.सहृदयाः ।"

भरत का कहना है कि इस प्रकार का शृङ्गार-रस-पूर्ण कौशिकीवृत्तिसंयुक्त, नृत्तवादित्रगीतयुक्त नाट्यप्रदोषवेला में प्रदर्शनीय होता है[4] और कुशल नट को चाहिए कि वह मन से "मैं वही हूँ" इस प्रकार अपने को उसी पात्र के रूप में रमाकार (काव्यानुसन्धानबलाद् इत्यर्थः) वाक् , अङ्ग, गति, लीला, चेष्टा आदि द्वारा नाट्याभिनय[5] करे।

---

१. ना०शा० २६।२५-२६
२. वही , २७।५८-६१
३. वही २७।६१-६२ जो
४. वही ना०शा० २७।६३
५. "एवं बुधः परं भावं सो स्मीतिमनसास्मरन्
वागङ्गमतिलीलाभिश्चेष्टाभिश्चसमाचरेत् ।।
— ना०शा० ३५।१४, चौ०

नाटक, प्रकरण, भाण तथा वीथ्यङ्गणतुष्यान्वित प्रयोग होने के कारण सुकुमार प्रयोग कहे गये हैं। सुकुमारप्रयोग राजाओं को आमोद देते हैं, क्योंकि उनमें स्त्रियों का स्वभावोचित विलास दिखायी पड़ता है। स्त्रियों के शृङ्गाररस को लेकर यह सुकुमार प्रयोग किया जाता है।[1] नाट्य में नानाशीलों वाले उत्तम-मध्यम-अधम, वृद्ध-बालिश तथा स्त्रियों रूप प्रकृतियों का प्रतिनिधित्व किया जाता है। नाट्य में पुरुषार्थचतुष्टय का निरूपण होता है। भरत के ही शब्दों में —

'तुष्यन्तितरुणाः कामेविदग्धाः समयान्विते।
अर्थेष्वर्थपराश्चैवमोक्षेष्वथविरागिणः।
शूरास्तुवीररौद्रेषु नियुद्धेष्वाहवेषु च।
धर्माख्यानेपुराणेषु वृद्धास्तुष्यन्तिनित्यशः॥
नराऽधमधींनांतुकुलानांविचेष्टितम्।
तत्त्वभावेषु सर्वेषु तुष्यन्ति सततं बुधाः।
बालाःमूर्खाः स्त्रियश्चैव हास्यनैपथ्ययोः सदा[2]॥

किन्तु वास्तविकप्रेक्षक तो वह है जो (नाटक-नायक के) तुष्ट होने पर तुष्टिप्राप्त करता है, शोक में शोक अनुभव करता है, क्रोध में क्रुद्ध होता है तथा भय में भीत होता है।[3] जैसा कि अभिनव ने सहृदय का लक्षण अपने ध्वन्यालोक लोचन में किया है — 'येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशात् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयी भवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाज.सहृदयाः।'

भरत का कहना है कि इस प्रकार का शृङ्गार-रस-पूर्ण कैशिकीवृत्तिसंयुक्त, नृत्यवादित्रगीत[illegible] नाट्यप्रदोषवेला में प्रदर्शनीय होता है[4] और कुशल नट को चाहिए कि वह मन से 'मैं वही हूँ' इस प्रकार अपने को उसी पात्र के रूप में रमाकर (काव्यानुसन्धानबलाद् इत्यर्थः) वाक्, अङ्ग, गति, लीला, चेष्टा आदि द्वारा नाट्याभिनय[5] करे।

---

१. ना०शा० २४।२५-२६
२. वही, २७।५८-६१
३. वही २७।६१-६२ जी
४. वही ना०शा० २७।६३
५. 'एवं बुधः परं भावं सोऽस्मीति मनसास्मरन्।
वागङ्गमतिलीलाभिश्चेष्टाभिश्चसमाचरेत्॥
— ना०शा० ३५।१४, चौ०

शृङ्गाररस में रुद्रट ने वैदर्भी या पाञ्चाली रीति का अनुसरण करने को कहा है और मधुरा तथा ललिता वृत्तियों को स्वीकार किया है[१]। वैसे भी नायिका की ये सहायिकायें भी उसके प्रति निष्ठा रखती हैं एवं कार्यकुशल होती हैं।[२]

नायिका के यौवन के अलङ्कार--

फिर धनंजय ने भरत के अनुसार ही स्त्रियों के यौवन में सत्त्वोद्भूत भाव, हाव, आदि बीस अलङ्कारों का निर्देश किया है।[३] इनमें भाव, हाव और हेला अङ्गज हैं, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रागल्भ्य, औदार्य और धैर्य --ये सात अयत्नज हैं, तथा लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, ललित और विहृत --ये दस स्वभावज हैं।[४] धनंजय ने प्रत्येक का संक्षेप में (थोड़ी नवीनता के साथ) इस प्रकार लक्षण किया है :--

१. भाव :-- निर्विकारात्मक सत्त्व से प्रथम विकार को उद्भूत भाव कहलाता है।[५]

भरत ने इस प्रसंग में 'सत्त्व' को देह-स्थानीय कहा था और सत्त्व से भाव की उत्पत्ति बतायी थी -- 'देहात्मकं भवेत् सत्त्वं सत्त्वाद्भावः समुत्थितः'[६]। वास्तव में तो भाव की उत्पत्ति चित्त से ही उन्होंने मानी है -- 'भावश्चित्तसमुत्थितः'[७] अतः निर्भ्रान्त रूप में रखने के लिए धनंजय ने केवल सत्त्व शब्द का प्रयोग किया। और धनिक ने भी सत्त्व शब्द का कोई पर्याय नहीं दिया और जो विकार का आश्रय रूप से सत्त्व को बताया है इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सत्त्व का अर्थ उन्होंने मन ही लिया क्योंकि विकारों का आश्रय मन ही रहता है। अस्तु। हाँ, तो जैसे अङ्कुरित

---

१. इह वैदर्भीरीतिः पाञ्चाली वा विचार्यरचनीया। मधुराललितेऽविनाशार्थेवृत्ती तु शृङ्गारे। ३७ ?

२. धृत्योदासीसखीकारूधात्रेयीप्रतिवेशिकाः। लिङ्गिनी शिल्पिनी स्वं नेतृमित्रगुणान्विताः:
-- द०रू० २।२६

३. 'यौवनेसत्त्वजाः स्त्रीणामलंकारास्तु विंशतिः -- द०रू० २।३०

४. द०रू० २।३०-३३

५. वही २।३३

६. ना०शा० २४।७

७. वही २४।१०

होने से पूर्व बीज कुछ फूल जाता है, उसी प्रकार नायिका के मन में उत्पन्न होने वाला प्रथम शृङ्गारविकार 'भाव' कहा जाता है।

(२) हाव -- आँखों और भौंहों में विकार उत्पन्न करने वाला शृङ्गारमय स्वभाव-विशेष हाव कहलाता है। इस दशा में नायिका अधिक बातचीत नहीं कर पाती[१]।

हेला:— हाव ही जब सुव्यक्त रूप से शृङ्गार का सूचक होता है तो हेला नामक शरीरज शृङ्गार कहलाता है।[२] ~~स्वत अलंकारों में सर्वप्रथम शोभा है~~ —
अयत्नजों में —

शोभा:— रूप, विलास तथा यौवन के कारण अंगों के रज जाने को शोभा कहते हैं[३]।

धनिक ने शोभा के उदाहरण में कुमारसम्भव का यह श्लोक दिया है —

"तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीं क्षणं व्यलम्बन्त पुरो निषण्णाः।
भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्राः प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्यः ।।

कान्ति:— शोभा में ही जब काम का आविर्भाव होता है तो उसकी कान्ति और अधिक बढ़ जाती है और तब उसे कान्ति कहते हैं।[४] इसका उदाहरण हम बाण के महाश्वेतावर्णन में देख सकते हैं — धनिक)

माधुर्य— चेष्टा में अनुल्बणता (न्यूनातिरिक्तता) को माधुर्य कहते हैं[५]।

दीप्ति:— शोभा में काम भाव का सम्मिश्रण कान्ति कहलाता है, और ऐसी कान्ति का जब उद्रेक हो तो उसे दीप्ति कहते हैं — 'दीप्तिःकान्तेस्तु विस्तरः' २।३६ ।

प्रागल्भ्य :— मन के क्षोभ के साथ जो अङ्गों में ग्लानि होती है उसे साध्वस कहते हैं। उसका न पाया जाना प्रागल्भ्य कहलाता है।[६]

---

१. अल्पालापः सशृङ्गारो हावोऽक्षिभ्रूविकारकृत्। — द०रू० २।३०

२. स एव हेला सुव्यक्तशृङ्गाररससूचिका — द०रू० २।३४

३. रूपोपभोगतारुण्यैः शोभाङ्गानां विभूषणम् — द०रू० २।३५

४. मन्मथावापितच्छाया सैव कान्तिरिति स्मृता — द०रू० २।३५

५. अनुल्बणत्वं माधुर्यम् -- २।३६

६. निस्साध्वसत्वं प्रागल्भ्यम् — २।३६

औदार्य :— सदा स्नेह एवं आदर भाव से युक्त रहना औदार्य कहलाता है।[१]

धैर्य:— चंचलता एवं आत्मश्लाघा से रहित चित्तवृत्ति को धैर्य कहते हैं[२]।

{ ये (क्योंकि सातो) स्वाभाविक इसलिए हैं कि प्रिय के संग पड़कर ये स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं। }

अब दस स्वाभाविक अलंकारों का विवेचन करते हैं — (ये Psychological होते हैं)

लीला :— प्रिय की शृङ्गारविषयक वाणी वेश और चेष्टा का नायिका द्वारा मधुर अनुकरण करना लीला कहलाता है।[३]

विलास :— प्रिय के अवलोकनादि के समय जो अंगों में क्रियाएँ तथा वचनों में एक वैशिष्ट्य आ जाता है उसे विलास कहते हैं।[४]

विच्छित्ति — जहाँ थोड़ी भी वेष-रचना बहुत कमनीयता ला दे वहाँ उसे विच्छित्ति कहते हैं।[५]

विभ्रम— त्वरा के कारण समय पर जो आभूषणों को उलटफेर कर पहिन लेना होता है, उसे विभ्रम कहते हैं।[६] (धनिक ने विभ्रम के उदाहरण में अपना सुन्दर श्लोक उद्धृत किया है —

" श्रुत्वा यान्तं बहिः कान्तमसमाप्तविभूषया
भालेऽञ्जनं दृशोर्लाक्षा कपोले तिलकः कृतः ।।

किलकिञ्चित— नायिका में एक साथ क्रोध, अश्रु, हर्ष तथा भय आदि के साङ्कर्य को किलकिञ्चित कहते हैं।[७]

मोट्टायित: — प्रिय की कथा आदि में जो तद्भाव से तन्मयता आ जाती है उसे मोट्टायित कहते हैं।[८]

---

१. औदार्यं प्रश्रयः सदा - २।३६

२. चापलाविहताधैर्यं चिद्वृत्तिरविकत्थना - २।३७

३. प्रियानुकरणं लीला मधुराङ्गविचेष्टितैः - २।३७

४. तात्कालिको विशेषस्तु विलासोऽङ्गक्रियोक्तिषु

५. आकल्परचनाल्पापि विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत । २।३८

६. विभ्रमस्त्वरयाकालेभूषास्थानविपर्ययः । २।३९

७. क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादेः संकरः किलकिञ्चितम् । - द०रू० २।३९

८. मोट्टायितं तु तद्भावभावनेष्टकथादिषु - द०रू० २।४०

कुट्टमित:-

नायिका नायक के केशाकेश तथा अधर आदि के पकड़ने पर दिल से प्रसन्न होती हुई भी, जो बाहर से क्रोध करे तो वह कुट्टमित कहलाता है [१] ।

बिव्वोक:-

जब गर्व तथा अभिमान के कारण इष्ट वस्तु के प्रति भी अनादर दिखाती है तो उसे बिव्वोक भाव कहते हैं।[२]

ललित:-

कोमल तथा स्निग्ध प्रकार से अंगों के विन्यास को ललित भाव कहते हैं।[३]

विहृत:-

जब लज्जा के कारण नायिका अवसर की बात भी नहीं कह पाती तो उसे विहृतभाव कहते हैं।[४]

(धनिक ने विहृत का एक मनोहर उदाहरण उद्धृत किया है)

'पादाङ्गुष्ठेन भूमिं किसलयरुचिनासापदेशंलिखन्ती
भूयोभूय:क्षिपन्तीमयिसितशबलेलोचनेलोलतारे ।
वक्त्रंह्रीनम्रमीषत्स्फुरदधर-पुटं वाक्यगर्भं दधाना
यन्मांनोवाचकिंचित्स्थितमपिहृदयेमानसंतद्दुनोति ।)

---

१. सानन्दान्त: कुट्टमितं कुप्येत् केशाधरग्रहे - द०रू० २।४०
२. गर्वाभिमानादिष्टे पिबिव्वोको नादरक्रिया - २।४१
३. सुकुमारांगविन्यासोमसृणोललितंभवेत् - २।४१
४. प्राप्तकालं न यद्ब्रूयाद्व्रीडयाविहृतंहितत् - द०रू० २।४२

भोजके शृं०प्र० के सत्रहवें प्रकाश का विषय रति के अनुभावों का विवरण है। सरस्वती कण्ठाभरण में भी इसका उल्लेख हुआ है, किन्तु अपेक्षाकृत अत्यन्त संक्षिप्तरूप में ही। 'स्मृति इच्छा द्वेष, प्रयत्न से उत्पन्न भाषणा, स्वेदरोमांच, हर्ष अमर्ष, सुन्दरियों के नैसर्गिक विलास-लीलाविलास आदि, स्त्री पुरुष के हैला, हाव आदि का उपसंख्यान मात्र सरस्वतीकण्ठाभरण में किया गया है। भाव और अनुभूति के पश्चात् इनका नाट्यकला में स्मरण कियाजाता है, अत: इन सब को अनुभाव कहते हैं।[१] सरस्वतीकण्ठाभरण मेंइनका उदाहरण भी दिया गया है। किन्तु शृङ्गारप्रकाश में इनका विशेष विस्तार किया गया है। स०कं० में इतना सब नहीं है। यहां शृ०प्र० में प्रारम्भ में ही अनुभाव की परिभाषा भोज ने इस प्रकार की है —

'नायक आदि की, जिनमें रत्यादि संस्कार विभावादिकों के कारण प्रबुद्ध हुए हैं, स्मृति इच्छा, द्वेष, प्रयत्न के कारण मन, वचन, बुद्धि शरीर की चेष्टाएं (चाहे उनका अनुभव किया जाता है, इसलिए, अथवा रत्यादिभावों के पश्चात् (अनु) होती है इसलिए) अनुभाव कहलाती हैं।[२] फिर मानस, वाचनिक, बौद्धिक तथा शारीरिक अनुभावों का अलग-अलग विवेचन किया गया है। इनमें १. ~~मन,-आरम्भ, अनुभावा:~~ भाव, हैला शोभा, कान्ति, उद्दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रागल्भ्य, औदार्य, स्थैर्य तथा

---

१. (उद्दीपनविभावास्तै) (सतै:) स्मरतिवाञ्छति। द्वेष्टि प्रयतते वेति मन्यते वक्ति चेष्टते ।। ते नुभावास्तदार्ये स्यु: स्वेदरोमोद्गमादय:। हर्षामर्षादियो ये च ज्ञेया: सञ्चारिणो त्र ते॥ स्मृतीच्छायत्नजन्मानो मनोवाक्कायसंश्रया:। विलासाये वरस्त्रीणां ज्ञेयालीलादयस्तु ते ।। लीलाविलासोविच्छित्तिर्विभ्रम: किलकिंचितम् ।। मोट्टायितं-कुट्टमितं विब्बोको ललितं तथा ।।

विहृतं क्रीडितं केलिरितिस्त्रीणां स्वभावजा:।
हैलाहावादयश्चान्ये ज्ञेया: स्त्रीपुंसयोरपि
उपसंख्यानमेतेषामनुभावेषु मन्वते
पश्चाद्भावानुभूतिभ्यां स्मरणाद्नुभानवत्।

२. इदानीमनुभावं व्याख्यास्याम:। तत्र विभावै: प्रबुद्धसंस्कारस्यनायकादे: ये स्मृतीच्छाद्वेषप्रयत्नजन्मान:मनोवाग्बुद्धिशरीरारम्भा: ते नुभूयमानत्वाद्रत्यादीनामनन्तर भवनाच्च अनुभावा:।

गार्म्भार्य ये १२ हैं। ये प्राय: सभी नाट्यशास्त्र में भी कहे गये हैं[1]।

वागारम्भानुभाव— आलाप, प्रलाप, विलाप, अनुलाप, संलाप, सन्देश, अतिदेश, निर्देश, उपदेश और व्यपदेश ये भी १२ ही हैं। यह भी नाट्यशास्त्र के अनुसार ही हुआ है। भरत ने इन्हें वाचिक अभिनय में कहा है।[2]

बुद्ध्यारम्भ अनुभावों का वर्णन भोज की अपनी सूझ या कल्पना है। इनमें चार रीतियाँ चार प्रवृत्तियाँ तथा चार वृत्तियाँ आती हैं। रीतियाँ पांचाली, गौड़ी, वैदर्भी और लाटीया हैं, वृत्तियाँ-- भारती, आरभटी, कैशिकी और सात्त्विकी हैं, तथा प्रवृत्तियाँ पौरस्त्या, अर्धमागधी, दाक्षिणात्त्या और आवन्त्या प्रसिद्ध हैं। अन्य सभी आचार्यों ने इन रीतियों, वृत्तियों और प्रवृत्तियों को गुण या अलंकार के साथ सम्बद्ध किया है। किन्तु भोज ने इन बारहों को बौद्धिक अनुभाव माना है। यह भोज की अपनी चिन्तना है।

शरीरारम्भ अनुभाव— लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित्, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, ललित, विहृत, क्रीडित तथा केलि ये १२ हैं। भरत ने अपने नाट्य शास्त्र[3] में स्त्रियों के इन दस स्वभावज अलंकारों का उल्लेख किया है। भोज ने क्रीडित और केलि इन दो अधिक का परिगणन किया है। (इसके लिए शिङ्गभूपालने भोज की आलोचना भी की है) इनका लक्षण भी भोजने नाट्यशास्त्र के अनुसार ही किया है। क्रीडित को उन्होंने बाल्य कौमार तथा यौवन में एक रूप का विहार या खेल कहा है।[4] इसके उदाहरण रूप में कालिदास के कुमारसम्भव से यह श्लोक उद्धृत किया है —

मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभि:सा कन्दुकै: कृत्रिमपुत्रकैश्च ।
रेमे मुहुर्मध्यगतासखीनां क्रीडारसं निर्विशतीवबाल्ये ।।

---

१. ना०शा० २४। पृ० २७०, श्लो० ७—११ तथा पृ० २७१, श्लोक २४ एवं ३१ भरत ने इन्हें तीन पृथक् वर्गों में दिया है।

२. ना०शा० २४।५७

३. वही, २४।१२—१३

४. बाल्यकौमारयौवनसाधारणो विहारविशेष: क्रीडितम् —स०क० ५, पृ० ६१६

और इस क्रीडित को ही, जब प्रियतम से किया जाय तो केलि बताया है।[१] जैसे —

व्यपोहितुं लोचनतो मुखानिलै
रपारयन्तं किल पुष्पजं रज: ।
पयोधरेणोरसिकाचिन्दुन्मना:
प्रियं जघानोन्नतपीवरस्तनी ।।

इन्हें बुद्ध्यारम्भ अनुभाव के रूप में शिङ्गभूपाल ने भी माना है, जो भोज का अनुगमन समझ पड़ता है, और भोज ने सम्भवत: राजशेखर का भी अनुसरण किया है — किन्तु भोज ने इस विवेचन में अपना स्रोत भरत को ही प्रधान रूप से माना है —

" मनोवागबुद्धिजन्मान: आरम्भास्तु सहस्रश: । भरतादिप्रणीतत्वात् किन्त्वहैते प्रदर्शिता:।

फिर शरीरारम्भ अनुभाव के रूप में ही भोज ने अधर, कपोल, हास, भ्रूकर्म, ताराकर्म, अक्षिपुट-कर्म, तथा दृष्टि-प्रकार का भी विवेचन किया है जो भरत के अनुसार ही हुआ है। इस प्रकाश के अन्त में भोज ने उपसंहार करते हुए कहा है —

मनोवाग्बुद्धिजा ये च ये चारम्भा: शरीरजा: ।
अनुभावानुगामी (?) ते यथा ------ प्रदर्शिता: ।।

शृङ्गार के अनुभाव-

शारदातनयने भी उसी प्रकार मनोवाक्काय बुद्धि से सम्बन्धित अनुभावों का वर्णन किया है। इनमें मन सम्बन्धी (मन-आरम्भ) अनुभाव भाव, हाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रागल्भ्य, स्त्रियों के दस प्रकार के होते हैं। वाक्-सम्बन्धी (वागारम्भ) अनुभाव-आलाप, प्रलाप, अनुलाप, विलाप, संलाप, अपलाप, सन्देश, अतिदेश, निर्देश, व्यपदेश-बारह गिनाये गये हैं। कायसम्बन्धी (गात्रारम्भ) अनुभाव स्त्रियों के लीला-विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित्, मोट्टायित, कुट्टमित, हिल्लो, ललित — दस कहे गये हैं (इसी प्रकार शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, धैर्य, ललित, औदार्य तथा तेज — ये आठ पुरुष के सात्त्विक भाव भी अनुभाव में ही गिने जायेंगे। और शृङ्गार रस में इनका प्राचुर्य माना गया है।[२] तथा बुद्धि-सम्बन्धी (बुद्ध्यारम्भ) अनुभाव रीतियां, वृत्तियां और प्रवृत्तियां कही गयी हैं।[३]

---

१. क्रीडितमेव प्रियतम विषये (यं) केलि: — स०क० ५, पृ० ६२०
२. प्राचुर्यमेषां शृङ्गारे — १।१०
३. तत्तद्देशीयरचनारीतिस्तद्देशनामभाक् । १।११

अनुभावान्तर्गत रीतियाँ-

और भोजके समान शारदातनय ने भी रीति आदि को बुद्ध्यारम्भ अनुभावों में लिया है। रीति को उन्होंने वचनविन्यासक्रम (पदों की विशिष्ट रूप से रचना) कहा है[१]— यहाँ शारदातनय ने रीति का जो लक्षण किया है वह बहुत कुछ वामन की रीति-परिभाषा से मिलता है।[२] रीति बुद्धि सम्बन्धी अनुभावों में प्रथम स्थान पाती है — 'बुद्ध्यारम्भानुभावेषु रीतिः प्रथममुच्यते'[३] । रीति चार प्रकार की बताई गई है — १. वैदर्भी, २. पाञ्चाली, ३. लाटी तथा ४. गौडी, साथ ही दो और भी मानी जाती हैं — १. सौराष्ट्री एवं २. द्राविडी।[४] यह नाम भी उन-उन देशों की रचनारीतियों को उन्हीं उन्हीं देशों के नाम पर दे दिया गया है।[५] (जैसाकि अभिनव ने कहा है — ' गौडीयवैदर्भपाञ्चालदेशेषु प्राचुर्यदृशा तदेव त्रिविधं रीतिरित्युक्तम्।'[६] इन रीतियों का भेद समास, सौकुमार्यादि अनेक दृष्टियों से किया गया है — और इनके कुल भेद करीब १०५ होते हैं। किन्तु ग्रन्थविस्तार के भय से शारदातनय ने सबका उल्लेख नहीं किया है।[७] उनका तो यहाँ तक कहना है कि वे ही अक्षरविन्यास और वे ही पदपंक्तियाँ अलग-अलग पुरुषों में अलग अलग रचना बन जाती हैं।[८] अतः चार ही रीतियों को मानना अधिक उपयुक्त होगा (और

---

१. रीतिर्वचनविन्यासक्रमः १।११

२. विशिष्टपदरचनारीतिः —का०सू०, पृ० १

३. भा०प्र० १।११

४. तत्र वैदर्भपाञ्चाललाटगौडविभागतः । सौराष्ट्रीद्राविडी चेति रीतिद्वयमुदाहृतम् ।१।११

५. तद्देशीयरचनारीतिस्तद्देशाभाक् ।। १।११

६. लोचन १ , पृ० २०

७. समाससौकुमार्यादितारतम्यात् क्वचित् क्वचित् ।
उपचारविशेषाच्च प्रासानुप्रासभेदतः ।
तथा सौराष्ट्रिकाभेदाद् द्राविडीभेदतोऽपि च ।
प्रतिवचनं प्रतिपुरुषं तदवान्तरजातितः प्रतिप्रीति ।
आनन्त्यात् संक्षिप्य प्रोक्ता कविभिश्चतुर्विधेत्येषा ।
तासु पञ्चोत्तरशतं विधाःप्रोक्ता मनीषिभिः ।
ग्रन्थविस्तारभीतेन मया ताभ्यो विरम्यते । १।११

८. त एवाक्षरविन्यासास्ता एव पद-पंक्तयः । पुंसि पुंसि विशेषेण कापि सरस्वती ।

इन्हीं में सबका अन्तर्भाव हो जायगा) (तस्माच्चतुर्धावीद्वव्यारीतिभेदप्रकल्पना) फिर चारों वेदों से भारती, सात्त्वती, कैशिकी और आरभटी—इन चार वृत्तियों की उत्पत्ति बताई है और इस विषय में भरत का ही अनुसरण किया है। शृंगाररस में कैशिकी वृत्ति को विशिष्ट रूप में कहा है। प्रवृत्तियाँ भी उसी प्रकार दाक्षिणात्या, आवन्त्या, पौरस्त्या तथा ओड्रमागधी—ये चार बताई हैं। इनमें मागधी, अवन्तिका आदि सात भाषाएं तथा शकार आभीर आदि वनचरों की हीन सात भाषाएं भी हैं।

इन बुद्ध्यारम्भ-अनुभावों पर विचार करने से पता चलता है कि ये सब के सब प्राय: वचन रूप ही हैं जो बुद्धि विशेष के अभिव्यंजक होने के कारण बुद्ध्यारम्भ कहे गये हैं।

अनुभावरूप सात्त्विकभाव—

सात्त्विभाव भी अनुभाव रूप ही हैं किन्तु सत्त्व (परमात्मभावित) अथवा सत्त्वपरिणामी मन से[1] उत्पन्न होने के कारण इन्हें पृथक् विशिष्ट रूप से गिना गया है —ये वे पहिले के ही आचार्यों के अनुसार आठ हैं - स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभेद (भङ्ग) वेपथु वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय। काव्यबन्ध में प्रकार ये विशेषरूप से रसपोषक होते हैं[2]।

उपचार-लक्षण एवं प्रकार-

वस्त्र, अङ्गराग, आभरण, माला, शय्या, भोजनादि में जिस जिसके प्रति स्पृहा हो उससे देशकाल के अनुसार अतिशय आदर के साथ सत्कृत करना उपचार कहलाता है —

> वासोऽङ्गरागाभरणमालाशय्यासनादिषु।
> यत्र यत्र स्पृहा तत्तद्देशकालानुकूलत:।
> अत्यादरेणासत्कार उपचार इतीरित:। ५।११२

---

१. यत्सत्त्वपरिणामिस्याद्द्रव्यर्तन्मनउच्यते ' १।६

२. 'एतैविशेषत: काव्यबन्धास्तु रसपोषका: १।१५

स्त्रियों के प्रति उनके शील के अनुकूल ही रति-विवृद्धि के लिए पुरुषों को उपचार करना चाहिए —

अतोरतिविवृद्‌ध्यर्थं स्त्रीषुशीलानुकूलत: ।
यथानुकूलं पुरुषैरुपचारो विधीयताम् ।। ५।११२

उपचार तीन प्रकार माना गया है – १. वेश्या का, २. कुलजा (स्वीया) का तथा ३. अन्या का[1]। सभी प्रकारों में, युवक युवतियों में अनेक हेतुओं से उत्पन्न काम आलम्बनगुणों की विशेषता से उत्तम, मध्यम, तथा अधम तीन प्रकार होता है[2]। वस्त्र, अंगराग, आभरण, माला, शय्या तथा आसन आदि तो कुलीन अथवा वेश्या सब प्रकार की नायिकाओं में सामान्य रूप से दिखायी पड़ते हैं।[3] पर, कुलीना के उपचार में सत्य एवं ऋजुता पुरस्सर होती है जब कि अन्य नायिकाओं के उपचार में अवस्था देश एवं काल का प्राधान्य रहता है।[4]

यदि स्त्री पहिले रक्त हुई तथा पुरुष बाद में अनुरक्त हुआ तो यह स्वभावसुभग उत्तम सम्भोग माना गया है, यदि पुन: उनका स्नेह समकालिक परस्पर एक साथ हुआ तो वह काम (प्रेम) सम्भोग-लीलारूप मध्यम माना जाता है, और यदि अनुराग एक ही में रहे तो वह अधम एवं उपक्रुसनीय प्रेम या काम होता है।[5]

---

१. उपचारस्त्रिधावेश्याकुलजा न्याविभावत: । ५।११२

२. नानाबीजोद्‌भवत:कामो यूनो:सर्वत्रदृश्यते ।
तत्तदालम्बनगुणैरुत्तमो मध्यमो धम: ।। ५।११३

३. वासो ङ्गरागाभरणमालाशय्यासनादय: ।
साधारणा: कुलीनानां वेश्यादीना क्योषिताम् ।। ५।११३

४. कुलांगनोपचारस्तु सत्यार्जवपुरस्सर: ।
अवस्थादेशकालादिप्रधानो न्यासुदृश्यते ।। ५।११३

५. रक्ताचेत् प्रथमं योषिदनुरक्तो भवेत् पुमान् ।
एषस्वभावसुभग: स्यात् स उत्तम: ।।
अथ चैदेककालीना यूनोरन्योन्यरक्तिमा ।
एष सम्भोगलीलास्यात् स कामो मध्यम: स्मृत: ।
एकत्रैवानुरक्तिश्चेद्‌यूनोर्हस्यि: स चाधम: ।। ५।११३

राग तथा अपराग के चिह्न-

फिर स्त्रियों के राग तथा अपराग के चिह्नों को, भरत के ही अनुसार, हां कुछ अपनी स्पष्टता लेकर, कहा है। कुलाङ्गना, वेश्या तथा अन्या के अनुराग चिह्न पृथक्-पृथक् बड़े विस्तार के साथ कहे गये हैं।[1] शारदातनय ने एक मारुतिनामक आचार्य के मतानुसार, (माना है कि) ये अनुराग-चिह्न वेश्या आदि के पृथक्-पृथक् रूप वाले नहीं होते अपितु वे सब स्त्रियों के सामान्य-चिह्न कहे जाने चाहिए। इस प्रकार भाव-परीक्षा करते ही यदि स्त्री रक्ता हो तो उसका अनुरक्त इंगित होता है। नायक के अनुरक्त

---

१. स्त्रियो जातानुरागायानायके लक्षणान्विते ।
कुलीनायाः प्रथमतो दूरे रोगोद्गमो भवेत् ।।
स्निग्धं मसृणं च अधरः स्पन्दते स्फुटम् ।
स्मितोत्तरं च नयनं स्वेदोदस्तु कपोलयोः ।
ऊर्वोः सम्पीडनं चाङ्गे बाहुस्वस्तिकबन्धनम् ।
अतिङ्गनं मुहुः सख्यास्तदङ्गे तुङ्गनगर्णानाम् ।
नीवीं विस्रस्य नहनं वेपथुस्तत्पथस्थितिः ।
वचनेवचनं तूष्णीं वीक्षणं ध्वनवेक्षणाम् ।
इत्यादि भावैर्भावज्ञो रक्तां विद्यात् कुलाङ्गनाम् ।
कर्णकण्डूयनंनाभेरुर्वोः किञ्चित् प्रकाशनम् ।
विमर्दनंच स्तनयोर्नीवीविस्रंसनं मुहुः ।
अन्यापदेशकथनमन्ये सस्मितभाषणम् ।
विलोकनं चसखीमुखमङ्गुष्ठाग्रविलेखनम् ।
निरवनिस्तोदनं केलिःसखी निर्भर्त्सनं मृषा ।
पदान्तरे स्थितिर्व्याजादञ्जलिर्दैवताच्छलात् ।
भावैरित्यादिभिर्वेश्यामनुरक्तां विभावयेत् ।
दृष्टेर्दृशोर्विकासश्च माधुर्यं भाषणे न्यतः ।
प्रसादोवदनेहर्ष सम्भ्रमस्तस्य दर्शने ।
अदर्शने च मूर्च्छा च तत्सत्कारेष कौतुकम् ।
स्वभर्तुःप्रमुखे तस्य स्मरणं सुरतादिषु ।
प्रेषणं च भोग्यवस्तूनां समार्जितस्य गर्हणम् ।
सर्वत्र तस्य वाक्यस्य प्रीतिपूर्वं परिग्रहः ।
मदम्बनाथमन्नाथेत्येवं बालोपलालनम् ।
भावैरेवंविधैरन्यां लक्षयेन्मदनातुराम् ।। ५।११४

होने पर स्त्री की रति और भी पुष्ट होती है[१]। प्रिय के प्रति रक्ता नायिका के आभ्यन्तरोपचारों का भी फिर विस्तार के साथ विवेचन किया गया है —

आभ्यन्तरोपचारस्तु रक्तायाः कथ्यते धुना ।
रक्ताविविक्तवसतिं प्रियेणासहावांक्षिति ।
गुणान् सखीनामाख्याति स्वधनं प्रददातिच ।
सम्पूजयति मित्राणिद्वेष्टि शत्रुजनं तथा ।
समागमं प्रार्थयते दृष्ट्वा हृष्यति चाधिकम् ।
तुष्यत्यस्य वचोभङ्ग्या सस्नेहं चनिरीक्षते ।
सुप्ते च पश्चात् स्वपिति चुम्बत्यनभिचुम्बिता ।
स्वयमारभते स्वैरं स्नानादिषु च कर्मसु ।
प्रथमं चेष्टतेस्वैरं बाह्येचाभ्यन्तरे रते ।
न विश्लेषयते गात्रमाश्लिष्टा च कदाचन ।
तेनैव भोग्यवस्तूनि भुङ्क्ते न्यत्राहृतान्यपि ।
रतिकेलिष्वनिभृता स्वदते स्वियति क्षणाम् ।
न दृष्टिमन्यतो धत्ते न शृणोति बहिः क्वचित् ।
न चिन्तयत्यात्मनोर्न किंचिदन्यत्प्रियं विना ।
रोमांचतिप्रियस्पर्शेमुह्यतिव्विथतिश्वसेत् ।
एवं रक्तासमुत्थाःस्युरुपचाराः प्रियंप्रति ।। ५।११५

इसी प्रकार विरक्त (दूरस्था या समीपस्था) के भी चिह्नों का संकलन किया गया है ।

पिछले पृष्ठ का शेष —

२. ये भावारागचिह्नानि स्त्रीणामुक्ताः पृथक् पृथक् ।
साधारणास्ते सर्वासां स्त्रीणामित्याह मारुतिः ।। ५।११४

---

१. एवं भावान् परीक्ष्यैव रक्ताश्चेदनुरञ्जयेत् ।
नायकेष्वनुरक्तेषु रतिं ~~अन्विन्त~~: पुष्यंति योषितः ।। ५।११४

जिन्हें जानकर उसे तत्दाण त्याग देना चाहिए[1]। और उत्तम-पुरुष तो विरक्ति का एक भी चिह्न देखकर विरक्त हो जाता है। किन्तु जहां राग-अपराग दोनों के

---

१. विरक्तानां तु लिङ्गानि कथ्यन्ते यानि कानिचित् ।
निष्ठीवनं दृष्टमात्रे सद्यो वक्त्रावगुण्ठनम् ।
गूढावस्थानमन्यार्थपारवश्यमनादर: ।
अदेशकालगमनमाह्वाने कालयापनम् ।
प्रेषितस्याप्यनादानं गन्धमाल्यादिवस्तुन: ।
आर्तस्यानादरजोपोभूमौ वा दानमन्यत: ।
अङ्गसादप्रकथनं दूतादीनामनुत्तरम् ।
एवमादीनि चिह्नानि दूरस्थानां तु योषिताम् ।
आसन्नादूरमध्यास्ते कथामन्यां ब्रवीति च ।
चुम्बितास्यं प्रमार्जति ।
पृष्टा यथायथं ब्रूते प्रियमुक्तापि कुप्यति ।
आनीष्टां च कथां ब्रूते
न च यद्ददात्यस्य न चैनमभिनन्दति ।
शेते पुर:शाययति पुनर्विद्राति तत्दाणम् ।
प्रबोधिता यापयति कालं रन्तुं न वाञ्छति ।
स्पृष्टा संकोचयत्यङ्गं निमीलयति लोचने ।
न स्नाति नालङ्कुरुते न भोगे कुरुते स्पृहाम् ।
विमर्दयति हस्ताभ्यां नेत्रे व्याजृम्भते मुहु: ।
विजृम्भते परावृत्यनिष्ठीवति मुहु: सदा ।
प्रद्वेष्टि तस्य मित्राणिब्रवीतिकृतशासना ।
रुष्टा परिवदत्यैनं स्वात्मन्यङ्गानि गूहते ।
कथाप्रसङ्गेनान्येन सुरते भावविस्मृति: ।
गृहकृत्यापदेशेन कुरुते च गतागतम् ।
नीवीस्पर्शे सहृल्लेखमपद्तिपतितत्करम् ।
पराङ्गमुखी वा शयिताव्याधादिव्यपदेशत: ।
एवं विरक्ताचिह्नानि दृष्ट्वातां तत्दाणात् त्यजेत् ।
विरक्तिचिह्नेनैकेन विरज्यैतोत्तम: पुमान् ।। ५।११५-११६

(सङ्कार) चिह्न दिखायी पड़े उसे तो स्वीकार ही करना चाहिए ।[1] जो नायक से अनुरागनकरने के कारण भागना चाहती है, उसे नायिका का भी प्रसङ्गात् लक्षण कहते हैं —पहले आसन पर न बैठना, फिर आसन को हिलाते रहना, बगल में किसी न किसी अंग को हिलाते रहना, बार बार जंभाई लेना, बार-बार द्वार की ओर देखना, हाथ-पैर फैलाकार सिकोड़ना आसन से कटिभाग उठाये रहना, शरीर तोड़ना, अङ्गुलियां फोड़ना, बाहर की बात सुनना आदि ।[2]

विराग के कारण—

युवक-युवतियों के परस्पर विराग के कारण भी कुछ बताये गये हैं —कार्श्य, व्याधि,शोक, पारुष्य, रूपका संक्षय, दोषापवाद सुनने के कारण, मतिलोप , (आज्ञाउपचार आदिका)उल्लंघन, अनुचितस्थान तथा अनुचित समय में जाना, बाहर बार-बार अपकार करना आदि । इन कारणों से विरक्त होने पर उनकी कभी संगति नहीं होती [3]। इस विरक्ति में तथा मान के कारण होने वाली विरक्ति में बड़ा अन्तर हैं —मानजन्यविरक्ति हृथ-अनुनय होती है और इससे वह परस्पर अनुराग को, शुभ रति को और भी पुष्ट करती है[4]।

रागचिह्नों की विभावना—

शारदातनय ने यहां कुछ चेष्टाओं द्वारा अनुराग के चिह्नों की विभावना

---

१. रागापरागचिह्नानां सङ्करे तामुपाचरेत् ।। ५।११६

२. चिह्नानि गन्तुकामानां कथ्यन्ते ह्यानुषङ्गिकम् ।
अनासनं च प्रथमं चालनं चासनस्य च ।
अर्धासनेनावस्थानं पार्श्वात्पार्श्वेङ्गचलानम् ।
विजृम्भणं च बहुशो मुहुर्द्वारनिरीक्षणम् ।
प्रासार्याकुञ्चनं पादबाह्वोरुत्कटिकासनम् ।
गात्रभङ्गो ह्ङ्गुलिस्फोटोबहिर्वार्ताविकर्णनम् ।
एतानि गन्तुकामानां चिह्नानीत्युपलक्षयेत् ।। ५।११७ ।।

३. विरक्तिहेतवोयूनोर्बहव: स्यु: परस्परम् ।
कार्श्यं व्याधिश्च शोकश्च पारुष्यंरूपसंक्षय: ।
दोषापवादश्रवणान्मतिलोपो व्यतिक्रम: ।

(शेष)

(प्रकटीकरण) का उल्लेख किया है।[१] नायिका कान खुजलाने के बहाने प्रिय की प्रिय वाणी को रोकती है, केश संयमन के बहाने पति के शिरोलालन (सहलाने) को व्यक्त करती है, नाभि दिखाकर अपने सौभाग्य को प्रकट करती है, स्तनसंमर्दन करके गाढ़-आलिङ्गन को सूचित करती है। अधर-स्पर्श के व्याज से चुम्बन आदि

शेष- अदेशकालागमनमपकारी बहिर्मुख: ।

इत्यादिभिर्विरक्तानां न कदाचन सङ्गति: ।। ५।११७

४-----~~उक्तान्ना~~ मानादिजाविरक्तिर्या हृद्यानुनयसंश्रया ।

पन्योन्यरक्ततां भूय: पुष्यत्यैवरतिंशुभाम् ।। ५।११७

---

१. उक्तानां रागचिह्नानां कथ्यन्ते त्र विभावना: ।

कर्णकिण्डूयनव्याजाद्रुणाद्धयस्य शुभाङ्गिरम्

केशसंयमनाद्भर्तु: शिरोलालनसूचनम् ।

नाभिप्रदर्शनादात्मसौभाग्यप्रकटीक्रिया ।

स्तनसंमर्दनेनैव गाढालिङ्गनसूचनम् ।

अधरस्पर्शनेनैव चुम्बनाद्यभिलाषितम् ।

कटाक्षैर्हासगर्भैश्च सम्भोगोत्सुक्यभावनम् ।

नूपुरध्वननै: स्वस्य पुरुषायित सूचनम् ।

विजृम्भिते सर्वाङ्गै स्वसर्वाङ्गसमर्पणम् ।

अन्यापदेशकथनैस्तस्य भाव परीक्षणम् ।

अन्यै:सस्मितजल्पैस्तद्भाषामेलानादर: ।

सव्रीलं लोकनेनैव स्वानुकूल्यप्रकाशनम् ।

अनुत्तरप्रदानेन स्वस्वातन्त्र्यप्रकाशनम् ।

सखी-निर्भर्त्सनेनैव शीघ्रसङ्गमनादर: ।

ऊरुसम्पीडनादेव हृद्याङ्गस्पन्दसूचनम् ।

पदान्तरेस्थितैर्व्याजान् मनोविनिमयार्थिता ।

साचीकृतेनेक्षणेन संकेतगमनार्थिता । तद्गाढालिङ्गनाशैव बाहुस्वस्तिकबन्धनात् ।

विस्रस्य नीवीनह्नाद्वास: श्लथनसूचनम् । एवमाद्यासुचेष्टासुभावाग्राह्यामनीषिभि: ।

— ५।११७— १८

अभिलाषाओं को प्रकट करती है, हासगर्भितकटाक्षों से सम्भोग की उत्सुकता का भावन करती है, नूपुर ध्वनन के द्वारा अपनी (रतिवेला की) पुरुषायितक्रिया सूचित करती है, सारे अङ्गों में अंगड़ाई लेकर अपने सम्पूर्ण अङ्गों का समर्पण व्यक्त करती है। अन्य के व्याज से कुछ कह कर उसके भाव की परीक्षा करती है, दूसरों के साथ मुस्कान सहित बात करती हुई उसकी बोली को अपनाने का आदर दिखाती है, लज्जासहित देख कर ही अपने आनुकूल्य को प्रकाशित करती है, उत्तर न देकर अपनी स्वाधीनता प्रकट करती है, सखी को डांटने से शीघ्र सङ्गम के प्रति अनुकूलता प्रकट करती है, अपने ऊरुओं को दबाकर हृद्यअङ्गों के स्पन्दन (संकेत) को सूचित करती है, कुछ दूर चल कर रुकने के बहाने मन की बातों को कहने-सुनने (विनिमय) की प्रार्थना प्रकट करती है, तिरछे देखकर संकेत पर चलने की प्रार्थना प्रकट करती है, अपनी बाहुओं का स्वस्तिक बन्धन करके प्रिय के साथ गाढ़-आलिंगन की ही आशा रखती है (प्रकट करती) है, व नीवी को ढीली कर, फिर बांधने के बहाने (प्रेम में) वस्त्र-स्खलन को सूचित करती है। इसी प्रकार की अन्य चेष्टाओं से बुद्धिमानों को उनके मनोभावों को ताड़ना चाहिए।

शृङ्गारोपयोगी दृष्टियां —

फिर शृङ्गारोपयोगी दृष्टिविकारों का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है, जो कभी शृङ्गाररस से सम्बन्धित होते हैं, कभी उस रस के किसी सञ्चारी आदि भाव से[1] वे सब मिलकर चौंसठ प्रकार के हैं। उनका नाम यहां उन्हीं शब्दों में भी कहने से कोई अन्तर नहीं पड़ेगा।

विकूणितं विहसितं कुञ्चितं न्यञ्चिताञ्चिते।
स्निग्धं मुग्धं च निष्पन्दं विस्तारि च विकासि च।
स्तिमितं मसृणं वक्रं मधुरं चाभिलाषि च।
स्थिरं प्रसन्नमलसं वलितं मदमन्तरम्।
स्मेरमानन्दि साकूतं विदग्धं विह्वलं तथा।। ना०शा० २।४७४-५

---

१. दृशोर्विकाराबह्व: शृङ्गारस्योपयोगिन:।
भावाश्रया:कदाचित् स्यु: कदाचिद्रससंश्रया:।। ५।१९८

निशङ्कितं च निभृतमुत्कण्ठितमुदञ्चितम् ।
सोत्सुकं गोत्कमनुकम्पमुल्लाविचारान्वितम् ।
गाढिव्याजोपि विक्षोपि त्रिभंगित्रासमेवच् ।
विकृष्टं विनतं स्फीतं व्यासङ्गं च विसंस्थुलम् ।
विस्फारितं विललितं ललितं च तरङ्गितम् ।
कठोरं कलुषं रुक्षं कातरं चकितं चलम् ।
कोमलं तरलं तानि प्रणयि प्रगर्भि च ।
सोत्प्रासंसस्पृहं ह्लादि प्रेङ्खोलंलोलमेव च ।
एवमुक्ताश्चतुष्षष्टिर्विकारा दृष्टिसंश्रया: ।। ५।११८-११६

इनमें प्रत्येक का लक्षण भी दिया गया है ।[१] ये चौसठों दृष्टिविकारें केवल शृङ्गाररस के ही उपयोगी हैं । इनमें कुछ अद्भुत तथा हास्य में भी दिखाई पड़ते हैं ।[२] ये दृष्टिविकार, शारदातनय का कहना है कि महाकविप्रबन्धों में दिखाई पड़ते हैं ।[३] अत: इसे भरत से गृहीत नहीं कहा जा सकता है । भरत ने जो रस भावों के अनुसार छत्तीस प्रकार के दृष्टिविकार निरूपित किये थे, उनका तो शारदातनय ने अलग से ही विवेचन किया है और यह भी कह दिया है कि भरत के ३६ दृष्टिविकारों का भी विवेचन कर रहा हूं[४] इत्यादि । इनमें आठ (स्थायि) भाव दृष्टियां हैं— १. स्निग्धा, २. हृष्टा, ३. दृप्ता, ४. विस्मिता, ५. क्रोधिता, ६. दीना, ७. जुगुप्सिता तथा ८. सभया[५] । आठ ही रसदृष्टियां भी हैं — १. कान्ता, २. सहास्या, ३. वीरा, ४. साद्भुता, ५. रौद्रिका, ६. करुणासहिता, ७. बीभत्सा तथा ८. सभयानका[५] । और संचारिभाव-सम्बन्धिनी केवल बीस ही बताई गई हैं — १. शून्या, २. मलिना, ३. श्रान्ता, ४. लज्जान्विता, ५. ग्लाना, ६. शङ्किता

---

१. भा०प्र०, ५।११६-२०

२. एतेविकारा:शृङ्गाररसस्यैवोपयोगिन: ।
एतेषु केचिद्दृश्यन्ते प्रायेणाद्भुतहास्ययो: ।

३. एतेदृष्टिविकारास्तु सम्यग्लक्षणलक्षिता: ।
महाकविप्रबन्धेषु दृश्यन्ते तद्विलोक्यताम् । ५।१२४ ।।

४. भावजा रसजाश्चापि तथा संचारिभावजा: ।
षट्त्रिंशद्भरतेनोक्तास्ता: कथ्यन्ते त्रदृष्टय: ।। ५।१२४

५. भा०प्र० ५।१२४

७. विषण्णा, ८. मुकुला, ६. कुञ्चिता, १०. अभितप्ता, ११. जिह्मा, १२. ललिता, १३. वितर्किता १४. धर्ममुकुला, १५. विभ्रान्ता, १६. विप्लुता, १७. आकेकरा, १८. विशोका १६. त्रस्ता तथा २०. मदिरा[1]। भरत ने तैंतीस संचारीभावों की बीस ही प्रकार की दृष्टियों द्वारा अभिव्यक्ति दिखाई थी।[2] पूर्वोक्त रस-भाव वाली दृष्टियों में 'स्निग्धा'[3] रतिभाव की तथा 'कान्ता'[4] शृङ्गाररस की दृष्टियां बताई हैं। इनके लक्षण तथा भावविशेष के साथ सम्बन्ध भी प्रायः भरत ही शब्दों में किये गये हैं।

छठवें अधिकार में शारदातनय ने रस-सम्बन्ध में कुछ अन्य विषयों पर भी प्रकाश डाला है जिनकी ओर अन्य रसाचार्यों ने या तो संक्षिप्तसंकेतमात्र किया है या उसकी एकदम उपेक्षा कर दी है। भावप्रकाशन क्रम-बैर्सें रूप में एक संग्रह-ग्रन्थ ही कहा जा सकता है। जो मधुकर की भांति इधर-उधर से (जहां जिस विषय का अच्छा प्रतिपादन देखा वहां से) उन - उन विषयों को लेकर एक निबन्धबना गया है। रस के विषय में प्रस्तुत विवेचन रसकल्पवल्ली के अनुसार किया है। ये विवेचन कुछ इस प्रकार के हैं — रसों के — १. अनुभूतिप्रकार २. गतियां, ३. आभास ४. अन्योन्य-मेलन, ५. विकल्प तथा ६ वाक्यार्थता[6]। अस्तु।

~~अनुभव~~ — शृंगारोपयोगी भावविकृतियाँ —

जहां स्नेह होता है, वहीं भय होता है, जहां ईर्ष्या होती है वहीं मदन होता है। स्नेह से वैमनस्य होता है और भय से व्यलीक (पीड़ा या अप्रिय) होता है[7]।

---

१. भा०प्र० ५।१२५ २. भा०प्र० ५।१२५ ३. ना०शा० ८।८३-६१

३. व्याकोशमध्यामधुरास्थिरतारामिलाषिणी।
सानन्दाश्रुकृता दृष्टिः स्निग्धेयं रसभावजा। ५।१२६

४. हर्षप्रसादललिताकान्तामन्मथशालिनी।
विलसद्भ्रूकटाक्षा च शृङ्गारे दृष्टिरुच्यते ।। ५।१२५

५. मिलाइए — ना०शा० ८।६३-७६, तथा ८।८३-६२ और भा०प्र० ५।१२६ - ३० तथा ५।१२८-१२६

६. अनुभूतिप्रकाराश्च रसानां गतयोऽपि च।
आभासाश्च रसानां च तेषामन्योन्यमेलनम्।
तद्विकल्पाद्यो न्येऽपि भावा वाक्यार्थतापि च।
अत्राभिधीयते स्माभिः कल्पवल्ल्यनुसारतः ।। ६।१३१

७- शेष

ईर्ष्या तथा मदन के कारण यह अप्रिय मन्यु (कोप) उत्पन्न होता है जो ताप के कारण मन को आतप में म्लानसस्य (हरियाली) की भांति-म्लान कर देता है। स्नेह के रहने पर भी आलम्बन के दोष के कारणयह मन्यु वैमनस्य कहलाता है।[१]

अन्य के साथ रहने के कारण प्रिय को प्रात: नखदन्त आदि के सरस व्रणों से युक्त, रात भर जगने के कारण अलस देखकर नायिका को जो रोष, स्वेद, कम्प तथा मुख पर विवर्णता आती है, `मुझे मत छुओ` अच्छा है वहीं जाओ` इत्यादि जो वचन निकलते हैं, इसी अभीष्ट अर्थ की अनुत्पत्ति को व्यलीक कहते हैं।[२] मना करने पर भी जो बार-बार जबरदस्ती आता ही है, उससे संघर्ष एवं मत्सर के कारण नायिका को व्यलीक उत्पन्न होता है। बायें हाथ को हृदय पर रख कर दूसरे को हिलाती हुई क्रोध में कहती है, `तुम यहां रहो हम चले जाते हैं।`[३]

वादा करके पूरा न करना, `विप्रिय` कहलाता है। जो नायक यह कहता तो है यह कि` जब तक जीवन में मैं तुम्हारा दास हूं, और तुम्हीं मेरी प्रिया हो` किन्तु आचरण इससे भिन्न करता है। अत: इससे `विप्रिय` उत्पन्न होता

---

७. स्नेहोयत्र भयन्तत्र यत्रेर्ष्या मदनस्तत: ।
वैमनस्यं व्यलीकं च स्नेहतो भयतो भवेत् ।। ६।१३६

----

१. ईर्ष्यया मदनाच्चापि विप्रियं मनुरुद्भवेत् ।
यन्म्लायति मनस्तापादातपम्लानसस्यवत् ।। ६।१३६

२. सरसव्रणासद्भिन्नं रात्रिजागरणालसम् ।
प्रियं प्रभातेपश्यन्त्या वैमनस्यं प्रजायते ।
रोष: स्वेदश्च कम्पश्च मुखे वैवर्ण्यमेव च ।
मास्प्राक्षी: शोभनं साधु गच्छेतिवचनंभवेत् ।
अभीप्सितर्थानुत्पत्तिर्व्यलीकमिति कथ्यते । ६।१३६

३. निवार्यमाणोऽपि पुन: पुनरायाति योबलात् ।
सङ्घर्षान्मत्सरात् तस्या व्यलीकमुपजायते ।
निधायवामं हृदये करमन्यं विधन्वती ।
त्वमिहास्व वयं याम इति रोषादुब्रवीति च ।। ६।१३६ ।

है ।[1] इसमें रोना, क्रोध भरी हंसी, बार-बार दूत आदि भेजना, तथा आंसू के साथ सिर हिलाते हुए `ठीककिया` यह कहना होता है ।[2]

सौत के रतिसम्भोग के विषय की प्रशंसा करने वाले पति के ऊपर मन्यु होता ही । उस समय शङ्कालु नायिका के नेत्र अश्रुपूर्ण रहते हैं, वह अपनी मेखला आदि को उतार फेंकती है, चूड़ियों कङ्कणों को हाथों में शीघ्रता से परिवर्तित करने लगती है तथा शय्या पर चुपचाप मुंह ढक कर पड़ रहती है । मन्यु के प्रवर्धित होने पर स्त्रियों की ये ही विकृतियां देखी जाती हैं ।[3]

किन्तु यदि सापराध अतएव सनत सलज्ज एवं सशंक प्रिय के दृष्टिगोचर होने पर उसे ईर्ष्याभरे मीठे उलाहनों से खिन्न करे, अति निठुर बात न बोले, कभी अतिशय क्रोध न करे, कभी अधिक परिहास न उससे, न सखियों से करे, अपनी निन्दा के साथ साश्रुवचनों द्वारा हृदय पर हाथ रक्खे, स्नेह भरी नजरों से देखते हुए, आहों से, शिरः कम्पों से, कटी पर हाथ रक्खे, भूमिपर अपराधों को रेखाओं में गिन कर तथा तर्जनाओं द्वारा भी उत्तर दे और भी इसी प्रकार अन्य चेष्टाओं को करे तो दोनों का प्रेम फिर और अधिक बढ़ जाता है । और इस प्रकार-प्रणय-रोष के बार-बार समागम से उद्दीप्त शृङ्गार अत्यधिक पुष्टि पाता है । वैमनस्य आदि भाव तो वस्तुतः यहां

---

१. प्रतिश्रुतार्थानिर्वहणं यतद्विप्रियमुच्यते । यावज्जीवमहंदासस्त्वमेव च ममप्रिया ।
इत्युक्त्वा यो न्यथा कुर्याद्विप्रियं तत्र जायते ।। ६।१४०

२. रुदितं क्रोधहसितंदूतादिप्रेषणं मुहुः ।सबाष्पं सशिरःकम्पंकृतं साध्वितिवक्तिचक्र ।६।१

३. सपत्नीरति सम्भोगे सौभाग्यं बहुशोवदन् ।
दृश्यते च पतिर्युस्यास्तत्र मन्युः प्रजायते ।

शङ्कते बाष्पपूर्णादिी रशनादि विदापत्यधः ।
वलयादिमुहुर्बाहौः परिवर्तयतिद्रुतम् ।
आभाषमाणा शयने तूष्णीं शेते वगुण्ठिता ।
एवं प्रवृद्धमन्यूनां स्त्रीणां भवतिविक्रिया ।।

— ६।१४

शृङ्गार के उपयोगी भाव के रूप में प्रयुक्त होते हैं।[१]

सुख (अनुकूल) विषय रति को सदा पुष्ट करते हैं। विभिन्न प्रकार की शिरोनेत्रादि अङ्गों की प्रक्रिया से उसकी अभिव्यक्ति होती है।[२] शारदातनय का कहना है कि सभी सूरियों ने मन के तीन प्रकार के भाव बताये हैं — १. इष्ट, २. अनिष्ट तथा ३. मध्य[३]।

इष्ट विषयों को अंगों में आह्लाद, पुलकोद्गम तथा मनोहर चेष्टाओं द्वारा विनिर्दिष्ट करते हैं।[४] अनिष्ट-भाव में अंगों में स्तम्भ तथा घृणा का भाव उदय हो जाता है।[५]

---

१ सापराधे प्रिये दृष्टे सलज्जे च शङ्किते।
सोपालम्भैर्वचोभिस्तमीर्ष्यार्थैःखेदयेन्मृदु॥
न निष्ठुरं वचो ब्रूयान्नातिक्रुध्येत् कदाचन।
न चाति परिहासः स्यात् सखीभिस्तेन वा क्वचित्॥
बाष्पोन्मिश्रैर्वचोभिस्तमात्मनिर्भर्त्सनपरैः।
प्रतिब्रूयादुरस्थेन पाणिना स्निग्धवीक्षितैः।
निश्वासैःसशिरःकम्पैः कटीरस्तत्यापि च।
अपराधैर्महीलेखागणितैस्तर्जनैरपि॥
एभिरेव रतिर्यूनोर्भूयः स्याद्भूयसी मिथः।
एवं प्रणयरोषैश्च भूयोभूयः समागमैः॥
प्रवृद्धो दीपने दीप्तः शृङ्गारःपुष्टिमश्नुते।
वैमनस्यादयो भावाः शृङ्गारस्योपयोगिनः॥ ६।१४०—१

२. भा०प्र० ६।१४१

३. मनसस्त्रिविधो भावः कथ्यते सर्वसूरिभिः।
इष्टो निष्टश्च मध्यश्चेत्येवं त्रेधा विभिद्यते। ६।१४१

४. इष्टे तु विषये मात्राह्लादनैः पुलकोद्गमैः।
मनोहराभिश्चेष्टाभिरिष्टं भावं विनिर्दिशेत्॥ ६।१४१

५. अनिष्टे विषये तत्र नासाग्राकुञ्चनम्। शिरसश्च परावृत्तिर्न प्रदानं च चक्षुषः।
गात्रस्तम्भो जुगुप्सा च भावे निष्टे भवन्ति हि॥ ६।१४१

और मध्यस्थ विषय के रहने पर मन में एक मध्यस्थता या औदासीन्य का भाव रहता है — न साम्मुख्य रहता है, न वैमुख्य, न अतिहर्ष होता है न अति कुत्सा (निन्दा)।[१]

कुछ विशेष स्थितियों का
फिर शारदातनय ने चारों विरहों में नायिकाओं की / 'कल्पवल्ली' के अनुसार विवेचन किया है।[२] जैसे, मानवियोग में — गात्रविकृति या गोत्रस्खलन अपराध होने पर श्रेष्ठ या उत्तम नायिकाओं द्वारा प्रियस्पर्श पाकर पराङ्मुख होना, निर्भर्त्सना, न बोलना; भोग विघ्न दिखायी पड़ने पर शय्यान्त में दूर लेटना, पसीना, गद्गद् बोलना आदि, स्वप्न में गोत्रस्खलन आदि करने पर आङ्गमुख होना, / शय्या से उठकर दूर लेटना निश्वास, अश्रुमोचन, सखी आदि को देखना, अपाङ्गों से आंसू बहाना, हिचकियों से रोना होता है।[३]

प्रवास-विरह के आकस्मिक होने पर — हृत्कम्प, मूर्च्छा, संज्ञाभ्रम तथा स्मृति होती है। सम्भ्रमजन्य (अकस्मात् घबड़ाहट के कारण) होने पर प्रिय को खोजने की चिन्ता प्रिय-मार्ग को आशाभरी नजरों से देखना तथा विषयों का भ्रम हो जाता है। आकस्मिक दैविक-विरह होने पर — कृशता, सन्ताप, देवतार्चन, प्रजागर, वैवर्ण्य, अंकरण,

---

१. न सांमुख्यं न वैमुख्यं नातिहर्षो न कुत्सनम्।
   माध्यस्थं मनसो ह्येवं मध्यस्थे विषये भवेत्। ।६।१४१-४२

२. प्रियापराधे याः काश्चिदवस्था कथिता अपि।
   विशेषः कथ्यते तासां कल्पवल्ल्यनुसारतः।। ६।१४२

३. यूनोस्तु रक्तयोर्मानविरहे गोत्रवैकृते।
   विवेष्टनं प्रियस्पर्शे निर्भर्त्सनमभाषणम्।।
   एते प्रायेण भावाः स्यु भोगाङ्के श्रेष्ठयोषिताम्।
   आङ्मुखमवस्थानं निश्वासो बाष्पमोचनम्।
   विलोकनञ्च सख्यादेः साधु साध्विति भाषणम्।
   एते भावाः स्युरुत्स्वप्नापराधे गोत्रवैकृते।।
   उत्थानं शयनाद्दूरशयनं च विवेष्टनम्।
   अपाङ्गविगलद्बाष्पमन्तस्तम्भितरोदनम्।
   एते विशेषतः स्वप्नापराधे स्युर्मनोहराः।
   एवं मानवियोगे स्यु : ।६।१४२

अंगदाह, प्रलाप तथा अश्रुविनिर्गम होता है[१]।

और यही प्रवास जब बुद्धिपूर्वक अर्थात् सोच-समझ कर किया जाता है तो — जड़ता, निर्वेद, दीनता, वैवर्ण्य, कृशता, मालिन्य, सन्ताप, ज्वर मूर्च्छना, व्याधि उन्माद तथा विषाद देखने में आता है।[२] और ये ही विकार शापकृत विरह में भी देखे जाते हैं।[३]

मानादि में मध्यम नारियों का ईर्ष्या, रोष से भरा, सोपलम्भ तथा परुष वचन देखा जाता है[४] और अधम कोटिकी नारियों का प्राय: सर्वत्र बाल पकड़ कर खींचना, पीटना, बन्धन तथा परुष वाक्य देखा जाता है।[५]

---

१. प्रवासविरहेपुन: ।
आकस्मिके तु हृत्कम्पो मूर्च्छा संज्ञा भ्रम: स्मृति: ।
तदन्वेषणाचिन्ता च तत्पथाशाविलोकनम् ।
विरहे सम्भ्रमोत्थे तु विषयापरिनिश्चय: ।
दैविके कार्श्यसन्तापदेवतार्चनजागरा: ।
वैवर्ण्यमङ्गदाहश्च प्रलापो श्रुविनिर्गम: ।
आकस्मिकवियोगे स्युर्विकाराश्चैवमादय: ।। ६।१४२- ४३

२. विरहे बुद्धि पूर्वे तु जाड्य-निर्वेद-दीनता: ।
वैवर्ण्य-कार्श्य-मालिन्य-सन्ताप-ज्वरमूर्च्छना: ।
व्याध्युन्माद-विषादाश्च । १४३ ।

३. शापे प्येते च कीर्तिता : । ६।१४३

४. मध्यमानां तु नारीणामीर्ष्यारोषचिरंवच: ।
सोपालम्भं च परुषं मानादिषु विभाव्यते ।। ६।१४३

५. अधमानां तु नारीणां केशाकर्षण-ताडनम् ।
बन्धनं परुषं वाक्यं प्राय: सर्वत्र दृश्यते ।। ६।१४३

शिङ्गभूपाल के अनुसार जो भ्रू-विक्षेप, स्मित आदि अपने हेतु मनोगत भावों को सीधे (साक्षात्) व्यक्त करते हैं, उन्हें अनुभाव कहते हैं। वे चार प्रकार के होते हैं :— १. चित्तजन्य, २. गात्रजन्य, ३. वाग्जन्य तथा ४. बुद्धिजन्य[१]। चित्तजन्य हैं — १. भाव, २. हाव, ३. हेला, ४. शोभा, ५. कान्ति, ६. दीप्ति, ७. प्रागल्भ, ८. माधुर्य, ९. धैर्य तथा १०. औदार्य[२]। भोज ने चित्तजन्य अनुभावों की संख्या बारह मानी है। उन्होंने सर्वावस्थासमत्वरूप स्थैर्य और अविदितेङ्गिताकाररूप गाम्भीर्य को अधिक गिनाये थे। शि०भू० ने उनका अन्तर्भाव अपने धैर्य में ही कर लिया है।[३]

गात्रारम्भ या गात्रजन्य अनुभाव भी स्त्रियों के दस ही हैं — १. लीला, २. विलास, ३. विच्छित्ति, ४. विभ्रम, ५. किलकिंचित्, ६. मोट्टायित, ७. कुट्टमित, ८. बिब्बोक, ९. ललित तथा १०. विहृत।[४]

---

१. भावं मनोगतं साक्षात् स्वहेतुं व्यंजयन्ति ये।
ते नुभावा इतिख्याता भ्रूविक्षेपस्मितादयः।
ते चतुर्धा चित्तगात्रवाग्बुद्ध्यारम्भसम्भवाः॥
— र०सु० १९०-९७

२. र०सु० १।१९१–९८

३. सर्वावस्थासमत्वाविदितेङ्गिताकारत्वरूपयोर्लक्षणयोः चित्तधैर्य एवान्तर्भूतत्वाद् भोजराजलक्षितौ स्थैर्यगाम्भीर्यरूपावन्यौ द्वौ चित्तारम्भौ चास्मदुक्तेधैर्य एवान्तर्भूताविति दशैव चित्तारम्भाः।
— र०सु० १, पृ० ५२

४. र०सु० १।१९९–२०७

इस प्रकार स्त्रियों के (दस चित्तजन्य तथा दसगात्र जन्य) ये कुल बीस सत्त्वज अलंकार कहे जाते हैं । किन्तु सत्त्वज तो भाव, हाव आदि दस ही कहे जा सकते हैं जो सत्त्व अर्थात् चित्त या मन से उत्पन्न हुए हैं । लीला विलास आदि दस जो गात्रज हैं उन्हें सात्त्विक कैसे कहेंगे ? अतः इसका समाधान देते हुए शि०भू० कहते हैं कि यहाँ छत्रिन्याय[1] से(लक्षणाया) लीलादि को भी भावादि के सञ्चारी होने के कारण सत्त्वज कह लेंगे ।[2]

इन गात्रजन्यों को भी शि०भू० ने दस ही माना और भोज के क्रीडित तथा केलि दो अतिरिक्त को वस्तुतः अनुभाव ही नहीं माना, क्यों कि क्रीडित का जो स्वरूप भोज ने निर्धारित किया है वह भावादिसमुत्पत्ति (शृंगार-उत्पत्ति) के पहिले ही छोटी कन्या का विनोदमात्र है, तथा केलि तो केवल प्रेम का विभ्रम्भ रूप है, वह अनुभाव कैसा ?[3]

---

१. छत्रिन्याय-- जैसे कई लोग जा रहे हों, उनमें एक के पास अथवा कुछ के ही पास छाता है , शेष बिना छाते के हैं, किन्तु कहा जाता है, छत्रिणो यान्ति' जिसमें उस सञ्चारी को भी ग्रहण हो जाता है, जो बिना छाते के हैं, उसी प्रकार सत्त्वज भावादि के साहचर्य के कारण लीलादि को भी सात्त्विक कहा जायगा ।

२. इत्थं श्रीशिङ्गभूपेनसत्त्वालंकारशालिका । कथिताःसत्त्वजाःस्त्रीणामलङ्कारास्तु-विंशतिः । सत्त्वाद्दशभावाद्या जातालीलादयस्तु न । अतो हिविंशतिर्भावाः सात्त्विका इति नोचितम् । युज्यते सात्त्विकत्वं च भावादिसञ्चारिणः । लीलादिदशकस्यापि छत्रिन्यायबलात्स्फुटम् ।

३. भोजेन क्रीडितं केलिरित्यन्यो गात्रजौस्मृतौ ।
अतो विंशतिरित्यत्र संख्यैयंनोपपद्यते ।
अत्रोच्यते भावतत्त्ववेदिना शिङ्गभूभुजा ।
आद्यःप्रागेव भावादिसमुत्पत्ति स्वशैशवे ।
कन्याविनोदमात्रत्वादनुभावेष्वनेष्यते ।
प्रेमविस्रम्भमात्रत्वान्नन्यस्याप्यनुभावता ।
अतो विंशतिरित्येषा संख्या संख्यावतां मता ।। —र०सु०१।२११-१४

स्त्री के बीस सात्त्विकों को बताकर फिर पुरुष में आठ सात्त्विकों को गिनाया है — १. शोभा, २. विलास, ३. माधुर्य, ४. धैर्य, ५. गाम्भीर्य, ६. ललित, ७. औदार्य तथा ८. तेजस्[1] नीच पर दया, अधिक से स्पर्धा, शौर्य, उत्साह, दक्षता इतने गुणों की अभिव्यक्ति को शोभा कहते हैं।[2]

वृषभ (सांड़) की सी गम्भीर चाल, धीरदृष्टि, सस्मित वचन, ये सब विलास कहलाते हैं।[3]

चेष्टा तथा दृष्टि आदि की स्पृहणीयता को माधुर्य कहते हैं[4]—

धैर्य, गाम्भीर्य को तो नायक का वर्णन करते समय पहिले ही कह दिया है[5]।

शृंगार-प्रचुर चेष्टा ललित कहलाती है[6]। और औदार्य तथा तेज का भी नायक विवेचन के प्रसंग में ही लक्षण तथा उदाहरण दोनों कह दिया गया है।[7] इन पौरुष सात्त्विकों में गाम्भीर्य और धैर्य तो चित्तजन्य हैं तथा शेष ६ गात्रजन्य भाव है। कुछ आचार्य इन सबको सामान्यरूप से चित्तजन्य तथा गात्रजन्य दोनों मानते हैं।[8]

---

१. र०सु० १।२१५

२. नीचे दया धिकैस्पर्धाशौर्योत्साहो च दक्षता।
यत्र प्रकटतां यान्ति साशोभेतिप्रकीर्तिता ।। र०सु० १।२१६

३. वृषभस्यैव गम्भीरागति धीरं च दर्शनम्।
सस्मितं च वचो यत्र सविलास इतीरितः ।। र०सु० १।२१७

४. तन्माधुर्यं यत्र चेष्टादृष्ट्यादेः स्पृहणीयता। र०सु० १।२१८

५. धैर्यगाम्भीर्ये तु नायकवर्णनावसर एवोक्ते ।। वही, १। पृ० ५६

६. शृङ्गारप्रचुराचेष्टायन्न ललितं भवेत् वही १।२१८

७. औदार्यतेजसोरपि नायकप्रसंग एव लक्षणोदाहरणे प्रोक्ते। र०सु० १, पृ० ६०

८. अत्र गाम्भीर्यधैर्ये द्विचित्तजे गात्रजाः परे।
एके साधारणानेतान् मेनिरे चित्तगात्रयोः ।।

— र०सु० १।२१६

वागारम्भ या वाग्जन्य अनुभावों को तो शिङ्गभूपाल ने भी भोज के ही बारह प्रकार के माने हैं १— आलाप, २. विलाप, ३. संलाप, ४. प्रलाप, ५. अनुलाप, ६. अपलाप, ७. सन्देश, ८. अतिदेश, ९. निर्देश, १०. उपदेश, ११. अपदेश तथा १२. व्यपदेश[1]।

इसी प्रकार भोज के ही अनुसार रीतियों, वृत्तियों, [illegible] एवं प्रवृत्तियों को बुद्धिजन्य अथवा बुद्ध्यारम्भ अनुभाव कहा है।[2] इन रीतियों, वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों का(काव्य) नाटकों में पात्रों द्वारा प्रयोग एक विशिष्ट विदग्ध बुद्धि का कार्य होने के कारण इन्हें बुद्धिजन्य अनुभाव कहा है। भोज के स०क० में तो इसका विवेचन हुआ नहीं है जहाँ शृङ्गार प्र० में विस्तार से हुआ है। [illegible] शिङ्गभूपाल का [illegible] विवेचन उसी के आधार पर हुआ है

पदों के विन्यास की एक विशिष्ट भंगिमा को रीति कहते हैं वह तीन प्रकार की होती है —कोमला, २. कठिना, तथा ३. मिश्रा[3]।

कोमलारीति को ही वैदर्भी कहते हैं, संभवत: विदर्भ देश के लोगों को अधिक प्रिय है इसलिए[4] इसमें वर्ग के द्वितीय तथा चतुर्थ वर्ण कम प्रयुक्त होते हैं, अल्पप्राण ही वर्ण अधिक प्रयुक्त होते हैं, श्लेष प्रसाद समता आदि दस गुण दस प्राण के समान रहते हैं तथा या तो असमस्त पद या फिर स्वल्पसमस्तपद ही उसमें प्रयुक्त होते हैं।[5]

कठिनारीति ही गौड़ी या गौड़ीया कही जाती है। उसमें लम्बे समास तथा महाप्राणवर्ण प्रयुक्त होते हैं। यह गौड़-देश-वासी विदग्धों को विशेष प्रिय है।[6]

और जिसमें कोमला-कठिना दोनों के गुण उचित मात्रा में रहें उसे मिश्रा या

---

१. र०सु० १।२२०-२२१

२. बुद्ध्यारम्भास्तथाप्रोक्ता रीतिवृत्तिप्रवृत्तय: । र०स०१।१२७

३. रीति: स्यात् पदविन्यासभंगीसा तु त्रिधामता ।
कोमला कठिना मिश्रा चेति । १।१२७

४. विदर्भजनहृद्यत्वात् सा वैदर्भीति कथ्यते ।

५. तत्र कोमला ।
द्वितीयतुर्यवर्णैर्या स्वल्पैर्वर्गेषु निर्मिता ।
अल्पप्राणाक्षरप्राया दशप्राणसमन्विता ।
समासरहिता स्वल्पै: समासैर्वा विभूषिता । र०सु० १।१२८-२९

६. अतिदीर्घसमासयुता बहुलैर्वर्णैर्युता महाप्राणै: ।
कठिना सा गौडीयेत्युक्ता तद्देशबुधमनोज्ञत्वात् ।।

पांचाली कहते हैं। यह पांचालदेश वालों को अधिक प्रिय होती है।[1]

इस प्रकार शिङ्गभूपाल ने केवल तीन ही रीतियों का उल्लेख किया है। भोज ने लाटीया का भी उल्लेख किया था। शि०भू० का कहना है कि आन्ध्री, लाटी या सौराष्ट्री आदि भी मिश्रा रीतियां हैं। उनमें भी अपने अपने ढंग से मिश्रण रहता है। वे ही सर्वप्रयुक्त पुराने पद समूह होते हैं, वे ही पुराने अर्थ-वैभव, किन्तु ग्रथन अथवा रीति के कौशल से उनसे बना काव्य एक नव्य वस्तु लगता है।[2]

वृत्तियां तो वे ही भारती, सात्वती, कैशिकी तथा आरभटी चारनाट्यशास्त्र आदि की प्रसिद्ध हैं। उनकी उत्पत्ति मधुकैटभयुद्ध प्रसंग में भरत ने बताई है। शि०भू० ने भी वही प्रसंग दुहरा दिया है[3]। कुछ लोगों ने चारों वेदों से इनकी उत्पत्ति बताई है[4]। इनमें भारती तो शब्द-वृत्ति है तथा शेष तीन (सात्त्वकी, कैशिकी तथा आरभटी) अर्थ-वृत्तियां हैं।[5]

इन चारों वृत्तियों के मिश्रण से एक पांचवीं मिश्रावृत्ति भी कुछ आचार्यों ने मानी है। वह सभी रसों में समान रूप रहती है। किन्तु शि०भू० ने इसका विरोध किया है। उनका कहना है कि जब ये वृत्तियां रस-विशेष के साथ पृथक्-पृथक् रूप में नियत कर दी गयी हैं तो उस पांचवीं की क्या स्थिति होगी। जहां जिस वृत्ति का भाग अधिक होगा वहां वही वृत्ति 'प्राधान्येनव्यपदेशाभवन्ति' न्याय के अनुसार कही जायेगी। कम भागवाली वृत्ति की तो गणना गौण होगी। और समानरूप में मिश्रण तो होता नहीं, क्योंकि वैसा मानने पर कौन-सा रस व्यंग्य होगा। क्यों कि सबके अपने-अपने रस तो नियत हैं। अब मिश्रा का कोई अतिरिक्त मिश्र रस व्यंग्य माना जाय तभी काम चल सकता है। अतएव भरत ने भी भाव, रस, वृत्ति, अथवा प्रवृत्ति में जिसका

---

१. यत्रोभयगुणाग्रामसन्निवेशस्तुलाघृत: । सा मिश्रा सैव पांचालीत्युक्तातद्देशजप्रिया । र०सु० १।२४०

२. आन्ध्री लाटी च सौराष्ट्रीत्यादयो मिश्ररीतय: ।
सन्ति तत्तद्देशविद्वत्प्रियमिश्रणभेदत: ।
त एव पदसंघातास्ता एवार्थविभूतय: ।
तथापि नव्यं भवति काव्यं ग्रथनकौशलात् ।। र०सु० १।२४१,४२

३. र०सु० १।२४४-२५६

४. ऋग्वेदाच्च यजुर्वेदात् सामवेदादथर्वण: ।भारत्याद्या:क्रमाज्जाताइत्यन्ये तु प्रचक्षते । र०सु० १।२६०

५. आसां च मध्ये वृत्तीनांशब्दवृत्तिस्तुभारती ।
तिस्रो थेवृत्त्य:शेषास्तासुर्थवृत्तय: ।। र०सु० १।२८६

जहाँ प्राधान्य हो उसे स्थायी या रससंज्ञा दी है, शेष को संचारी कहा है [1]।

'यत्रारभट्यादिगुणाः समस्ताः मिश्रत्वमाश्रित्यमिथः प्रथन्ते मिश्रेति तां वृत्तिमुशन्ति धीराः साधारणीं वृत्तिचतुष्टयस्य इति तन्न विचारसहम्। कुतः तत् किं वृत्तिधर्माणांमिश्रणमेकरूपेणान्यूनाधिकभावेन वा। नप्रथमः, अवैषम्येण मिश्रणाभावात्। तथा मिश्रणे तु मिश्रवृत्तिव्यंग्यो रसो पि मिश्रो न्यूनाधिकः प्रसज्येत। वृत्तीनां रसविशेषनियमस्य वक्ष्यमाणत्वात्। ननु मिश्रावृत्तिःसर्वरससाधरणीति चेद् न भारतीप्रभृतीनां नियत-विषयत्वाद् मूलप्रमाणाभावेन स्वोक्तिमात्रत्वाच्च। नापि द्वितीयः। वैषम्येण वृत्तिगुणानां मिश्रणे यत्र यद् वृत्तिप्रत्यभिज्ञाहेतुभूताबह्वोगुणा लक्ष्यन्ते, तत्र सैव वृत्तिरितिनिश्चयात्। ननु तत्र प्रकरणादिवशेन रसविशेष-व्यक्तिरिति चेत्, तर्हि प्रस्तुत रसानुरोधनेव वृत्तिविशेष-निर्धारणमङ्गीकर्तव्यमेव। तथा च भरतः।

भावोवापि रसो वापि प्रवृत्तिर्वृत्तिरेववा।
सर्वेषां समवेतानां यस्यरूपंभवेत् बहु॥
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः संचारिणोमताः। इति [2]।

इन वृत्तियों के विवेचन में इतना ध्यान रखना चाहिए कि शृंगार के बुद्धिजन्य अनुभाव के नाते कही तो सब गई हैं, किन्तु शृंगार से साक्षात् सम्बन्ध केवल कैशिकी का ही माना जाता है। अतः शृ०र० में अन्य की स्थिति गौण ही होगी। उन्होंने स्वयं भी कहा है—कैशिकीस्यात्तु शृङ्गारे' अथवा 'शृङ्गारग्रहणांतज्जन्यानां हास्यादीनामप्युपलक्षणार्थम्। अतशृंगारहास्ययोः कैशिकी' इत्यादि[3]।

देशोचित भाषा, क्रिया तथा वेष को प्रवृत्ति कहते हैं। [4] भाषा भी दो प्रकार की मानी गयी है १-भाषा तथा २. विभाषा। भाषायें सात मानी गयी हैं और विभाषाएं भी सात ही। १. प्राच्या, २. आवन्त्या, ३. मागधी, ४. बाल्हिका, ५. दाक्षिणात्या, ६. शूरसेनी तथा ७. आन्ध्रमागधी (अर्धमागधी) ये

---

१. अन्योन्यमिश्रणादासां मिश्रां वृत्तिं च पंचमीम्।
अशेष रससमान्यां मन्यन्तेलक्षयन्ति च। र०स० १। ३८७

२. र०सु० १। पृ० ८५-८६

३. र०सु० १, पृ० ८६

४. तत्तद्देशोचिताभाषा क्रिया वेषाः प्रवृत्तयः। र०सु० १। २६४

सात तो भाषायें कही जाती हैं। और १. शबरी, २. द्रमिडी ३. आन्ध्री, ४. शकारी, ५. आभीरी, ६. चण्डाली तथा ७. वनेचरी —ये सात विभाषायें मानी गयी है।[१] इनके अतिरिक्त अन्य भी भाषायें तथा विभाषाएं हैं किन्तु काव्यादि में उनका उपयोग न होने के कारण उन्हें नहीं गिनाया।[२]

सात्त्विक भाव—

रसनिष्पत्ति में शि०भू० ने सात्त्विकों का केवल एक प्रकार के अनुभाव रूप में नहीं अपितु पृथक् से उल्लेख किया है, और उन्हें विभावादि के समकक्ष माना है। उनका कहना है कि भावकों का चित्त जो दूसरों के सुख-दु:ख का अनुकूल भावन करता है, उसे सत्त्व कहते हैं। उसे व्यक्त करने वाले भाव सात्त्विक कहलाते हैं। ये स्तम्भ, स्वेद आदि आठ हैं[३]। इन सात्त्विकों का सभी रसों से सम्बन्ध होते हुए भी शृंगार के प्रसंग में इन्हें प्राधान्येन कहा गया है। अन्त में शि०भू० ने भी इन सात्त्विकों को अनुभाव रूप में स्वीकार कर लिया है। भाव की सूचना करने के कारण ये सात्त्विक भी अनुभाव कहे जाते हैं।[४]

शृङ्गार के अनुभाव तथा उनके भेद —

~~इस प्रकार~~ उद्दीपन तथा आलम्बन विभावों का विवेचन कर चुकने पर, ~~अब~~ अनुभावों

---

१. र०सु० १।२६५-६७

२. भाषाविभाषा: सन्त्यन्यास्तत्तद्देशजनोचिता:।
तासामनुपयोगित्वान्नात्रलक्षणमिष्यते ।। र०सु० १।२६७-६८

३. अन्येषां सुखदु:खादिभावनाकृतभावनम्।
आनुकूल्येन यच्चित्तं भावकानां प्रवर्तते।
सत्त्वं तदितिविज्ञेयं प्राज्ञै: सत्त्वोद्भवानिमान्।
सात्त्विका इति जानन्ति भरतादि महर्षय:।
सर्वेषामपि भावानां यै: सत्त्वप्रविभाव्यते।
ते भावा:भावतत्त्वज्ञै:सात्त्विका: समुदीरिता:।
ते स्तम्भस्वेद रोमांचा:स्वरभेदश्चवेपथु:।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलयावित्यष्टौपरिकीर्तिता: ।। — वही

४. अनुभावाश्चकथ्यन्ते भावसंसूचनादमी — र०सु० १।३११

प्रस्तुत अनुभावों का वर्णन किया गया है। अनुभाव का लक्षण र०त० में इस प्रकार किया गया है --जो रस को अनुभवगोचर करायें वे कटाक्ष आदि अनुभाव कहलाते हैं। अनुभाव रस के करण (साधकतम कारण ?) माने गये हैं। विभाव तो कारणमात्र है|अर्थात् अनुभाव ऐसे कारण हैं जिनका फल रूप रस के साथ अयोग-व्यवच्छेद सम्बन्ध है।[१] रस में अनुभाव की अत्यावश्यक अपेक्षा इसलिए होती है कि रस तो स्थायी भाव की ही परिपूर्णावस्था है न ? है तो वह एक आभ्यन्तर वस्तु रूप ही। बिना बाह्य किसी ज्ञापक के उस आभ्यन्तर भावरूप ज्ञान को जाना कैसे जा सकता है, अत: अनुभाव की बड़ी अपेक्षा होती है।[२] यहां एक सन्देह होता है कि जिन कटाक्ष आदि को अनुभाव का टकसाली उदाहरण माना गया है, वे उद्दीपन विभाव क्यों न माने जायें। क्योंकि कटाक्ष को देखते ही प्रेमियों का मनोविकार परिपूर्ण हो जाता है। इसमें अनुभव भी प्रमाण है और प्राचीनों की सम्मति भी—जैसे इस पद्य में :—

ईषद्वक्रितपक्ष्मपङ्क्तिगिरनाकूलस्मितैर्वीक्षितै
रैतैरेव तवाद्यसुन्दरिकरक्रोडे जगद्वर्तते।
अन्त: पांसुल हैमकेतकदलद्रोणीदुरापश्रियो
दौर्मूल्यस्यविभावनादिषु पुन: क्रूरे किमाकाङ्क्षसि।

अत: इसका समाधान करते हुए भानुदत्त कहते हैं कि कटाक्ष आदि रस के करण रूप से तो अनुभाव माने जायंगे, किन्तु रस के विषय होने के नाते, उद्दीपन विभाव।[३]

अनुभाव चार प्रकार का होता है —१. कायिक, २. मानस, ३. आहार्य, जैसे —नेपथ्य रचना से वृद्धत्व चतुर्भुजत्व आदि एवं ४ सात्त्विक जैस कटाक्ष-भुजाक्षेप आदि रोमांच आदि।

---

१. ये रसाननुभावयन्ति अनुभवगोचरतां नयन्ति ते अनुभावा: कटाक्षादय: करणत्वेनअनुभावकता। करण त्वं च फलायोगव्यवच्छेदसम्बन्धित्वम्। र०त० ३

२. ननु रसे कथमनुभावकापेक्षेति चेत्। सत्यम्, स्थायीभाव: परिपूर्णोरस:, तस्य चान्तरत्वाज्ज्ञापकेन विना कर्थज्ञानमित्यनुभावस्यापेक्षणीयत्वात्। र०त० ३।

३. कटाक्षादीनां करणत्वेनानुभावकत्वम्, विषयत्वेनोद्दीपनविभावत्त्वम्।
—र०त० ३

और शृंगार के अनुभावों के विषय में तो उन्होंने भरतमुनि की कारिका को अविकल रूप से उद्धृत कर दिया है — तत्र भरत: — "नयनवदनप्रसादै: स्मित मधुरवचनप्रमोदैश्च । विविधैरङ्गविकारैस्तस्याभिनय: प्रयोक्तव्य: ॥" कटाक्षभुजजंघादय ऊहनीया: ।[१]

और सात्त्विकभाव तो आठों ही अविकल रूप से शृङ्गाररस में प्रयुक्त होते हैं[२]।

स्त्रियों के दस हाव—

इस प्रसंग में स्त्रियों की शृङ्गारचेष्टा रूप[३] दस हावों का भी उल्लेख किया है — " लीलाविलासौविच्छित्तिर्विभ्रम: किलकिंचितम् । मोट्टायितं कुट्टमितं बिब्बोकोललितं तथा । विहृतं चेति विज्ञेया दश हावास्तु योषित : ॥"

प्रिय के भूषण, वचन आदि का अनुकरण लीला कहलाता है ।[४] प्रिय के दर्शन स्मरण आदि से गमन, नयन, वदन, भ्रूचालन आदि में जो एक विशेषता आ जाती है उसे विलास कहते हैं ।[५] सौकुमार्य, प्रिय-सौभाग्य, सौन्दर्य, गर्व, क्रोध अथवा क्लेश आदि के कारण कुछ ही आभूषणों को धारण करना विच्छित्ति (विशेष शोभा) कहलाती है ।[६] अनुरागधिक्य अथवा धनमद आदि के कारण वचन एवं आभूषणों का स्थान विपर्यास विभ्रम कहलाता है ।[७] नवयौवनोद्भेद तथा चांचल्य आदि के कारण श्रम, अभिलाष, गर्व, स्मित, हर्ष भय तथा क्रोध के संकर को किलकिंचित कहते हैं ।[८]

---

१. र०त०, ३

२. स्तम्भ: स्वेदो थ रोमान्च: स्वरभङ्गो थ वेपथु: ।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय, इत्यष्टौ सात्त्विका: स्मृता: ।। र०म०, पृ० ९८६

३. प्रियभूषणावचनाद्यनुकृतिर्लीला —र०त०

४. गमननयनवदनभ्रूप्रभृतीनां य: कश्चिदुत्पद्यते विशेष: सविलास: — र०त० —६

५. कतिपयभूषाविन्यासो विच्छित्ति: — र०त० ६

६. वागङ्गभूषणानां स्थानविपर्यासो विभ्रम: -- र०त० ६

७. श्रमाभिलाषगर्वस्मितहर्षभयक्रुधां सङ्कर: किलकिंचितम्
--र०त० ६

८. वातावैमुख्येसति निभृतभ्रूयोदर्शनस्पृहा मोट्टायितम् —
—र०त० ६

सपत्नी से डर तथा लज्जा आदि के कारण खुल कर समाने बातें तो हो नहीं सकतीं, अत: जो छिपकर बार बार देखने की स्पृहा होती है उसे मोट्टायित कहते हैं।[१] रागाधिक्य, नख-दशन-दात, केश-ग्रहण, तथा अधरपान आदि के कारण सुख होने पर भी जो दु:ख चेष्टा अर्थात् सीत्कार आदि होता है उसे कुट्टमित कहते हैं।[२] यौवन मद, धन-मद, कुल मद तथा प्रिय अपराध आदि के कारण गर्वाभिमान से उत्पन्न प्रिय का अनादर अथवा उपेक्षा रूप विकार विव्बोक कहलाता है।[३] मन की प्रसन्नता, प्रियतम का दृढानुराग तथा धीरत्व आदि के कारण सभी अङ्गों का जो समीचीनता से विन्यास उसे ललित कहते हैं। इसी ललित के भीतर ही स्मित आदि चेष्टायें आ जाती हैं।[४] और व्याज, लज्जा आदि के कारण प्रिय के सन्निधि में भी जो अभिलाष की अपूर्ति है उसे विहृत कहते हैं।[५]

पुरुषों के भी कुछ औपाधिक हाव

इन पूर्वोक्त हावों में से कुछ तो पुरुष के भी हो सकते हैं जैसे — विव्बोक, विलास, विच्छित्ति तथा विभ्रम। किन्तु उनके ये औपाधिक अथवा किसी कारण से विशिष्ट रूप में आते हैं, किन्तु स्त्रियों के तो ये स्वभावगत अथवा सहज ही हैं। हां, इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि स्त्रियों के भी ये हाव उद्दीपक के ही रहने पर आविर्भूत होते हैं, उसके अभाव में तिरोभूत रूप में ही रहते हैं।[६] इन हावों में भी कुछ केवल बाह्य ही रहते हैं।

नायिका के यौवन के अलङ्कार

कृष्णकवि ने स्त्रियों के यौवन वेला के तेइस अलङ्कारों का उल्लेख किया है —

---

१. वार्तावैमुख्येऽसति निभृतभूयोदर्शनस्पृहा मोट्टायितम् —र०त० ६

२. सुखेदु: खचेष्टा कुट्टमितम् —र०त० ६

३. गर्वाभिमानसम्भूतोविकारो नादरात्माविव्बोक : —र०त० ६

४. सकलाङ्गसमीचीनविन्यासोललितम्। अत्रैवस्मितादयो न्तर्भवन्ति । र०त० ६

५. प्रियसन्निधावभिलाषापरिपूर्तिर्विहृतम् —र०त० ६

६. ननुविव्बोकविलासविच्छित्तिविभ्रमा:पुरुषाणामपि सम्भवन्तीतिचेत्। सत्यम्, तेषान्त्वौपाधिका:स्वभावजा:स्त्रीणामेव। नन्वेवं यदि तासां सदैव ते कथं न भवन्तीति चेत्। सत्यम् उद्दीपकान्वयव्यतिरेकाभ्यांनायिकानां हावाविर्भावतिरोभावाविति --

—र०त० ६

१. भाव, २. हाव, ३. हेला, ४. कान्ति, ५. शोभा, ६. प्रगल्भता, ७. लीला, ८. विलास, ६. विच्छित्ति, १०. विभ्रम, ११. किलकिंचित् , १२. मोट्टायित , १३. कुट्टमित, १४. विव्वोक, १५. ललित, १६. चकित, १७. विहृत, १८. हास , १६ दीप्ति , २० धैर्य, २१. कुतूहल, २२. माधुर्य तथा २३. औदार्य ।[१] आठवें बिन्दु में (शक्तिबिन्दु में) पहिले नायक नायिका तथा वृत्तियों का विवेचन कर फिर नवें बिन्दु (रम्यबिन्दु) में भावों तथा रसों का निरूपण किया है ।

रस के विकार-भाव--

रस के अनुकूल विकृति को भाव कहते हैं । वह दो प्रकार की होती हैं --१- आन्तर तथा २. शरीर[२]।

आन्तरभाव दो प्रकार के होते हैं --१. स्थायी तथा २. व्यभिचारी[३] ।

वे ही आठ स्थायी भाव तथा वे ही तैंतीस व्यभिचारी भाव। और शारीर भी दो प्रकार के माने गये हैं -- सात्त्विक तथा अनुभाव[४] । स्वपर सुख दु:ख के साथ समनुभूति रखने वाले अन्त:करण को सत्त्व कहते हैं फिर ऐसे अन्त:करण वाले देह को भी सत्त्व कहेंगे । उस देह का जो अयत्नज धर्म होगा उसे सात्त्विक भाव कहते हैं ।[५] उनकी संख्या वही आठ है ।

और जो प्रयत्नज देह-धर्म रसों को अनुभवगोचर करते हैं उन्हें अनुभाव कहते हैं[६]।

---

१. म०म०च० पृ० ८६

२. रसानुकूलविकृतिर्भाव: सद्विविधो मत: ।
आन्तरश्चैव शारीर इतीदं सर्वसम्मतम् ।। --म०म०च० पृ० ८१

३. आन्तरस्तुद्विधास्थायिव्यभिचारिविभेदत: । म०म०च०, पृ० ८१

४. शारीरो पि द्विधा सात्त्विकानुभावविभेदत: । म०म०च०, पृ० ६७

५. स्वपरान्यतरप्राप्तसुखदु:खादिभावनाम् ।
लब्धंयदन्त:करणं सत्त्वं तद्वत्या तथा
अयत्नजो देहधर्म: सात्त्विको भाव उच्यते । म०म०च०, पृ० ६७

६. अथो रसाननुभवगोचरत्वं नयन्ति ये । प्रयत्नजा देह धर्मा अनुभावास्त्वतेमता: ।।
-- पृ० ६८

ये अनुभाव दो प्रकार होते हैं —१. शुद्ध तथा २. अभिनय[1]। शुद्ध अनुभाव नट में आरोपित नहीं (आहार्य नहीं) होते किन्तु अभिनय रूप अनुभाव नट में आरोपित (आहार्य) माने गये हैं।[2] फिर उनको दो प्रकार का कहा गया है — १. वाचिक तथा २. आङ्गिक।[3]

शृङ्गार रस में ये आङ्गिक अनुभाव होते हैं — स्मित, नेत्रप्रसाद, प्रमोद, मधुरवचन, कटाक्ष, भुजाक्षेप, धृति (?) तथा मुखप्रसाद[4]।

---

१. अनुभावाद्विधाप्रोक्ता:शुद्धाभिनयभेदत: ।

२. तत्रानारोपिता: शुद्धाअन्त्याआरोपिता नटे —पृ० ६८

३. द्विविधा:स्यु:पुनर्द्वेधावाचिकाङ्गिकभेदत: । पृ० ६८

४. स्मितनेत्रप्रसादश्चप्रमोदो मधुरं वच: ।
कटाक्षश्च भुजाक्षेपो धृतिरास्यप्रसन्नता ।
इत्याद्यङ्गविकारा:स्यु:शृङ्गारेत्वनुभावका: ।
— म०म०च०, पृ० ६८

सप्तम अध्याय

शृङ्गार - सञ्चारिभाव

सप्तम अध्याय
शृङ्गार - सञ्चारिभाव

व्यभिचारीभाव —

भरत ने व्यभिचारिन् शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है — इसमें वि और अभि —ये दो उपसर्ग हैं, तथा गति अर्थवाली चर् धातु है —इसका अर्थ हुआ— रसों के प्रति अभिमुख होकर जो विविध रूप में गतिमान् होते हैं। वाग् अङ्ग तथा सत्त्व से युक्त होकर ये नाट्य प्रयोगों में रसों को निष्पत्ति तक पहुंचाते (नयन करते) हैं।[1] भरत की दृष्टि में प्राय: भावों का अभिनयात्मक रूप ही प्रमुख रहा है, मनोवैज्ञानिक रूप गौण है। अत: उन्होंने इन व्यभिचारी भावों में मन और शरीर की प्राय: ऐसी सभी अवस्थाओं का अन्तर्भाव कर लिया है जो आठों या नवों रसों में सामान्यत: संचरित होती हैं। इन व्यभिचारियों में आलस्य, उग्रता तथा जुगुप्सा को छोड़कर सभी भाव शृङ्गार रस में मिलते[2] हैं। इसका विवेचन पूर्व ही भाव-प्रसङ्ग में किया जा चुका है। (पश्चाद्वर्ती प्राय: सभी आचार्यों ने यही मत स्वीकार किया है।) यहां एक बात पुन: स्मरणीय है कि ये व्यभिचारी भी भाव इसीलिए हैं कि चित्तवृत्ति-रूप व हैं, जो चित्तवृत्तिरूप नहीं हैं वे अनुभाव हैं।

शृङ्गाररस के व्यभिचारीभाव—

व्यभिचारी भावों की संख्या तैंतीस है। उनमें तीस भाव शृङ्गाररस में देखे जाते हैं किन्तु इन तीस में भी धृति आदि जो सुखमय भाव हैं, वे ही सम्भोग शृङ्गार में होते हैं, निर्वेद आदि दु:खमय भावों का औचित्य केवल विप्रलम्भ में ही दिखाई पड़ता है। जिन आलस्य, औग्र्य, जुगुप्सा —इन तीन भावों का भरत ने शृङ्गार में निषेध किया है, उन्हें केवल विभावगत रूप में ही निषिद्ध समझना चाहिए,

---

१. वि अभि इत्येतावुपसर्गौ चर गतौ धातु:। विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिण:। वाङ्गसत्त्वोपेता: प्रयोगे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिण:।
— ना०शा०

२. व्यभिचारिणश्चालस्यौग्र्यजुगुप्सा: — ना०शा०

आश्रय में तो विप्रलम्भशृङ्गार में उनका विशिष्ट निरूपण किया जाता है ।[१]

यह अभी कहा जा चुका है कि निर्वेद आदि जो दु:खप्राय व्यभिचारी भाव हैं, भरत उन्हें केवल विप्रलम्भगत मानते हैं, सम्भोगगत नहीं । वे भाव ये हैं — निर्वेद ग्लानि, शङ्का, असूया, श्रम, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा, स्वप्न, विबोध, व्याधि उन्माद, अपस्मार, जाड्य मरण आदि[२] । आदि कहने से दैन्य मोहादि का भी ग्रहण हो जाता है ।[३]

यहां एक बात विचारणीय है - भरत ने इन व्यभिचारियों को अनुभावनाम से उल्लिखित किया है । उनका तात्पर्य यह है कि ये निर्वेद आदि प्रथम तो अपने अनुभावों द्वारा अनुभावित किये जाते हैं, फिर विप्रलम्भशृङ्गार का अनुभावन कराते हैं, अत: व्युत्पत्त्या इन्हें अनुभाव कहा जाता है ।[४] यद्यपि इन पूर्वोक्त भावों में श्रम और निद्रा सम्भोग में भी होते हैं - रतिक्रीडा से श्रम उत्पन्न होता है और श्रम से निद्रा आती है, किन्तु वहां (सम्भोग)उनसे कोई चमत्कार नहीं उत्पन्न होता है । विप्रलम्भ में तो कविगण उनका बाहुल्य से प्राधान्य एवं चमत्कार के साथ वर्णन करते हैं ।[५] विबोध तो सम्भोग में भी व्यभिचारी है - विभाव के सान्निध्य में नींद कहां ? स्वप्न यद्यपि सुप्त नामक व्यभिचारीभाव के अन्तर्गत ही है तथापि स्वचमत्कारप्राधान्यके कारण पृथक्

---

१. " आलस्यादि च स्व-विभावप्र (म) दादि विषयमेवनिषिद्धम् - (अभि०भार०)

२. विप्रलम्भकृतस्तु निर्वेदग्लानिशङ्कासूयाश्रमचिन्तौत्सुक्यनिद्रास्वप्नविबोधव्याध्युन्मादा-
पस्मारजाड्यमरणादिभिरनुभावैरभिनेतव्य: — ना०शा० ६

३. "~~व्यभिचारिणश्चास्यालस्यौग्र्यजुगुप्सावर्ज्याः~~ : "
आदिशब्देन दैन्यमोहादयः — भारती ~~— ना०शा० ६~~

४. " एतेव्यभिचारिणो पि स्वानुभावैरनुभाविता विप्रलम्भमनुभावयन्ति । तस्मादनु-
भावैरित्युक्तम् ।"

— भारती

५. सम्भोगे पि रतिश्रमकृतनिद्रादि यद्यप्यस्ति तथापि न रतौ तच्चित्रतामाधत्ते । विप्रलम्भे तु तद्रतिभावनापरम् अतएव निद्रादिबाहुल्यापेक्षयेत्थमभिधानम् ।

—भारती

गिनाया गया है।[1] व्याधि,उन्माद और अपस्मार की जो अत्यन्त कुत्सित दशा नहीं होती वही काव्य और नाट्य में विप्रलम्भ के व्यभिचारी के रूप में प्रदर्शनीय होती है, अन्यथा तो वे अन्य भाव के व्यंजक होते हैं, रति के नहीं। मरण भी उसी प्रकार का हो कि शीघ्र ही पूर्व विच्छिन्न रति जुट जाय, अन्यथा शोक अपना स्थान बना लेगा और रति का उन्मूलन ही हो जायगा, जैसा कि महाकवि कालिदास ने अज की मृत्यु-वर्णन के प्रसंग में एक ही श्लोक में अज का देहत्याग तथा पुन: शरीरान्तर से उसी प्रिया से मिलन का वर्णन कर शृङ्गार को पुनरुज्जीवित कर दिया है।[2]

व्यभिचारीभाव तो वे ही निर्वेदादि प्रसिद्ध तैंतीस गिने गये हैं।[3] शारदा-तनय का मत है कि यदि चित्तवृत्ति विशेष से कोई अन्य भाव भी कहीं समझ पड़े तो उसका अन्तर्भाव व्यभिचारियों में ही करना चाहिए।[4] ये व्यभिचारीभाव स्थायी के ही पोषक होते हैं -जैसे लहरें सागर में उठती बैठती हुई उसी सागर का उत्कर्ष प्रकट करती हुई फिर उसी के रूप में मिल जाती हैं, वैसे ये व्यभिचारी भी स्थायी में डूबते-उतराते हुए उसे पुष्ट करते हैं तथा उस स्थायी रूप में ही रसात्मकता भी प्राप्त

यथा-

१. त्रिभागशेषासु निशासु चक्षणं
निमील्यनेत्रेसहसा व्यबुध्यत ।
क्व नीलकण्ठव्रजसीत्यलक्ष्यवाग्
असत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धनों ।`

तथा -

` आहूतोऽपि सहायैर्
ओमित्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि
गन्तुमना अपि पथिक:
सङ्कोचं नैव शिथिलयति ।`

२. मरणमचिरकालप्रत्यापत्तिमयमत्रमन्तव्यम् येन शोको वस्थानमेव न लभते ।`

३. निर्वेदाद्यास्त्रय स्त्रिंशद्भावास्ते व्यभिचारिण: । १।६

४. अन्येऽपि यदि भावा:स्युश्चित्तवृत्तिविशेषत: ।
अन्तर्भावस्तु सर्वेषां द्रष्टव्यो व्यभिचारिषु ।। १।२५

५.

करते हैं।[१] यद्यपि, जैसा कि रुद्रट, भोज आदि आचार्यों ने माना है, ये व्यभिचारी-भाव भी कभी-कभी विभावादि से परिपुष्ट होकर रसात्मकता को भी प्राप्त करते हैं किन्तु शारदातनय का मत है कि इन व्यभिचारियों के अस्थिरस्वभाव के कारण ये नाट्य आदि के प्रधानरस होने के लिए उपयोगी नहीं है[२]। स्थायी स्वभावत: इतना बलवान् भाव होता है कि अन्य भाव उसमें, क्षार सागर में जैसे अन्य सभी प्रकार के जलक्षार बन जाते हैं, उसी प्रकार विलीन हो जाते हैं[३]। और चूंकि निर्वेदादिकों का स्वभाव ऐसा सामर्थ्यवाला नहीं है, अत: वे भावमात्र ही रहेंगे, स्थायी का पद नहीं प्राप्त कर सकते[४]। और फिर भी यदि किसी ने कहीं किसी व्यभिचारीभाव का परिपोष किया तो वह विरसता ही पैदा करता है सरसता नहीं।[५] अत: नाट्य के आचार्यों ने आठ ही स्थायी माने हैं और कोई पुष्ट व्यभिचारी भी किसी न किसी स्थायी का ही अंश रूप बनेगा।[६] व्यभिचारी भाव तो वे ही निर्वेदादि प्रसिद्ध तैंतीस गिने गये हैं।[७] व्यभिचारी तथा सात्त्विक (जो व्यभिचारी बन जाते हैं) भावों में

---

१. उन्मज्जन्तो निमज्जन्त: कल्लोलाश्चयथार्णवे।
तस्योत्कर्षं वितन्वन्ति यान्ति तद्रूपतामपि।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्ना स्तथैवव्यभिचारिण:
पुष्णान्तिस्थायिनं स्वांश्चतत्रयान्तिरसात्मताम्।। १।२५,२६

२. यद्यपि स्याद्रसात्मत्वं तेषां क्वापि कदाचन।
अस्थिरत्वादथैतेस्युर्नाधाद्यनुपयोगिन:।। १।२६

३. यत: स्वरूपारोपेण भावानन्यानुपस्थितान्
स्वात्मन्यैक्येन गृह्णाति स स्थायीलवणोदवत्।। १।२६

४. भावसाधारणात्वे पि निर्वेदाद्यैर्न शक्यते।
स्थायित्वमात्मनोनेतुमतादृप्यस्वभावत:।।१।२६।

५. 'यत्र क्वचित् स्यात् तत्पोषो वैरस्यायैव कल्पते।' १।२६

६. 'अतो नाट्यविदामष्टावेवात्रस्थायिनो मता:

ये किंचिदन्ये भावाश्चेत् पोषं यान्तिरसात्मना
तेषां विशेषो विज्ञेय:स्थायिष्वेवनवान्यथा ।१।२६

७. निर्वेदाद्यास्त्रय स्त्रिंशद्भावास्ते व्यभिचारिण:।। १।६

कुछ ऐसे हैं जो शृङ्गार रस में विशिष्ट रूप से रहते है । इनमें भी मद, श्रम, अवहित्था, हर्ष, गर्व, स्मृति ,धृति, असूया, ग्लानि, शंका, वितर्क, तथा अपत्रपा और रोमांच वेपथु तथा स्वेद —ये सम्भोग शृंगार में पाये जाते हैं —[1] । तथा मोह, आवेग, विषाद, जड़ता, व्याधि, दीनता, चिन्ता, वितर्क, निद्रा, कार्श्य तथा श्वासादि और स्तम्भ, कम्प, अश्रुवैवर्ण्य तथा गद्गदादि विप्रलम्भ में देखे जाते हैं[2] ।

व्यभिचारियों का विवेचन करते हुए शि०भू० ने अपनी एक सम्मति श०त० के साथ दिखाई है कि अन्य भी जो चित्तवृत्तियां संभव होंगी उनका अन्तर्भाव इन्हीं व्यभिचारी भावों में मानना चाहिए ।[3]

इन व्यभिचारियों की एक अपनी विशेषता है कि ये परस्पर विभाव और अनुभाव का भी कार्य करते हैं —जैसे सन्ताप दैन्य का विभाव बनता है, तथा ग्लानि का अनुभाव, प्रहार प्रलय और मोह का तो विभाव है किन्तु औग्र्य का अनुभाव, विषाद उत्पातावेग का तो अनुभाव है किन्तु स्तम्भ का विभाव तथा व्याधि-ग्लानि स्तम्भ प्रलय आदि का विभाव बनती है[4]।

इन व्यभिचारी भावों की दो स्थिति होती है — १. स्वतन्त्र, २. परन्त्र । जब दूसरे के पोषक होते हैं तो व्यभिचारीभाव कहे जाते हैं और जब स्वतन्त्र होते हैं तो इनको भाव कहा जाता है ।[5]

---

१. मद:श्रमो वहित्थं च हर्षो गर्व:स्मृतिर्धृति : ।
असूयाग्लानिशंकाश्च वितर्कौ पत्रयापि च ।
रोमांचवेपथुस्वेदा: शृङ्गारे भोगनामनि ।। भा०प्र० २।३३

२ भा० प्र० २।३३

३. अन्ये पि यदिभावा:स्यु श्चित्तवृत्तिविशेषत: ।
अन्तर्भावस्तुसर्वेषां द्रष्टव्यो व्यभिचारिषु ।।

४. विभावा अनुभावाश्च ते भवन्ति परस्परम् ।
कार्यकारणभावस्तु ज्ञेय: प्रायेणालोकत: ।
तथाहि—सन्तापस्य दैन्यं प्रतिविभावत्वं ग्लानिप्रत्यनुभावत्वं च । प्रहारस्य प्रलयमोही प्रतिविभावत्वम् औग्र्यं प्रत्यनुभावत्वं च । विषादस्योत्पातावेगं प्रत्यनुभावत्वं स्तम्भं प्रतिविभात्वम् । व्याधेर्ग्लानिस्तम्भप्रलयादीन् प्रतिविभावत्वम् ।
— र०सु० १, पृ० १३६-४०

५ स्वातन्त्र्यात् पारतन्त्र्याच्च द्वेधामी व्यभिचारिण: ।
परपोषकता प्राप्ता:परतन्त्रा इतीरिता: ।
अभावे स्वतन्त्रा:स्वभावा इति च तेस्मृता: । —र०सु० १, पृ० १४०

व्यभिचारियों का विवेचन करते समय भानुदत्त ने भी कुछ व्यभिचारियों को शृङ्गार रस में वर्ज्य बताया है जैसे -सम्भोग में आलस्य, उग्रता एवं जुगुप्सा[1]। विप्रलम्भ में आलस्य, ग्लानि, निर्वेद, श्रम, शंका, निद्रा, औत्सुक्य अपस्मार, सुप्त, विबोध, उन्माद, जाड्य तथा असूया[2]। भानुदत्त का मत है कि स्थायीभाव भी व्यभिचारी का काम करते हैं।[3] हास स्थायीभाव शृङ्गाररस में व्यभिचारीभाव होता है तथा रति शान्त, करुणा, हास्य रसों में।[4] उत्साह और विस्मय तो सभी रसों में व्यभिचारी बनते हैं।[5]

शृंगाररस में कुछ आचार्यों ने सभी व्यभिचारी भावों को सम्भव माना है,[6] कुछ ने कुछ का निषेध किया है। कृष्णकवि ने शृंगार में केवलबीस ही व्यभिचारियों की सम्भावना बताई है- १. व्रीडा, २. उन्माद, ३. मद, ४. आवेग, ५. विषाद, ६. औत्सुक्य ७. विस्मय, ८. शंका, ९. असूया, १०. भय, ११. ग्लानि, १२. निद्रा, १३. व्याधि, १४. स्मृति १५. धृति, १६. चिन्ता, १७. अवहित्था, १८. मरण, १९. चापल तथा २०. जड़ता।[7]

---

१. आलस्यौ ग्र्यजुगुप्सा सम्भोगेवर्ज्या: — र०त० ५

२. विप्रलम्भे चालस्यग्लानिनिर्वेदश्रमशंकानिद्रौत्सुक्यापस्मारसुप्तविबोधोन्माद जाड्यासूया व्यभिचारिण: —र०त० ५।

३. स्थायिनो पिव्यभिचरन्ति —र०त० ५

४. स्थायिनो पि व्यभिचरन्ति। हास: शृङ्गारे। रति: शान्तकरुणाहास्येषु।
—र०त० ५

५. उत्साहविस्मयौ सर्वरसेषुव्यभिचारिणौ — र०त० ५

६. केचिदूचुश्च सकला: शृंगारेव्यभिचारिण: —म०म०च०, पृ० १०६

७. वही, पृ० १०६

अष्टम अध्याय

शृङ्गार - भेद

अष्टम अध्याय

शृङ्गार - भेद

शृङ्गार के दो अधिष्ठान—सम्भोग तथा विप्रलम्भ—

भरत ने इस शृङ्गाररस के दो अधिष्ठान बताये हैं — १. सम्भोग तथा २. विप्रलम्भ।[1] अधिष्ठान शब्द का लोक में स्थिति या स्थान अर्थ होता है, जैसे 'इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते',[2] 'कस्मिंश्चिदधिष्ठाने'[3] आदि।तो शृङ्गार रस के दो अधिष्ठान हैं यह कहने का तात्पर्य हुआ कि कि शृङ्गार रस दो स्थानों में रहता है — एक है सम्भोग स्थान और दूसरा वियोग या विप्रलम्भ स्थान। किन्तु सम्भोग तथा विप्रलम्भ रति की दो विशिष्ट अवस्था मात्र ही हैं। अतः अधिष्ठान शब्द भी यहाँ अवस्था का ही वाचक हुआ। यही देखकर अभिनव ने अधिष्ठान का अर्थ अवस्था ही किया है अर्थात् शृङ्गार के दो भेद या प्रकार हुए।[4]

पुनः भरत ने विभाव के भेद से अथवा अभिनय की दृष्टि से रस में भी भेद बताया है और इस सिद्धान्त के अनुसार शृङ्गार भी, वाणी, से, नेपथ्य से तथा क्रिया से विभावित होने के कारण, १ — वाचिक, २. नेपथ्य, तथा ३. क्रियात्मक — तीन प्रकार का होता है।[5] किन्तु इन भेदों का काव्य की मूलचेतना या शृङ्गार के मनोविज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं। स्वभावतः यह तीन भेद आगे चलकर लुप्त हो गए।

---

१. तस्यद्वे अधिष्ठाने सम्भोगो विप्रलम्भश्च। — ना०शा०

२. गीता ३।४०

३. पंचतन्त्र

४. अधिष्ठाने अवस्थे इत्यर्थः अधिष्ठीयते वस्थात्र शृङ्गार-रूपेण। तेन शृङ्गारस्येमौ-भेदौ। अभि— भार०

५. शृङ्गारंत्रिविधं विद्याद्वाङ्नेपथ्यक्रियात्मकम्।
— ना०शा० ६।७७

समवकारगतशृङ्गार के तीन भेद –

फिर समवकार-नामक रूपकभेद के निरूपण के प्रसंग में भरत मुनि ने पुरुषार्थ की दृष्टि से तीन प्रकार के शृङ्गार रस की चर्चा की है – १. धर्मशृङ्गार, २. अर्थशृङ्गार तथा ३. कामशृङ्गार।[1] जहां नायिका के लाभ में धर्म हेतु हो अथवा साध्य हो उसे धर्मशृङ्गार कहते हैं वह व्रत, नियम तथा तप से युक्त होता है।[2] जहां अर्थ का इच्छायोग हो, अथवा जहां स्त्रीसंप्रयोग विषयों में अर्थ के लिए रति हो, उसे अर्थशृङ्गार कहते हैं। यहां एक शङ्का होती है कि समवकार के पात्र देव एवं असुर ही होते हैं, उन देवों में अर्थार्थिता कैसे मानी जायगी ? इसका समाधान अभिनव ने इन शब्दों में दिया है – कि कुछ के अनुसार गन्धर्व आदि वर्ग के देवों में अर्थार्थिता सम्भव है। दूसरों के मत से अभिलषणीय अर्थ तो देवों में भी सम्भव होता ही है और उनके उपाध्याय के अनुसार देव नायक-नायिका के मिलने से अन्यों की अर्थसिद्धि होती है, जैसे शिव-पार्वती का मिलन इन्द्रादि देवों के तारकाक्रान्त राज्य की मुक्ति के लिए होता है[3]। और नायक का कन्या में अथवा कन्या का नायक में जो परस्पर अनुराग होता होता ~~गन्धर्वयदादिषु संभव~~ है अथवा उद्यान आदि में परकीया के साथ जो छिपकर संगम होता है, जैसे अहल्या के साथ इन्द्र का, वह सबकाम.शृङ्गार कहा जायगा।[4] शृङ्गार के ये तीनों प्रकार उन रूपकों में, जहां मनुष्यमात्र होते हैं, अत्यधिक दिखायी पड़ते हैं। (किन्तु पुरुषार्थों पर आश्रित भेदों का भी स्वतन्त्र अस्तित्व बहुत न चल पाया। बाद के शृङ्गारप्रकाश तथा नाट्यदर्पणादि कुछ ग्रन्थों में इनका उल्लेख मिलता है)।

विप्रलम्भ एवं करुण में अन्तर –

भरत ने विप्रलम्भ शृङ्गार से करुण के भेद का निरूपण इस प्रकार किया है। विप्रलम्भशृङ्गार में निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, व्याधि, उन्माद, अपस्मार, जाड्य, मरण

---

१. शृङ्गारः कर्तव्यो धर्मे चार्थे च कामे च। –ना०शा० १८।७२

२. ना०शा०, १८।७३

३. गन्धर्वयदादिषु संभवत्येवेतिकेचित्। यदर्थनीयं तदर्थो देवेष्वपि चैतत्संभवतीत्यन्ये। उपाध्यायास्त्वाहुः –तत्रनायकयोस्तुप्राप्तिरप्यन्यगतैव। यथा भगवतो भवानीपतेः गिरिराजपुत्रीसङ्गमनमिन्द्रादीनांतारकाक्रान्तनिजराज्यसमुन्मोचनाय भवतीति– भारती

आदि जिन व्यभिचारियों को सहकारी रूप से निबद्ध किया गया है वे ही बाहुल्य के साथ करुण रस में भी होते हैं, जैसा कि करुण-प्रसङ्ग में कहा है — व्यभिचारिण-श्चास्यनिर्वेदग्लानिचिन्तौत्सुक्यावेगभ्रमनोहमभयविषाद-दैन्य-व्याधिजड़तोन्मादापस्मा-त्रासालस्यमरणास्तम्भवेपथुवैवर्ण्याश्रुस्वरभेदादय: — ना०शा० । तो फिर इन दोनों में क्या अन्तर रहा ? वास्तविक बात यह है कि विप्रलम्भशृङ्गार में रहने पर इन निर्वेदादिकों के अन्तास् में धारावाही रूप से रति ही सापेक्ष स्थिर भाव रहता है, जो पुनर्मिलन की आशा से अनुप्राणित रहता है। करुण में भी रति रही थी, किन्तु अधुना वह उच्छिन्न या निरपेक्ष रूप में रहती है, अर्थात् अब पुनर्मिलन की कोई आशा नहीं रहती — जो रति का आलम्बन था, अब वह शोक का आलम्बन हो जाता है[1] अतएव कामसूत्र के पारदारिक प्रकरण में तथा नाट्यशास्त्र के सामान्याभिनय प्रकरण में अभिलाष से प्रारम्भ कर मरण पर्यन्त अवस्थाओं से युक्त विप्रलम्भ शृङ्गार परस्पर आस्थाबन्ध-रूप रति के रहने पर ही दिखाया गया है।[2]

और फिर औत्सुक्य कहते हैं उस विशिष्ट भाव के विषय (आलम्बन) की ओर उत्सुकता को। जितने समय तक वह विषय रहता है उतने समय तक ही उसके प्रति उत्सुकता रहती है। उस विषय के नष्ट हो जाने पर तो फिर उसके प्रति उत्सुकता कहाँ — इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि औत्सुक्य प्रधान रहने पर ही निर्वेदचिन्ता आदि भावों से विप्रलम्भशृङ्गार की अभिव्यंजना होती है। अतएव वहां रतिभाव सापेक्ष माना जाता है। करुण में तो विषय ही नष्ट हो जाता है। अत: भरत मुनि उपसंहार करते हैं कि — "एवमन्य: करुणोन्यश्च विप्रलम्भइति"[3]

---

१. यद्यर्य रतिप्रभव: शृङ्गार:कथमस्यकरुणाश्रयिणोभावाभवन्ति । अत्रोच्यते पूर्वमेवा-भिहितं सम्भोगविप्रलम्भकृत: शृङ्गारइति । .... । करुणस्तु-शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविभवनाशवधबन्धसमुत्थ: निरपेक्षभाव: । औत्सुक्यचिन्ता-समुत्थ:सापेक्ष:भावो विप्रलम्भकृत: ।" — ना०शा०

२. दश तु कामस्यस्थानानि- चक्षु:प्रीति: मन:सङ्ग:सङ्कल्पोत्पत्तिर्निद्राच्छेदस्तनता-विषयेभ्योव्यावृत्तिर्लज्जाप्रणाश उन्मादोमूर्च्छामरण मिति तेषांलिङ्गानि ।

— का०सू० ५।१।४-५

३. ना०शा० ।

इस प्रसङ्ग में भरतमुनि ने एक बात और बड़ी मार्मिक कही है। वे प्राय: शृङ्गार के दोनों भेदों को एक साथ उल्लिखित कर देते हैं। यहीं उन्होंने कहा है — एवमेष सर्वभावसंयुक्त: शृङ्गारो भवति`[1]। किन्तु अभिनव की भारती सर्वत्र उसका यह तात्पर्य निकालती है कि भरत के मत से शृङ्गार रस के दो भेद होते हुए भी वह एक ही रस है —दो नहीं—` एक एवासौ (शृङ्गार:) इति बहुश उक्तम् —(भारती)। जब भरत ने उपसंहार किया कि —एवमेष सर्वभावसंयुक्त: शृङ्गारो भवति [2] तो इसकी मीमांसा करते हुए अभिनव कहते हैं —भरत ने यहां जो `शृङ्गार:` यह एक वचन का प्रयोग किया है उससे यह उपसंहार किया है कि —शृङ्गाररस एक ही है [3]।

रुद्रट के अनुसार शृङ्गार के दो प्रकार होते हैं सम्भोग तथा विप्रलम्भ। उनमें परस्पर संगत पुरुष स्त्री के रतिमूलक व्यवहार को सम्भोग तथा विमुक्त के रतिमूलक व्यवहार को विप्रलम्भ कहते हैं। फिर यह द्विधा विभक्त शृङ्गार प्रत्येक दो रूप का माना गया है —१. प्रच्छन्नरूप और २.प्रकाशरूप।[4] यह `प्रच्छन्न` और` प्रकाशरूप` भेद रुद्रट की अपनी मौलिक सूझ है। इन्होंने ही इसका प्रथमवार उल्लेख किया है, हो सकता है इसका उन्हें कामशास्त्र में कुछ संकेत मिला हो।[5] अन्य आचार्यों ने तो उनके बाद ही इस भेद की चर्चा की है। किन्तु रुद्रट ने इन दो भेदों का केवल नामोल्लेख ही करके छोड़ दिया है —उनके लक्षण उदाहरण आदि कुछ नहीं दिए। सम्भवत: प्रेमियों के प्रेम को परस्पर अथवा सर्वसाधारण से गुप्त अथवा प्रकट बनाए रखने के कारण शृङ्गार के सभी भेदों को प्रच्छन्न एवं प्रकाशरूप कहा जा सकता है। इस भेद को करके रुद्रट ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है। अस्तु।

सम्भोग शृङ्गार वह है, जिसमें नायक-नायिका हर्षातिरेक के साथ एकचित्त हो परस्पर आलोकन, आभाषण आदि के सुख का अनुभव करते हैं।[6] इस विषय

---

१. ना०शा०, ६

२. वही

३. शृङ्गार इत्युपसंहृतम् —भारती।

`शृङ्गार इत्येकवचनेनैक एव शृङ्गार इत्युपसंहृतम्।` —भारती

४. सम्भोग: संगतयो:वियुक्तयो श्च विप्रलम्भो सो।
पुनरप्येष द्वेधाप्रच्छन्न, श्च प्रकाशश्च ॥ १२।६

५. व्यवहार: पुंनार्योरन्योन्यं रक्तयोरति:। शृङ्गारस। का०अ० १२।५

६. अन्योन्यस्य सचित्तावनुभवतो नायको यदिदमुदो
आलोकनवचनादि समस्त: संभोगशृङ्गार: ॥ का०अ० — १३।१

में नमिसाधु की एक टिप्पणी बड़ी मार्मिक हुई है। सम्भोग शृङ्गार को कुछ लोग केवल सुरतक्रीडा मात्र समझते हैं। यह अनुचित है। आलोकन आभाषण आदि भी तो सम्भोग ही हैं —'नतु निधुवनमात्रम्।' (ऐसी ही उक्ति आनन्दवर्धन ने महाकवियों के उत्तमदेवता के सम्भोग वर्णन का प्रत्याख्यान करते समय कहा है[१]।

अतः रुद्रट ने शृङ्गार की आलोकन वचनादि चेष्टाओं का भी वर्णन किया है।

विप्रलम्भशृङ्गार तथा उसके भेद — प्रथमानुराग अथवा पूर्वराग

रुद्रट ने शृङ्गार के दूसरे पहलू विप्रलम्भ का विवेचन किया है। प्रथम विप्रलम्भ शृङ्गार के चार प्रकारों का रुद्रट ने ही उल्लेख किया है - १. प्रथमानुराग, २. मान, ३. प्रवास तथा ४. करुणा रूप।[२]

परस्पर आलोकन आदि से ही जब नायक-नायिका में परस्पर अनुराग उत्पन्न होकर प्ररुढ हो जाता है उस समय रस की प्राप्ति में उनकी जो चेष्टाएं होती हैं उसे प्रथमानुराग विप्रलम्भ कहते हैं।[३] चेष्टाओं का विवेचन रुद्रट ने स्पष्ट एवं थोड़ा विशद ढंग से किया है। प्रथमानुराग की दशा में प्रेमी लोगों को मदनताप (या प्रेम की तड़पन) अवश्य सहना पड़ता है। जिसके उपचार में वे हिम, शीतल जल, चन्द्र, चन्दन, कमलनाल, कदलीदल आदि का, उन वस्तुओं को बुरा कहते हुए भी, सेवन करते हैं।[४] इस प्रथमानुराग रूप विप्रलम्भ में ही वियुक्त प्रेमियों को दस स्मर-दशायें या दस क्रमिक अवस्थाएं अनुभूत होती हैं —सर्वप्रथम अभिलाष (अर्थात् उस प्रिया की चाह) होती है, फिर चिन्ता, तब स्मरण, इसके बाद परस्पर के गुणगान , तदनन्तर उद्वेग (या घबड़ाहट) तत्पश्चात् प्रलाप फिर क्रम से उन्माद, व्याधि, जड़ता और अन्त में मरण भी हो जाता है।[५]

---

१. न च सम्भोगशृङ्गारस्य सुरतलक्षण एवैकः प्रकारः यावदन्येऽपि प्रभेदाः परस्पर-प्रेम दर्शनादयः सम्भवन्ति, ते कस्मादुत्तमप्रकृतिविषये न वर्ण्यन्ते ?' — ध्व०, पृ० ३३३

२. अथ विप्रलम्भनामा शृङ्गारो यं चतुर्विधो भवति।
प्रथमानुरागमानप्रवासकरुणात्मकत्वेन ।। का०अ० १४।१

३. आलोकनादिमात्रप्ररूढगुरुरागयोरसम्प्राप्तौ।
नायकयो या चेष्टा स प्रथमो विप्रलम्भ इति। का०अ० १४।२

४. हिमसलिलचन्द्रचन्दनमृणालकदलीदलादिवन्तौ।
दूषयन्स्मरतापो सेवेते निन्दतः विलापवतः ।। का०अ० १४।३ ५-(शेष)

नायिका-प्राप्त्युपाय—

अपनी उस प्रेयसी को प्राप्त करने में प्रथमानुरागी नायक अनेक प्रयत्न करता है। उसके परिजन (दास या दासी) को साम, दान, या मान आदि किसी उपाय से, किसी अन्य प्रयोजन के लिए, मिलायेगा। और उस परिजन के सम्मुख, जब वह उसकी बात में आ जायेगा, नायिकाविषयक सानुराग बातें किया करेगा और अन्त में उसके प्रति अपना अनुराग भी प्रकट कर देगा।[१] यदि नायिका को कोई परिजन इस प्रकार का न मिले तो किसी भिक्षुणी, मालिनि आदि को, जिसकी बात पर स्वयं विश्वास करता हो तथा नायिका भी विश्वास करती हो, इस काम में भलीप्रकार से नियुक्त करे।[२] और उनके द्वारा अपने भाव को नायिका से निवेदित कर तथा नायिका के चित्त को जान कर, तब अपनी अवस्था के सूचक लेख आदि उपचारों से उससे (प्रेममार्ग में आगे बढ़ने की) जल्दी करवाता है। और जब उसे एकान्त में अपने प्रेम के प्रति सिद्ध जान लेता है, तो यथावसर उसे कला द्वारा, इन्द्रजालों द्वारा अथवा योगों द्वारा अनेकों बार विस्मित करता है।[३] किन्तु इस प्रकार जब समस्त उपायों का उपयोग करके भी नायिका को साधने में सफल न हो तब किसी कन्या नायिका को साधने का प्रयत्न करे[४]।

शेष — आदावभिलाष:स्याच्चिन्ता तदनन्तरं तत: स्मरणम्
(५) तदनुगुणसंकीर्तनमुद्वेगो थ प्रलापश्च
उन्मादस्तदनु ततो व्याधि र्जडता ततस्ततो मरणम्
इत्थ मसंयुक्तानां रक्तानां दशदशा ज्ञेया: ।। का०अ० १४।४,५

---

१. अथ नायको नुरक्तस्तस्यामभिप्रतिपरिजनंतस्या:
उद्दिश्यहेतुमन्यं साम्ना दानेन मानेन — १४।६ (का०अ०)
तस्य पुरतो थ कुर्वन् गृहीतवाक्यस्यनायिकाविषयाम्
चिरमनुरागगुणकथां स्वयमनुरागं प्रकाशयति ।। का०अ० १४।७

२. तदभावे प्रव्रजिता मालाकारादियोषितो वापि।
उभयप्रत्यायितगिर: कर्मणिसम्यङ्०नियुङ्०क्ते च ।। वही १४।८

३. तद्वारेण निवेदितनिजभावो विदितनायिकाचित्त:।
त्वरयति तामुपचारै: स्वावस्थासूचकैर्लेखै : ।। १४।९
सिद्धां च तां विविक्ते दृष्ट्वा थ कलादिरिन्द्रजालैर्वा
योगैरसकृत् क्रमशो विस्माययति प्रयोगैश्च ।। १४।१०

४. मन्येत यदा नैवं कथमपिलभ्यते नायिकानाथात्।
दर्शितसमस्तोपाय: कन्यां स ददति साधयति ।। वही १४।११

परदारप्रवृत्तिनिषेध–

परकीया गमन के विरुद्ध वात्स्यायन से लेकर सभी आचार्यों का ऐकमत्य है। किन्तु हाल, अमरुक आदि कविवरों की उक्तियों में परकीया प्रेम का कभी -कभी बड़ा मनोरम चित्र मिलता है। अतः रुद्रट का कहना है कि कवि को न तो परदारा की इच्छा करनी चाहिए, न उपदेश और न ही उनका उपाय बताना चाहिए। उनका वर्णन केवल विद्वानों को (सहृदयों को कहना चाहिए था, पर रुद्रट तो सहृदय गोष्ठी के सदस्य थे नहीं, कैसे कहते ?) प्रसन्न करने के लिए काव्याङ्ग रूप से किया जाता है। उसमें कवि को दोष नहीं देना चाहिए[1]। काव्य की इस परदार-प्रवृत्ति को रुद्रट ने खतरे से भरा, अतः नायक को आत्मरक्षा करते हुए इसमें प्रवृत्त होने के लिए कहा है।[2]

मानविप्रलम्भ–

दूसरा विप्रलम्भ मान रूप है। नायक में नायिकान्तरसम्बन्धसमुद्भूत दोष के कारण नायिका ईर्ष्यावश उसके प्रति जो भावविकार प्राप्त करती है, उसे 'मान' विप्रलम्भ कहते हैं।[3] नायक के इस नायिकान्तरसम्बन्धदोष की कई कोटियाँ या

---

१. नहि कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्याः।
कर्त्तव्यतया न्येषां न तदुपायो भिधातव्यः ॥१२
किन्तु तदीयं वृत्तं काव्याङ्गतया स केवलं वक्ति।
आराधयितुं विदुष स्तेन न दोषः कवेस्त्र ॥ १३

२. सर्वत्र एवात्मानं गोपायेदिति सुदारुणावस्थः
आत्मानं रक्षिष्यन् प्रवर्तते नायको प्यत्र ॥ का० अ० १४।१४

(यद्यपि नमिसाधु ने नायक की परदारप्रवृत्ति को ही आत्मरक्षा के लिए बताई। पता नहीं उनका इस 'आत्मरक्षा' से क्या अभिप्राय है ?)

३. मानः स नायके यं विकारमायातिनायिकासेर्ष्या।
उद्दिश्यनायिकान्तरसम्बन्धसमुद्भूतं दोषम् ॥ का० अ० १४।१५

प्रकार हैं — ज्यायान्, मध्य, कनीयान्, तथा मध्यज्यायान् । वास्तविक रूप से अन्य-नायिका-गमन ज्यायान् दोष है — उससे बात करना, मध्यम दोष है, उसे देखना, कनीयान् दोष है तथा उसके द्वारा स्वयं देखा जाना मध्य ज्यायान् है ।[1] फिर रुद्रट ने काव्य में वर्णित दोष चिह्नों का भी उल्लेख किया है । जैसे - प्रतिनायिका के वस्त्र आदि नायक के पास, नायिका के अङ्ग में उसके नख-दन्त आदि के क्षत-चिह्न, गोत्रस्खलन (भूल से उस नायिका का नाम ले लेना) सखी से बातें आदि उस (नायिकान्तरसम्बन्ध) दोष के चिह्न हैं ।[2] देश, काल, पात्र, प्रसंग आदि के अनुसार दोष को देख कर उत्पन्न नायिका का कोप या मान असाध्य, सुखसाध्य या दुखसाध्य होता है ।[3] वास्तव में अपने दोष तथा सहायक दोनों के बलाबल की आलोचना करके तब नायिका के कोप को सुख साध्य अथवा दु:खसाध्य (कृच्छ्साध्य) समझे[4] । फिर उस कोप को शान्त करने के लिए छ: उपाय प्रयुक्त किये जाते हैं — साम, प्रदान, भेद, प्रणाति उपेक्षा तथा प्रसङ्ग-विभ्रंश[5], किन्तु शृङ्गार में भूलकर भी दण्ड का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह शृङ्गार को ही नष्ट कर देता है ।[6]

प्रवासविप्रलम्भ—

प्रवासविप्रलम्भ वह है जिसमें नायक परदेश जायगा, जा रहा हो या गया

---

१. गमनं ज्यायान् दोष: प्रतियोषिति मध्यमस्तथालाप: ।
आलोकनं कनीयान् मध्यो ज्यायान्स्वयंदृष्ट: ।। १६

२. वसनादि नायकस्थं तदीयमार्द्रक्षतं च तस्याङ्गम् ।
दोषस्य तथागमकं गोत्रस्खलनं सखीवचनम् ।। १७

३. देशंकालं पात्रं प्रसंगमवगम्यमत्यसविशिष्टम् ।
जनयतिकोपमसाध्यं सुखसाध्यं दु:खसाध्यं वा ।। १८

४. दोषस्य सहायानामालोच्यबलाबलं समेतानाम् ।
बुध्येत कोपमस्या:सुखसाध्यंकृच्छ्साध्यं वा ।। का०आ० १४।२६

५. समप्रदानभेदौ प्रणातिरुपेक्षा प्रसंगविभ्रंश: । इत्येते षडुपाया: । का०आ० १४।२७

६. दण्डस्त्विह हन्ति शृङ्गारम् ।
—का०आ० १४

हो, किन्तु ऋतु के अनुसार अथवा अन्यथा ही आयेगा, आ रहा है, अथवा आया हो[1]।

करुणाविप्रलम्भ--

रुद्रट ने करुणाविप्रलम्भ उसे कहा है जिसमें नायक या नायिका में से एक की मृत्यु हो जाय, या एक मृतकल्प हो और दूसरा उसके विषय में प्रलाप करे।[2] यह तो वास्तव में करुण हो गया। इसमें पुनर्जीवन की आशा ही इसे शृङ्गाररूप दे सकती है, किन्तु रुद्रट ने उस पक्ष को देखा ही नहीं। रुद्रभट्ट का समस्त शृङ्गाररस विवेचन रुद्रट के अनुसार ही हुआ है।

मानापनोदन उपाय--

मान करने पर प्रसादन के लिए (अथवा मानभंग के लिए) रुद्रट ने छः उपाय बताये हैं -- १. साम, २. दान, ३. भेद, ४. उपेक्षा, ५. प्रणति तथा ६. प्रसङ्गविध्वंस। (इसे अन्य आचार्यों ने 'रसान्तर' तथा भरत ने दण्ड कहा है)। साम नीति तो वह है जिसमें नायक कुछ इस प्रकार सान्त्ववचन कहता है -- सुन्दरि, अपराध करके भी मैं क्षमाशील तुम्हारे स्नेह का ही सहारा चाहता हूं।[3] जब किसी अन्य कारण के बहाने वस्तुतस्तु प्रसन्न करने के लिए नायक अलङ्कार आदि देता है तो उसे दान कहते हैं -- यह लुब्धास्वभाव व्यक्तियों में ही सफल होता है।[4] जब मानिनी के परिजनों को मिलाकर (दान आदि द्वारा) प्रसन्न कर फिर उनके द्वारा प्रेयसी को प्रसन्न किया जाता है तो उसे भेद उपाय कहते हैं।[5] जब प्रसन्न करने की

---

१. यास्यति याति गतोऽयत्परदेशं नायकः प्रवासोऽसौ ।
एष्यत्येत्यायातो यथर्तुवंस्थोऽन्यथा च गृहान् ।। ३३ ।

२. करुणः स विप्रलम्भो यत्रान्यतरोम्रियेतनायकयोः ।
यदि वा मृतकल्पः स्यात्तत्रान्यस्तद्गतंप्रलपेत् ।। ३४

३. अविनीतोऽपि पात्योऽहंत्वया सुभ्रु क्षमाभृता ।
इतिवाणीभवेद्यत्र तत् सामेतिनिगद्यते ।। शृ०ति० २।४४

४. अलंकारादिकं यत्र नायको यत्रतुष्टये ।
उद्दिश्यकारणंकिंचिद्दानंलुब्धासुतद् ।। शृ०ति० २।४५

५. यस्मिन्नुपरिजनं तस्याः समावर्ज्यप्रसादवः ।
तैर्लम्भयेत् कान्तां कान्ताभेदः स उच्यते ।। शृ०ति० २।४६

पूर्वोक्त विधियों को न कर अन्य अर्थ के द्योतक वाक्यों द्वारा प्रसन्न किया जाता है तो उसे उपेक्षा उपाय कहते हैं ।[१] नति तो वह उपाय है जिसमें केवल दीन बन कर चरणों पर गिरना होता है । स्त्रियों को प्रिय की यह चेष्टा अतिशयप्रिय एवं ललित है ।[२] और जब उस मान की वेला में अकस्मात् भय या हर्ष आदि की भावना आ जाती है तो वह मान-मर्दनकारक प्रसंगविध्वंस उपाय बन जाता है ।[३] ये उपाय यथोत्तर बलवान् हैं किन्तु प्रथम तीन (साम, दान, भेद) ही अधिक प्रयुक्त किये जाने चाहिए , बाद के तीन तो कभी-कभी ही प्रयुक्त किये जायं[४]। मान के प्रसंग में रुद्रभट्ट ने भी कुछ तह की बातें कही हैं — `प्रमदा को चाहिए कि वह प्रिय को अत्यधिक खेदनपहुंचाये । मान (रूठना) भी कभी- कभी ही किया जाय और वह भी प्रिय की नति-रूप उत्सव के लिए ही । मान के समय नायक में भय तथा नायिका में ईर्ष्या की भावना रहती है और ध्यान से देखा जाय तो न बिना स्नेह के यह भय है और न बिना मदन के वह ईर्ष्या । अत: मान की वेला में दोनोंकी परस्पर की प्रीति बढ़ती ही है ।[५] सुन्दरी जब प्रिय पर प्रसन्न होती है तो उसे कुछ ऐसे सम्बोधन देती है —`प्रिय, सुभग, दयित, वल्लभ, नाथ, स्वामी, ईश, कान्त, चन्द्रमुख, रमणि-जीवित आदि ।` और जब रूठी रहती है तो — शठ, धृष्ट, निर्लज्ज, दुराचार निष्ठुर, दुशीलवान् आदि ।[६] अपने प्रिय को अप्रिय बनाने के कुछ ये कारण होते हैं -- गर्व, व्यसन, त्याग (?) विप्रियकरण, निष्ठुरभाषण, लोभ तथा अतिप्रवास[७]।

---

१. [illegible] ।
[illegible] ।। शृ०ति० २।४७

२. केवलं दैन्यमालम्ब्य पादपातान्नतिर्मता ।
अभीष्टा सा भृंश स्त्रीणां ललिता च भवेत् ।। शृ०ति० २।४८

३. शृ०ति० ,२।४६

४. शृ०ति०,२।५०

५. नातिखेदयितव्यो यं प्रिय: प्रमदयाक्वचित् ।
मानश्चविरल: कार्य: प्रणामोत्सवसिद्धये ।। ---- ।।
स्नेहं विना भयं न स्यान्मन्मथोनेर्ष्याविना ।
तस्मान्मानप्रकारो यं द्वयो: प्रीतिप्रवर्धन: ।। शृ०ति० २।५१,५३

६. शृ०ति० २।५४,५५ | ७- अगले पृष्ठ पर

ध्वनिकाकेशृङ्गार के भरतसम्मत भेद—

आनन्दवर्धन रसादि की असंलक्ष्यक्रमता बताते हुए उनसे सम्बन्धित भावादि की व्यङ्ग्यता की अनन्तरूपता की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि " अतएव असंलक्ष्यक्रम एक ही प्रकार का सामान्येन कहा गया क्योंकि गणना रूप वैशिष्ट्य सबका समान है ।" उदाहरण के लिए उन्होंने शृङ्गार रस लिया । "काव्यात्मा-शृङ्गारके प्रथमत: दो प्रकार हैं —१. सम्भोग और २. विप्रलम्भ । सम्भोग के भी प्रेमियों की परस्पर प्रेमपूर्वक अवलोकन से प्रारम्भ कर सुरत-(जिसके ८४ प्रकार के आलिङ्गन आदिभेद कामसूत्रप्रकरण में देखे जा सकते हैं)उद्यानादि विहार आदि अपरिमेय प्रकार है । विप्रलम्भ के भी अभिलाष, ईर्ष्या, विरह,प्रवास आदि भेद हैं । उनमें प्रत्येक के अनेक प्रकार के विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी हैं । उन सबके (सम्भोगादिकों के और उनके विभावादियों के) देशभेद, काल-भेद, अवस्था-भेद, आश्रय-भेद आदि के अनुसार एक (शृङ्गार) के ही अपरिमेयभेद होंगे, फिर रसों के भेदोपभेद करने में तो अनन्त ही होंगे ।"[१]

धनञ्जयसम्मतशृङ्गाररस के भेद—

धनञ्जय ने मूलभेदों में थोड़ा-सा परिवर्तन करते हुए शृङ्गार के तीन प्रकार बताये हैं —१. अयोग, २. विप्रयोग तथा ३. सम्भोग । धनञ्जय के इन नूतन प्रकार के भेदकरण की तथा विप्रलम्भ शब्द के प्रयोग न करने की व्याख्या धनिक ने इस प्रकार की-है — वास्तव में वियोग (विप्रलम्भ) के दो स्वरूप होते हैं —१. संयोग होने

शेष७. गर्वाद्व्यसनत्यागाद्विप्रियकरणाच्च निष्ठुरालापात् ।
लोभादतिप्रवासात् स्त्रीणां द्वेष्य: प्रियो भवति ।। शृ०ति० २।५६

---

१ तथाहि शृङ्गारस्याङ्गिनस्तावदाद्यौ द्वौ भेदौ-सम्भोगो विप्रलम्भश्च । सम्भोगस्य च परस्परप्रेमदर्शनसुरतविहरणादिलक्षणा: प्रकारा: ।विप्रलम्भस्याप्यभिलाषेर्ष्या-विरहप्रवासविप्रलम्भादय: । तेषां च प्रत्येकं विभावानुभावव्यभिचारिभेदा: । तेषां च देशकालाद्याश्रयावस्थाभेद इति स्वगतभेदापेक्षयैकस्यतस्यापरिमेयत्वम् किं पुनरङ्गप्रभेद कल्पनायाम् । ते ह्यङ्गप्रभेदा:प्रत्येकमङ्गिप्रभेदसम्बन्धपरिकल्पने क्रियमाणे सत्यानन्त्यमेवोपयान्ति — ध्व० २।१२, पृ० २१७

के पूर्व , २. संयोग होने के पश्चात् और दोनों के लिए 'विप्रलम्भ' शब्द सामान्य-रूप से प्रयुक्त होता है। किन्तु, संकेत देकर अवधि बीतने पर भी जो, अन्य नायिका के साथ प्रेम के कारण, नायक नहीं आता वह विप्रलम्भ शब्द का मुख्य अर्थ है। इस प्रकार विप्रलम्भ शब्द का दो प्रकार का वियोग-सामान्य अर्थ कहीं लाक्षणिक न समझ लिया जाय और प्रवंचना वाला मुख्य ही न गृहीत होने लगे, अतः धनंजय ने उसका प्रयोग न कर स्पष्टता के लिए अयोग और विप्रयोग शब्द का प्रयोग किया[१]। किन्तु धनंजय का यह विभाग तथा नामकरण उन्हीं तक सीमित न रहा। बाद के कुछ आचार्यों ने भी इसे अपनाया ही। वस्तुतः (धनंजय या) धनिक का भय निर्मूल था, क्योंकि जब स्वयं भरत मुनि ने 'विप्रलम्भ' शब्द का पारिभाषिक रूप में वियोग-सामान्य अर्थ किया है तो अब उसके इस शास्त्र के इस प्रसंग में प्रवंचना अर्थ की भ्रान्ति किसको होगी ? शास्त्रविशेष के पारिभाषिक शब्द उस शास्त्र में उस अर्थ-विशेष के अभिधायक ही माने जाते हैं, लाक्षणिक नहीं। अस्तु!

<u>अयोगशृङ्गार</u>—

धनञ्जय का 'अयोग' वही है जिसे आचार्यों ने 'पूर्वानुराग' रूप विप्रलम्भ कहा है। जब दो नवयुवकों (नायक-नायिका) का एक दूसरे के प्रति परस्पर अति गाढ़ अनुराग होता है —यहां तक कि दोनों एकचित्त होते हैं, किन्तु पराधीनतावश या दैववश वे एक दूसरे से दूर रहते हैं, उनका संगम नहीं हो पाता, वहां अयोग शृङ्गार कहा जाता है[२]। योग शब्द का अर्थ है एक दूसरे को अपनाना (स्वीकार)। उसके अभाव को अयोग कहते हैं। पारतन्त्र्य के कारण अयोग का उदाहरण सागरिका-वत्सराज या मालतीमाधव हैं, तथा दैववश अयोग का उदाहरण गौरी-शिव का

---

१. अयोगविप्रयोगविशेषत्वाद् विप्रलम्भस्यैतत्सामान्याभिधायित्वेन विप्रलम्भशब्द उपचरितवृत्तिर्मा भूदितिनप्रयुक्तः तथा हि-दत्त्वासङ्केतमप्राप्ते वध्यतिक्रमे साध्येन नायिकान्तरानुसरणाच्चविप्रलम्भशब्दस्यमुख्यप्रयोगोवञ्चनार्थत्वात् ।। - अव० ।

२. तत्रायोगो अनुरागे पि नवयोरेकचित्तयोः पारतन्त्र्येणादैवाद्वाविप्रकर्षादिसंगमः ।।
— ४।५०,५१

अयोग है[1]।

शृङ्गाररस का तीन प्रकार १. अयोग, २. विप्रयोग तथा ३ संयोग बताना सूक्ष्म चिन्तन भले ही हो किन्तु उचित नहीं प्रतीत होता है। अयोग वस्तुत: विप्रलम्भ का ही एक प्रकार, भोज के शब्दों में पूर्वरागरूप या मम्मट के शब्दों में अभिलाषरूप है। अत: अयोग तथा विप्रयोग दो पृथक् रूप विप्रलम्भ शृंगार के ही कहने चाहिए थे, दो अलग शृङ्गार के प्रकार नहीं। करुण को न तो भरत ने माना, न धनंजय ने ही। यह ठीक भी है। उसके स्थान पर धनञ्जय ने शापजप्रवास कहा है और आगे मम्मट ने उसकी चर्चा भी नहीं की है। सम्भवत: वे उसे शापहेतुक में ही अन्तर्भुत मानते हैं। अस्तु!

अयोगशृङ्गार की धनञ्जय ने दस अवस्थायें बताई हैं—१. अभिलाष, २. चिन्तन, ३. स्मृति, ४. गुण-कथन, ५. उद्वेग, ६. प्रलाप, ७. उन्माद, ८. संज्वर, ९. जड़ता तथा १० मरण। ये दसों अवस्थाएं उत्तरोत्तर होती जाती हैं।[2] भरत ने अप्राप्तसुरतोत्सवा स्त्री की ये दस अवस्थायें बतायी थीं।[3] अस्तु!

इनका लक्षण धनंजय ने (भरत की अपेक्षा कहीं अधिक) विस्तार के साथ किया है, जो सम्भवत: लक्ष्यग्रन्थों को देखकर कल्पित किया होगा। इनमें सर्वप्रथम अवस्था अभिलाष है जिसका लक्षण इस प्रकार किया गया है:— "जब सर्वांग-सुन्दरनायक के प्रति नायिका की समागम रूप इच्छा उत्पन्न होती है। यह इच्छा नायक को साक्षात् देखने पर, या उसके चित्र को देखने पर, अथवा उसके विषय में सुनने पर होती है। इस दशा में विस्मय, आनन्द, सम्भ्रम आदि भावों की प्रतीति होती है। नायक या नायिका का दर्शन साक्षात् रूप से, चित्र के द्वारा, स्वप्न के द्वारा या इन्द्रजाल आदि माया के द्वारा हो सकता है। इसी प्रकार श्रवण सखियों

---

१. योगो न्योन्यस्वीकारस्तदभावस्त्वयोग:। पारतन्त्र्येणाविप्रकर्षाद् दैवपित्राद्यायत्तत्वात् सागरिकामालत्योर्वत्सराजमाधवाभ्यामिवदैवाद्गौरीशिवयोरिवासमागमोयोग:—अव०

२. दशावस्थ: स तत्रादावभिलाषो थचिन्तनम्
स्मृतिर्गुणकथोद्वेगप्रलापोन्मादसंज्वरा:
जडतामरणं चेति दुरवस्थं यथोत्तरम् — द०रू०, ४।५१,५२

३- ना० शा० २४।१५८

के गीत या मागध आदि के द्वारा गुण-स्तवन के बहाने होता है ।[१]

फिर चिन्तन आदि अवस्थाओं का धनञ्जय ने निरूपण नहीं किया, कारण--कुछ का तो संचारिभावों आदि के नाते विवेचन कर चुके थे, और कुछ स्वतः नाम से ही इतनी सरल थीं कि इनकी व्याख्या की कोई अपेक्षा नहीं थी ।[२] धनंजय का कहना है कि ये दस ही अवस्थायें -प्रायः आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट हुई हैं, वैसे तो महाकवियों की रचनाओं में इनका अनन्त रूप देखने को मिलता है ।[३] उदाहरणार्थ-प्रिय के दर्शन या श्रवण से जनित अभिलाष से क्या औत्सुक्य पैदा नहीं होता ? क्या प्रिय के न मिलने पर निर्वेद तथा उसके विषय में अत्यधिक चिन्तन से ग्लानि नहीं उत्पन्न होती ? इस तरह एक अभिलाष दशा में औत्सुक्य, निर्वेद तथा ग्लानि की अवस्था भी पाई जाती है ।[४] इतना ही नहीं, अयोग की दशा में छिप-छिपकर अनुराग आदि अन्य भी बातें देखी जाती हैं, जिन्हें विस्तार से कामसूत्र से जाना जा सकता है ।[५]

विप्रयोगशृङ्गार-

फिर दूसरा भेद विप्रयोग है जो विश्लेष रूप है, अर्थात् जिनका प्रेम रूढ़ है, जो संयुक्त हैं, उन नायक-नायिका का अलग होना है । यह विप्रयोग दो प्रकार का होता है -- १. मानरूप तथा २. प्रवास रूप । मानरूप विप्रयोग भी या तो प्रणयके कारण होता है या फिर ईर्ष्या के कारण ।[६] इनमें, नायक-नायिका में

---

१. अभिलाषःस्पृहा तत्र कान्ते सर्वाङ्गसुन्दरे
दृष्टेश्रुते वा तत्रापिविस्मयानन्द साध्वसाः
साक्षात्प्रतिकृतिस्वप्नच्छायामायासुवदर्शनम्
श्रुतिव्याजात्सखीगीतमागधादिगुणस्तुतेः ।। द०रू०, ४।५३,५४

२. सानुभावविभावास्तचिन्ताद्याःपूर्वदर्शिताः । द०रू० ४।५५
गुणकीर्तनंतु स्पष्टत्वान्नव्याख्यातम् - अ०

३. दशावस्थत्वमाचार्यैः प्रायोवृत्त्यानिदर्शितम्
महाकविप्रबन्धेषुदृश्यते तदनन्तता - द०रू० ४।५५,५६

४. दृष्टेश्रुते भिलाषात्तु किं नौत्सुक्यंप्रजायते
अप्राप्तौ किं न निर्वेदोग्लानिः किं नातिचिन्तनात् -४।५६-५७

५. शेषं प्रच्छन्नकामितादि--कामसूत्रादवगन्तव्यम् - अ०

६- (शेष आलेपष्ठ पर)

से एक के या दोनों के कोपयुक्त होने पर, क्रुद्ध रहने पर, प्रणयमान होता विप्रयोग होता है।[१] फिर प्रिय के किसी दूसरी नायिका के प्रति आसक्त होने पर स्त्रियों में जो कोप है वह ईर्ष्याकृतमान कहलाता है। प्रिय की अन्यासक्ति या तो सखी के मुख से सुनी होता है, अथवा प्रिय के स्वप्न में अन्य स्त्री का नाम लेने, या उसके शरीर पर भोग चिह्न को देखने या फिर नाम उच्चारण में भूल करने से तीन प्रकार से अनुभूति होती है, अथवा नायिका द्वारा प्रत्यक्ष देखा गयी भी होती है।[२] ईर्ष्या-मानों में पूर्व की अपेक्षा बाद वाले हेतु अधिक प्रामाणिक अतएव दुर्निवार होते हैं। नायिका के इस ईर्ष्या मान को ६: उपायों से हटाया जा सकता है, जैसा कि भरत ने कहा है। साम, भेद, दान, नति, उपेक्षा तथा रसान्तर। मधुर प्रिय वचनों का प्रयोग सामात्मक उपाय है। नायिका की सखी को मिला लेना भेद है। गहने आदि के बहाने खुश कर लेना दान है और पैरों पर गिरना नति कहलाता है। यदि सामादि चार उपाय न काम करें तो नायिका के प्रति उदासीनता बरतना उपेक्षा कहलाती है। संभ्रम, त्रास और हर्षादि के कारण कोप का दूर हो जाना रसान्तर उपाय कहलाता है।[३]

पिछले पृष्ठ का शेष — ६. विप्रयोगस्तु विश्लेषोरूढविस्रम्भयोर्द्विधा।
मान प्रवासभेदेन मानोऽपि प्रणयेर्ष्ययोः ।।४।५७,५८

---

१. तत्रप्रणयमानः स्यात् कोपावसितयोर्द्वयोः । —४।५८

२. स्त्रीणामीर्ष्याकृतो मान. कोपोऽन्यासङ्गिनि प्रिये।
श्रुतेवानुमितेदृष्टे, श्रुतिस्तत्रसखीमुखात्
उत्स्वप्नायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनकल्पितः।
त्रिधमनुमानिको दृष्टः साक्षादिन्द्रियगोचरः। द०रू० ४।५६

३. तत्रप्रियवचः सामभेदस्तत्सख्युपार्जनम्
दानं व्याजेन भूषादेः पादयोः पतनंनतिः
सामादौ तुपरिक्षीणेस्यादुपेक्षावधीरणम्
रभसत्र सहर्षादैः कोपभ्रंशोरसान्तरम् ।। —४।६२,६३

जब किसी कार्य से किसी उथलपुथल पर गड़बड़ी के कारण, आर्थिक शाप के कारण नायक-नायिका पृथक्-पृथक् स्थानों में निवास करें तो उसे प्रवास-विप्रयोग कहते हैं। इसमें दोनों के अश्रु, निश्श्वास, लम्बी लटकती लटें आदि हो जाते हैं।[1] फिर कार्यवश प्रवास बुद्धि में भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान रूप होने के कारण तीन प्रकार का होता है।[2]

सम्भ्रमजनितप्रवास वह होता है जहां दैवी यामानुषी विप्लव के कारण नायक-नायिका एकदम एक दूसरे से वियुक्त कर दिए गये हों।[3]

उत्पात, विद्युत्पात, तूफ़ान आदि के विप्लव से, या किसी दूसरे राजा के आक्रमण से बुद्धिपूर्वक नियोजित प्रवास सम्भ्रमजनित प्रवास कहलाता है, जैसे विक्रमोर्वशीय में पुरुरवा और उर्वशी का वियोग, अथवा जैसे मालती के कपालकुण्डला के द्वारा हर लिए जाने पर मालती तथा माधव का वियोग।[4]

---

१. कार्यत: सम्भ्रमाच्छापात्प्रवासोभिन्नदेशता
द्वयोस्तत्राश्रुनि:श्वासकार्श्यलम्बालकादिता। ४।६४,६५

२. सच भावी भवन् भूतस्त्रिधाद्योबुद्धिपूर्वक:। द०रू० ४।६५

धनिक ने भविष्यत् वर्तमान तथा भूत प्रवास के क्रमश: ये उदाहरण प्रस्तुत किए हैं—

(१) होन्तपहिअस्स जाआ आउच्छणजीअधारणारहस्सा।
पुच्छन्ती भमइ घर घरेसु पिअविरहसहिरीआ।

:—भविष्यत्पथिकस्य जाया आयु:क्षणजीवधारणारहस्यम्पृच्छन्तीभ्रमतिगृहाद् गृहेषु प्रिय-विरह-सहनशीला।

(२) प्रहरविरतो मध्येवाह्नस्ततोपि परे थवा
दिनकृते गते वास्तं नाथ त्वमद्य समेष्यसि।
इतिदिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालालापै: सवाष्पगलज्जलै:।

(३) उत्सङ्गेवामतिनवसने सौम्यनिक्षिप्यवीणां
मद्गोत्राङ्कंविरचितपदं गेयमुद्गातुकामा
तन्त्रीमार्द्रांनयनसलिलै:सारयित्वा कथंचिद्
भूयो भूय: स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती।

3- द्वितीय: सहसोत्पन्नो दिव्यमानुषविप्लवात् — द०रू० ४।६५

(४) उत्पातनिर्घातवातादिजन्यविप्लवात् परचक्रादिजन्यविप्लवाद्वा बुद्धिपूर्वकत्वादेक-रूप एव संभ्रमज:प्रवास: यथोर्वशीपुरुरवसोर्विक्रमोर्वश्यां यथा च कपालकुण्डलापहृतायां मालत्यांमालतीमाधवयो: — अव०:

शापज प्रवास वह है जिसमें नायक-नायिका के समीप होने पर भी उनका स्वरूप (स्वभाव या रूप) शाप के कारण बदल दिया जाता है[१]।

विप्रयोग में नायिकाओं के विशेष स्वरूप की ओर भी धनञ्जय ने संकेत किया है। उनका कहना है कि प्रणयमान की नायिका विरोत्कण्ठिता होती है, प्रवासकी प्रोषितपतिका, तथा ईर्ष्या की कलहान्तरिता, विप्रलब्धा या खण्डिता[२]। इस प्रकार विप्रयोग दशा की नायिका का पांच प्रकार धनञ्जय ने बताया है। सम्भोग शृङ्गार में नायिका में प्रिय के प्रति लीला आदि जिनका द्वितीय प्रकाश में उल्लेख हुआ है, द दश चेष्टायें पाई जाती हैं। ये चेष्टायें दाक्षिण्य, मृदुता तथा प्रेम के उपयुक्त होती हैं।[3] धनञ्जय ने काव्यनाट्य के शृङ्गार में ग्राम्य प्रदर्शन का का स्पष्टत: प्रतिषेध किया है — क्योंकि काव्य का शृङ्गार उत्तमप्रकृतियों का शृङ्गार होता है — उनकी कहना है — ' प्रिय अपनी प्रेयसी का चाटुकरता हुआ, कला क्रीड़ा आदि साधनों से प्रसन्न करे तथा ऐसा कोई व्यवहार न करे जो ग्राम्य हो अथवा नर्म[४] (कौशिकीवृत्ति अथवा शृङ्गार) को नष्ट करने वाला हो।'

शृङ्गार के चार प्रकार—

शृङ्गारप्रकाश में भोज ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार प्रकार के शृङ्गार का विवेचन किया है। यह विषय सरस्वती कण्ठाभरण में प्रतिपादित नहीं हुआ है। शृ०प्र० के केवल २० वें प्रकाश में के कामशृङ्गार का कुछ छुट-पुट उल्लेख सरस्वती-

---

१. स्वरूपान्यत्वकरणाच्छापज: सन्निधावपि — द०रू० ४। ६६

२. [illegible]

[illegible]

२. प्रणयायोगयोरुत्का, प्रवासे प्रोषितप्रिया।

कलहान्तरितेर्ष्यायां विप्रलब्धाच खण्डिता ।। द०रू० ४५। ६८

3- द० रू० ४।७०

४. रमयेच्चाटुकृत् कान्त: कलाक्रीडादिभिश्चताम्।

न ग्राम्यमाचरेत् किंचिन्नर्मभ्रंशकरं न च ।। द०रू० । ४७१

कण्ठाभरण के पंचम अध्याय में हुआ है। यह विषय जो इन कई प्रकाशों में बड़े विस्तार के साथ प्रतिपादित किया गया है, कुछ जैसा कि पहले कहा गया है, भ्रान्तिभी पैदा करता है। भोज का शृंगार तो साधारण आचार्यों के शृंगार से पृथक् है यह हमने देख लिया। अत: जब वे अपने शृङ्गार का धर्मशृङ्गार, अर्थ-शृङ्गार, काम शृङ्गार और मोक्षशृङ्गार रूप से चार प्रकार बताते हैं तो वे उसके द्वारा ~~मनुष्य~~ मनुष्य की पूर्वोक्त चार पुरुषार्थों के प्रति इच्छा एवं चेष्टा को ही बताते हैं ~~तो वे उसके द्वारा मनुष्य की पूर्वोक्त चार पुरुषार्थों के प्रति इच्छा एवं चेष्टा को ही बताते हैं~~ - धर्म-इच्छा, अर्थ-इच्छा, काम-इच्छा और मोक्ष-इच्छा या मुमुक्षा। इसमें कामइच्छा ही रति शृङ्गार है। भोज स्वयं कहते हैं - विभावअनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से प्रकर्ष पाता हुआ रति ~~ध~~ नामक प्रधानभाव कामशृङ्गार कहलाता है।[१] किन्तु यहां भी भोज भ्रान्ति ही उत्पन्न करते हैं। साधारण शृङ्गार के भी, जो भोज का काम शृङ्गार है, धर्म, अर्थ, कामभेद कहे गए हैं।

मनुष्य के अहंकारतत्त्व की चार प्रकार की अभिव्यक्तियाँ उसके कार्यकलापों के चार प्रकार के उद्देश्यों के प्रति चार प्रकार के लगाव के रूप में होती हैं। इन्हें ही पुरुषार्थ(या पुरुष-जीवन का प्रयोजन) कहते हैं जो चार है - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भोज ने इस अहंकार या अभिमान को उन चारों के मूल में माना है - 'चतुर्वर्गैककारणम्'। अत: भोज ने अपने (अहंकार) शृङ्गार के धर्मशृङ्गार, अर्थशृङ्गार कामशृङ्गार और मोक्ष शृङ्गार-रूप से चार प्रकार का बताया है, जिसके द्वारा उन्होंने चार पुरुषार्थों की प्राप्ति में मनुष्य की चेष्टाओं का विवेचन किया है। पहली बार तेरहवें प्रकाश में उन्होंने संक्षेप रूप में इसका निरूपण किया था, फिर अट्ठारहवें से इक्कीसवें प्रकाश तक में इसी का विस्तार से एक-एक का पूरे एक-एक प्रकाश में विवेचन किया। भरत ने नाट्यशास्त्र में काम को चारों पुरुषार्थों का मूल बताया था। दोनों में अन्तर यही कहा जा सकता है कि भरत काम को मूल मानते हैं और भोज आत्म-काम (अहम्) को।

किन्तु जब काम शृङ्गार का भी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप से चार

---

१. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात्(वि)प्रकर्षमापद्यमान: प्रधान-(भा) वो रति-नाम कामशृङ्गाराख्यां लभते - शृ०प्र०, पृ० ७३३, भाग ४, प्रका० ३२

प्रकार किया तो आत्मकाम (अहंकारशृङ्गार) और काम (रतिशृंगार) के चारों प्रकारों में प्राय: समानता या एकरूपता होने के कारण भ्रान्ति होनी स्वाभाविक है ।

रतिशृङ्गार के धर्मशृङ्गार या धर्मकाम का स्वरूप गृहस्थ का एकपत्नीव्रत रूप है । इसका नायक धीरोदात्त होता है[1]— अर्थशृङ्गार या अर्थकाम का स्वरूप भौतिक लाभों के लिए स्त्री-प्रेम है, जैसे उदयन का पद्मावती से प्रेम, अथवा किसी का अपनी पत्नी से इसलिए प्रेम कि वेश्या प्रेम या पर-स्त्री प्रेम में धन बल की हानि होती है और अन्य स्त्रियों के साथ प्रेम सम्बन्ध भी यदि धन या स्वास्थ्य को क्षति नहीं पहुंचाता तो इसी प्रकार का शृङ्गार माना जायगा । इसका नायक धीरोद्धत होता है[2]। कामशृङ्गार प्रेमी का प्रेम कहा जायगा, जैसे उदयन अग्निवर्ण का अथवा अन्य विलासी का । इसका नायक धीरललित कहा गया है ।[3] और मोक्ष शृङ्गार तो धर्मशृंगार का ही उन्नत रूप है, जिसमें गृहस्थ अपनी पतिव्रता के साथ मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है । इसमें धीरशान्तनायक होता है । ऐसा प्रतीत होता है कि उदात्त, उद्धत, ललित एवं शान्त —इन चार प्रकार के नायकों को शृंगाररस का भी नायक बताने के लिए उनकी मानस वृत्ति का ध्यान रखते हुए, भोज ने उनके शृङ्गार को चार प्रकार का बताया । यह आचार्य की वस्तुत: एक अतिसूक्ष्म तथा काफी हद तक नितान्त मौलिक सूझ थी ।

कामशृङ्गार—

तो १८ वें, १६ वें एवं २० वें प्रकाशों में क्रमश: धर्म अर्थ और मोक्ष शृङ्गार का विवेचन हुआ है जो भोज के अहंकारशृङ्गार के प्रकार हैं । इनके विवेचन में काम-सूत्र आदि का सहारा लिया गया है । बीसवें में कामशृङ्गार का निरूपण हुआ है । यद्यपि है तो यह भी अहंकार-शृङ्गार का ही एक प्रकार, किन्तु कामरूप होने के कारण रति-प्रधान हो जाता है । अत: इस प्रकाश के प्रतिपाद्य विषय का विहङ्गावलोकन अप्रासंगिक न होगा । इस प्रकाश के निरूपण में वात्स्यायन के कामसूत्रों एवं उस पर भी जयमंगला टीका का विशेष उपयोग किया गया है । काम को मन का सुख नामक

---

१. तदेतद् धर्मशृङ्गारे धीरोदात्तस्य चेष्टितम् ।
स्वकीया नायिका चास्मिन् धीरोदात्तश्च नायक: ।। —शृ०प्र०प्र० १८, वा० २, पृ० ३६३

२. धीरोद्धतस्य वृत्ते स्मिन् अर्थशृङ्गारसंश्रये ।
उद्धतो नायक: सर्वा स्त्री — शृ०प्र०प्र० १६, वा० २, पृ० २६८

३. ललितो नायक: सर्वाथौचिद् वृत्तिस्तु कैशिकी —शृ०प्र०प्र० २० वा० २, पृ० ३२५

एक विशिष्ट धर्म बताया गया है[१]। फिर काम को दो प्रकार का बताया है —
१. सामान्यरूप और २. विशेष रूप। सामान्यरूप वह है जो मन तथा पंच ज्ञानेन्द्रियों के अनुकूलवेदनीयता से प्राप्त होता है तथा विशेष रूप वह है जो स्त्री-प्रेम से मिलता है विशेषरूप के भी दो प्रकार हैं — १. प्रधान जो कि स्त्री का स्पर्श- सुख रूप है, एवं २. अप्रधान, जो कि स्त्री के सौन्दर्य आदि की कल्पना से प्राप्त आनन्द रूप है।

काम को सर्वत्र सुख का अभिमान (बौद्धिक-स्वीकृति) रूप कहा गया है।[२] अत: कुछ भेद कारक चेष्टाएं भी काम ही कही जाती हैं — (जैसा कि कामसूत्र में वात्स्यायन ने विवेचन किया है।) भोज ने शृङ्गारप्रकाश में इस प्रसंग में काम का लक्षण कामसूत्र से ही उद्धृत किया है। 'विषयसम्प्रयोग' 'तत्सम्प्रत्यय' 'संस्कार' 'अभिलाष' 'मन: प्रवृत्ति' और संकल्प — ये सभी काम के ही स्वरूप या प्रकार है। भोज ने इनके उदाहरण दिये हैं। फिर 'हेतुभूत' तथा 'फलभूत' रूप से काम का वर्गीकरण किया है। 'सम्प्रयोग' के भी दो प्रकार १. अङ्गसम्प्रयोग २. अधिष्ठान सम्प्रयोग। अधिष्ठानसम्प्रयोग भी दो प्रकार का है १. बाह्य एवं २. आभ्यन्तर।

इस प्रकाश के अन्त में भोज इस प्रकार उपसंहार करते हैं —

यह है कामशृङ्गार, यह है काव्य का दैवत, विश्व का सर्वस्व, तथा जन्म का फल[३]।

मोक्षशृङ्गार—

इक्कीसवें प्रकाश में भोज ने मोक्षशृङ्गारका विवेचन किया है। मोक्ष की परिभाषा देते समय भोज ने गौतम के न्यायसूत्र का अनुसरण किया है। विभिन्न दर्शनों के अनुसार तत्त्वों की संख्या एवं स्वरूप भी पृथक् पृथक् बताए हैं। इस प्रकार अद्वैत सिद्धान्त के एक मात्र तत्त्व ब्रह्म से प्रारम्भ कर गौतम के सोलह पदार्थों तक का विवेचन किया और अतएव नि:श्रेयस का भी उन उन सिद्धान्तों के अनुसार विभिन्न स्वरूप बताया

---

१. कामोनाम आत्मन: सुखाभिधा (यो) नो विशेषगुण.।

२. सुखाभिमानवतीरिन्द्रियप्रवृत्ति:।

३. स एवं काव्य (म)-शृङ्गार:तदेतत् काव्यदैवतम्।
तदेतत् विश्वसर्वस्वं तदेतज्जन्मन: फलम्।।

अनुरागस्थापन—

शृङ्गारप्रकाश के बाईसवें प्रकाश का नाम 'अनुरागस्थापन' है। इसमें भोज ने बहुत से मौलिक विचार प्रस्तुत किए हैं। गृहस्थआश्रम में सभी मनुष्य धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों का सेवन करते हैं। इनमें धर्म और अर्थ तो साधन हैं तथा काम साध्य, और अतएव इन तीनों में काम का सर्वाधिक महत्त्व है। काम साधारण और विशेष दो प्रकार का होता है एवं वही सुख कहलाता है। यहाँ भोज ने उदाहरण रूप में नाटकों एवं काव्यों से अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। जैसे वव भवभूतिके[1]। भारविके[2]।

यह(काम) अनुराग चौंसठ प्रकार का है —

१. अभिलाष, २. आकांक्षा, ३. अपेक्षा, ४. उत्कण्ठा, ५. ईप्सा, ६. लिप्सा, ७. इच्छा, ८ वाञ्छा, ९. तृष्णा, १०, लालसा, ११. स्पृहा, १२. लौल्य, १३ आशंसा, १४. श्रद्धा, १५. रुचि, १६. दौहृद, १७ धारा, १८. आशीस्, १९. आशंसा, २०. मनोरथ, २१. आस्था, २२. अभिनिवेश, २३, अनुबन्ध, २४ आग्रह, २५. विमर्श, २६ मनीषा, २७ अभिप्राय, २८. पक्षपात, २९. लाभ, ३० आसङ्ग, ३१. अभिष्वङ्ग, ३२. सक्ति, ३३. मोह, ३४. आकूत, ३५. कुतूहल, ३६. विस्मय, ३७. राग, ३८. वेग, ३९. अध्यवसाय, ४०. व्यवसाय, ४१. कामना, ४२. वासना, ४३. स्मरण, ४४. संकल्प, ४५. भाव, ४६. रास : हास: ४७. रति ४८ प्रीति, ४९. दाक्षिण्य, ५० अनुग्रह, ५१ वात्सल्य, ५२. अनुक्रोश, ५३, समाप्ति, ५४ विश्वास, ~~५५--अनुक्रोश~~, ५५ विस्रम्भ, ५६. वशीकार, ५७. प्रणय, ५८. प्राप्ति, ५९ पर्याप्ति ६० अभिमानाप्ति, ६१. स्नेह, ६२. प्रेम, ६३. आह्लाद और ६४. निर्वृत्ति। फिर इन चौंसठों प्रकारों के उदाहरण दिये हैं। इनमें ईप्सा, लिप्सा, इच्छा तथा वा वांछा के उदाहरण नहीं दिये गये हैं। सरस्वती-कण्ठाभरण में इन अनुराग प्रकारों का

---

१. (१) अहेतु: पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया ।
स हि स्नेहात्मकस्तन्तुरन्तर्मर्माणि सीव्यति ।। उ०च० ५।१७

(२) व्यतिषजति पदार्थानान्तर:कोपि हेतु
र्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतय: संश्रयन्ते ।
विकसति हि पतंगस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्त: - उ०च० ६।१२

(शेष)

विवेचन नहीं हुआ है। फिर इन चौसठों में प्रत्येक इस रूप में आठ प्रकारों का बताया गया है — १. नित्यानुराग, २. नैमित्तिकानुराग, ३. सामान्यानुराग, ४. विशेषानुराग, ५. प्रकाशानुराग, ६. प्रच्छन्नानुराग[1], ७. कृत्रिमानुराग, तथा ८. कृत्रिमानुराग भोज ने यहाँ इनके लक्षण आदि का (?) भी विवेचन किया है। सरस्वती-कण्ठाभरण में इन्हें शृङ्गार का महर्षि कहा गया है है। वहाँ इनकी संख्या बारह गिनायी गयी है[2]। किन्तु शृङ्गारप्रकाश में केवल आठ ही ली गई। शेष चार (सहज, आहार्य यौवनज तथा विस्रम्भज) को उन्हीं आठ में किसी में किसी को अन्तर्भूत कर लिया गया है। अब इन आठों का सविस्तार विवेचन करते हैं।

१. उनमें 'नित्यानुराग' आठ प्रकार का बताया गया है, जो १ विषय, २. आश्रय ३. आलम्बन, ३. उद्दीपन, ५. स्थान, ६. संस्थान, ७. रूप एवं ८ स्वरूप के सम्बन्ध से व्यवस्थित किया गया है। रस सम्बन्धी इन आठों तत्त्वों का यहाँ लक्षण भी पुन: दिया गया है[3]। फिर यह इन आठों में से प्रत्येक तीन-तीन प्रकार का बताया गया है, जैसे —

१. विषयानुराग —उच्च, निम्न, सम
२. आश्रयानुराग — उत्तम, कनीयान्, मध्यम
३. आलम्बनानुराग— शीघ्र, मध्यम, चिर
४. उद्दीपनानुराग— मृदु, मध्य, चण्ड।
५. स्थानानुराग —सदृक्, सदृश, सदृक्ष।
६. संस्थानानुराग— सम्यक्, मिथ्या, अतिशयी।
७. रूपानुराग — चारु, अन्वारु, उभयात्म।
८. स्वरूपानुराग —गम्भीर, उत्कट, प्रकट।

शेष - (३) अकिंचिदपि कुर्वाणः सौख्यैदुःखान्यपोहति
ततस्यकिमपिद्रव्यं यो हि यस्य प्रियोजन: ।। —उ०च० २।१६

१. शून्यमाकीर्णतामेति तुल्यं व्यसनमुत्सवै: ।
विप्रलम्भो पि लाभाय सतिप्रियसमागमे ।
तदारम्याण्यरम्याणिश्रिया: शल्यं तदासव:
तदैकाकी सबन्धु:सन् इष्टेन रहितोयदा ।। —किरात ११।२७,२८

---

१. रुद्रट ने सर्वप्रथम इसका नामोल्लेख अपने काव्यालंकार में किया था —
शृङ्गार स द्वैधा संभागोविप्रलम्भश्च ।
पुनरप्येषद्वैधा प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च ।। का० १२।५६ / शेष अगले पृष्ठ पर

फिर इन चौबीसों के लक्षण तथा उदाहरण दिये हैं।—

२. नैमित्तिकानुराग —प्रकार की भी प्रथमत: आठ ही संख्या है १. काल- २. समय, ३. बेला , ४. उपाधि, ५. साधन, ६. समावेश, ७. देश और ८. प्रकीर्ण ।

फिर इन में भी प्रत्येक के तीन - तीन भेद होते हैं जैसे —

१. काल — सम हैमन्तिक, वासन्तिक और वार्षिक ।

२. समय — प्रवासारम्भ, प्रत्यागम एवं प्रथमसंगम ।

३. बेला — प्रदोष, निशीथ तथा प्रभात ।

४. उपाधि— तम:, चन्द्रोदय तथा ज्योत्स्ना आदि ।

५. साधन — स्नान , विलेपन आदि ।

६. समावेश— अवसर, प्रसाद और मद ।

७. देश — विविक्त, गहन एवं सेव्य ।

८. प्रकीर्ण— गीत उत्सव एवं चूतादि (आम्रआदि)

फिर इन चौबीसों के उदाहरण भी दिये हैं ।

३. सामान्यानुराग भी चौबीस प्रकार का कहा गया है —जैसे १. द्रव्यगोचर,

---

शेष. किन्तु इसका लक्षण आदि उन्होंने नहीं किया था । भोज ने इन सबके भेदोपभेद, उदाहरण आदि देकर उसे सुविख्यात कर दिया है ।

२. नित्यो नैमित्तिकश्चान्य:सामान्यो न्यो विशेषवान्
प्रच्छन्नो न्य: प्रकाशो न्य: कृत्रिमाकृत्रिमावुभौ ।
सहजाहार्यनामानौ परौ यौवनजो ऽपर: ।
विश्रम्भजश्च प्रेमाणो द्वादशैते महर्द्धय: ।।

—स०क० ५।६७,६८

३. तत्र अनुराग: यस्मिन्नुपजायते स विषय: । यस्य जायते स आश्रय: । यद् आलम्बते तद् आलम्बनम् । यद उद्दीपयति तद् उद्दीपनम् । येनअवतिष्ठते तत् स्थानम् । येन सुश्लिष्ट तत् संस्थानम् । येनशोभते तत् रूपम् । येन निरूप्यते तत्.स्वरूपम् ।

२. गुणगोचर, ३. कर्मगोचर, ४. संक्षिप्त, ५. विक्षिप्त, ६. समस्त, ७. व्यस्त, ८. शुद्ध, ९. संकीर्ण, १० साधर्म्य-कृत, ११. वैधर्म्यकृत, १२. महाविषय, १३. अल्प-विषय, १४. देशहेतु, १५. कालहेतु, १६. धर्मविषय, १७. धर्मिविषय, १८. सम्पयजन्मा, १९. सम्बन्धजन्मा, २०. प्राकृत, २१. वैकृत, २२. वय:कृत, २३. वैदग्ध्य-कृत तथा २४. सौभाग्यकृत। फिर इन चौबीसों के उदाहरण दिये गये हैं। किन्तु `सौभाग्यकृत` को उदाहरण देते समय` प्रसिद्धिकृत` नाम सेअभिहित किया गया, न कि `सौभाग्यकृत` इस नाम से।

४. तदनन्तर चौबीस प्रकार के `विशेषानुराग` का विवेचन किया गया है। जैसे – १. जातिकृत, २. क्रियाकृत, ३. गुणकृत, ४. द्रव्यकृत, ५. साधारण, ६. असा-धारण, ७. प्रतीयमान, ८. अभिधीयमान, ९. बाह्य, १०- आभ्यन्तर, ११. सदृश, १२. असदृश, १३. स्वप्रकाश, १४. अन्याभिभावी, १५. उद्भेदवान्, १६. अनुल्लेखी, १७. अतिरिक्त, १८. अनतिरिक्त, १९. नैसर्गिक, २०- स्वसम्मत, २१. स्त्रीपक्षसम्मत, २२. बहुसम्मत, २३. सर्वसम्मत, २४. (?)

फिर इन सबके उदाहरण दिये गए हैं।

रुद्रट ने प्रकाशानुराग तथा प्रच्छन्नानुराग का उल्लेख तो किया था किन्तु इस पर कोई विशेष प्रकाश नहीं डाला था। इसका इतना विस्तार तो शृङ्गारप्रकाश में ही हो सका है।

५. प्रकाशानुराग भी चौबीस प्रकार ही हैं – १. स्वकीयाविषय, २ स्वपरा-विषय, ३. कन्याविषय, ४. पुनर्भूविषय, ५. वेश्याविषय, ६. सामान्योढाविषय, ७. नवोढाविषय? ८. प्रौढाविषय, ९. स्वाधीनभर्तृकाविषय, १०. प्रोषितपतिका-विषय, ११. विरहोत्कण्ठिताविषय, १२. कलहान्तरिताविषय, १३. खण्डिताविषय, १४. वासकसज्जिकाविषय, १५. एकचारिणीविषय, १६– १९ : सपत्नी-ज्येष्ठा-कनिष्ठा-सुभगाविषय, २० शुद्धान्त चारिणीप्रचार, २१. धर्मानुबन्ध ~~तथा-२४-निरनुबन्ध-~~। २२. अर्थानुबन्ध, २३. सानुबन्ध तथा २४. निरनुबन्ध।

फिर इन सबके उदाहरण दिये गये हैं।

६. तदनन्तर` प्रच्छन्नानुराग` का क्रम आता है यह भी चौबीस प्रकार का बताया गया है – १. पराङ्गनाविषय, २. स्वाङ्गनाविषय, ३. स्वैरिणीविषय, ४. कुमारीविषय, ५. धीराविषय, ६. अधीराविषय, ७. विप्रलब्धाविषय, ८. अभिसारिकाविषय, ९. सुलभ, १०. दुर्लभ, ११. सन्निकृष्ट, १२. विप्रकृष्ट, १३. सम्बद्ध, १४. असम्बद्ध, १५. सापदेश, १६. निरपदेश, १७. भयनिमित्त, १८. लज्जानिमित्त

१९. कालनियत, २०. देशनियत, २१. नागर, २२ उपनागर, २३. ग्राम्य तथा २४. प्रकीर्ण। इनके भी चौबीसों के उदाहरण दिये गये हैं।

७. ऐसे ही `कृत्रिमानुराग` के चौबीस प्रकार दिये गए हैं --प्रथम तो सहज, फिर २. यौवनज, ३. आहार्य तथा ४. विस्रम्भज --ये चार प्रकार दिये गये हैं फिर प्रत्येक के दो-दो प्रकार से आठ होते हैं --

सहज -१. एक विषय, २. अनेकविषय।

यौवनज -१. शारीर तथा २. मानस।

आहार्य -स्थिर तथा २. भङ्गुर।

विस्रम्भज -१. मुग्ध तथा २. प्रगल्भ।

ये आठ तो मुख्य भेद हैं। फिर ये ही परस्पर मिल कर १६ अन्य प्रकार उत्पन्न करते हैं। इन सबके उदाहरण भी प्रस्तुत किये गए हैं।

और अन्तिम है `कृत्रिमानुराग` जिसको भी चौबीस प्रकार का बताया गया है --

१. नित्यानुकारी, २. नैमित्तिकानुकारी, ३. सामान्यानुकारी, ४. विशेषानुकारी, ५. प्रकाशानुकारी, ६. प्रच्छन्नानुकारी, ७. सहजानुकारी, ८. यौवनजानुकारी, ९. विस्रम्भानुकारी, १०. आहार्यानुकारी. ११. सालम्बन, १२. निरालम्बन, १३. प्रसिद्धविषय, १४. अप्रसिद्ध विषय, १५. सुप्रयुक्त, १६. दुष्प्रयुक्त, १७. सप्रयोजन, १८. अन्यप्रयोजन, १९. सप्रतिभेद, २०. निप्रतिभेद, २१. स्वीकृत, २२. पुरुषकृत, २३. उभयकृत तथा २४ अनुभयकृत। इसी क्रम से इनके उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये हैं।

पूर्वोक्त ६४ प्रकारों के अनुराग के साथ इन आठ प्रकारों का, जिनमें प्रत्येक के चौबीस-चौबीस भेद हुए हैं और जो इस प्रकार १९२ हो जाते हैं गुणा करने पर (६४ × १९२) अनुराग प्रकार का कुलयोग १२,२८८ होता है।[१]

---

१. जैसा कि उन्होंने उपसंहार के श्लोकों में स्वयं कहा है -

द्वादशैव सहस्राणि (१२०००) साष्टाशीतिशतद्वयी
भवन्ति कामशृंगारेमूलप्रकृतय: पृथक्।
व्यतिषङ्गात्तु अनुषङ्गात्तु साम्याधिक्याल्पताकृत:
न पर्यन्तो विकल्पानामेकद्वित्र्यादियोगत:।
चतुष्षष्टिं पश्य ....मभिलाषप्रभृतिकान्
अथाष्टौनित्यादीन् पृथगतिचतुर्विंशतिविधान्

(शेष)

विप्रलम्भ-सम्भोगविवेचन

भोजने शृङ्गार प्रकाश के तेइसवें प्रकाश का नाम 'विप्रलम्भसम्भोगप्रकाशन' रक्खा है। इसमें उन्होंने रतिशृङ्गार के दो प्रधान पक्षों के मुख्य भेदों का संक्षेप में विवेचन प्रारम्भ किया है। विप्रलम्भ के - १. प्रथमानुराग, २. मान, ३. प्रवास और ४ करुणा - ये चार प्रकार बताये गये हैं। सरस्वती-कण्ठाभरण में भी यह विषय प्राय: इसी प्रकार का विवेचित किया गया था।[1] फिर सम्भोग को भी विप्रलम्भ के पूर्वोक्त चारों में प्रत्येक के अनन्तर से एक - एक करके चार प्रकार का बतया गया है। सम्भोग का भी इसी प्रकार सरस्वतीकण्ठाभरण में विवेचन किया गया है[2]।

अपने इस विप्रलम्भ के पश्चात् संभोग का विवेचन करने वाले एकान्तत: मौलिक सिद्धान्त का समर्थन भी भोज ने इस प्रकार किया है कि बिना वियोग-कष्ट की भूमिका के प्रेमियों के संयोग का पोषण नहीं करते बनता - क्योंकि जब तक दोनों की तड़पन नहीं बताई गई तब तक मिलन के सुख का क्या मूल्य होगा - अतएव कपड़े पर किसी रंग को चटक करने के लिए पहिले उसे कषाय रंग से रंग देते हैं।

फिर बाइसवें प्रकाश में किये गये अनुराग के भेदों का प्रेम के 'विचित्र' और

१.शेष - मिथो मीषामीषत्समधिकसमत्वानिविमृशन्
कवि: कुर्यात् प्रीतोनुगुणमनुरागव्यतिकरम् ।।

---

१. भावो यदारतिनामप्रकर्षमधिगच्छति ।
नाधिगच्छति आभीष्टं विप्रलम्भस्तदोच्यते ।।
पूर्वानुरागो मानश्च प्रवास:करुणाश्च स: ।
पुरुषस्त्रीप्रकाण्डेषु चतु: काण्ड:प्रकाशते ।। -स०क० ५।४५- २६७

२. रतिरेवेष्ट सम्प्राप्तो पुष्ट:सम्भोग उच्यते
सो पि पूर्वानुरागादेरानन्तर्याच्चतुर्विधि: ।।
न विना विप्रलम्भेन संभोग: पुष्टमश्नुते ।
कषायिते हिवस्त्रादो भूयानुरागो नुषज्यते । स०क० ५।५१,५२

अथ सम्भोग: । तत्र नायकयो: प्रागसंगतयो:संगतवियुक्तयोर्वा मिथ:समागते प्रागुत्पन्न-स्तदैनीतंनो वा रत्याख्य: स्थायिभावो भिलषणीयालिङ्गनादीनामवाप्तो सत्यांसमुपजा-यमानोहर्ष-धृति-स्मृति-मतिप्रभृतिभिर्व्यभिचारिभावै:संसृज्यमान:? उद्यानोपगमजलक्रीडापर्वतो-पदेशप्रसाधनगृहमधुपानेन्दूदयादिभिरुद्दीपनविभावैरुद्दीप्यमान: सविभ्रमभ्रूकटाक्षा विदोपाला-पसंभ्रमस्मितादिरनुभावै रभिव्यज्यमान ईप्सितमासादयन्, जिहासितं वा जिहान: प्राप्तप्राप्य-प्रकर्षारम्भ:संभोगशृंगाराख्यांल भते । सचतुर्धा - प्रथमानुरागान्तर:मानान्तर:,प्रवासान्तर:, करुणान्तर इति -स०क०पृ० ६२६-२७

रागवर्धन' नामक दो प्रकारों से विवेचन किया गया है।

सम्भोग के स्वाङ्गनाविषय, पराङ्गनाविषय आदि भेद एवं उनके उदारण तथा इसी प्रकार विप्रलम्भ के स्वाङ्गनाविषय, पराङ्गनाविषय भेद एवं उदाहरण दिये गये हैं। फिर, प्रथमानुराग आदि चार विप्रलम्भ के तथा तदनन्तर होने वलो चार सम्भोग के उनके सम्मिश्रण के तथा उनमें विचित्र, और 'रागवर्धन' पहलुओं के उदाहरण दिये गये हैं। तदनन्तर नायिका भेदों को दृष्टि में रख कर शृङ्गार की मीमांसा की गई है। दो प्रकार के सम्पर्क बताये गये हैं -१. सजातीय व्यक्तियों के बीच तथा २. विजातीय व्यक्तियों के बीच। अनुगम भी दो प्रकार का होता है -१. स्थितअनुगम तथा २. आगन्तुक अनुगम। अन्त में विविध कवियों से चार विप्रलम्भ एवं चार सम्भोग के एक या एक से अधिक भेदों क से युक्त उदाहरण दिया गया है। इस संभोग एवं विप्रलम्भ के दो या दो से अधिक भेदों से युक्त उदाहरण दिया गया है। इस सभोग एवं विप्रलम्भ के दो या दो से अधिक भेदों से युक्त वाले उदाहरण को संविधि कहते हैं। इन संविधियों के संकड़ों प्रकार सम्भव बताये गये हैं जिनमें कुछ को संक्षेप में उदाहृत किया गया है।[१] यह प्रकाश भोज की मौलिक उद्भावनाओं से भरा पड़ा है।

विप्रलम्भनिरूपण (निरुक्ति)

शृंगारप्रकाश य के चौबीसवें प्रकाश में भोज ने विस्तार के साथ विप्रलम्भ शब्द की तथा उसके चारों प्रकारों के शब्दों की यौगि व्याख्या अथवा निरुक्ति द्वारा उनका वही अर्थ निकाला है जो उनकी परिभाषा द्वारा लक्षण रूप

---

१. प्रकाश के अन्त में भोज कहते हैं -

दिङ्गमात्रमेतदुदुदितं प्रथमानुराग
मानप्रवास करुणैतदनन्तराणाम्।
भूयश्चरूपमखिलंखलुविप्रलम्भ-
संभोगयोरनतिविस्तरतो वदाम: ।।

में दिया जाता[1] है । इसीलिए इस प्रकाश का नाम `विप्रलम्भान्वर्थप्रकाश` रक्खा गया है ।

यहाँ सर्वप्रथम पूर्वोक्त विप्रलम्भ की परिभाषा तथा उसके चार प्रकार आदि सब कुछ संक्षेप में पुन: कहे गये हैं । तदनन्तर विप्रलम्भ, मान, प्रवास आदि शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय आदि की निरुक्ति द्वारा वही अर्थ निकाला गया है ।[2] इस विवेचन से भोजने अपनी निरुक्ति-विषयक प्रौढि तथा व्याकरण सम्बन्धी विशेषज्ञता प्रदर्शित की है ।

`विप्रलम्भ` में `वि` और `प्र` उपसर्ग तथा `लभ` धातु प्रयुक्त है । `प्र` उपसर्ग लभ के साथ यहाँ `वञ्चना` अर्थ को घोतित करता है ।[3] यह वञ्चना चार प्रकार की होती है — १. प्रतिश्रुत्यादान, २. विसंवादन, ३. कालहरण तथा ४. प्रत्यादान[4]। यद्यपि शुद्ध `लभ` का अर्थ तो `प्राप्ति` है, किन्तु `प्र` के साथ रहने पर इसका ठीक उलटा अर्थ `अप्राप्ति` या `वञ्चना` हो जाता है । इस प्रकार कभी-कभी `प्र` विपरीत अर्थ भी देता है —जैसे — `तिष्ठति से `प्रतिष्ठते` `वसति ` से `प्रवसति`, `स्मरति` `प्रस्मरति` ।

फिर इस `प्रलम्भ` में लगा हुआ `वि` उपसर्ग भी चार प्रकार का अर्थ प्रकाशित करता हुआ `प्रलम्भ` की उन विशेषताओं को प्रकट करता है वे अर्थ हैं —

---

१. इस सिद्धान्त का सूत्रपात उन्होंने स०क० में भी कुछ विस्तार के साथ ही किया है । इस प्रसंग ष को प्रारम्भ करते हुए वे कहते हैं —

विप्रलम्भादिशब्दानां लोकसिद्धेष्ववस्तुषु

प्रकृत्यादिविभागेन विनिवेशानिरुक्तय: ।। स०क० ५।५५

शृ०प्र० में इस विषय में और भेदों , उपभेदों का विवेचन किया है तथा उदाहरण प्रस्तुत किए हैं ।

२. वे स्वयं कहते हैं --संज्ञास्तुनेता:पारिभाषिक्य एव प्रकृतिप्रत्ययोपसर्गविभागकल्पनायाम् अन्वर्थस्यापि संभवात् ।`

३. संश्रुत्य विप्रलम्भार्थान् गृधिवञ्चयो : प्रलम्भने ।
इत्यादिज्ञापकाज्ज्ञेय: प्रपूर्वोवंचनेलभि: ।। स०क० ५।५६

४. आदानं च प्रतिश्रुत्यविसंवादनमेव च ।
कालस्यहरणं चाहु: प्रत्यादानं च वञ्चनम् ।। वही ५।५७

१. विविध, २. विरुद्ध, ३. व्याविद्ध तथा ४. विप्रतिषिद्ध[1]।

इस प्रकार विप्रलम्भ के पूर्वानुराग, मान, प्रवास तथा करुणा – इन चारों प्रकारों में `प्र` और `वि` के पूर्वोक्त चारों अर्थ क्रमश: अनुस्यूत दिखायी पड़ते हैं, जिससे —

१. पूर्वानुरागविप्रलम्भ	–	प्रतिश्रुत्यादान एवं विविध रूप है।
२. मान	–	विसंवादन एवं विरुद्ध ,,
३. प्रवास	–	कालहरण एवं व्याविद्ध ,,
४. करुणा	–	प्रत्यादान एवं विप्रतिषिद्ध ,,

यद्यपि इनका `सम्प्लव` भी देखा जाता है, अर्थात् किसी एक प्रकार के विप्रलम्भ में अन्य के भी गुण मिलते हैं, तथापि प्राधान्य की दृष्टि से यह व्यवस्था की गई है।

`प्र` उपसर्ग की चारों प्रकार की वञ्चनाओं का क्रमश: पूर्वानुराग आदि चार अवस्थाओं में इस प्रकार विवेचन किया गया है —

पूर्वानुराग में `प्रतिश्रुत्यादान` रूप वञ्चना होती है। कटाक्ष आदि द्वारा सूचित करके भी लज्जा, भय आदिकेकारण अभीष्ट आलिंगनादि का न देना[2]। `मान` में विसंवादन` वंचना रहती है जिसका लक्षण है — आलिंगनादि का निषेध या किसी अप्रिय कार्य का स्मरण कर आलिंगनादि का उचित रूप से न देना[3]। प्रवास अवस्था में `कलहरण` रूपप्रवंचना होती है, जो इन आलिंगनादि अभीष्ट वस्तुओं का काल (समय) कृत कुछ समय के लिए अपहरण रूप होता है। प्रिय के प्रवास से लौटने पर प्रेयसी प्रिय के साथ इन्हें पुन: प्राप्त करती है।[4]

---

१. पूर्वानुरागपूर्वेषु विप्रलम्भेषु तत्क्रमात्।
विशेषद्योतकेनेह व्युपसर्गेणासज्यते ।। ५।५८
विविधश्च विरुद्धश्च व्याविद्धश्च क्रमेणाश:।
विनिषिद्धश्चपूर्वानुरागादिषुविषज्यते ।। ५।६४

२. प्रतिश्रवोहिपूर्वानुरागे वक्रेक्षितादिभि:।
अभीष्टालिंगनादीनामदानंह्रीभयादिभि: ।।। ५।५६

३. माने निवारणं तेषां विसंवादनमुच्यते।
अयथावत्प्रदानं वा व्यलीकस्मरणादिभि: ।। ५।६०

४. प्रवासेकालहरणं व्यक्तमेषां प्रतीयते।
प्रोष्यागतेष्विहैतानिकान्ता: कान्तेषुयुञ्जते ।। वही ५।६१

और करुणा में `प्रत्यादान` रूप वंचना होती । प्रत्यादान का अर्थ ही होता है फिर से वापस लेलेना, क्योंकि इसमें दैव सारे ऐसे सुख पुन: वापस-सा ले लेता है[१]।

इसी प्रकार `वि` उपसर्ग की चारों विशेषताओं को पूर्वोक्त `विप्रलम्भ` की चारों अवस्थाओं की व चना में इस प्रकार प्रदर्शित किया है — पूर्वानुराग में लज्जा आदि के कारण वंचना विविध होता है, मान में ईर्ष्या आदि के कारण विरुद्ध होता है, प्रवास में दीर्घकाल के कारण व्याविद्ध रहता है तथा करुणा में शोक (करुणात्व) के कारण विनिषिद्ध रहता है।[२]

प्रथमानुरागविप्रलम्भ (निरुक्ति)

फिर शृङ्गारप्रकाश में प्रथमानुराग आदि शब्दों का अर्थ निरूपित हुआ है। `राग` शब्द `रञ्ज` धातु से बना है `अनु` उपसर्ग का अर्थ यहां `पश्चात्` या `सह` है[३]। `राग` का अर्थ रंग या वर्ण(colour) होता है। `राग` का सम्बन्ध `राज` धातु से भी होने के कारण `अनुराग` का `शोभा` औज्ज्वल्य` आदि से भी सम्बन्ध बताया गया है। (भरत ने तो शृङ्गार को शुचि और उज्ज्वल बताया है ) इस प्रकार अनुराग अनुरञ्जित अथवा रंगना कहलाता है। अनुराग में रंग का अपना वैशिष्ट्य होता ही है क्योंकि प्रेम के कारण मुख पर सात्त्विकभाव के कारण ललाई आ ही जाती है। `राजते` का अर्थ भी तो `प्रकर्षमापाद्यते` है। प्रथमानुराग में प्रथम शब्द उत्कृष्ट अर्थ को भी देता है।[४]

---

१. प्रत्यादानं पुनस्तेषां करुणो को न मन्यते ।
स्वयं दत्तानि हि विधि स्तानि तत्रापकर्षति ।। स०क० ५।६२

२. पूर्वानुरागे विविधं वञ्चनं व्रीडितादिभि: ।
माने विरुद्धंतत्प्राहु: पुनरीर्ष्यायितादि भि: ।
व्याविद्धं दीर्घकालत्वात् प्रवासे च तत्प्रतीयते ।
विनिषिद्धं तुकरुणो करुणात्वेनगीयते ।। स०क० ५।६५,६६

३. रागो नु सह पश्चाद्वानुरूपो नुगतो पिवा ।
यूनोरपूर्व: पूर्वानुरागशब्देनशब्द्यते ।। स०क० ५।६७
शृ०प्र० में उसी को इस प्रकार कहा है — अनु पश्चात् सह वा राग: । अनुरूपो राग: अनुवृत्तो राग: ।

४. प्रथमश्चासौ अनुराग: वा प्रथमम् अनुराग: । प्रथमम् अर्थात् उत्कृष्ट: अनुराग: ।।
— डा० राघवन्, पृ० ४७

मानविप्रलम्भ (निरुक्ति)

'मान' में दो निषेधसूचक शब्द हैं 'मा' और 'न' जो रूठी या बिना रूठी भी नायिका कहती ही है, वस्तुत: प्रेम की गति स्वभाव से सांप की गति-सी कुटिल होती ही है[१]।

मान की निरुक्ति करके 'पूजा', 'ज्ञान', 'बोधन' तथा 'मापन' अर्थ निकाला गया है।[२] और प्रेमपद्यों का उद्धरण देकर मान के इन चारों पहलुओं को समझाया गया है। 'मान' का अर्थ जब 'ज्ञान' होता है तो वह 'अभिमान' रूप होता है। जिसमें दु:ख-वेदना भी सुखरूप मानी जाती है -- ' मन्यते दु:खैकहेतुमपिसुखसाधनमेवेनमिति मान:। मनुते बुध्यते अस्मात् प्रेमास्त्विति[२] (प्रेमास्तित्व मिति) मान:।' और अन्तिम मापन भी उचित ही अर्थ है क्योंकि इसी से प्रेम की गहराई की भी नाप लग जाती है। मान शब्द ल्युडन्त होकर भी जो पुलिंग में प्रयुक्त होता है, उसके लिए भोज ने महाभाष्यकार पतंजलि को प्रमाण माना है। उन्होंने इसी प्रकार की चर्चा करके अनुमान शब्द को पुंलिंग में प्रयुक्त बताया है।[३]

प्रवासविप्रलम्भ (निरुक्ति)

प्रवास शब्द की निरुक्ति भोज ने 'वस' 'निवास' तथा 'वस' अच्छादने ही धातुओं से किया है। पहली धातु से बनाते समय प्र उपसर्ग विरुद्ध अर्थ देता है - अत: प्रवास का अर्थ होगा 'दूरजाना।' फिर इसी धातु को णिजन्त करके 'वासयति' का अर्थ किसी के गन्ध से सुवासित होने वाला अर्थ लेकर इस प्रकार निर्वचन किया है --- 'प्रकर्षेण वासयति अनुरञ्जयति तन्मयतां नयतिकामिन: चित्तमिति वा प्रवास:।' क्योंकि

---

१. अहेरिवगतिप्रेम्ण: स्वभावकुटिलेतिस:।
अहेतोर्मेतिनेत्युक्ते हेतोवो मान उच्यते ।। स०क० ५।४८

२. मान्यते प्रेयसायेन यं प्रियत्वेन मन्यते।
मनुते वा मिमीते वा प्रेममान: सकथ्यते ।। स०क० ५।६६

३. महाभाष्यकृत:को सावनुमान इतिस्मृते:
ल्युडन्ते पिनपुंलिङ्गोमानशब्द:प्रदुष्यति ।। स०क० ५।७०

४. यत्राङ्गना युवानश्च वसते न वसन्ति च ।
स प्रवास: प्रशब्देन प्रतीपार्थेन कथ्यते ।।
--स०क० ५।७१

ऐसे विरह में परस्पर की तन्मयता बहुत बढ़ जाती है[1]।

णिजन्त ही इस 'वस' का एक और अर्थ होता है 'प्रमापण या वध — जैसे कहा है — 'तूष्णीमेनं प्रवासयेत्'। इसमें चूंकि वियोगियों का वध ही होता है अत: इसे भी प्रवासकहते[2] हैं —यदि वा प्रपूर्व: वसिणिजन्त: प्रमापणे वर्तते तथा तूष्णीमेनं प्रवासवेद् इति, प्रवास्यन्ते हन्यन्ते वियोगिन: इति प्रवास:'

ये पूर्वोक्त तीन अर्थ तो 'वस' निवास के प्रवास बनाने में निकलते हैं। किन्तु जब इसकी व्युत्पत्ति 'बस आच्छादने' से प्र उपसर्ग लगाकर की जाती है तो प्र का 'विरुद्ध' नहीं अपितु 'प्रकर्ष' 'या विशेष' अर्थ द्योतित होता है, और इस प्रकार प्रवास का अर्थ बनता है 'विशेष प्रकार का आच्छादन' जो वस्तुत: प्रवास की दशा में वियोगियों का होता ही है। तब वे एक विशेष प्रकार का वस्त्राच्छादन रखते ही हैं।

करुणाविप्रलम्भ (निरुक्ति)

फिर करुणा विप्रलम्भ में करुणा शब्द की बड़ी विस्तृत कई प्रकार से निरुक्ति की गई है। 'डुकृञ्करणे' से अनेक अर्थ में करुणा बनता है। फिर 'किर् विक्षेपे' से भी बनेगा, जिसका अर्थ होगा कि लोग करुणा में सभीभोगों आदि से विक्षिप्त (पृथक्) हो जाते हैं। जब करने अर्थ में धातु का प्रयोग होता है तो 'करोति' आदि का अर्थ होता है।' अभूतम् उद्भावयति' नई वस्तु करना।[3] जैसे 'घटं करोति' तथा मूर्च्छां करोति। और 'चोरङ्कारं क्रोशति' में जिस णमुल्प्रत्ययान्त कृ का प्रयोग हुआ है उसका अर्थ होगा चोर: चोर इति उच्चार्य क्रोशति[4]।' अर्थात् यहां कृ धातु उच्चारण या विलाप अर्थ देती है। करुणा में दु:खी व्यक्ति विपुल विलाप करता ही है।[5] इस कृ के दो और[6] अर्थ होते हैं —'स्थापयति' तथा 'अभ्यञ्जयति'। जैसे —'श्मशानमित: कुरु' तथा पादौ मे सर्पिषा कुरु'[6]। भोज ने करुणा में इन

---

१. चित्तोत्कण्ठादिभिश्चेतोभृशं वासयतीत्यय: ।
प्रवासयति वा यून: स प्रवासो निरुच्यते। स०क० ५।७२

२. प्रपूर्वको वसि ज्ञेय: कारितान्त:प्रमापणे। तूष्णीं प्रवासयेदेनामितिवृद्धानुशासनात्।। ५।७३

३. अभूतोत्पादनायां कृञ्दृष्ट: कुरु घटं यथा। ५।७४

४. दृष्टश्चोच्चारणेचोरंकारमाक्रोशतीतिवत्। ५।७४

५. मूर्च्छाविलापौ कुरुते (कुरुते) साह्से मन: ।
करोति चित्तं दु:खेन यो सो करुणा उच्यते।। स०क० ५।७६

६. दृष्टो स्वस्थापने श्मशानमित: कुरुयथोच्यते।
अभ्यंजनें पि च यथा पादो ये सर्पिषाकुरु।। स० ५।७५

क्रियाओं का भी उदाहरण प्रस्तुत किया है ।

प्रत्ययार्थ की दृष्टि से पूर्वोक्त निरूपण—

भोज ने यह सब प्रकृति अंश के प्राधान्य को ध्यान में रख कर व्याख्यान किया है । फिर प्रत्ययार्थ के प्राधान्य से भी विविध व्याख्यान किये हैं । कारक के छहों भेदों को, कर्ता, हेतुकर्ता (णिच् के साथ) भावकर्ता, कर्मकर्ता, कर्तृकर्म तथा भावकर्म के भी उदाहरणादिये हैं । फिर प्रत्ययों के उत्पत्ति काल, भूत, भविष्यत् वर्तमान एवं अव्यक्त को उदाहृत किया है ।[1]

फिर उन्होंने द्रव्यरूप क्रियार्थ का विवेचन किया है । वे प्रथमत: चार प्रकार के हैं —१. नित्य, २. नैमित्तिक, ३. स्वाभाविक तथा ४. वैपरामर्शिक । फिर प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं । नित्य तीन प्रकार का है १. शाश्वतिक, २. वैकल्पिक, ३. नैयोगिक । नैमित्तिक के १. औद्योतिक, २. औपभोगिक एवं ३. प्रायोगिक । स्वाभाविक के १. आगन्तुक, २. नैसर्गिक एवं ३. सांसर्गिक, तथा वैपरामर्शिक के — १. संकीर्ण, २. प्रकीर्ण एवं ३. विप्रकीर्ण । उनके भी पुन: उपभेद किये गए हैं । शाश्वतिक के —निमेष, मुहूर्त, नाडिका आदि । वैकल्पिक के —दिन, मास, पक्ष, ऋतु एवं अयन । नैयोगिक के —संवत्सर, युग, कल्प, मन्वन्तर, प्रलय एवं महाप्रलय ।

औद्योगिक के —प्रात:, प्रत्युष आदि ।

औपभोगिक के —प्रदोष से अर्द्धरात्र तक, उष:काल के पूर्व का प्रहर चन्द्रोदय एवं चन्द्रास्त भी ।

प्रयोगिक के —ऋतुयें, शरद् आदि ।

आगन्तु के —मद, प्रमद, उत्सव, एवं व्यसन परिहार ।

नैसर्गिक के —बाल्य,कौमार, यौवन, मौग्ध्य, माध्यस्थ एवं ~~मौग्ध्य, माध्यस्थ एवं~~ प्रागल्भ्य ।

सांसर्गिक के —पर, अपर, यौगपद्य,अयौगपद्य, एवं क्षिप्र ।

संकीर्ण के —क्रीडा केलि, द्यूत, व्रत, गोष्ठी एवं प्रेक्षा ।

प्रकीर्ण के —विविक्त, उद्यान, एवं सौधादिसेवा ।

~~[illegible]~~

---

१. अथ प्रत्ययोत्पत्तिकाला: —भूतो, भविष्यत् वर्तमान: अव्यक्तश्च ।

विप्रकीर्ण के -अष्टमीचन्द्र, इन्द्रोत्सव एवं यक्षरात्रि आदि प्रेमोत्सव। इन सबके उदाहरण भी दिये गये हैं।[१]

पूर्वानुरागआदि का पुन: दूसरी दृष्टि से विवेचन-

पच्चीसवें प्रकाश में भोज ने पूर्वानुराग का दर्शन एवं श्रवण पहलुओं से विवेचन किया है, जिसके प्रसंग में वे प्रत्यक्षादि प्रमाणों का बड़े विस्तार से विवेचन करने लगते हैं। सरस्वतीकण्ठाभरण में यह विषय प्राय: नहीं कहा गया है। इस परिशेष के प्रसंग में दृष्ट, श्रुत तथा अनुमित रूप से निरूपित तीन प्रकार के ज्ञान में इसकी चर्चा की गयी समझी जा सकती है।

इस प्रकाश का प्रथमविषय है विप्रलम्भ शृङ्गार के पूर्वानुराग आदि चारों प्रकारों की परस्पर साधर्म्य-वैधर्म्य-परीक्षा। भोज का विचार है कि इन चारों प्रकारों का कुछ अपना-अपना वैशिष्ट्य है, जिससे वे परस्पर पृथक् हैं। इस वैशिष्ट्य को हम उनका परस्पर वैधर्म्य कह सकते हैं। फिर हम यह भी अनुभव करते हैं कि एक प्रकार में बहुत कुछ दूसरे प्रकार की भी बातें मिलती हैं। यह उनका परस्पर साधर्म्य है। इस प्रकार पूर्वानुराग में कुछ मान के कुछ प्रवास के तथा कुछ करुण के धर्म मिलेंगे। उदाहरणार्थ, यदि पूर्वानुराग विप्रलम्भ में दोनों प्रेमियों के बीच स्थान या देश की दूरी अधिक है तो यह उसका प्रवास विप्रलम्भ से साधर्म्य होगा।

प्रेम की क्रमिक अवस्थाएं -

फिर भोज ने प्रेम की क्रमिक अवस्थाओं का उल्लेख किया है जो क्रम से इस

---

१. स एव काल: कार्त्स्न्येन द्विरूप उपदर्शित:।
क्रियापदेशवाच्यो यं क्रियायाःसाधनं च य:।
प्रत्ययार्थौ द्वयं चैतत् सममेदतदुदाहृतम्।
प्रकृत्यर्थानुरोधेन विप्रलम्भे चतुर्विधे ।।
यो विप्रलम्भ: प्रथमानुराग: मान: प्रवास: करुण: स एव
साधर्म्यवैधर्म्यवशेन वेषांग अभेद (अनेक भेदा: (दान) पथ (अथ) तो वदाम: ।।

प्रकार है – भाव[1] भावजन्म[2] भावानुबन्ध[3] और भावप्रकर्ष[4]। शृङ्गारप्रकाश में इनका लक्षण भी दिया गया है। और ये प्रेम की चार अवस्थायें चार समृद्धियां कही गयी हैं[5]।

भावस्कन्ध –

तदनन्तर 'भावस्कन्ध' पर विचार किया गया है। उद्दीपनों के बीच आलम्बनों का प्रथम मिलन 'भाव-स्कन्ध' कहलाता है। नायक-नायिका (आलम्बनों) का यह मिलन दो प्रकार का होता है १. दर्शन–एक दूसरे को देखने-रूप अथवा २. श्रवण, एक दूसरे के विषय में सुनने-रूप।

फिर ये दर्शन और श्रवण भी अनेक प्रकार के हो सकते हैं (यहां भोजने विभिन्न शास्त्रों के ज्ञान के कारण प्रमाणों का सहारा लिया है।) दर्शन के इतने प्रकार हो सकते हैं –प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान, ४. अर्थापत्ति, ५. सम्भव तथा ६. अभाव। उसी प्रकार श्रवण के भी इतने प्रकार सम्भव हैं – १. शब्द, २. ऐतिह्य, ३. श्रुतानुमान, ४. श्रुतोपमान, ५. श्रुतार्थापत्ति एवं ६. श्रुतासम्भव। फिर इन दोनों का संकर भी अनिवार्य है। भर्तृहरि के अनुसार तो[6] विश्व में कोई ज्ञान या अनुभव ऐसा हो ही नहीं सकता, जिसका सम्बन्ध किसी शब्द से न हो अर्थात् जो शब्दों द्वारा न कहा जा सके।

---

१. स०क० में इनको इस प्रकार परिभाषित किया है –

आलम्बनविभावेभ्य: स्वेभ्य: स्वेभ्य: समुन्मिषन्।
रसो रत्यादिरूपेण भाव इत्यभिधीयते। ५।१३

२. संस्कारपाटवादिभ्यो नुभावं वा निजाश्रये।
संचारिणं वा जनयन् सात्त्विकं वा स जायते।। ५।२४
'आश्रयो यस्य रत्नादि: प्रेमादेरुपजायते।
विषयो यत्र योषादो सो स्य जन्माधिगच्छति।। ५।३५

३. उद्दीपनविभावेभ्य: स्मृतिहेतो पटीयसि
अनुबन्धो नुभावादेरनुबन्धो स्य कथ्यते।। ५।२५

४. विषयाश्रय-संस्कार गुणप्रकृतिपाटवै:
दीपनातिशयैश्चास्य प्रकर्ष: पुष्टिरुच्यते।। ५।२७

५. तदुक्तं भावजन्मानुबन्धप्रकर्षानुरूपास्तावस्था (अवस्था) समृद्धय इति।)

६. न सो स्ति प्रत्ययो लोके य: शब्दानुगमादृते.

अनुरागप्रकार—

इत्थं पूर्वनिरूपित प्रकार के अनुसार अनुराग के दो रूप होंगे —१. दर्शनानुराग तथा २. श्रवणानुराग । फिर दर्शनानुराग के प्रत्यक्षानुराग, अनुमानानुराग आदि छ: भेद किए जायेंगे । और श्रवणानुराग के भी शब्दानुराग आदि छ: प्रकार होंगे ।[१] यहां फिर भोज इस अवसर पर दर्शन के विभिन्न मार्गों में प्रसिद्ध प्रमाणों का विवेचन करते हैं ।यहां भोज ने दर्शन एवं श्रवण से उत्पन्न प्रेम के विपुल उदाहरण प्रस्तुत किए हैं । प्रत्यक्षानुराग के प्रसंग में सर्वप्रथम प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ किया है -' तत्र अक्षम् अक्षं-प्रतिगतं विज्ञानं प्रत्यक्षम् ।' यह प्रत्यक्ष भी छ: प्रकार का होता है —साक्षात् २. प्रतिबिम्ब, ३. प्रतिमान, ४. उत्प्रेक्षा, ५. स्मृति तथा ६. स्वप्न । इनमें भी साक्षात् सर्वश्रेष्ठ प्रत्यक्ष है । इस साक्षात् प्रत्यक्ष का लक्षण भोज ने ईश्वर-कृष्ण की सांख्यकारिका के अनुसार किया है —' तत्र प्रतिविषयाध्यवसाय:साक्षात् प्रत्यक्ष: ।'

स्वप्न— आदि को, भोज का कहना है, कुछ के अनुसार वस्तुत: प्रमाण नहीं अपितु प्रमाणाभास माना जाता है । किन्तु प्रमाण का भूत भी प्रेम उत्पन्न करने में समर्थ होता है । अर्थक्रिया-कारि ज्ञान को उत्पन्न करने पर स्वप्न आदि भी प्रमाण माने जा सकते हैं । भोज ने इन छहों प्रत्यक्षों के उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं ।

फिर दर्शनानुराग के भीतर अनुमानानुराग का क्रम आता है । लिङ्ग (चिह्न) को देख कर लिङ्गी की प्रतिपत्ति (ज्ञान) होना —अनुमान कहलाता है । इस विषय में प्रशस्तपादभाष्य से अनुमापक निर्दोष लिङ्ग के विषय की दो कारिकाओं का उद्धरण देकर भोज ने अपने मत से इस अनुमान के लिङ्ग के प्रति इतना सूक्ष्म विचार आवश्यक नहीं बताया है । उन्होंने तो लिङ्गाभास (सदोष लिङ्ग) को भी प्रथमा-नुरागके निमित्त बनने में समर्थ बताया है ।[२] इस अनुमान कोभोज ने छ: प्रकार का

---

१. भरत ने भी प्रेम की उत्पत्ति में श्रवण, दर्शन को भी कारण बताया है —

श्रवणाद् दर्शनाद् रूपाद् अङ्गलीलाविचेष्टितै: ।
मधुरै: संप्रलापैश्च काम: समुपजायते ।। — ना०शा० २४।१४६

२. लिंगदर्शनादेवलिंगिप्रतिपत्तिरनुमानम्—

अनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्वये ।
तदभावे तु यन्नास्ति तल्लिङ्गमनुमापकम् ।।
विपरीत मतो यत् स्याद् एकेन द्वितयेनवा
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपो ब्रवीत्
नर्तं न लिङ्गमात्रमेवम्: ।तदाभासस्यापि प्रथमानुरागनिमित्तत्वात् ।

बताया है —यद्यपि गौतम तथा ईश्वरकृष्ण ने केवल तीन ही प्रकार बताये हैं.। भोजके छ: प्रकार ये हैं -- सामान्यतोदृष्ट, २. विशेषतोदृष्ट, ३. प्रत्यक्षतो दृष्ट, ४. परोक्षतो दृष्ट, ५. विद्यमानविषय तथा ६. अविद्यमानविषय । इनके उदाहरण एक-एक वाक्य में क्रमश: इस प्रकार दिये जा सकते हैं :—

१. कार्येण कारणम् , २. स्वरेण पुत्रम्, ३. कृत्तिकोदयेन रोहिण्युदयम्, ४. देशान्तर-प्राप्त्याआदित्यगीतम्, ५. धूमेन अग्निम् तथा ६. निमित्तेन भाविनम् अर्थम् ।। भोज ने प्रेमकाव्य से इन छहों अनुमानप्रकारों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं । अनुमान के स्वार्थ एवं परार्थ आदि भेदों को आगे के अवसर के लिए छोड़ रक्खा है ।

तीसरा उपमानप्रमाण एवं उपमानानुराग है । भोज ने उपमान के लक्षण के लिए गौतम का न्या०सू० १।१।६ उद्धृत किया है । इसके भी छ: प्रकार हैं -१.साधर्म्य , २. वैधर्म्य, ३. मुद्रा, ४. शिल्प, ५. संज्ञा तथा ६. अभिनय[1] की दृष्टि से । फिर इन छहों के उदाहरण भी दिये गये हैं जिनमें सौन्दर्य की प्रशंसा उपमानालंकार द्वारा की गयी है ।

भोज उपमान को सर्वश्रेष्ठ प्रमाण मानते हैं । उन्होंने इस विषय में विन्ध्यवासिन् आदि आचार्य को प्रमाण रूप में उल्लिखित किया है । अर्थापत्तिप्रमाण तथा अर्थापत्त्यनुराग । दृष्ट प्रकार की अर्थापत्ति के छ: प्रकार होते हैं —१. प्रत्यक्ष पूर्विका, २. अनुमानपूर्विका, उपमानपूर्विका, ४. अर्थापत्तिपूर्विका, ५. सम्भवपूर्विका तथा ६. अभावपूर्विका । सफिर इनके भी उदाहरण दिये गये हैं ।

सम्भवानुराग तथा सम्भवप्रमाणभी छ: प्रकार का माना गया है - १. सम्भावना यथा—मेघोदयाद् वृष्टि: । २. संशय या विमर्श —यथा स्थाणुर्वा पुरुषोवा । ३. वितर्क- यथा पुरुषेण अनेनभवितव्यम् । ४. प्रायोवाद—यथा—प्रायेणाऔशीनरा: । तक्रपायिन: । ५. सम्प्रत्यय- यथा- एतद् घटद्वारं तथा अ नागकन्यकानगरम् । ६. प्रत्यनुसन्धि तथा सो पि कपोलपाण्डुतादिसूचित: तस्या:स्मराभिष्वङ्ग: सो पि

---

१. संज्ञासाधर्म्यवैधर्म्यमुद्राशिल्पाभिनीति (तिकम्) ।
  ब्रूते यद्वस्तुतो रूपमुपमानं तदुच्यते ।।

त्वन्निबन्धनः । फिर इनके उदाहरण दिये गये हैं।

इसके पश्चात् अभावानुराग तथा अभावप्रमाण का विवेचन होता है। यह भी छः प्रकार का है --१. प्राक्, २. प्रध्वंस, ३. इतरेतर, ४. अत्यन्त, ५. सम्बन्ध तथा ६. सर्व। इनके क्रमशः उदाहरण जैसे --१. दधिरे दधिनास्ति, २. दधिरं दध्निनास्ति, ३. स्तम्भः कुड्यौन, ४. शशविषाणं नास्ति, ५. चैत्रो गृहे नास्ति, ६. तस्य नापापिनास्ति।

भोज ने यहाँ सम्भव और अभाव को प्रत्यक्ष तथा अनुमान से स्वतन्त्र तथा उनमें न अन्तर्भूत होने योग्य सिद्ध किया है। और अन्त में दर्शनानुरागप्रकरण यहाँ इस प्रकार समाप्त होता। है।

तदनन्तर श्रवणानुरागप्रकरण प्रारम्भ होता है। जैसा कि पहले निरूपित किया गया है, यह शब्द ऐतिह्य रूप से छः प्रकार का होता है। शब्द का लक्षण इस प्रकार किया गया है।[1] यह दो प्रकार का होता है --१. औपदेशिक तथा २. विधि। उपदेश छः प्रकार के होते हैं --१. विधिवाद, २. अर्थवाद, ३. संज्ञावाद, ४. स्वरूपवाद, ५. मन्त्रवाद, ६. अनुवाद।

विधि का लक्षण है -- प्रवृत्तिनिवृत्त्योर्विधायकोविधिः। इसके चार प्रकार होते हैं -- १. उत्पत्ति, २. नियोग, ३. प्रयोग, ४. अधिकार,। फिर इनके उदाहरण दिये गये हैं।

अर्थवाद चार प्रकार का होता है। १. स्तुति, २. निन्दा, ३. पुराकल्प एवं ४. प्रकृति। स्तुति तथा पुराकल्प प्रशंसापरक, एवं प्रेरक होते हैं इसीलिए उन दोनों को प्रवर्तक कहा गया है। शेष दोनों, अर्थात् निन्दा और प्रकृति गर्हणापरक एवं निषेधक हैं, अतएव उन्हें निवर्तक कहा गया है। फिर भोज ने इनके उदाहरण दिये हैं।

तीसरा संज्ञावाद है। इसका लक्षण है `कर्मव्यतिहारहेतुः संज्ञा` अर्थात् उचित नाम देना। इसके भी भी चार प्रकार हैं --१. आन्वर्थिकी संज्ञा, २. पारिभाषिकीसंज्ञा, ३. नैमित्तिकी संज्ञा तथा ४. यादृच्छिकी संज्ञा। भोज ने इनके ऐसे उदाहरणप्रस्तुत किये हैं, जिनमें कवियों ने नामों का स्वयं भी अर्थनिरूपित किया है। जैसे --परन्तपोनाम यथार्थनामा।` नाम्नासुतीक्ष्णःतपसा(चरितेन) दान्तः।`

---

[1] शब्दाविज्ञानाद् असन्निकृष्टे अर्थज्ञानं शब्दम् (०) - इस विवेचन में भोजने बहुत कुछ पूर्वमीमांसा दर्शन से ग्रहण किया है।

स्वरूपानुवाद- स्वरूप के चार भेद हैं -१. जाति, २. गुण, ३. क्रिया तथा ४. द्रव्य । दण्डी ने स्वभावोक्ति अलंकार के भी इन्हीं चार पर आधारित चार भेद किये हैं --मन्त्रवाद- मन्त्रका लक्षण इस प्रकार किया है -`मननत्राणधर्माण:शब्द-देवतात्मान: मन्त्रा: । मन्त्रों के चार प्रकार किये गये हैं -१. वैदिक, २. पौराणिक, ३. सैद्धान्तिक तथा ४. लौकिक । सैद्धान्तिक मन्त्र जैसे शाक्त मन्त्र आदि और लौकिक मन्त्रों में लोकप्रसिद्ध जादू टोने आदि के सभी मन्त्र आ जाते हैं ।

अनुवाद भी चार प्रकार के होते हैं -१. विध्यर्थ, २. निषेधार्थ, ३. स्तुत्यर्थ तथा ४. निन्दार्थ । फिर इनके उदाहरण दिये गये हैं । विधि तथा निषेध के आगे अन्य उपभेद भी किये गये हैं ।

भोज ने इसके अनन्तर जैमिनि के मीमांसा-सूत्रों के आधार पर शब्द प्रमाण का कुछ अधिक विवेचन भी किया है जो यहां, प्रकृतविषय के लिए असम्बद्ध होने के कारण,व्यर्थ विस्तार का कारण बनेगा ।

इतने के बाद, संयोग से, इस प्रकाश का शेष अंश नष्ट हो गया है । शायद उसमें ऐतिह्य, श्रुतानुमान, श्रुतोपमान, श्रुतार्थापत्ति तथा श्रुतसम्भव का विवेचन हुआ रहा है । अस्तु !

फिर छब्बीसवां प्रकाश सम्पूर्ण विनष्ट है । सम्भवत: उसमें भी पूर्वानुराग का ही विवेचन हुआ है क्योंकि उन्तीसवें प्रकाश ष के प्रारम्भ तक यही विषय चलता है । तब कहीं वहां `मान` का प्रकरण प्रारम्भ होता है ।

अभियोगविधि-

सत्ताइसवें प्रकाश का नाम भोज ने `अभियोगविधिप्रकाश` रक्खा है । अभि-योग शीर्षक के भीतर किन विषयों का विवेचन करना भोज को अभीष्ट था, इसका तो पता नहीं लगाया जा सकता । इस प्रकाश का जितना अंश बचा है उसमें `संकेत` तथा`अभिसार` -इन दो विषयों का विवेचन किया गया है ।

संकेत- या प्रेम में गुप्त मिलन-स्थान (Love-tryst) से इस प्रकाश का प्रारम्भ होता है । संकेत से सम्बन्धित विभिन्न परिस्थितियां उल्लिखित एवं उदा-हृत हैं ।

संकेत-उपचार, सं०-मनोरथ, सं०-उत्कण्ठा, सं०-हर्षण, सं०-आश्वास , सं०- आगम, सं०- भ्रंश,सं०-विघ्न, सं०- उपघ्न , सं० भङ्ग, सं० अनुषङ्ग

सं०आशङ्क्य, सं०, अपराध, सं० प्रार्थना, सं०-बहुमान, सं०-वात्सल्य, ~~सं० -- वात्सल्य~~, सं० - अनुक्रोश, सं०--आक्षेपण, सं० --अभिरक्षा, सं०- तात्पर्य, सं० उपजाप, सं०-उपालम्भ, सं० विप्रलम्भ, सं० आशिष्, सं० प्रश्न।

फिर अभिसरण का निरूपण किया गया है --

विरहविस्फुरण, सखीसम्प्रश्न, इतिवृत्ताख्यान, सखीशिक्षा, ध्वान्तप्रतीक्षा, ध्वान्तानुशोचन, ध्वान्तसत्कार, चन्द्रिकाभिसरण, चन्द्रिकानिर्वेद, चन्द्रोदय, निन्दा, चन्द्रतिरस्कार, अभिसरणसाध्वस, अभिसरणोत्साह, अभिसारिका-वृत्तान्त, वञ्चितावृत्तान्त, परिभोगदर्शन, सखीव्याजगर्मा (गर्मा ?) अविनयगूहन तथा चिह्न-निह्नव।

इन सबके दो-दो उदाहरण, प्राय: सब प्राकृत भाषा से ही, दिये गये हैं। ये वस्तुत: नायिका का प्रिय-मिलन के लिए जाने की विविध अवस्थायें हैं। विरह के क्षण में से प्रारम्भ कर, प्रिय से मिलने जाने की इच्छा मिलन, वापस आकर मिलन-चिह्नों के निगूहन तक में अनेक अवस्थाएं निरूपित की गयी हैं। इस प्रकार यह 'अभियोग' प्रकाश समाप्त होता है। सरस्वतीकण्ठाभरण में 'प्रेम की परीष्टि' नाम से इस विषय का अतिशय संक्षेप में संकेतमात्र किया गया है।[1]

दूतप्रेषणप्रकार--

अट्ठाईसवें प्रकाश का विषय दूत-प्रेषण है। विप्रलम्भ शृङ्गार के पूर्वानुराग प्रकार में अभियोग विषय का दूतप्रेषण एक पहलू (पक्ष) है।

दूत प्रेम-सन्देशवाहक या प्रेम-सहायक होते हैं। उनकी संख्या ८४ है। उनके भेद का आधार दसप्रकार की ये विशेषताएं हैं --जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य, सम्बन्ध, अर्थ, प्रयोजन, प्रयोग, योग्यता, तथा स्त्रीत्व[2]। ~~इसमें~~

१. जाति :--जैसे- देव, मनुष्य, किन्नर, वानर, शुक, शारिका, पारावत, हंस, आदि।

२. गुण--जैसे पितृ-पैतामह, अदृष्टवैकृत, अविसंवादक, अलोभशील, अमन्त्र-विस्रावी, धार्मिक तथा मानसहिष्णु।

३. क्रिया --जैसे - सहपांसुक्रीडित, उपकारसम्बद्ध, जन्मान्तरार्जित, सहाध्यायि समानशीलव्यसन, यश्च अस्य रहस्यानि मर्माणिविधात्'' अन्यस्य विधात् 'द्वि-त्रि-अपत्यम्, तथा सहसंवृद्ध।

४. द्रव्य : जैसे ~~से~~ मालाकार, ताम्बूलिक, गान्धिक, सौरिक, पीठमर्द, विट विदूषक, पाषण्डी तथा मित्र।

1- स० क० ५।५८ | 2- श्रृं०प्र०

५. सम्बन्ध— जैसे—गुरु, सखा, शिष्य, आत्मन्, ज्ञाति, औरस, तथा कनीयान् ।

६ अर्थ: जैसे —अर्थानर्थ प्रतिघात ,सहार्थताप्राप्ति, प्रतारण, आनृण्य, कीर्ति तथा प्रतीति ।

७. प्रयोजन : जैसे —स्नेह, कुतूहल, अभिप्रायोपालम्भ, पूर्वप्रार्थना, अभ्यन्तरप्रार्थना, तथा शीलसंग्रह ।

८. प्रयोग— जैसे —प्रच्छन्न , प्रकाश, हीन, उत्कृष्ट, उद्धत, उदात्त, धृष्ट, तथा शठ ।

९. योग्यता—जैसे-निसृष्टार्थ, परिमितार्थ, पत्रहारक तथा मूकदूत ।

१०. स्त्रीत्वादि : जैसे —ईक्षणिका, भिक्षुकी, सखी, धात्रेयिका, विधवा, दासी, शिल्पकारिका, तथा शिल्पिनी ।

फिर इन सबके उदाहरण दिये गए हैं । केवल `योग्यता` के विषय में उदाहरण नहीं दिये गये । उसे आगे `दूती-कल्प` के प्रसंग में उदाहृत करने के लिए छोड़ दिया गया है । `योग्यता ` को पूर्ण करने के लिए गुण आवश्यक है : — सम्भावना, विश्वास, प्रवृत्ति, मन्त्रसंग्रह, मनोनिर्वाण, उत्साह, अविश्वास तथा कार्य-निर्णय ।[१]

दूत के कुछ अन्य गुणों का भी उल्लेख किया गया है जैसे उसकी वावदूकता, तथा कल्पनाशक्ति । उदाहरण के लिए (प्रमाणरूप से) `सक्तुमिव तितउना । भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि` (ऋ०वे०) तथा` शास्त्रे प्रतिष्ठा सहजश्च बोध: आदि (मालती माधव) उद्धृत किया गया है ।

पिछले पृष्ठ का शेष—

१. विप्रलम्भोमियोगाद्यै:संभोगैसाध्वसादिभि: ।
मिथपरीक्षा या: प्रेम्णो निर्दिष्टास्ता:परीक्ष्य: ।।

—स०क० ५।५४

२. जातिर्गुणा: क्रिया द्रव्यं सम्बन्ध र्थ: प्रयोजनम् ।
प्रयोगो योग्यता स्त्रीत्वं दूतभेदेषु हेतव: ।।

---

१. संभावनाथ विश्वास: प्रवृत्तिर्मन्त्रसंग्रह: ।
मनोनिर्वाणमुत्साह: आश्वास: कार्यनिर्णय: ।।

योग्यता का एक अन्य गुण-समुदाय भी दिया गया है — शुश्रूषा, श्रवण ग्रहण, धारण, विज्ञान, ऊह, अपोह, तथा तत्त्वाभिनिवेश । यहां वाग्मिता की पुन: दूसरे प्रकार से प्रशंसा की गयी है ।

फिर इन गुणों का विभिन्न प्रकार के दूतों में विभेद बताया गया है । योग्यता के अनुसार स्त्रीत्वादि का पुन: वर्गीकरण किया गया है ।

दूतकर्म—

तदनन्तर चौबीस प्रकार के दूतकर्म का विवेचन हुआ है जो इस प्रकार है— १. प्रवेश, २. विश्वासोत्पादन, ३. उपावर्तन, ४. अनुवर्तन, ५. उपन्यास, ६. अवस्थानिवेदन, ७. इङ्गिताकारज्ञान, ८. उपायज्ञान, ९. प्रकरणज्ञान, १०. प्रतारण, ११. समाश्वासन, १२. अत्ययप्रतीकार, १३. प्रयोज्य-प्रेषण, १४- सन्धिरक्षा, १५. प्रतापव्यावर्णन, १६. उपजाप, १७. पराक्रमण, १८. बन्धुरत्नापहार, १९. मित्रोपग्रह, २० सुहृद्विभेद २१. चार ज्ञान, २२. गूढदण्डाभिचार, २३ चारसमाधान तथा २४. सगाभिमोक्ष ।

भरत ने दूती के इन गुणों का उल्लेख किया था — १. प्रोत्साहनकौशल, २. मधुरकथा, ३. दाक्षिण्य, ४. कलाज्ञत्व, ५- लसहत्व (लडहत्व?) तथा ६. संवृतमन्त्रत्व[1]।

भोज ने इस प्रसंग में पूर्वोक्त चौबीस गुणों का पुनरुल्लेख किया है । इन चौबीसों के भी आगे अलग-अलग प्रकार बताते गये हैं । उदाहरणार्थ प्रवेश के अठारह प्रकार होते हैं । इन सब के उदाहरण दिये गये हैं । उदाहरण ~~र्थ-प्रवेश-के-अ~~ प्रधानतया भवभूति के 'मालती माधव' से प्रस्तुत किये गये हैं । इस विषय को भी सरस्वतीकण्ठाभरण में अतिशय संक्षेप रूप से 'प्रेम की परीष्टि' नाम से विवेचित किया गया है ।

दूतसम्प्रेषणादि—

उन्तीसवें प्रकाश का नाम 'दूतसम्प्रेषणादि' है । इसका अन्तिम भाग

---

१. प्रोत्साहनेषु कुशला मधुरकथा, दक्षिणाच कालज्ञा ।
लसहा संवृतमन्त्रा दूतीत्यैभिर्गुणै: कार्या ।। ना०शा० २५।१२

विनष्ट हो गया है। इसमें पूर्वराग विप्रलम्भ के अन्तर्गत ही ४८ प्रकार के दूतसम्प्रेषणादि विषयों का विवेचन किया गया है। उनमें से चालीस को तो एक साथ प्रत्येक को दो-दो उदाहरणों के साथ कहा गया है। वे इस प्रकार हैं — १. दूतसम्प्रेषण, २. संदेशदान, ३. सुपात्रप्रणिधान, ४. दूतानुगम, ५. सखीविगर्हणा, ६. मार्गदीक्षण, ७. गमागमन्विता, ८. चिरयद्विमर्श, ९. दूतागमन, १०. आकारपरीक्षा, ११. दूतप्रतिभेद, १२. दूतपरिप्रश्न, १३. दूतव्यवहार, १४. दूतवाक्याकर्णन, १५. गमनवृत्तान्त, १६. प्रवृत्त्युपलम्भ, १७. प्रियसन्देश, १८. सुहृत्सम्मन्त्रणा, १९. अवस्थानुभव, २०, सहायोत्साहन, २१. प्रियदूतागमन, २२. दूतप्रतिपत्ति, २३, वार्ताभिधान, २४. कार्यपर्यनुयोग, २५. दूतवाक्य, २६. उत्तराभिधानोपपत्ति, २७. दूतप्रतिवाक्य, २८. दूतवाक्याक्षेप, २९. दूताभिमत्र्सन, ३०. परिजनक्षोभ, ३१. गुरुजनशंका, ३२. सहायवेग, ३३. इतिकर्तव्यता, ३४. स्वयंप्रवृत्ति, ३५. नायकनयन, ३६. प्रियाभिगमन, ३७. उपस्थान, ३८. सम्भ्रमविकल्प, ३९. नायिकाप्रतिबोधन, ४० सुहृत्परिहास।

तदनन्तर आठ शेष अवस्थाओं का भेदोपभेद सहित निरूपण हुआ है। वे हैं— १. दूतपुरस्कार, २. इतिवृत्ताख्यान, ३. अवस्थाज्ञान, ४. अवधान, ५. संविधान, ६. शक्ति विवेचन, ७. समागमोपाय, तथा ८. समीहितसिद्धि।

इन ४८ में से कुछ के भेद इस प्रकार कहे गये हैं। अवस्था ज्ञान (अनुभव का ज्ञान) तीन प्रकार का बताया गया है —१. दृष्ट, २. श्रुत तथा ३. अनुमित,। 'अवधान' के चार विभाग किये गये हैं —देश, काल, कार्य तथा पात्र। 'शक्तिविवेचन' के चार प्रकार हैं —१. प्रभुशक्ति, २. उत्साहशक्ति, ३. मन्त्रशक्ति, एवं ४. दैवशक्ति। 'समागमोपाय' के अनेक रूप हैं—१. तपस्या, २. साहस, ३. माया, ४. छद्म, ५. छलितक ६. हठ, ७. वेष, ८. रूपान्तरापत्ति, ९. इन्द्रजाल, १० विनिर्गम, ११. लेख १२- चेष्टानुवर्तन, १३. कार्योपदेश, १४. साहाय्य। 'इतिवृत्तज्ञान' के इतिवृत्त के भीतर बारहवें प्रकाश में कहे हुए पांच अर्थप्रकृतियों —पांच कार्यावस्थाओं, संस्थाओं एवं सन्धियों का उल्लेख किया गया है। 'समीहितसिद्धि' के भीतर भोज ने प्रमाणों, प्रमेयों तथा अनुमान के पांचों अवयवों का विवेचन किया है। और इसके साथ ही इस प्रकाश का अन्त होता है

मानविप्रलम्भ—

तीसवें प्रकाश में विप्रलम्भ के 'मान' स्वरूप का निरूपण हुआ है। भोजने प्रेम में मान की अनिवार्यमनोज्ञता बताई है[1]।

---

१. प्रवासात् प्रथमं मानो भिधीयते। कथं पुनरस्यवैचित्र्यं ? श्रूयताम्। अयं दोषो पि मद
(शेष)

सरस्वतीकण्ठाभरण में इस मान के विषय में तथा प्रवास और करुणा को भी केवल एक एक पद्य उद्धृत किया है। शृङ्गारप्रकाश में भोज ने इन पर पूरे पूरे एक एक अध्याय लिखे हैं। यहाँ मान का लक्षण बताया फिर उसके भेद बताये - १. उत्तम मान, वह है, जो नायिका करे, २. कनीयान् वह है जो नायक करे, और ३. मध्यम वह है जो दोनों करें। फिर मान सम्बन्धी २४ पहलुओं को गिनाया एवं उनके उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। १. मानविषयाश्रयालम्बनभेद, २. मान-जातियाँ ३. मानविशेष, ४. विषयप्रकीर्ण, ५. आश्रयप्रकीर्ण ६. आलम्बनप्रकीर्ण, ७. विषयकर्म, ८. आश्रयकर्म, ९. प्रकीर्णकर्म, १० मानविकार, ११. मानोपलक्षणास्थान, १२. मानोत्पत्तिकारण, १३. मानोपलक्षण, १४. मानोद्दीपन, १५. मानविलास, १६. मानमोट्टायित, १७. मान-सुखानुभव, १८. मानोत्पत्तिप्रकीर्ण, १९. मानोपाधिभङ्ग, २०. मानभङ्गकारण, २१. मानोपशान्ति, २२. मानोपशमलक्षण, २३. मानभङ्गावधि, २४. मानानुभवन-सौख्य।

विषय, आश्रय तथा आलम्बन--

तदनन्तर विषय, आश्रय तथा आलम्बन में प्रत्येक को १२ प्रकार का बताया है। विषय वह व्यक्ति है जिसके प्रति भाव उठता है। आश्रय वह व्यक्ति है, जिसके मन में वह भाव उठता है, तथा आलम्बन उस विषय की ही विशेषता है, जिसके लिए विषय के प्रति आश्रय के मन में भाव उठता है।

मानप्रकारादिनिरूपण--

भोजने मान (मानजातियाँ) के २४ प्रकार सोदाहरण बताये हैं -- १. भाम, २. कोप, ३. क्रोध, ४. उत्प्रास, रोष, ६. ईर्ष्यायित, ७. मन्त्रप्रीति, ८. असूयित, ९. वैमनस्य, १०. उन्माद, ११. मन्यु, १२. मात्सर्य, १३. अभिनिवेश,

---

शेष --

इव मतङ्गेषु, विग्रहो पि सत्कारभाव इव माकन्देषु, काश्यादिहेतुरपि तपः प्रबन्ध इवसात्त्विकेषु, प्रियविनो-- त्याग इव वदान्येषु, कटुरपि मरीचावचूर्ण इव (षाड) वेषु, कलुषो पि कज्जलनिवेश इव वनितालोचनेषु, दुरासदो पि भ्रमर इव प्रसूनसंस्त-रेषु, वक्रो पि उक्तिविशेष इव कविकाव्येषु, यूनां मनस्सु उप जायमानः प्रकर्ष-प्रेमसंपदः सम्पद्यते।

१४. अवस्था (ज्ञा ?) १५. विस्मरण, १६. वैलक्ष्य, १७. अनुशय, १८. कालुष्य, १९. क्षोभ, २०. आवेग २१. अमर्ष, २२. कोपातिरेक(Something meaning Kopatireka — Dr Raghavan) २३. उग्रता तथा २४. प्रणयकलह।

एक अन्य प्रकार से मान के २४ भेद (मानविशेष) बताये हैं—१. सहज, २. आहार्य, ३. यौवनज, ४. विस्रम्भज, ५. स्थिर, ६. भङ्गुर, ७. सम, ८. विषम, ९. प्रकाश, १० गूढ़, ११. चण्ड, १२. मृदु, १३. उद्भट, १४. मसृण, १५. ऋजु, १६ वक्र, १७. साध्य, १८. कृच्छ्रसाध्य, १९. याप्य, २०. असाध्य, २१. पुराण, २२. ~~पुराण~~ जीर्ण, २३. पुनर्नव तथा २४. नव।

फिर २४ प्रकार के विषयप्रकीर्ण का विवेचन है। तदनन्तर आश्रयप्रकीर्ण का क्रम आता है। आलम्बनप्रकीर्ण सात प्रकार के गिनाये गये हैं—परिहास, २ आशंसा ३. जिज्ञासा, ४. कुतूहल, ५. कैतव, ६. कारण तथा ७. प्रताप।

विषयकर्म, आश्रयकर्म तथा प्रकीर्णकर्म में प्रत्येक छ: प्रकार का बताया गया है। मानवैकृत, मानवितर्क, मानभङ्गोपाय, मानपरिप्रश्न, चित्र-चाटूक्तियाँ, प्रियोपालम्भ, वैलक्ष्य, अनुशय, मानान्यथात्व, कायाभ्रंश, उत्कण्ठावेश, वैक्लव्य, प्रविलाप, सन्ताप, विषय-व्यावृत्ति, आरम्भ, तथा अभिशंका का निरूपण हुआ है।

तदनन्तर मान सम्बन्धी-सत्ता, अनुबन्ध, प्रकर्ष, सम्पर्क, अनुगम तथा पुन: प्रादुर्भाव का विवेचन किया है।

फिर मानभङ्गोपाय कहे गये हैं—१. साम, २. दान, ३. भेद तथा ४. दण्ड। साम को प्रियवचन या अनुवृत्ति या प्रणामरूप है। दान को तीन प्रकार का कहा गया है। शंका आदि उत्पन्न करना, इन्द्रजाल, तथा माया—ये भेद कहे गये हैं। और उपेक्षा, प्रतिकोप एवं प्रस्थान को दण्ड कहा गया है।

फिर मानपरिप्रश्न तथा चित्रचाटूक्तियों का निरूपण किया है।

इसी में आगे ६ प्रकार के विमर्श तथा १० ६ प्रकार के उपालम्भों का भी विवेचन किया गया है।

मान के प्रथम चौबीस प्रकारों में नवम प्रकीर्ण है—जो इस प्रकार हैं— १. प्रतिबोधन, २. समाश्वासन, ३. परिहास, ४. उपदेश, ५. प्रतिषेध, ६ उपजाप तथा ७. स्खलितगोपन।

फिर मानविकार ६ प्रकार के बताये गये हैं—१. जायते, २. विवर्धते ३. स्थीयते, ४. विपरिणमते, ५. अपक्षीयते एवं ६. विनश्यति।

मानोपलक्षणस्थान ये हैं– हृदय, चक्षु:, वक्त्र, वाक्, वपु: एवं चेष्टित ।

इसके अनन्तर पाण्डुलिपि का कुछ अंश नष्ट हो गया है । सम्भवत: उसमें मान-स्थान के ६ प्रकारों के उदाहरण दिये गये थे ।

तदनन्तर मानोत्पत्ति–कारण इस प्रकार कहे गये हैं – १. विप्रकरण, २. प्रियकरण, ३. वारितवामता, ४. कामचार, ५. शाठ्य, ६. प्रतारण, ७. खण्डन, ८ अवज्ञा, ९. अकृतज्ञता, १० सपत्नीनामग्रहण, ११, गोत्रस्खलन तथा १२ अकृतज्ञता (अकृतज्ञता की पुनरुक्ति हुई है) इनके उदाहरण भी दिये गए हैं ।

मानोपलक्षण ये हैं जिनका सोदाहरण निरूपण हुआ है –१ अवज्ञान,२ अत्यादर, ३. विकृतवीक्षण, ४. अनालोक ५. असम्भाषण, ६. वाक्पारुष्य, ७. अभ्रूद्गम, ८. दीर्घनिश्वास, ९. विलक्षणस्मित, १० . अनालोक, ५. असम्भाषण, ६. वाक्पारुष्य, ७. अभूत ११. अत्यन्तानुकूल्य तथा १२. प्रसाधन-अग्रहण ।

फिर ये मानोद्दीपन विवेचित हुए हैं – १. वयस्यावाक्य, २. विपक्षसन्निधि ३. सखीवैलक्ष्य, ४. सपत्नी-उपहास, ५. सौभाग्यदर्शन, ६. दाक्षिण्योक्ति, ७. अत्यन्तोपेक्षा, ८. दृष्टव्य,प्रलाप, ९. अपराधस्मरण, १०. विपक्षानुकम्पा, ११. आद्रापराधता तथा १२. प्रियानुनय । इन सबके उदाहरण भी दिये गये हैं ।

मान-विलास में मान किये हुई नायिका की विभिन्न वक्रोक्तियों का विवेचन किया गया है ।

मान-मोट्टायित– अतिकटु मानविलास ही मान-मोट्टायित कहा गया है– 'विलास एव काक्वादिना अतिवक्रो मानमोट्टायितम् ।'

मान-सुखानुभव ६ प्रकार के कहे गये हैं – १. बहुमत, २. जिघृक्षित, ३. अनुबन्ध, ४. रचित, ५. उपद्रुत, ६. विद्रुत ।

फिर मानोपशान्तिकारणों का निरूपण किया है ।

तदनन्तर मानोपाधिभङ्ग विवेचित हुए हैं । उपाधियां ये हैं – १. अंग, २. चक्षुष, ३. चित्त, ४. चाटु, ५. धैर्य ६. कार्य ७. शक्ति, ८. आकार, ९. देश, १०. काल, ११. पात्र तथा १२ संज्ञा ।

फिर ये मानभङ्गकारण विवेचित हुए हैं –१. मद, २. त्रास , ३. भय

अभ्युपगम, ५. उपवनविहार, ६. सुरभिवनवात, ७. कोकिलालाप, ८. प्रभात, ६. प्रदोष, १०. चन्द्रोदय, ११. प्रवासारम्भ तथा १२. विविक्त । इनको एक पद्य में भी दिया गया है ।

मानोपशान्तियों का निरूपण (सोदाहरण) इस क्रम से हुआ है — १. विरोधि प्रादुर्भाव, २. प्रतिपक्ष-अभियोग, ३. प्रत्यनीक-धर्षणा, ४. विपदा अभिभव, ५. परिभ्रंश, ६. अवध्रंसन, ७. स्खलन, ८. विघट्टन, ६. उन्मूलन, १०. पलायन तथा ११ पुनर्भाव ।

मानोपशमलक्षण इस प्रकार है —

१. नयन-निमीलन, २. मुख-प्रसाद, ३. बाष्प-मोक्ष, ४. पुलकोद्भेद, ५. रोषप्रतिभेद, ६. आत्मनिन्दा, ७. मनोजुगुप्सा, ८. मानानुशय, ६. मानयोग्य(?) १०. मानानुयोग । भोज ने इनके उदाहरण भी दिये हैं ।

मानभङ्गोपाधियाँ इस प्रकार हैं —१. निद्रा, २मद, ३. त्रास, ४. भय, ५. अज्ञान, ६. प्रसंग, ७. प्रमाद, ८. देश, ६. काल १०. कार्य, ११ पात्र, १२. सुप्त इत्यादि ।

फिर मानानुभवसौख्य ये हैं — १. पादपतन, २. प्रसह्याश्लेष, ३. हठकचग्रह, ४. चुम्बनबलात्कार, ५. प्रियप्रणयोक्ति, ६. उपालम्भासूक्ति, ७. स्नेहपरीक्षा, ८. विपदाअभिभव, ६. सखी श्लाघा, १०. बन्धुबहुमान, ११. लाभ-विशेष तथा १२. शृंगारवृद्धि ।

प्रवास विप्रलम्भ निरूपण—

इकतीसवें प्रकाश में भोजने तीसरे प्रकार के विप्रलम्भ 'प्रवास' का सांगोपांग निरूपण किया है । मान के पश्चात् तथा करुणा के पूर्व इसकी स्थिति है । प्रेम की रागवर्धनता तथा विचित्रता भी इसकी इसी क्रम में पड़ती है ।

विप्रलम्भ के पूर्वराग आदि चारों भेदों में मन की चार प्रकार की विभिन्न दशायें या अवस्थायें भी होती हैं —१. विक्षेप, २. विकास, ३. संकोच तथा ४. संक्षेप।

फिर प्रवास का लक्षण दिया गया है । इस प्रवास के तीन प्रधान प्रकार होते हैं —१. दैवकृत, २. धर्मकृत तथा ३. अर्थकृत । तदनन्तर प्रवास के सामान्य एवं विशिष्ट दृष्टि से, ५२ भेद माने गये हैं । उनमें सामान्यभेद तो चौबीस हैं — १. भूतपूर्व, २. अभूतपूर्व, ३. साधारण, ४. असाधारण, ५. सज्जराग, ६. विस्रब्धराग , ७. प्राप्तसमय, ८. अप्राप्तसमय, ६. सप्रतिविधान, १०. निष्प्रतिविधान , ११. सन्निकृष्ट,

१२. विप्रकृष्ट, १३. सावधि, १४. निरवधि, १५. अल्पकाल, १६. दीर्घकाल; १७ संसृष्ट, १८. असंसृष्ट, १९. प्रकाशकृत, २०. प्रच्छन्नकृत, २१. सोपसंहार, २२. निरुपसंहार, २३. नायिकानिमित्त तथा २४. नायककृत ।

और विशेष भेद २८ —

चार प्रकार के दैवकृत — १. शाप, २. पाप, ३. सम्भ्रम तथा ४. विभ्रम ।

,, धर्मकृत — १. साभिप्राय, २. निरभिप्राय, ३. सानुताप तथा ४ — निरनुताप

,, अर्थकृत — १. साभ्यनुज्ञा २. निरभ्यनुज्ञा, ३. सोपधान तथा ४. निरुपधान

फिर ,, दैवधर्मापन्न—१. प्रकृतिस्थ, २. कोमल, ३. कठोर, तथा ४. परिणत ।

,, दैवार्थापन्न—१. ग्राम्य, २. नागर, ३. उपनागर तथा ४. विप्रकीर्ण ।

,, धर्मार्थापन्न—१. हित, २. अहित, ३. सुख तथा ४. दुःख ।

,, दैवार्थापन्न—१. विवृत, २. आयत, ३. त्र्यस्त्र एवं ४. चतुरस्त्र ।

और इन सब के उदाहरण भी दिये गये हैं । भोज ने प्रवास के इन ५२ भेदों में प्रत्येक की तीन क्रमशः अवस्थाएं (स्कन्ध) बताई हैं —

१. प्राप्ति (प्रारम्भ), २. व्याप्ति तथा ३. समाप्ति ।

फिर इन तीनों अवस्थाओं में प्रत्येक के आठ प्रकाण्ड किये हैं —

प्राप्तिस्कन्ध की ये अवस्थाएं हैं —

१. प्रवासाशङ्का — अर्थात् प्रियविप्रयोगसंभावना ।

२. प्रवासारम्भ —नायकका प्रियापरित्याग ।

३. प्रिय-प्रस्थान— नायकका घर से बाहर निकलना ।

४. प्रियानुगम — सीमान्त तक प्रिया द्वारा प्रेमवश अनुगमन ।

५. प्रियाप्रश्न— बिदा के समय के वचन, आलिंगनादि

६. प्रतिनिवृत्ति —प्रिय की विदाई के अनन्तर प्रिया का वापस आना

७. प्रवासचर्या —प्रिया का विरह (प्रोषितपतिका रूप में)। इसमें जीवनचर्या — का निरूपण भोज ने इस प्रकार सविस्तर किया है —

देश—स्वकीय, परकीय, स्वकीय-परकीय, अनुभय

काल—साधारण, असाधारण, उल्लेखवान्, अनुल्लेख

कार्य—सामान्यवत्, विशेषवत्, नित्य तथा नैमित्तिक

पात्र—उत्तमादिक, उदात्तादिक, मुग्धादिक, तथा धीरादिक

औचित्य—जाति, क्रिया, गुण, तथा द्रव्य द्वारा

शक्ति—औत्साहिकी, वैशिकी, साहायिकी तथा दैविकी

साधन – उपादान, हेतु, करण एवं अधिकरण

उपाय– स्वाभाविक, प्रायत्निक, सार्वलौकिक तथा यादृच्छिक। सबके उदाहरण भी दिये गए हैं।

८. प्रवासवृत्तान्त : –यद्यपि यह प्रवासचर्या ही है किन्तु प्रवासचर्या के ही देशकाल आदि वस्तुओं की दूसरी दृष्टि से व्याख्यान करने के लिए इसे पृथक् ही रक्खा है। इसमें देश है–ग्राम्य, २. आरण्य तथा ३. साधारण।

काल –१. उपक्रान्त, २. प्रक्रान्त, ३. व्यतिक्रान्त

कार्य–१. निर्वर्त्यवृत्ति आदि।

पात्र–१ उत्तम, २. मध्यम तथा ३. कनिष्ठ

औचित्य–१. स्नेह, २. उद्योग तथा ३. औत्सुक्य सम्बन्धी।

इसमें शक्ति, साधन तथा उपाय का अभाव कहा गया है।

फिर व्याप्तिस्कन्धप्रकाण्ड का विवेचन होता है - जिसमें आठ प्रकाण्ड ये हैं–

१. विमुक्तस्वरूप

२. वियुक्तावस्था [1]।

३. विरहोद्दीपन–देश, २. देशचिह्न, ३. काल, ४. कालचिह्न, ५. वस्तु, ६. वस्तुचिह्न, ७. कार्य तथा ८. कार्यचिह्न। ये आठ हैं। अन्य प्रकार से विरहोद्दीपन ये हैं –१. स्मरण, २. इच्छा, ३. द्वेष, ४. प्रयत्न, ५. चितारम्भ, ६. वागारम्भ आदि। इनमें से प्रत्येक के फिर भेदोपभेद हैं तथा सबके उदाहरण दिए गए हैं।

४. विरहप्रतीकार

५. सहायाश्वासन

६. सहायोपालम्भ

७. उत्कण्ठाविनोद

८. सन्देशदान–पत्रादिलिखना आदि का विवेचन होता है।

इसके अनन्तर समाप्तिस्कन्ध के आठकाण्ड कहे गये हैं –

१. प्रवृत्त्यागम, २. प्रवृत्तिपरिप्रश्न, ३. अवधिप्रतीक्षा, ४. मार्गोदीक्षण, ५. दैवनिमित्तशकुनोपश्रुति, ६. सुस्वप्नदर्शन, ७. सुनिमित्यनुभव तथा ८. प्रियप्रत्यागम। फिर इनके उपभेदों तथा उदाहरणों का विवेचन हुआ है।

---

१. मनसि चिन्ता, अनुस्मरणं च, दृशिप्रजागरः विषयव्यावृत्तिश्च, वक्त्रे लज्जाप्रणाशः उन्मादश्च, वाचि गुणकीर्तनम् विलापश्च, वपुषि कार्श्यव्याधिश्च, चेष्टायां जाड्यं

करुणाविप्रलम्भनिरूपण—

बत्तीसवें प्रकाश के प्रारम्भ में एक बार फिर काम शृङ्गार की तथा उसके सम्भोग एवं प विप्रलम्भ पक्षों की चर्चा की गयी है(और यह पुनरुक्ति नवीं बार यहाँ हुई है)करुणाविप्रलम्भ की परिभाषा तथा विवेचन के साथ कष्टमय भी उसके प्रेमतत्व मे स्थान का निरूपण किया है ।[१]

करुणाविप्रलम्भ तथा शोक में कुछ इस प्रकार भेद प्रतिपादित किया गया है—

करुण विप्र	शोक
रत्येकहेतु	प्रीतिदयाद्यनेकहेतु
पुनःसंगमफल	अपुनःसंगमफल
स्त्रीपुंसविषय	अस्त्रीपुंसविषय
सप्रत्याशारूप	निष्प्रत्याशारूप

करुणाविप्रलम्भ के बारह प्रकार बताये गये हैं, जो सभी आश्रय की दृष्टि से किए गए हैं—दैव-आश्रय, पुरुष-आश्रय, देशआश्रय, काल-आश्रय, स्वरूप आश्रय, परिमाणआश्रय अनुरागआश्रय, सम्भोगआश्रय, विप्रलम्भआश्रय, नायकआश्रय तथा नायिकाआश्रय । फिर इनके और उपभेदों का तथा उदाहरणों का विवेचन हुआ है ।

करुण के विवेचन में अनुभावों का सर्वाधिक महत्त्व है । भोज ने करुण के अस्सी अनुभाव गिनाये हैं । उन्होंने नाटक की मुख,प्रतिमुख आदि पांच सन्धियों को ही करुण की पांच क्रमिक अवस्थायें बताकर प्रत्येक के १६ भेद किये हैं । वे इस प्रकार हैं—

करुण की मुख-अवस्था के :—१. व्यसनाभिघात, २. अङ्गाभिभव, ३. चेष्टा, सम्मीलन, ४. मोहसमावेश , ५. चेतनाप्रत्यागम, ६. मूर्च्छाविच्छेद, ७. शोक-प्रत्यग्रता, ८. शोकावेग, ९. दुःखनिर्यातन, १०. दुःखावसाद, ११. दुःखसन्दीपन, १२. दुःखव्यवहार, १३. दुःखातिवाहन, १४. बाष्पमोक्ष, १५. अवस्थानुभव, १६. अवस्थान्तरावेश ।

प्रतिमुख अवस्था के :— १. परिदेवन, २. अनुशोचन, ३. गुणसंस्मरण, ४. स्वभाग्यगर्हण, ५. विलाप, ६. प्रलाप, ७. प्रविलाप, ८. आत्मनिन्दा, ९. हृदयोपालम्भ, १०. जीवितजुगुप्सा, ११. दैवधिक्कार, १२. शोकोन्माद, १३. दुःखसम्भेद,

---

१. कः पुनरयं करुणो नाम १ —कुपितकामिनीपार्ष्णिप्रहार इव(अ)सुकुमारो पि रागिणाम्, तिमिराभिसारिका-वेष इव मलीमसो पि चौर्यरतरुचीनाम् अतीव अनुरज्यते मनः प्रेमसामयिकानाम् ।

१४. सहायापेक्षण, १५. सहायानुनीति,१६ (?)

गर्भ-अवस्था के :— १. सुहृत्परिदेवन, २. सुहृत्प्रलाप, ३. परिजनानुशोचन ४. परिजनाक्रन्द, ५. गुरुपरोदन, ६. गुरुजनविलाप, ७. सहायाक्रन्दन, ८. सहायाभ्युपपत्ति, ९. सहायभाषण, १०. सहायप्रश्न, ११. साहसाग्रह, १२. मरणाभिनिवेश, १३. सहायाभ्यर्थन, १४. सहायशिक्षा, १५. मरणोपक्रम तथा १६. मरणाध्यवसाय।

विमर्श के :— १. समाश्वासन, २. उद्धर्षण, ३. प्रतिबोधन, ४. उत्साहन, ५. अनुकम्पन, ६. विप्रलम्भण, ७. प्रलोभन, ८. उपपत्तिदर्शन, ९. प्रश्वासन, १०. सत्यापन, ११. प्रत्यापन, १२. आप्यायन, १३. तन्मतव्याक्षेप, १४. भयोपदर्शन, १५. उपालम्भन, १६. प्रतिकोप।

और निर्वहण के :—१. मरणाध्यवसायविद्रव, २. शोकतिरस्कार, ३. शोकलाघव, ४. शोकविनोद, ५. तपस्योद्वेग, ६. दैवसम्प्रयोग, ७. त्रिकालदृष्टदर्शन, ८. तदुपदेश, ९. सहायस्वीकरण, १०. तदध्यवसाय, ११. प्रत्यूहशमन, १२. प्रत्याशानुबन्ध, १३. समयप्रतीक्षा, १४. संविधानकप्रकार, १५. प्रत्युज्जीवन तथा १६. पुनःसमागम।

फिर इन सबके उदाहरण भी दिये गये हैं।

सम्भोगशृङ्गारनिरूपण—

तैतीसवें प्रकाश से सम्भोगशृङ्गार का विवेचन चलता है। भोज ने, अपनी शैली के अनुसार प्रायः शब्दों की व्याकरणात्मक निरुक्ति करके विस्तृत अर्थ-व्याख्यान किया है क्योंकि वे वैयाकरण भी जो उच्चकोटि के थे। सम्भोग शब्द की निरुक्ति कुछ इस प्रकार से की गयी है —इसमें भुज् धातु तथा 'सम्' उपसर्ग है और अन्त में 'घञ्' प्रत्यय जुड़ता है। इस प्रकार इस शब्द की निष्पत्ति में तीन अंश हैं — १. उपसर्ग, २. धातु तथा ३. प्रत्यय। और इन तीनों में धातु का अपना चार-चार प्रकार का अर्थ है। 'भुज्' (विभिन्नगणों में) धातु चार अर्थों में प्रयुक्त होती है --पालन, २. कौटिल्य, ३. अभ्यवहार (भोजन) तथा ४. अनुभव[1]। 'सम्' उपसर्ग भी चार अर्थों को द्योतित करता है —१. संक्षेप, २. सङ्कर, ३. सम्पूर्ण तथा ४. सम्यक्[2]। इसके लिए भोज ने

---

१. भुजिःपालन कौटिल्याभ्यवहारानुभूतिषु

भुनक्तिभुग्नो भुंक्ते न्नं भुंक्ते सुखमितीष्यते ।। स०क०५।

२. समा समासे चत्वारो विशेषास्तमुपासते।

संक्षिप्तो य्य संकीर्णः सम्पूर्णः सम्यगृद्धिमान्। स०क० ५।८३-८४

पाणिनि से प्रमाण भी उद्धृत किये हैं । इसी प्रकार प्रत्यय भाग (घञ् तथा सुप्) के आठ अर्थ निष्पन्न होते हैं —१. भाव, १. हेतु तथा ६ कारकों के ।[१] फिर प्रत्ययोत्पत्तिकाल के भी आठ अर्थ हैं —१. भूत, २. वर्तमान, ३. भविष्यत्, ४. व्यक्त, ५. भूतिविशेष, ६. वर्तमानविशेष, ७. भविष्यद्विशेष, ८. व्यक्तविशेष । इन सबके उदाहरण प्राय: पशु,पक्षी, वृक्ष आदि नायकाभासों से सम्बन्धित दिये गये हैं । और इस विषय में उन्हें महाकविकालिदास के कुमारसम्भव तृतीयसर्ग से विपुल उदाहरण मिल गये, जिन पर भोज ने अपनी सुन्दर समीक्षायें भी प्रस्तुत की हैं ।[२] इसप्रकार भोज ने तिर्यक्-सम्भोग के रूप में सामान्य सम्भोग का विवेचन किया है ।

तदनन्तर उन्होंने नागरिकसम्भोग या विशेष-सम्भोग का विवेचन किया है । सम्भोग के स्थायी आदि का विचार तो उन्होंने पहिले ही कर दिया था । सम्भोगचार प्रकार का होता है — विप्रलम्भ के चारों प्रकारों में प्रत्येक के पश्चात् एक प्रकारकासम्भोग बताया गया है । हर एक प्रकार के वियोग का अवसान संयोग में ही तो होता है । अत: पहिले वियोग तब संयोग । नहीं तो क्या संयोग और क्या वियोग ?

फिर भोज ने धातु-उपसर्ग के अर्थों का विवेचन करते हुए चार विप्रलम्भों के अनन्तर होने वाले चारों सम्भोगों का उन-उन वैशिष्ट्यों सहित विवेचन किया है । और यह तथ्यत: ठीक है कि पूर्वानुराग के अनन्तर होने वाले भोग में संक्षेप और पालन का भाव रहता है ।[३] मान के अनन्तर होने वाले मेसङ्कर एवं कौटिल्य

---

१. ततो घ प्रत्यये सति ।
भावे वा कारके वापि रूपं संभोग इष्यते ।। स०क० ५।७२

२. सैषा पालनकौटिल्याभ्यवहारानुभूतिभि: ।
दर्शिता कालिदासेन प्रेमप्रस्थान-पद्धति: ।।

३. सपालनार्थ: पूर्वानुरागानन्तर उच्यते ।
उत्पन्नाहि रतिस्तस्मिन्नानुकूल्येनपाल्यते ।। स०क० ५।७६
नवेहि संगमे प्रायो युवान: साध्वसादिभि:
संक्षिप्तानेव रत्यर्थमुपचारान् प्रयुञ्जते ।। स०क० ५।८५

रहता है ।[1] प्रवास के अनन्तर होने वाले में सम्पूर्ण तथा अभ्यवहार[2], और सम्यक् तथा अनुभव का भाव करुणा के अनन्तर होने वाले सम्भोग में होता है ।[3]

फिर उन्होंने इन पालन, कौटिल्य, अभ्यवहार एवं अनुभव के प्रकार बताये हैं—

पालन— १. लब्ध-परिरक्षण, २. रक्षित-विवर्धन, ३. विवृद्धोपभोग, ४. अलब्धप्रतीक्षा

कौटिल्य—१. वैपरीत्य, २. वैयात्य, ३. वैदग्ध तथा ४ वैचित्र्य ।

अभ्यवहार—१. श्रद्धा, २. नितान्त- आसक्ति, ३. पर्याप्तता तथा ४. कृतार्थत्व ।

अनुभव— १. सम्यग्ज्ञान, २. प्रियाध्यवसाय, ३. कार्यानुष्ठान तथा ४. फलाधिगम ।

फिर भोज ने बताया है कि ये पालन आदि वस्तुत: सब प्रेम की विभिन्न क्रमिक अवस्थायें हैं, जिनसे होकर वह प्रारम्भ होता है पनपता है, तथा अन्त में पूर्णता को प्राप्त करता है । इस विषय में पूर्वनिरूपित नायक-नायिकाओं से सम्बन्धित उदाहरण भी दिये गये हैं । तथा प्रेरा शृङ्गारप्रकाश के चौंतीसवें प्रकाश में प्रथमानुराग के अनुसार

---

१. समानान्तरं प्राप्त: कौटिल्यार्थं विगाहते ।
स्वस्तो पि कुटिलप्रेम किं नु मानान्व्ययेसति ।। स०क० ५।८०
मानस्यानन्तरे तेषां व्यलीकस्मरणादिभि:
रोषशेषानुसन्धानात् संकर:कैनवार्यते ।। स०क० ५।८६

२. प्रवासानन्तरे तस्याभ्यव्हारार्थे-ष्यते
तत्र ह्युपोषितैरन्नमिव निर्विश्यते रति: ।
संपूर्ण: पूर्णकामानां कामिनां प्रोष्यसंगमे ।
उत्कण्ठितानां भूयिष्ठमुपभोग: प्रवर्तते ।। स०क० ५।८७

३. करुणानन्तरगतो नुभवार्थ:सकथ्यते
विप्रम्भवद्भिरस्मिन्हि सुखमेवानुभूयते ।। स०क० ।५।८२
प्रत्यागते पि यत्रैषा रतिपुष्टि: प्रियेजने
सा किमावर्ण्यते यूनां तत्रैवमृतजीविते ।। स०क० ५।८८

होने वाले सम्भोग का वर्णन हुआ है । सरस्वतीकण्ठाभरण में भोज ने संभोग के स्वरूप के विवेचन के पश्चात् उसे चार प्रकार का बताया है — १. प्रथमानुरागानन्तर, २. मानानन्तर, ३. प्रवासानन्तर तथा ४. करुणानन्तर । पहिले तो सम्भोग का व्याख्यान किया है फिर इस प्रथम प्रकार के संभोग के इन ६४. अंगों का (भोज को यह ६४ संख्या बहुत प्रिय है भी) विवेचन सोदाहरण किया है — १. विस्रम्भण, २. प्रेक्षणोदीक्षण, ३. परिहार, ४. परिहारविलास, ५. कन्दुक क्रीड़ा, ६. केलिद्यूत, ७. ऋतुपथ,— ११ वार) १२. समायात, १३. कालावस्थानुभव, १४. पूर्वाह्णिक, १५. मध्याह्णिक, १६. अपराह्णिक, १७. अस्तमय, १८. सन्ध्यातमस, १९. चन्द्रोदय, २०. ज्योत्स्ना, २१. प्रादोषिक, २२. निशीथ, २३. रात्रिपरावृत्ति २४. प्राभातिक, २५. वनविहारगमन, २६. वनविहार, २७. पुष्पावचय, २८. श्रमानुभव, २९. प्रच्छायादिसेवा, ३०. जलक्रीडा, ३१. नेपथ्यप्रयोग, ३२. क्रीडापर्वतविहार, ३३. एकशाल्मली, ३४. नवलतिका, ३५. पांचालानुयान, ३६. नवपत्रिका, ३७. कदम्बयुद्ध, ३८. बिसखादिका, ३९ इन्द्रोत्सव ४०. कौमुदीप्रचार, ४१. यक्षरात्रि, ४२. अष्टमीचन्द्रक, ४३. कुन्दचतुर्थी, ४४. सुवसन्त, ४५. सहकारभञ्जिका, ४६. दोलाविलास, ४७. उदकक्ष्वेडिका, ४८. मदनोत्सव, ४९. गृहप्रत्यागमन, ५०. सहायव्यापार, ५२. प्रसाधनप्रश्न, ५२. गोष्ठीविहार, ५३. वासगृहोपागमन, ५४. अभिसारिकाप्रतीक्षण, ५५. दूतीविसर्जन, ५६. स्वयं वा गमन, ५७. आगतोपचार ५८. परिचरण, ५९. विसर्जन, ६०. कञ्चुकादिमोक्ष, ६१. रतारम्भ, ६२. रत, ६३. रतावसान तथा ६४. निद्रानुभव । सरस्वतीकण्ठाभरण में इनमें से कुछ को 'प्रकीर्ण' नाम से उल्लिखित किया गया है[1]। इनमें सातवें से बारहवें तक के छः अंग विनष्ट हो गये हैं । शेष ५८ के दो या तीन या किसी किसी के चार - चार भेदों के उदाहरण तक दिये गये हैं ।

पैंतीसवें प्रकाश में ही भोज ने शेष तीनों प्रकार के सम्भोगों को एक साथ कह दिया है । उचित तो यह था कि जैसे प्रथम प्रकार के लिए एक पूरा प्रकाश दिया, वैसे ही इन तीनों का भी हिस्सा लगाते । किन्तु ऐसा समझ पड़ता है कि भरत के नाट्यशास्त्र की भाँति शृं०प्र० को भी भोज ने छत्तीस अध्यायों में ही सम्पन्न करने की योजना बना रक्खी थी । इधर बात बढ़ते बढ़ते चौंतीस प्रकाश तक समाप्त हो गया, अतः अब तीन को एक में

---

१. स०क० ५।६३—६६

समेट दिया । भोज को १२ संख्या तथा इसका पूरा पहाड़ा पसन्द था, अतः उनके विवेचन में इन्हीं संख्याओं को प्राधान्य रहता है । सरस्वतीकण्ठाभरण में ये विषय प्रायः नहीं ही हैं ।

यहाँ भोज ने पहिले तो मानानन्तर सम्भोग आदि शब्दों में पहिले की तरह समास आदि का विचार किया है[1]। फिर मान टूटने पर होने वाले इस संयोग में जो-जो वस्तुयें परिलक्षित होती हैं उनका हवाला इस प्रकार दिया है --
१. मानशैथिल्य, २. मानापगमलिंग, ३. मानापह्नव, ४. मानापगम, ५. प्ररोदन, ६. प्रियाभ्युपपत्ति, ७. मुधाप्रतिषेध , ८. परिसान्त्वन, ९. चित्रचाटूक्तियाँ, १०. स्खलितगोपन, ११. प्रणिपात, १२. प्रियोत्थापन, १३. अश्रुप्रमार्जन, १४. मानशेष, १५. अपराधस्मरण, १६. प्रेमवैमनस्य, १७. स्तनोत्कम्प, १८. निश्वसित, १९. स्वेद-रोमांच, २० कपोलोष्ठस्पन्दन, २१. मुखप्रसाद, २२. व्याजशपथ, २३. वक्रवीक्षित, २४. उपालम्भ, २५. प्रत्युत्तर, २६. अवज्ञा (ज्ञा) भ्रंश, २७. प्रेमाविर्भाव, २८. प्रेमालिंगन, २९. प्रियोपरोध, ३०- शृंगारवृद्धि, ३१. हठकचग्रह, ३२. प्रसह्योश्लेष ३३. पाणिताडन, ३४. पादाभिघात, ३५. दयितयातना, ३६. प्रत्यनुनय, ३७. प्रेमवैकृत, ३८. लज्जागम, ३९. मानरामणीयक, ४०. विस्रम्भसम्भाषण, ४१. मानासक्ति, ४२. मानप्रतिपादन, ४३. सखीपरिहास, ४४. मानानुशय, ४५, माननिन्दा ४६. मानानुचिन्तन, ४७. मानप्रध्वंस तथा ४८. मान-अपुनर्भव । ये ४८ अवस्थायें जिनसे होकर मान टूटता है । इन सबके दो या अधिक उदाहरण दिये गये हैं ।

प्रवासानन्तर पद के समास आदि विषयों के विचार के[2] पश्चात् प्रिय की प्रवास स्थिति के समाचार सन्देश का उल्लेख प्रत्येकके दो- दो उदाहरणों के साथ किया

---

१. (मानान्तरे इति) कः पुनरत्र समासः ? षष्ठीतत्पुरुष एव, का वृत्तिः ? प्रथमानुरागानन्तरवद्अजहत्स्वार्था । युक्तं तत्र विस्रम्भणादावपिप्रथमानुरागस्य विद्यमानत्वात्, इहतुमाननिवृत्तौमानापगमादयो जायन्ते । अन्वयाद् विशेषणं भविष्यति । तद्यथाघृतघटस्तैलघटइति निषिक्ते पि घृते तैले वा घृतघटो यं तैलघटो यमित्यन्वयात् पूर्वपदार्थो विशेषणं भवति । भवति तत्र या च यावती चार्थ मात्रा । इहापि तत्तुल्यमेव ।स०क०पृ०६५६
२. कः पुनरत्रसमासः? षष्ठी तत्पुरुष एवं । का वृत्तिः? न तावदनुत्सृष्टस्वार्था नहि प्रोष्यसमागतयोः प्रवाससम्बन्धो पि विद्यते । उत्सृष्टस्वार्था तदिह भवतु युक्तं पुनर्यदुत्सृष्टस्वार्थानामवृत्तिः स्यात् । बाढं युक्तम् । एवं हिदृश्यते लोके पुरुषो यं परकर्मणि प्रवर्तमानः स्वकर्मोत्सृजति । तद्यथा तक्षा राजकर्मणिप्रवर्तमानस्तक्षकर्मोत्सृजति ।` इत्यादि ।)

गया है। वे अवस्थायें इस प्रकार हैं —१. प्रियागमनवार्ता, २. प्रियसखीवाक्य, ३. दिष्ट्या वृद्धि, ४. प्रीत्यादि, ५. सम्भ्रम, ६. अभ्युत्थान, ७. प्रियाभ्यागम, ८. सन्दर्शन, ९. प्रियाभ्युपपत्ति, १०. परिजनप्रमोद, ११. मंगलसंविधान, १२. मन:प्रहर्ष, १३. उत्सव, १४. भवनप्रतिसंस्कार, १५. काश्यादुपलम्भ, १६. प्रहर्षापिचय, १७. प्रेमपुष्टि, १८. प्रसाधन ग्रहण, १९. वृत्तानुस्मरण, २०. अवस्थानिवेदन, २१. दु:खादिपरिप्रश्न, २२. देशसम्पदुपवर्णन, २३. स्वदु:खसंकीर्तन तथा २४. शृङ्गारवृद्धि।

फिर इस प्रसंग का अवसान तथा अग्रिम प्रसंग की अवतारणा करते हुए भोज कहते हैं —

प्रासानन्तरो ह्येष क्रोग: समुदाहृत:।

करुणानन्तरस्याथ प्रपञ्च: परिकीर्त्यते ॥

तदनन्तर पहिले करुणानन्तर[1] —क: पद में समास आदि की मीमांसा की फिर करुणविप्रलम्भ के बाद से पुन: प्राप्ति तक की २४ अवस्थाओं का निरूपण किया जो इस प्रकार है —

१. प्रियसन्दर्शन, २. सम्भ्रमाकुलता, ३. प्रमोदवृद्धि, ४. चित्तविस्मय, ५. प्रियाभिभाषण, ६. जीवितेऽपि लज्जा, ७. प्रियोपच्छन्दन, ८. सुहृदपेक्षा, ९. वृत्तान्तकथन, १०. विस्रम्भोत्पत्ति, ११. इतिकर्तव्ययोग, १२. बान्धवागम, १३. प्रियजनाभ्युपपत्ति, १४. गुरुजनस्नेह, १५. नातिअभिनन्दन, १६. भाग्यप्रशंसा, १७. नेपथ्यादिग्रहण, १८. पुरप्रवेश, १९. नागरिकक्षोभ, २० गृहोपगमन, २१. उत्सवानुभव, २२. दयितसाक्ष्य, २३. शृङ्गारपुष्टि तथा २४. सौख्यपरम्परा, इनमें भी प्रत्येक के दो-दो उदाहरण दिये गये हैं। और अन्त में इस विप्रलम्भप्रकरण का सामान्य रूप से उपसंहार करते हुए भोज कहते हैं —

इतिगदितमशेषं विप्रलम्भस्वरूपोऽपि तनिजसमृद्धे: साध्यशृंगारनाम्न:।

रतिसमुदयरूपं जीवितं पुष्पकेतो: निवसतु सुकवीनां सर्वदामानसेषु ॥

---

[1] क: पुनरत्र समास: ? षष्ठीतत्पुरुष एव। का वृत्ति: ? जहत्स्वार्था। न ह्यत्र करुणार्थस्य गन्धोऽपि। कथं तर्ह्यन्वय: यथा मल्लिकापुट: चम्पकपुट इत्यत्र नि:क्षीणास्वपि सुमन:सु मल्लिकादि वासनावशाद् विशेषणं भवति— अयं मल्लिकापुटोऽयं चम्पकपुट इति, एवं निवृत्तेऽपि स्वार्थे वासना-वशात् करुणानन्तरस्य विशेषणं भवति।)

फिर शृङ्गारप्रकाश के अन्तिम अध्याय , छत्तीसवें प्रकाश में पूर्व के अध्यायों में जिन चार प्रकार के सम्भोगों का वर्णन किया गया है, उनकी भी चार अवस्थाएं बताई गयी हैं जो इस प्रकार हैं —१. सत्ता, २. अभिव्यक्ति, ३. अनुबन्ध तथा ४. प्रकर्ष ।

नायक-नायिका के मिलन पर रति स्थायीभाव के प्रारम्भ मात्र को 'सत्ता' अवस्था कहा गया है ।

'अभिव्यक्ति' वह अवस्था है, जिसमें इस रतिस्थायी का अपने विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव के साथ संयोग होता है ।

'अनुबन्ध' वह अवस्था है जिसमें अभिव्यक्त रति का नैरन्तर्य चलता है और जिसमें तदनुकूल वस्तुओं का संग्रह तथा प्रतिकूल का परित्याग होता है ।

'प्रकर्ष ' वह अवस्था है जब रति भाव की परिणति शृङ्गार रस के रूप में हो जाती है । इन चार अवस्थाओं में 'सम् ' उपसर्ग के चारों अर्थ भी क्रमशः गोचर होते हैं —' सत्ता' में भोग संक्षिप्त होता है इसी प्रकार अभिव्यक्ति में 'संकीर्ण' 'अनुबन्ध' में सम्पूर्ण तथा 'प्रकर्ष' में सम्यक् होता है ।

तदनन्तर यहां सम्भोग के पूर्वोल्लिखित 'सामान्य' एवं 'विशेष' रूपों का सोदाहरण पुनरुल्लेख किया गया है । पहिले सामान्य का विवेचन हुआ है फिर विशेष का । विशेष के संक्षिप्त, संकीर्ण, सम्पूर्ण तथा सम्यक अवस्थाओं में प्रत्येक के १२ भेद होते हैं — जैसे 'सत्ता' के संक्षिप्त अवस्था में १२ प्रकार के राग होते हैं - सात्त्विक नायक के चार प्रकार के राग —१. हरिद्राराग, २. रोचनराग, ३. काम्पिल्यराग तथा ४. रीतिराग ।

(२) रजोगुण के नायक के चार राग—१. कुसुम्भराग, २. लाक्षाराग, ३. अक्षीव-राग तथा ४. माञ्जिष्ठराग ।

(३) तामसनायक के चार राग — १. कर्दमराग, २. कषायराग, ३. सक्लराग, तथा ४. नीलीराग ।

फिर, अभिव्यक्ति तथा संकीर्ण में प्रेम के बारह प्रकार होते हैं — १. आवृतव्याज, २. अनुवृतव्याज, ३. परिणतव्याज, ४. अध्याहृतव्याज, ५. कृत्रिम-व्याज , ६. अपेक्षितव्याज, ७. अन्तरव्याज, ८. बहिर्व्याज, ६. उभयव्याज, १०. बहुव्याज, ११. निर्व्याज तथा १२. सर्वव्याज—इनके उदाहरण भी दिये गये हैं ।

अनुबन्ध तथा सम्पूर्ण में भी प्रेम के १२ प्रकार होते हैं —१. धनानुबन्ध, २. अर्थानुबन्ध, ३. धर्मानुबन्ध, ४. अधमार्थी ---------------
इसका शेष अंश विनष्ट हो चुका है। साथ ही प्रकर्ष और सम्यक् अवस्था का भी प्रेमप्रकारविनष्ट हो गया है। ये प्रकार 'प्रेमपाक' कहे गये हैं। आगे जो अंश सुरक्षित है उसमें पिचुमन्दपाक, कपित्थपाक, क्रमुकपाक और खर्जूरपाक का उल्लेख हुआ है। जो संख्या में चार हैं। यहां शृङ्गारप्रकाश का जो अंश विनष्ट हो गया उसकी पूर्ति स०क० के आधार पर कुछ इस प्रकार होती है कि वे मृद्वीकापाक नारिकेल पाक तथा आम्रपाक रहे होंगे। शेष पांच का तो वहां भी उल्लेख न होने से कुछ भी नहीं निर्दिष्ट किया जा सकता है।

इस प्रकार महाराज भोज अपने ग्रन्थ शृङ्गारप्रकाश की इस प्रसंग के साथ कामशृंगार की प्रशंसा करते हुए इन शब्दों के साथ समाप्ति करते हैं —

तदेतत्काव्यसर्वस्वं तदेतत् काव्यजीवितम्
य एष द्विप्रकारोऽपि रसः शृंगारसंज्ञकः ।।

मम्मट ने शृङ्गार के दो प्रधान भेद सम्भोग तथा विप्रलम्भ माने हैं। उन्होंने ध्वनिकार के अनुसार सम्भोग प्रकार की अनन्तता मानते हुए भी उसे एक ही नाम से अभिहित किया है।

फिर मम्मट ने विप्रलम्भ को पांच प्रकार का बताया—१. अभिलाष, २. विरह, ३. ईर्ष्या, ४. प्रवास तथा ५. शाप रूप हेतुओं से[1]। यहां उनका विवेचन विप्रलम्भ के हेतुओं की दृष्टि से हुआ है। अतः इनको क्रमिक भी नहीं समझना चाहिए किसी अवस्था में इनमें से कोई विप्रलम्भ हो सकता है और इस दृष्टि से विभाग वस्तुतः अत्यन्त मनोवैज्ञानिक हुआ है। और यदि पूर्वराग आदि प्रसिद्ध चार प्रकारों के साथ इन पांचों की समीक्षा की जाय तो प्रतीत होगा कि पूर्वराग के स्थान पर अभिलाष हो सकता है। मान के स्थान पर ईर्ष्या, प्रवास कहा ही गया है। केवल इसमें विरह एक नवीन प्रकार है तथा करुण को हटा दिया गया है और शाप एक नया प्रकार सम्मिलित कर लिया गया है। करुण विप्रलम्भ शृङ्गार में प्रायः शाप एवं वरदान का तत्त्व अवश्य रहता है, अतः करुण न कह कर मम्मट ने

---

१. अपरस्तु अभिलाषविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पञ्चविधः। का०प्र०च०उ०।

ने शाप ही कहा। और यह उचित भी है। करुण शब्द के प्रयोग से व्यर्थ के लिए शोक-मूलक करुण रस के साथ भ्रम पैदा हो जाता है। फिर इनके सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं।

हेमचन्द्र ने शृङ्गार के संभोग विप्रलम्भ इन भेदों को उसी प्रकार का माना है जैसे गोत्व के शाबलेय, बाहुलेय भेद (शृङ्गारस्येमौभेदौ गोत्वस्येव शाबलेयबाहुलेयौ - का०अनु०)। आगे उन्होंने बताया है कि एक में दूसरे की सत्ता की चेतना बनी रहती है, बल्कि इसी के कारण वह वर्तमान दशा प्रिय होती है[1] अतएव हेमचन्द्र ने इन भेदों के भी लक्षण किए हैं -- जैसे संभोग वह है जिसमें प्रेमीजन लज्जादि से निषिद्ध होती हुई भी अपनी अभीष्ट दर्शनादिक्रियाओं का सम्यक् भोग करते हैं। यह सम्भोग सुखमय धृत्यादि व्यभिचारीभावों द्वारा रुचिमय बनता हुआ तथा रोमा चस्वेदादि वाचिक,कायिक,मानसिक व्यापार रूपी अनुभावों से युक्त होकर परस्परावलोकनालि-लिङ्गनचुम्बनादि अपरिमित भेदों वाला होता है -- (का०अनु०पृ०८४)

विप्रलम्भ उसे कहते हैं जिसमें सुखास्वाद के लोभसे आत्मा को विशेषरूप प्रलब्ध (वञ्चित) किया जाता है। इसमें शङ्का औत्सुक्यादि व्यभिचारी तथा संतापजागरादि अनुभाव होते हैं। विप्रलम्भ के हेमचन्द्र ने तीन ही भेद माने हैं -- अभिलाष, मान तथा प्रवासरूप[2]। उन्होंने करुणविप्रलम्भभेद नहीं माना है, उसे करुण ही कहा है [3]। इनमें अभिलाष भी दैवयोग से तथा परवश रूप से दो प्रकार का होता है[4]। प्रतिज्ञाभङ्ग के भय से भी जो संयोग नहीं हो पाता जैसे कादम्बरी का चन्द्रापीड के साथ, उसे भी पारवश्यज ही (अभिलाष) विप्रलम्भ कहेंगे[5]। प्रणय और ईर्ष्या के कारण मानविप्रलम्भ होता है (प्रणयेर्ष्याभ्यांमान:) प्रेमपूर्वक वशीकरण को प्रणय कहते हैं उसके भङ्ग होने पर प्रणयमान है और वह भी स्त्री-पुरुष अथवा दोनों का होता है[6]।

---

१. अतएव तद्दशाद्वयमीलन एव सातिशयश्चमत्कार: -- का०अनु०, पृ० ८३

२. सच ...... द्विधा अभिलाषमानप्रवास भेदात -- का०अनु०, पृ० ८५

३. करुणविप्रलम्भस्तु करुण एव -- का०अनु०, पृ० ८५

४. दैवपारवश्याभ्यामाद्योद्वेधा -- का०अनु०, पृ० ८६

५ प्रतीज्ञाभङ्गभीत्यापि यो न सङ्ग:कादम्बर्याश्चन्द्रापीडेन, सो पि पारवश्यज एव। -- का०अनु०पृ० ८७

६. प्रेमपूर्वकोवशीकार: प्रणय:, तद्भङ्गे मान: प्रणयमान:। सच स्त्रिया: पुंस: उभयस्यवा -- का०अनु०, पृ० ८७

जबकि ईर्ष्यामानकेवल स्त्री का होता है ।[१] प्रवास कहते हैं दोनों प्रणायिमों का पृथक् पृथक् देश में स्थित होना ।[२] वह कार्य, शाप तथा संभ्रम के कारण होता है[३]। इनमें सम्भ्रम कहते हैं दैवी या मानुषी विप्लवों के कारण व्याकुलता को[४] ।

शृङ्गाररस के तीन प्रकार--

शारदातनय ने शृङ्गाररस को तीन प्रकार का बताया है -१. वाचिक, २. नैपथ्यात्मा (अर्थात् आङ्गिक) तथा ३. क्रियात्मा[५]। संसार में जिस भाव अर्थात् वस्तु अथवा पदार्थ के सम्बन्ध में जो रस उत्पन्न होता है उसे उसी के नाम से जाना जाता है ।[६]जिसमें भावपूर्ण, मधुर, नर्मपेशल, श्रवणों को आनन्दित करने वाले सुन्दर छन्द (सुवृत) हों उसमें वाचिक शृङ्गार माना जाता है ।[७] जिसमें यौवन-भूषित अंग,सुन्दरवस्त्र, अंगराग, आभूषण, एवं माल्य आदि से सुशोभित हों उसे आङ्गिक शृङ्गार कहते हैं[८] । जिसमें दन्तच्छेद्य, नखच्छेद्य, मणित, सीत्कार, चुम्बन, चूषण आदिभाव, हेला आदि केलियाँ स्तनाधरपानादि उपचार, संगीत आदि का आयोजन हो उस शृङ्गार को क्रियात्मक शृङ्गाररस कहते हैं[९]।

फिर धनञ्जय की भाँति शारदातनय ने भी शृङ्गाररस को तीन प्रकार का भी बताया है -- वियोग, २. अयोग तथा ३. संभोग[१०]।

---

१. ईर्ष्यामान: स्त्रीणामेव.... ।

२. प्रवासोभिन्नदेशत्वम् --का० अनु०

३. कार्यशापसंभ्रमैः प्रवास: --का० अनु०, पृ० ८८

४. सम्भ्रमो दिव्यमानुषविड्वरादुत्पातवातादिविप्लवात् परचक्रादिविप्लवाद्वा व्याकुलत्वम् ।
--का० अनु०

५. शृङ्गारो वाचिक: कश्चिन्नेपथ्यात्मा च कश्चन ।
क्रियात्मा कश्चिदित्येवं शृङ्गारस्त्रिविध:स्मृत: ।। ३।६४

६. येन येन च भावेन यादृशो जायते रस:। तत्तद्भावाख्यया सम्भिर्बोध्यते तादृशो रस: ।।

७. भावगर्भं रह: संवित् मधुरं नर्मपेशलम् ।
सुवृत्तं श्रवणानन्दि शृङ्गारोवाचिको मत: ।। ३।६४

८. वासो ङ्ग~~शृङ्गार कहते हैं~~ रागभूषाभिर्माल्यैर्युक्तं प्रसाधितम् ।
प्राप्तयौवनमङ्गं यच्छृङ्गार:स्यात् स आङ्गिक: ।। ३।६४

९. दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यं मणितं च ससीत्कृतम् ।
चुम्बनं चूषणं भावौ हेलादि: केल्यो पि च ।

अयोग शृङ्गार-

और इसमें सर्वप्रथम अयोग का लक्षण किया -विभाव आदि से परस्पर उद्भूतराग होकर भी जो युवक-युवतियों का मिलननहो सके उसे अयोग कहते हैं। (यह अन्य आचार्यों का पूर्वराग विप्रलम्भ ही कहा जा सकता है[१]) इस 'अयोग' में नायक-नायिका दोनों की दस अवस्थायें होती हैं।[२] इसमें दोनों की परस्पर देखादेखी साक्षात्, चित्र, स्वप्न, छाया, अथवा माया (जादू) आदि से होती है।[३] और यह कोई आवश्यक नहीं कि अयोग के वर्णन में इन दसों अवस्थाओं का वर्णन किया ही जाय। महाकवियों के ग्रन्थों में ये इनके यथासम्भव अनेक रूप दिखायी पड़ते हैं।[४]

वियोगशृङ्गार-

फिर प्रथमत: सम्भोग सुख में लीन युवक-युवतियों का अलग हो जाना वियोग कहलाता है, जो दो प्रकार का होता है १. मानकृत तथा २. प्रवासकृत[५]।

मान भी दो प्रकार का होता है --प्रणयमान तथा २. ईर्ष्याकृतमान। जब दोनों परस्पर कोप से झल्लाते हैं तो वह प्रणयमान कहलाता है और जब प्रिय किसी अन्य नायिका का संग करता है तो पूर्व स्त्री को ईर्ष्यामान होता है।[६]

शेष- स्नानाद्युपचारश्च तथा संगीतकक्रिया।
इत्यादि-भावै: कथित: शृङ्गार:स्यात् क्रियात्मक: ।। ३।६५

१०. वियोगायोगसंभोगै: शृङ्गारो भिद्यते त्रिधा। ४।८५

---

१. परस्परं विभावाद्यैर्यूनोरुद्भूतरागयो:
असंगतिरयोगो स्मिन् दशावस्थाद्वयोरति ।। ४।८५

२. अस्मिन्दशावस्था द्वयोरपि। ४।८५

३. साक्षात्प्रतिकृति स्वप्नच्छायामायागुणादिभि: ।
नायिकाया:नायकस्य दर्शनं स्यात् परस्परम् ।। ४।८५

४. दशावस्थत्वमाचार्यै: प्रायोवृत्त्यातुदर्शितम् ।
महाकविप्रबन्धेषु दृश्यन्तेतस्त्वनेकधा ।। ४।८५

५. वियोगोविप्रकर्षो स्याद्यूनो:सम्भोगमग्नयो: ।
वियोगो पिद्विधा मानप्रवासकृतभेदत: ।। ४।८५

६. तत्र प्रणयमान: स्यात्कोपोपद्रुतयोर्द्वयो: ।
स्त्रीणामीर्ष्याकृतोमान:कार्यो न्यासङ्गिनिप्रिये। ४।८६

अन्यासङ्ग भी अनुमान द्वारा, प्रत्यक्ष तथा सुनने से जाना जाता है। अनुमान तीन प्रकार से लगता है — १. गोत्रस्खलन से २. भोगचिह्न देख कर तथा ३. स्वप्न में बड़-बड़ाने से। प्रत्यक्ष तो साक्षात् स्वयं अपनी आँखों से देखा होता है। और सुनना दासी सखी आदि के मुख से होता है।[१]

मानापनोदनउपाय—

मान को दूर करने के लिए वैसे उपाय गिनाये गये हैं — १. साम, २. दान, ३. भेद, ४. नति, ५. उपेक्षा तथा ६. रसान्तर।

प्रवास—

भिन्न देश में रहना प्रवास कहलाता है। वह शापवश, बुद्धिपूर्वक तथा घबड़ाहट के कारण वह प्रवास है तीन प्रकार का माना गया है।[२]

बुद्धिपूर्वक तीनों कालों के अनुसार भावी, भवन्, भूत, तीन प्रकार का होता है— शापवश वह है जिसमें स्वरूप आदि ही बदल जाते हैं तथा सम्भ्रम या घबड़ाहट के कारण वह प्रवास है जो दैवी या मानवी उत्पातों के कारण होता है।[३]

करुणाविप्रलम्भ—

करुण विप्रलम्भ के विषय में अपना मत देते हुए शारदातनय कहते हैं कि कुछ आचार्यों ने वियोग का एक प्रकार मरण भी माना है किन्तु वह सम्भव नहीं क्योंकि (नायक-नायिका में) एक के मरने पर जब दूसरा रोता-धोता है तो वह तो शोक ही हुआ[४]। (वहां रति कहां ?) हां, यदि मरण में प्रत्युज्जीवन की आकांक्षा बनी रहे तो वह वियोग के दु:खों के समान ही दु:खों वाला माना जाता है।[५] (अत:

---

१. सो पित्रिधा नुमाध्यक्षश्रवणादवगम्यते।
गोत्रस्खलनभोगाङ्कात्स्वप्नायितविभावित: ।।
त्रिधा नुमानिको ध्यक्ष:साक्षादिन्द्रियगोचर: ।
दासीसख्यादिमुखत:श्रुति:श्रवणमुच्यते ।। ४।८६

२. प्रवासो भिन्नदेशत्वं तच्छापाद्बुद्धिपूर्वत: सम्भ्रमादपि ।४।८६

३. तत्रैषबुद्धिपूर्वस्त्रिधा मत: । भावी भवन् भूत इति कालत्रितयसङ्गत:
स्वरूपाद्यन्यथाभावकरणं शाप ईरित: ।सम्भ्रम:सहसोत्पन्नोदिव्यमानुषविप्लव: ।४।८६

४. वियोगभेदो मरणमिति केचिन्न तद्भवेत् । मृते त्वन्यत्र यत्रान्य:प्रलपेच्छोक एव स: ।। ४।८६

५. मरणेयदि सापेक्षा प्रत्युज्जीवनकाङ्क्षया।तद्वण्यति वियोगोत्थदु:खसाधारणात्मकम् ।। ४।८७

वियोग में ही उसकी गणना हो सकती है।)

सम्भोग शृङ्गार तथा उसके भेद-

सम्भोग शृङ्गार नायक-नायिका के परस्पर स्पर्श-विशेष आदि के अनुसार चार प्रकार का बताया जाता है। इस सम्भोग रूप काम में सौख्य, अभिमान, संकल्प एवं फलवत्ता रहती है। अत: इनसे युक्त इसके क्रम से १. मित, २. सङ्कर, ३. सम्पन्न तथा ४. समृद्धिमान् भेद होते हैं[1]।

ये भेद भोज के अनुसार चार विप्रलम्भों के पश्चात् होने वाले चार सम्भोग अनुकरणों पर किए गए हैं। इनमें परस्पर साध्वस आदि उपचारों के कारण जो नायिका-नायक का प्रथम मिलन में सीमितता या बन्धन रहता है उसे मित कहते हैं[2]।

जब (मान भंग होने पर) प्रसन्नता की ही स्थिति में व्यलीक(असत्य, अहित, वंचना) आदि का स्मरण आ जाने से कुछ कोप आ जाता है, तो उस सम्भोग को सङ्कर कहते हैं।[3]

प्रवास भोग कर लौटे प्रेमी जब परस्पर मिल कर सम्पन्न-काम होते हैं तो उस सम्भोग को सम्पन्न कहते हैं।[4] और प्रेमी के पुन: जीवित होने से हर्ष के कारण जो उनका अतिशय उद्दीपित हर्ष होता है उसे समृद्धिमान् कहते हैं[5]।

सम्भोग शृङ्गार की विशिष्ट चेष्टायें (अनुभाव , चुम्बन, आलिङ्गन आदि हैं तथा स्तम्भ, ~~वैस्वर्य~~, रोमांच, स्वेद, साध्वस आदि (सात्त्विक) विकार हैं[6]।

---

१. काम: स एष: सम्भोगः स चतुर्धा विभज्यते ।
यूनो: परस्परस्पर्शविशेषविषयीकृत: ।।
सौख्याभिमानसंकल्पफलवान् काम इष्यते ।
समित: सङ्करश्चेतिसम्पन्नश्च समृद्धिमान् ।। ४।८७

३. प्रसादे पि व्यलीकादि स्मृते: कोपानुवर्तनात् ।
संकीर्यते य: सम्भोगस्तस्मात् संकर ईरित: ।४।८७

२. परस्परस्योपचारैर्यूनोर्यत् साध्वसादिभि: ।
मितं प्रयुज्यते भोगे प्रथमे स मितो भवेत् ।। ४।८७

४. सम्पन्नकामैरायातै:प्रोषितैरुपभुज्यते ।
सम्पन्नमेव यत्तस्मात् सम्पन्न इति कथ्यते ।। ४।८७

५. प्रत्युज्जीवनहर्षादै:प्रबुद्धोमृतजीवता: ।
दीपनातिशयैर्दीप्त: सम्भोग: स्यात् समृद्धिमान् ।। ४।८७

६. चेष्टाविशेषा: सम्भोगेचुम्बनालिंगनादय: ।
विकारा:स्तम्भरोमांचस्वेदा:स्यु:साध्वसादय: ।। ४।८७

उसी प्रकार वियोग में शीतलोपचार, चिन्ता, नि:श्वास आदि चेष्टायें तथा स्तम्भ, वैस्वर्य, कम्प, अश्रु, मूर्च्छा आदि विकार होते हैं[1]—

वियोग में बारह मन्मथावस्थायें—

शारदातनय का कहना है कि परस्पर अनुरक्त युवक-युवतियों का मिलन न होने पर (अर्थात् वियोग-अवस्था में) दस या बारह प्रकार की मन्मथावस्थायें होती हैं[2]। वे ये हैं —१. इच्छा, २. उत्कण्ठा, ३. अभिलाष, ४. चिन्ता, ५. स्मृति, ६. गुण-स्तुति, ७. उद्वेग, ८. प्रलाप, ९. उन्माद, १०. व्याधि, ११. जाड्य तथा १२. मरण। इनमें अन्तिम दो का वर्णन कुछ आचार्यों ने मना किया है[3]।

पूर्व में देखे एवं संश्लिष्ट हुए ~~[illegible]~~ गुणसम्पत्ति से मनकी स्पन्दन-प्रवणता (भुकाव) को इच्छा कहते हैं[4]।

जिससे सभी इन्द्रियों में सुखानुभूति की भावना होती है, विभिन्न सङ्कल्पों से पूर्ण उसके प्राप्ति की इच्छा को उत्कण्ठा कहा गया है[5]। उत्कण्ठाजन्य भावों का भी शारदातनय ने इसी प्रसंग में उल्लेख कर दिया है —मन में सम्भोग के सङ्कल्प (तरह - तरह के विचार) होते हैं, उसका रास्ता देखते हैं, अङ्गों में शैथिल्य रहता है, मनस्नेह से भरा रहता है, तरह तरह से मनोरथों में डूबते उतराते रहते हैं, घुटनों पर या हाथ पर कपोलों को रखते हैं, मुख का वर्ण प्रसन्न रखते हैं, स्वेद की गर्मी बनी रहती है तथा वाणी गद्गद् निकलती है।[6]

---

१. वियोगे शिशिराचारचिन्तानिश्वसितादय: ।
विकारा:स्तम्भवैस्वर्यकम्पाश्रुप्रलयादय: ।। ४।८७

२. तैस्तैरुपक्रमैर्यूनोरक्तयोश्चैवसङ्गमे ।
दशधा मन्मथावस्था भवेद्द्वादशधा थवा । ४।८८

३. इच्छोत्कण्ठाभिलाषाश्चचिन्तास्मृतिगुणस्तुती
उद्वेगो थ प्रलाप: स्यादुन्मादो व्याधिरेव च ।
जाड्यं मरणमित्यादि द्वे कैश्चिद्वर्जिते बुधै: ।। ४।८८

४. यदवा यत्र संसृष्टं तत्रत्यगुणसंपदा ।
मनस: स्पन्दनैकाग्र्यमिच्छेति परिभाष्यते ।। ४।८८

५. सर्वेन्द्रियसुखास्वादो यत्रास्तीत्यभिमन्यते ।
तत्प्राप्तीच्छां ससङ्कल्पामुत्कण्ठां कवयो विदु: ।। ४।८८

६. अन्त:सम्भोगसंकल्प:तत्पथाशाविलोकनम् ।
अङ्गग्लानिर्मनोरिक्तमंमनोरथविचिन्तनम् ।। (शेष)

संकल्प तथा इच्छा उत्पन्न व्यवसाय के साथ जो प्रिय से मिलने का उपाय है उसे अभिलाष कहते हैं[१]। अभिलाष से ये भाव (अनुभाव तथा सात्त्विक आदि) उत्पन्न होते हैं —

'कभी भीतर जाना, कभी बाहर रास्ते में निकल जाना, प्रिय के दृष्टिपथ में रहते हुए विविध कामचेष्टायें करना, अपने को सजाना तथा कहीं अकेली ही रहना आदि[२]।

प्रिय किस उपाय से प्राप्त हो, वह केवल मेरा ही होकर कैसे रहे, वह क्या कहेगा, मैं उसे क्या कहूँगी, दूत आदि भेजूँ क्या, उससे क्या प्रयोजन, आदि प्रकार के हृदय से चिंता चिन्ता कहाते हैं।[३] मान्मथी चिन्ता में ये भाव (चेष्टायें) होती हैं मेखला आदि पहिराती हैं फिर अपने ही हाथों (प्रिय की भाँति) उसे श्रद्धा के साथ छूती हैं, अपनी ही जाँघों एवं नाभि का (उसी प्रकार) स्पर्श करती हैं, नीवि को (प्रिय की भाँति) ढीला करती हैं फिर स्वयं बाँधती है, आँखों में आँसू उमड़ते रहते हैं, नेत्र अर्धोन्मीलित तिरछी पुतलियों वाले (आकेकर) रहते हैं ,बिना किसी लक्ष्य के भीतर-बाहर आगे पीछे देखा करती (आँखें दौड़ाती) हैं[३]।

किसी देश या किसी काल से सम्बन्धित सुख या दुःख के अनुभूत-भोगे भावों का मन से ध्यान करना स्मृति कहलाती है[४]। इस मान्मथी स्मृति में ये चेष्टायें (भाव)

शेष — अधिजानुकरालम्बिकपोलतलमाननम् ।
प्रसन्नमुखरागश्च स्वेदोष्मा गद्गदा च वाक् ।
उत्कण्ठानुभवाः भावाः कथ्यन्तेभावकोविदैः ४।८८

---

१. सङ्कल्पेच्छासमुद्भूतव्यवसायपुरस्सरः ।
यस्तत्समागमोपायः सोऽभिलाषप्रकीर्तितः ।।४।८८

२. मुहुरन्तःप्रविशतिनिर्गच्छतिमुहुः पथि
करोतिमान्मथींचेष्टां तद्दृष्टिपथवर्तिनी
अलङ्करोति चात्मानमास्तेचैकाकिनी क्वचित् ।
अभिलाषभवाःभावाः कथ्यन्तेमान्मथाबुधैः ।। ४।८८

३. केनोपायेनतत्प्राप्तिर्ममैव स भवेत्कथम् ।
किं स वक्ष्यति किं वक्ष्येदूतादिप्रेषयामिकिम् ।
किं तेनेतिवितर्कोऽयं हृदिचिन्तेति कथ्यते ।। ४।८८,८९

४. बध्नाति मेखलादीनि परामृशतिपाणिना
स्पृशत्यूरू चनाभि च नीवीं विस्रस्यनह्यति । (शेष)

होती है — ध्यान करना, लम्बी साँसें लेना, चिड़चिड़ाना (द्वेष्टि), किसी भी दूसरे काम को बुरा कहना, न खाना, न नींद लेना और न कहीं प्रसन्नता का अनुभव करना[1]।

जब रूप, उदारता, गुण, लीला, चेष्टा, हास, विलास, सौन्दर्य, आलाप, माधुर्य आदि में उन जैसा दूसरा पुरुष नहीं, इस प्रकार प्रिय की प्रशंसा की जाती है, तो उसे 'गुणास्तुति' कहते हैं।[2] गुणास्तुति में इस प्रकार मान्मथीचेष्टायें होती हैं। धीरे धीरे गुणों को गिनती हैं, भावभीनी नज़रों से देखती हैं, रोमांच हो आता है, वाणी गद्गद रहती है, कपोलों पर स्वेदोद्गम हो आता है, दूती द्वारा विस्रम्भ-निवेदन किया जाता है। प्रिय से समागम की चिन्ता बनी रहती है[3]। क्रोध, शोक, भयादि के कारण मन के कम्पन (अस्थैर्य) को 'उद्वेग' कहते हैं। इस मान्मथ, उद्वेग में निश्वास, उन्निद्रता, चिन्ता, स्तम्भ, विवर्णता, तथा अश्रु आते रहते हैं। शयनासन में मन नहीं लगता हृदय में कचोट (हृल्लेख) उठती है तथा मन में दीनता (उत्साहहीनता) बनी रहती है[4] यहाँ देखा था ' यहाँ आलिंगन किया था यहाँ

शेष— अनुतर्बाद्गमं चचराकैकरकनीनिकम्।
अन्तर्वा ::धुर: पश्चादनालम्बनवीक्षणम्
चिन्तासमुत्थिता ह्येतेभावा: स्युर्मन्यच्चान्यथाश्रया:। ४।८६

४. सुखदु:खादिभावानां देशकालानुषङ्गिणाम्।
अनुभूयातिवृत्तानां विमर्शो मनसास्मृति:।। ४।८६

---

१. ध्यायति श्वसिति द्वेष्टि कार्यमन्यच्च्या नन्दसी
न भुङ्क्ते नापि निद्राति न प्रीतिं लभते क्वचित्
एते ह्यनुस्मृतिभावाभावाश्चमन्मथकल्पिता:।।४।८६

२. रूपौदार्यगुणलीलाचेष्टाहसितविभ्रमै:
सौन्दर्यालाप-माधुर्यैर्नास्त्यन्यस्तत्सम:पुमान्।
इति यत्रेदृशी वाणी भवेत् सैवगुणास्तुति:।। ४।८६

३. गुणान् गणयति स्वैरं वीक्षते भावमन्थरम्।
रोमा चो गद्गदपदा वाक् स्वेदश्च कपोलयो:।।
विस्रम्भकथनं दूत्या तत्समागमचिन्तनम्।
एवङ्गुणास्तुतिभवाभावा मदनसूचना:।। ४।८६

४. उद्वेगो मनस: कम्प: क्रोधशोकभयादिज:।
निश्वासोन्निद्रताचिन्ता:स्तम्भवैवर्ण्यमश्रु च।
नशय्या सनयो: प्रीतिर्हृल्लेखोदीनता पि च
एवमुद्वेगजा भावा:कन्दर्प-परिकल्पिता।। ४।८६

आये थे, यहां खड़े रहे यहां आनन्द लिया था, यहां लेटे थे यहां अलङ्कार किया था इत्यादि प्रकार के वाक्य कहना प्रलाप कहलाता है। इस मान्मथ-विलाप में कुछ इस प्रकार की चेष्टायें देखी जाती हैं —भीतर-बाहर, आगे-पीछे, दूर से समीप से कहीं देखती हैं, कहीं जाती हैं, कहीं रुक जाती हैं, कहीं बैठ जाती है, कहीं लेट जाती हैं, कहीं निन्दा करती हैं, कहीं प्रसन्नता प्रकट करती हैं, गली-कूचे में चिल्लाती हैं, घूमती हैं।[१]

जो उन्माद विरहजन्य होता है उसमें `अतद्` में `तद्` का दुराग्रह होता है, सभी दशाओं में सर्वत्र, सर्वथा तथा सर्वदा मन प्रिय में ही लगा रहता है उसी की चर्चा में उसे आह्लाद मिलता है, अन्य इष्ट वस्तुओं से भी चिढ़ता है। बारबार लम्बी आहें भरता है। बिना पलकें गिराये खड़ा रहता है व विहार की वेला में रोना, चिल्लाना, ध्यान करना, गाना, रुचि लेना, हंसना, प्रशंसा करना और फिर बेहोश होजाना उसकी स्वाभाविक चेष्टाएं हैं[२]।

काव्य-द्रव्यों द्वारा विलोभन और किसी कारण भेजे गये भी उन द्रव्यों का

---

१. इह दृष्टमिहाश्लिष्टमिहागतमिहस्थितम्।
इह निर्वृत्तमत्रैवशयितं चाप्यलंकृतम्।
एवमादीनिवाक्यानि प्रलापइति कथ्यते।
अन्तर्बहि:पुर:पश्चाद्दूरादारात् समीपत:।
क्वचित् पश्यति यात्येव क्वचित्क्वाप्यवतिष्ठते।
आस्ते क्वचित् क्वचिच्छेते क्वचिन्निन्दतिनन्दति।
इतश्चेतश्च रथ्यायां रौतिभ्राम्यतिधावति।
एवं विलापजा भावा मनोभववशानुगा:।। ४।६०

२. उन्मादोविरहोत्थोय: सो तस्मिस्तदग्रहाग्रह:। सर्वावस्थासु सर्वत्र सर्वथासर्वदामन:।
तद्गतंतत्कथाह्लाति प्रद्वेष्टीष्टानपीतरान्। दीर्घं मुहुर्निश्वसितितिष्ठत्यनिमिषेक्षणम्।
विहारकालरुदति क्रन्दति ध्यायतिक्षणम्।
गायति स्वदते तस्मिन् हसतिस्तौति मुह्यति।
इत्थमुन्मादजाभावा:कथिता नाट्यकोविदै:।। ४।६०

अपमान होने से जो अभीष्ट (प्रिय) का मिलना नहीं हो पाता उससे 'व्याधि' उत्पन्न होती है। इस मान्मथ-व्याधि में मोह, अंगदाह, सन्ताप, शिरशूल, वेदना, मुमूर्षा, जीवन के प्रति उपेक्षा, लड़खड़ाना, पलकों का गिरा रहना, आहें, स्तम्भ, परिदेवना आदि चेष्टाएं देखी जाती हैं।[१]

सदा सभी प्रकार के कार्यों में चेतना का न रहना जाड्य कहलाता है। इष्ट, अनिष्ट को न जानना, सुख-दु:ख का अनुभव करना, पूछने पर कुछ उत्तर न देना, न सुनना, न देखना, 'हाय'हाय' करते रहना, 'हूं', 'हूं' करना, अङ्गों में शैथिल्य आना, कृशता, वैवर्ण्य, निश्वास, स्तम्भ, स्पर्श के प्रति अनभिज्ञता — ये मान्मथ 'जाड्य' की चेष्टायें गिनाई गई हैं[२]।

इन पूर्वोक्त (एकादश) अवस्थाओं तक में किये गये प्रतीकारों (उपायों) से भी यदि दोनों प्रिय परस्पर मिल न सके तो काम (प्रेम)-अग्नि में जले हुए उनका 'मरण' ही होता है। किन्तु इससे अमंगल हो जाता है अत: प्रेमियों के ~~मरण के~~ मरण की कल्पना नहीं की जाती है।[३] इस प्रकार देशकालगुण तथा चेष्टाद्वारा शृङ्गाररस का

---

१. कामैर्विलोभनं द्रव्यै:सामदानोपबृंहितै:। प्रेषितैरपि केनापि हेतुना च निराकृतै:।
अभीष्टसङ्गमाभावाद् व्याधि: समुपजायते। मोहोङ्गदाह:सन्ताप: शिरश्शूलंचवेदना।।
मुमूर्षा जीवितोपेक्षा पतनं यत्रकुत्रचित्। प्रस्तापाता निश्वसितं स्तम्भश्चपरिदेवितम्।।
एतेव्याधिभवाभावा:प्राय:शृङ्गारयोनजा:।। ४।६०

२. जाड्यमप्रतिपत्ति: स्यात् सर्वकार्येषु सर्वदा
इष्टानिष्टान्न जानाति सुख-दु:खेनवेत्तिच।
प्रश्ने न किंचित् प्रब्रूते न शृणोति न पश्यति।
हाहेतिभाषणाकाण्डहुङ्कार:शिथिलाङ्गता
कार्श्यवैवर्ण्यनिश्वासा:स्तम्भ: स्पर्शानभिज्ञता
एते जाड्यभवा भावा मीनकेतनमाश्रिता:।। ४।६१

३. आस्ववस्थासु विहितै: प्रतीकारै: समागम:।
न भवेद्यदि कामाग्निदग्धयोर्मरणं भवेत्
अमंगलस्यानुमरणमिति यूनोर्नकल्प्यते ।४।६१

उत्कर्ष , सम्पत्ति, वृद्धि तथा पुष्टि होती है।[1] फिर नायक के पात्रों को इस प्रकार निरूपण किया है। वे इतने होते हैं-नायक, नायिका, सखियां, विटादि, सचिव, दूत[2] दूतियां तथा ये शृङ्गार चेष्टाएं कही जायेंगी , जो शृङ्गार के अनुभाव हैं। बिना चेष्टा के किसी भाव का पता लग ही नहीं सकता, अत: भावुक रसिक को चेष्टाविशेषज्ञ होना आवश्यक होता है।[3]

सम्भोगविवेचन-

और इन पूर्वोक्त सारे विवेचनों का उपयोग बताते हुए शारदातनय कहते हैं कि 'स्थिर अनुरागवाले प्रेमियों की इस प्रकार के विनोदों एवं परस्पर उपचारों से सम्भोग शृङ्गार की पुष्टि होती है।[4] फिर भोज के अनुसार सम्भोग शब्द की व्युत्पत्ति, तथा उसके प्रकार आदि का विवेचन हुआ है। भुजि धातु चार अर्थों में प्रयुक्त होती है — १. पालन, २. कौटिल्य, ३. अभ्यवहार तथा ४. अनुभूति। अत: सम्भोग भी चार प्रकार की विशेषताओं से युक्त होता है जो कि क्रम से अनुराग, मान, प्रवास और करुणा--इन चार प्रकार के विप्रलम्भों के पश्चात् एक-एक करके होता है और उसका नाम, क्रम से, 'मित' , 'सङ्कर', 'सम्पन्न' तथा 'समृद्धिमान्' दिया जाता है।[5]

---

१. पात्रादीनां गुणै: पूर्णै: सवृद्धिर्विभाव्यते।
रसोत्कर्षो भवेद्देश्यैर्गुणै:सर्वत्रपुष्कलै:।
परिपूर्णगुणात्कालाद्रससम्पद्विभाव्यते।
देशकालानुकूलाभिश्चेष्टाभि:पुष्टिमश्नुते।। ४।६१

२. नायको नायिका सख्यो विटादिसचिवाअपि।
दूत्यश्च दूतारश्चेत्येतत्पात्रं नाट्यस्य कथ्यते।। ४।६१

३. भावाविनैव चेष्टाभिर्न दृश्यन्ते कदाचन।
तस्माच्चेष्टाविशेषज्ञो भावको रसिको भवेत्।। ६।१३६।

४. स्थिरानुरागयोर्यूनोर्विनोदैरवमादिभि:।
परस्परोपचारैश्च सम्भोग: पुष्टिमश्नुते।। ६।१३८

५. ससम्भोगश्चतुर्धा स्याद् भुजिधात्वर्थयोगत:।
भुजि: पालनकौटिल्याभ्यवहारानुभूतिषु।
नवरागानन्तरज: पाल्यो भीष्टोपचारत:।
मानानन्तरसम्भोगा:कौटिल्यं न त्यजेतक्वचित्।।
पुन:प्रवासानन्तर्यो भुक्तान्नाभ्यवहारवत्।
करुणानन्तरभव: संविप्रम्भानुभूतिकृत्। (शेष)

है । इनके लक्षण आदि भी भोज के ही अनुसार किये गये हैं ।[1]

शृङ्गार के भेद — विप्रलम्भ —

विश्वनाथ के शृङ्गार के भेदों के विवेचन में कोई वैशिष्ट्य नहीं है । पूर्वरागवर्णन में विश्वनाथ का मत है कि पहिले तो नायिका की ओर से प्रेम का वर्णन किया जाना चाहिए, फिर उसके संकेतों से पुरुष का उसके प्रति प्रेम वर्णित किया जाय[2]। यह पूर्वराग तीन प्रकार का हुआ करता है[3]। १. नीलीराग, २. कुसुम्भराग और ३. मंजिष्ठा-राग[4]।

जिस प्रेम में बाहरी चमक-दमक तो बहुत न दिखायी पड़े किन्तु हृदय से कभी न हटे, वह नीलीराग कहा जाता है, जैसे राम और सीता का[4] ।

शेष — समित: सङ्करश्चैव सम्पन्नश्च समृद्धिमान् ।
इत्याद्या:क्वय: प्राय: चतुर्णां च प्रयुज्यते ।। ६ ।१३८

---

१. नवानुरागैर्युवभिरुपचार:ससाध्वसै: । मितं प्रयुज्यते यस्मात्तस्य मित उच्यते ।
मानान्तरसम्भोगो व्यलीकादिस्मृते:पुन: । संकीर्यते यतस्तस्मात् स सङ्करइतीरित: ।।
सम्पन्नकामैरायातै: प्रोषितैरुपभुज्यते । सम्पन्न एव यत्तस्मात्सम्पन्नइति कथ्यते ।
प्रत्युज्जीवनइवादि:प्रवृद्धो मृतजीवतो :। दीपानातिशयैर्दीप्त:सम्भोग:स्यात् समृद्धिमान्।।
६।१३९

२. आदौवाच्य:स्त्रियाराग:पुंस:पश्चात्तदिङ्गितै: ।

३. नीली कुसुम्भं मञ्जिष्ठा पूर्वरागो पि च त्रिधा ।

४. भावप्रकाशकार ने तो पूर्वराग के नहीं अपितु राग के ही ये तीन प्रकार बताये हैं । [illegible] । राग वह प्रेम-प्रकर्ष है जो दो हृदयों को परस्पर इस प्रकार एक रंग में रंग देता है कि वे जीवन के सभी सुखदु:खात्मक भोग्यों को सुख रूप ही मानने लगते हैं । ऐसा प्रेम जब चित्त में दीप्त होता है तो उसे राग कहते हैं । उसके नीली, कुसुम्भ, और मंजिष्ठा तीन प्रकार है । ~~विश्वप्रकाश ने मंजिष्ठाराग को श्रेष्ठ,~~ भावप्रकाश ने सम्भवत: वहीं से लेकर उसे केवल पूर्वराग से सम्बन्धित कर दिया है । भावप्रकाश ने मञ्जिष्ठाराग को श्रेष्ठ, नीलीराग को मध्यम तथा कुसुमभराग को अधम बताया है ।

ज्येष्ठो मञ्जिष्ठाराग: स्याद् नीलीरागस्तुमध्यम: ।
कुसुम्भराग:कविभिरधम:परिकीर्तित: ।। भा०प्र० । ४

जिस प्रेम में बाहरी बनाव-बनाव तो बहुत हो किन्तु हृदय से वह छूट भी जाय उसे कुसुम्भराग कहते हैं[१]।

और तीसरे प्रकार का प्रेम है मंजिष्ठा राग जो नाहरादिखावे में भी खूब गावे और हृदय से कभी छूटे भी न।[२]

मान (विप्रलम्भ) का अर्थ है (प्रणय) कोप। वह दो प्रकार का होता है, १. प्रणय-समुद्भव मान तथा २. ईर्ष्यासमुद्भवमान[३]।

प्रणयमान का अर्थ है बिना किसी कारण के रूठना। प्रेम की चाल ही टेढ़ी होती है। दोनों प्रेमियों के हृदय में परस्पर अतिशय प्रेम के रहने पर भी वे नाराज हुआ ही करते हैं। यही मान विप्रलम्भ कहलाता है।[४]

पति की अन्य नायिका पर आसक्ति देखकर, अनुमान कर अथवा सुनकर जो नायिका का प्रणयकोप होता है उसे ईर्ष्यामान कहते हैं।[५]

विश्वनाथ ने मान-भंग के उपाय भी पूर्व आचार्यों की भांति ६ बताए हैं — साम, भेद, दान आदि।

प्रवास भी कार्य, शाप एवं सम्भ्रमवश तीन प्रकार का बताया है। प्रवास में प्रेम की एकादश अन्तर्दशाएं या अवस्थाएं बताई हैं। वे इस प्रकार हैं :— १. अंगासौष्ठव २. ताप, ३. मूर्छना, ४. कृशता, ५. अरुचि, ६. अधीरता, ७. अनालम्बनता, ८. तन्मयता, ९. उन्माद, १०. मूर्च्छना तथा ११. मृति।[६]

---

१ ४. न चाति शोभते यन्नापैति प्रेम मनोगतम्।
तन्नीलीरागमाख्यातं यथा श्रीरामसीतयोः।। सा०द० ३।१९६

---

१. कुसुम्भरागं तत्प्राहुर्यदपैति च शोभते। सा०द० ३।१९७

२. मंजिष्ठारागमाहुस्तद् यन्नापैत्यतिशोभते। सा०द० ३।१९

३. मानः कोपः स तु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भवः।। सा०द० ३।१९

४. द्वयोः प्रणयमानः स्यात् प्रमोदे सुमहत्यपि।
प्रेम्णः कुटिलगामित्वात् कोपोयः कारणं विना॥ सा० द० ३।१९८-९९
(प्रमोदे प्रेम्णि-तर्कवागीश)

५. पत्युरन्यप्रियासङ्गे दृष्टे थानुमितेश्रुते।
ईर्ष्यामानोभवेत् स्त्रीणां तत्रत्वनुमितिस्त्रिधा।।
उत्स्वप्नायितभोगाङ्क गोत्रस्खलनसम्भवा।। सा०द० ३।१९९-२००

६ सा०द० ३।२०५-२०६

इन तीनप्रकार के प्रवासों में कार्यवश होने वाला प्रवास भी तीन प्रकार का होता है — १. भावी, २. वर्तमान तथा ३. भूत, क्योंकि कार्य-विषयक विचार भविष्य, वर्तमान तथा भूत तीनों कालों में सम्भव है।[१]

पूर्वराग के सम्बन्ध में जिन अभिलाष आदि दस मदनदशाओं का तथा प्रवास के सम्बन्ध में जिन अंगासौष्ठव आदि ग्यारहदशाओं का अलग-अलग उल्लेख किया गया है, उनके विषय में कोई ऐसा कठोरनियम नहीं समझना चाहिए, क्योंकि पूर्वराग वाली प्रवास में भी देखी जाती है और प्रवास वाली पूर्वराग में भी । (वस्तुत: दोनों महादशाओं में बहुत कुछ साम्य है भी तो है ।) विश्वनाथ ने यहां पृथक् विवेचन करने में केवल प्राचीन परम्परा का निर्वाह मात्र किया है[२]।

जब प्रियतम या प्रेयसी में से कोई एक दिवंगत हो जाता है, किन्तु उसके पुनरुज्जीवित होने की आशा या आश्वासन रहता है, उस समय जो दूसरा (रति लिए हुए) खिन्न रहता है उसे करुणाविप्रलम्भ कहते हैं[३]। जैसे कादम्बरी में पुण्डरीक महाश्वेता वृत्तान्त में ।

करुणाविप्रलम्भ के विषय में आचार्यों के मतवैविध्य का दर्शन यहां भी होता है। इस विषय में विश्वनाथ ने बहुत कुछ भोज के मत का अनुगमन किया है । उन्हें दशरूपक का मत उचित नहीं समझ पड़ता । विश्वनाथ का कहना है कि 'यदि मरण के पश्चात् फिर से मिलन नहीं होना है, अथवा मिलन हो भी तो उस शरीर से नहीं शरीरान्तर से, तो वहां करुणारस ही मानना चाहिए[४]।

---

१. भावी भवन् भूत इति त्रिधा स्यात्तत्रकार्यज:
कार्यस्य बुद्धिपूर्वकत्वात्त्रैविध्यम् ।। सा०द० । ३।२०८

२. अत्रपूर्वरागोक्तानामभिलाषादीनामत्रोक्तानां चाङ्गासौष्ठवादीनामपि दशानामुभये षामप्युभयत्र संभवे पि चिरंतनप्रसिद्ध्याउभयसंभवे विविच्यप्रतिपादनम् ।। सा०द०,पृ०१७२

३. यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरंपुनर्लभ्ये
. विमनायते यदैकस्तदा भवेत करुणाविप्रलम्भाख्य: ।। सा०द० ३।२०९

४. पुनरलभ्येशरीरान्तरेण वा लभ्ये करुणाख्य एवरस: ।। सा०द०

यहाँ कुछ की मान्यता है कि इस महाश्वेतावाले वृत्तान्त में ही पुण्डरीक के मरण के पश्चात् आकाशवाणी होने पर ही जब पुनर्मिलन की आशा बँधती है तो रति का उद्भव होता है, और उसे शृङ्गार (विप्रलम्भ) कहा जा सकता है। आकाशवाणी के पूर्वतो करुण ही रहता है। अत: इसे करुणाविप्रलम्भ ही कहा जायगा। किन्हीं आचार्य का यह मत कि 'पुनर्मिलन की प्रत्याशा के पश्चात् भी प्रवास-विप्रलम्भ ही यहाँ होगा'[१] दूसरे आचार्य को स्वीकृत नहीं है, क्यों कि उनका कहना है कि 'इस० विप्रलम्भ का मरणरूप एक विशेष प्रकार होने के कारण, प्रवास से पृथक् रूप ही माना जायगा।[२]

वस्तुत: शृङ्गार के 'प्रवास' एवं 'करुण' पक्षों में परस्पर सबसे बड़ा भेद यह है कि प्रवास में जीवित शरीर से देशान्तर जाना होता है जबकि करुण में शरीर के प्राणमात्र शरीर छोड़ कर चले जाते हैं। दशरूपक में करुणाविप्रलम्भ को शृङ्गार का भेद नहीं माना गया है। उसे करुणारस के ही अन्तर्गत रखा गया है[३]। संगमाशा होने पर अधिक से अधिक उसे प्रवास शृङ्गार रूप ही माना है, जैसा कि अभी कहा जा चुका है। किन्तु विश्वनाथ को उनकी यह मान्यता युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होती। इस विषय में उन्हें भोज का मत ही मान्य समझ पड़ता है। अस्तु।

सम्भोग शृङ्गार-

विश्वनाथ ने सम्भोग के चार प्रकार बताने में पूर्णतया भोज के साथ अपनी सहमति दिखायी है। इन्होंने भी पूर्वराग आदि के अनन्तर एक-एक प्रकार का सम्भोग

---

१. यह मत दशरूप में धनिक के मत -जैसा समझ पड़ता है - 'कादम्बर्यां तु प्रथमं करुण आकाशसरस्वतीवचनादूर्ध्वं प्रवासशृङ्गारएवेति।' द०रू० ४।६७:।

२. किंचात्राकाशसरस्वतीभाषानन्तरमेव शृङ्गार:। संगमप्रत्याशया रतेरुद्भवात्। प्रथमं तु करुण एव इत्यभियुक्ता मन्यते। यच्चात्र संगमप्रत्याशानन्तरमपि भवतो विप्रलम्भ शृंगारस्य प्रवासाख्यो भेद एव' इति केचिदाहु: तदन्ये मरणरूप विशेषसंभवात्तद्भिन्नमेव' इति मन्यते। सा०द०, पृ० १७३

३. मृते त्वेकत्र यत्रान्य: प्रलपेच्छोक एव स:। व्याश्रयत्वान्न शृङ्गार:' -द०रू०। ४।६७ ।।

माना है[१]। इसके लिए विश्वनाथ ने भी भोज की प्रसिद्ध कारिका को उद्धृत किया है — बिना पहिले विप्रलम्भ के सम्भोग की पुष्टि नहीं होती, जैसे कषाय में रंगने पर वस्त्र पर रंग और भी चटक चढ़ता है। वस्तुत: साहित्यदर्पण का यह सम्पूर्ण शृङ्गार-प्रकरण प्राय: भोज का ही अनुयायी हुआ है।

शृङ्गार के अयोगआदिभेद-

शिङ्गभूपाल ने उस मत का विरोध किया है जो शृङ्गार के अयोग, विप्रयोग तथा संयोग —तीन भेद करता है। अयोग को पूर्वानुरागरूप तथा शेष मान, प्रवास, करुणा को विप्रयोग रूप बताया है। और विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग संकेत देकर भी न मिलना अर्थात् विप्रलब्ध के अर्थ में करता है, क्योंकि वहां वंचना रहती है। अन्य विरह प्रकारों के लिए विप्रलम्भ का प्रयोग उपचार अथवा लक्षणा से मानता है। शि०भू० का कहना है कि वंचना तो विरह के चारों प्रकारों में रहती है, जैसा कि भोज ने प्रदर्शित किया है। अत: सबके लिए विप्रलब्ध शब्द ही प्रयुक्त किया जाना चाहिए। उसमें चारों प्रकार की वंचनाएं 'वि' उपसर्ग से मिल जायेंगी।'[२]

---

१. कथितश्चतुर्विधो सावानन्तर्यात्पूर्वरागादे: ।

—सा०द० ३।२१३

२. अत्र केचिद् अयोगशब्दस्यपूर्वानुरागवाचकत्वं विप्रयोगशब्दस्य मानादिवाचकत्वं चाभिप्रेत्यायोगो विप्रयोगश्चेति सम्भोगादन्यस्यशृंगारस्य विभागमाहु: । विप्रलम्भपदस्य-प्रयोगे च कारणं ब्रुवते कृत्वा संकेतमप्राप्तौ तद्व्यतिक्रमेणाधिकान्तानुसरेण च विप्रलम्भ-शब्दस्यप्रयोग:, वञ्चनात्वात् । तत्सामान्याभिधायित्वे तु विप्रलम्भशब्दस्योपचरितत्वा-पत्तेरिति ।' तदयुक्तम् । चतुर्विधे पि विप्रलम्भे वंचनरूपस्यार्थस्य मुख्यत एव सिद्धे: । तथा च —

श्री भोज :—

विप्रलम्भस्य यदि वा वञ्चनामात्रवादिना ।
विना समासंश्चतुरस्चतुरो थान् प्रयुञ्जते ।
पूर्वानुरागोविविक्तेव नन्वीक्षितादिभि: ।
मानेविरुद्धं तत् प्राहु: पुनरीर्ष्यायितादिभि: ।
व्याविद्धं दीर्घकालत्वात् प्रवासेतत् प्रतीयते ।
विनिषद्धं तुकरुणो करुणात्वेन गीयते ।।

— र०सु० २।पृ० १८९-९०

सम्भोगशृङ्गार-

और सम्भोग शृङ्गार उसे कहते हैं जिसमें पहिले के कभी न मिले हुए, अथवा मिलकर बिछुड़े हुए नायक-नायिका मिल कर परस्पर स्पर्शन, आलिंगन आदि का सुख भोगते हैं[1]। शि०भू० ने भी विप्रलम्भ के पूर्वरागमानप्रवास करुण-चारों प्रकारों के पश्चात् होने वाला अलग-अलग सम्भोग का भी चार प्रकार माना है जिसे क्रम से १. संक्षिप्त, २. संकीर्ण, ३. सम्पन्नतर तथा ४. समृद्धिमान् कहते हैं[2]। इनके लक्षण भी प्राय: भोज के ही अनुसार हैं[3]।

विप्रलम्भशृङ्गार-

भानुदत्त ने विप्रलम्भ शृङ्गार का लक्षण रसतरङ्गिणी में इस प्रकार किया है--प्रेमी युगल की परस्पर मुदित पञ्चेन्द्रियाँ जब परस्पर सम्बन्ध न पायें अर्थात् एक दूसरे को न देख पायें, न सुन पायें न स्पर्श कर पायें आदि, अथवा जब उनके परस्पर अभीष्ट की प्राप्ति न हो तो विप्रलम्भ शृङ्गार होता है[4]। किन्तु ऐसा लक्षण करने पर अव्याप्ति दोष की भी शंका हो सकती है क्योंकि मान रूप विप्रलम्भ में देखना सुनना तो बाकायदे होता ही है। इसका समाधान यह है कि उस समय उनकी इन्द्रियाँ परस्पर मुदित नहीं रहतीं अत: यह भी मुदित इन्द्रियों का सम्बन्धाभावरूप विप्रलम्भ ही है---क्योंकि लक्षण में 'मुदित' पद प्रधान है।[5] इसी प्रसंग में एक अन्य विवेचन भी बड़ा विशद हुआ है कि अभिसारिका नायिका का शृङ्गार विप्रलम्भ माना जाय

---

१. स्पर्शनालिंगनादीनामानुकूल्यान्निषेवणम्
घटते यत्र यूनोर्यत् ससम्भोग: । र०सु०६। २२० - २१

२. र०सु० २। २२२ - २२६

३. यूनोरन्योन्यं मुदितानां पंचेन्द्रियाणां सम्बन्धाभावो भीष्टाप्राप्तिर्वाविप्रलम्भ: ।
३- र० सु० २।२२२-२६ र०त० ।

५. न च मानात्मके विप्रलम्भे व्याप्तिरितिवाच्यम् । मुदितपंचेन्द्रियसम्बन्धाभावरूप-स्यविशिष्टा भावस्यतत्रापि सत्त्वात् । तदानींयूनोरिन्द्रियाणां मुदितत्वाभावात्
— र०त० ६

या संयोग । इसका समाधान भानुदत्त ने इस प्रकार दिया है कि बात तो यही ठीक है कि वह विप्रयुक्ता ही है । किन्तु इतनी विशेषता है कि शीघ्र ही प्रियदर्शन की प्रत्याशा के कारण उसे प्रमोद है विरह के धर्म अश्रुपात आदि वहां नहीं हैं[१]।

विप्रलम्भ के भेद–

भानुदत्त ने विप्रलम्भ को पांच प्रकार का बताया है – १. देशान्तरगमन से, २. गुरुनिदेश से, ३. अभिलाष से, ४. ईर्ष्या के कारण तथा ५. शापवश । इनके अतिरिक्त अन्य कारणों से भी विप्रलम्भ हो सकता है[२]। जैसे —सम्भ्रम के कारण, दैव के कारण तथा विड्वर (उपद्रव) के कारण ।

कृष्णकवि के अनुसार भी शृङ्गार के सम्भोग तथा विप्रलम्भ दो भेद हैं । विप्रलम्भ पांच प्रकार का होता है— १. शाप, २. प्रवास, ३. अभिलाष, ४. ईर्ष्या तथा ५. वियोग से उत्पन्न (शापप्रवासभिलाषेर्ष्या वियोगजभेदत: पृ० १०१) । इनमें मानरूपविप्रलम्भ ईर्ष्याजन्य है और किसी सम्भ्रम आदि) कारण से विश्लेष वियोगज है[२]।

शृङ्गाराङ्कुर की कारणभूत दस अवस्थायें –

चक्षु:प्रीतिआदि को प्राय: पूर्वराग की दस अवस्थायें आचार्यों ने कहीं हैं, किन्तु कृष्णकवि ने उन्हें शृङ्गारांकुर की कारणभूत अवस्था माना है, और उनकी गणना भी उसी प्रकार की है[१]। इनकी गणना में प्राय: कभी-कभी भेद हो जाता है । कृष्णकवि ने उसका भी उल्लेख कर ही दिया है – कुछ आचार्य प्रलाप, उन्माद और मोह को भी दशाओं में गिनते हैं । संख्या दस ही रहती है किन्तु पाठ में भेद हो जता है[३]।

---

१. ननु या प्रियमभिसरति सा विप्रयुक्ता भवेदिति चेत् । सत्यम् , सा विप्रयुक्तैव । अचिरदर्शनप्रत्याशानुवृत्तप्रमोदेनविरहधर्मस्याश्रुपातादेरसम्भव इति –र०त० ६

२. स च विप्रलम्भ: पंचधा, देशान्तरगमनाद्गुरुनिदेशानभिलाषादीर्ष्यादिशापाच्चेति । सम्भ्रमाद्दैवाद्विड्वरादित्यादयो ऽप्युन्नेया: ।। र०त० ६

३. अथ शृङ्गाराङ्कुरादि हेत्ववस्था दश ब्रुवे ।
चक्षु: प्रीतिमन: सङ्गसंकल्पश्चप्रजागर: ।
अरति: संज्वर: कार्श्यं लज्जात्यागो भ्रमस्तथा
ततश्चात्मजिहासा स्युरित्यनङ्गदशा दश ।। पृ० १०१– २

भोज के अनुसार पर शृङ्गारनिरूपण—

अन्त में भोज के शृङ्गार रस के सिद्धान्त को श्रीकृष्ण कवि ने कुछ अपनी समझ के अनुसार संक्षेप में उद्धृत किया है।[1] 'रसोवैसः' इस श्रुति के प्रमाण से रस एक ही है और वह शृङ्गाररूप। उसके धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष—ये चार भेद हैं। धर्मशृङ्गार में धीरोदात्त नायक, स्वकीया नायिका, भारती वृत्ति पौरस्त्य प्रवृत्ति तथा पांचाली रीति होती है। अर्थशृङ्गार में धीरोद्धत नायक सभी प्रकार की नायिकायें, मागधी प्रवृत्ति, आरभटी वृत्ति तथा गौडी रीति होती है। कामशृङ्गार में धीरललित नायक, सभी प्रकार की नायिकाएं, दाक्षिणात्या प्रवृत्ति कैशिकीवृत्ति तथा वैदर्भी रीति होता है। और मोक्ष शृङ्गार में धीरप्रशान्त नायक, स्वकीया नायिका, लाटी रीति, सात्वतीवृत्ति तथा आवन्त्याप्रवृत्ति कही गयी है।

शृङ्गारभेद—

शृङ्गारभेद के प्रसङ्ग में पण्डितराज ने संयोग तथा वियोग की अपनी मौलिक परिभाषा दी है—संयोग का अर्थ स्त्री-पुरुष(दम्पती) का एक स्थान पर रहना नहीं है क्योंकि एक शय्या पर भी बैठे हुए नायक-नायिका का ईर्ष्या आदि के कारण, कवियों ने विप्रलम्भ ही शृङ्गार वर्णन किया है। इसी प्रकार वियोग का अर्थ भिन्न स्थानों पर रहना नहीं है, क्योंकि एक ही शय्या पर पूर्वोक्त रूप में विप्रलम्भ देखा गया है। अतः इन संयोग-वियोग दोनों को चित्त की विशिष्ट प्रकार की वृत्तियाँ समझना चाहिए, 'मैं संयुक्त हूँ' या 'मैं वियुक्त हूँ' इस प्रकार के विचार या मनोभाव रूप में होता है[2]।

इसके सम्भोग, विप्रलम्भ दो भेद होते हैं। विप्रलम्भ से भिन्न रतिप्रकर्ष को सम्भोग शृङ्गार कहते हैं[3] जिसमें परस्पर अनुरक्त प्रिय और प्रेयसी दर्शनस्पर्श आदि का भोग करते हैं। दर्शन भी तीन रूप का होता है—साक्षात्, २. चित्र तथा ३. स्वप्न ।

---

१. अथभोजनृपादीनां मतमत्रप्रकाश्यते
रसोवैस इतिश्रुत्यारस एकः प्रकीर्तितः ।
अतोरसः स्याच्छृङ्गार एक एवेतरे तु न
धर्मार्थकाममोक्षभेदेन स चतुर्विधः ।। इत्यादि—म०म० च०, पृ० १०७—१०८

२. संयोगो न दम्पत्योः सामानाधिकरण्यम् , एकशयने पीर्ष्यादिसद्भावे विप्रलम्भस्यैव वर्णनात। एवं वियोगोपि न वैयधिकरण्यम् दोषस्योक्तत्वात् । तस्मादत्राविमौ संयोग वि-योगाख्या-वन्तः करणवृत्तिविशेषौ यत् संयुक्तोवियुक्तश्चास्मीतिधीः ।। —र०गं० १

३. सम्भोगलक्षणं तु विप्रलम्भभिन्नत्वे सतिरतिप्रकर्षत्वम् —शृ०अ०ला०

नवम अध्याय

शृङ्गार - रसाभास

नवम अध्याय

शृङ्गार - रसाभास

भरत ने चार मौलिक अथवा मुख्य एवं चार गौण रसों का विवेचन किया है। शृङ्गार, रौद्र, वीर और बीभत्स—ये चार मौलिक रस हैं। इन्हीं से क्रमश: हास्य, करुण, अद्भुत तथा भयानक इन चार गौण रसों की उत्पत्ति होती है।[1] इस प्रकार उन्होंने शृङ्गार से हास्य की उत्पत्ति बताई है। वस्तुत: जब शृङ्गार की नकल की जाती है तब वह शृङ्गार नहीं रहता। वहाँ स्वभावत: हास्य रस समुत्पन्न होता है। अर्थात् शृङ्गार की अनुकृति हास्य का विभाव है। इसी प्रकार रौद्र का जो कर्म अथवा चेष्टा होती है उसका पर्यवसान अथवा फल करुण में होता है, अर्थात् रौद्र करुण का विभाव है। वीर की चेष्टाएं अद्भुत पैदा करती हैं। अर्थात् वीर अद्भुत का विभाव है और बीभत्स को देखकर स्वभावत: भय उत्पन्न होता है, अर्थात् बीभत्स, भयानक का विभाव है[2]। (यद्यपि भोज ने भरत के इस सिद्धान्त का विरोध किया है। उनका कहना है कि इस सिद्धान्त में अन्वय-व्यतिरेक दोनों रूप से व्यभिचार दोष उपस्थित होता है, क्योंकि यदि शृङ्गार की अनुकृति से हास्य है, तो वीर की अनुकृति को भी हास्य कहा जाना चाहिए क्योंकि वह भी हास्य का विभाव है[3]।) यद्यपि भरत के पूर्वोक्त सिद्धान्त को कुछ आधुनिक विद्वानों ने कोई अधिक महत्त्व नहीं दिया और उनके अनुसार "भरत का यह पूर्वोक्त कथन रसों के परस्पर सम्बन्ध की दृष्टि से केवल एक प्रकार की अध्ययन-दृष्टि की ओर संकेत करता है कि किस प्रकार भाव एक दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं और किस प्रकार एक भाव दूसरे भाव तक पहुंचता है[4] आदि। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस रूप में भरत ने रसाभास के ही सिद्धान्त की अवतारणा की है। इस प्रसङ्ग में अभिनव ने अपनी मौलिक व्याख्या प्रस्तुत की है।

---

१. तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारोरस: तद्यथा शृङ्गारो रौद्रोवीरो बीभत्स इति अत्र शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रस: वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्ति बीभत्साच्च - भयानक: । — ना०शा०६।३९

२. शृङ्गारानुकृतिर्यातु सहास्यस्तुप्रकीर्तित: ।
रौद्रस्य चैव यत्कर्म सज्ञेय: करुणोरस: ।।
वीरस्यापि च यत्कर्म सोऽद्भुत: परिकीर्तित: ।
बीभत्सदर्शनंयत्र ज्ञेय: स तुभयानक: ।। — ना०शा० ६।४०,४१

३. अथोच्यते — शृङ्गारानुकृतिर्यैस्सहास्यरसइष्यते ।तर्हि वीरस्यानुकृतिर्याहि सो पि हास्य कुतोष्यताम् । — शृ०प्र०, वैल्यूम २

४. एन०ओ०आर० ने डा०राघवन

उनका मत है कि प्रत्येक रस का आभास अन्तत: हास्य में परिणत हो जाता है, क्योंकि आभास एक प्रकार से विकृति रूपही होता है और विकृति हास्य का मूल आधार है। अनुचित विषय में स्थायी की प्रवृत्ति उसकी विकृति है जिससे प्रमाताका हास्य ही उद्बुद्ध होता है। किन्तु यह रसास्वादन प्रक्रिया में पश्चाद्वर्ती स्थिति है — हास्य की अनुभूति अनौचित्य का ज्ञान ~~लेकर~~ होने पर ही होती है, उससे पूर्व शृङ्गारादि रसों की अस्थायी प्रतीति हो लेती है। इस प्रकार आरम्भ में सहृदय शृङ्गाराभास आदि का अनुभव करता है और परिणति में हास्य रस का। आभास कहते हैं प्रतिबिम्ब आदि के समान अवास्तव स्वरूप को जैसे शुक्ति में रजत के स्वरूप की प्रतीति रजत का आभास है। यह एक प्रकार से अतद् में तद् की प्रतीति रूप है। किन्तु जिस क्षण यह प्रतीति होती है उस क्षण तो वास्तविक ही रहती है — उसका मिथ्यात्व तो बाद में भासित होता है। इस प्रकार जहाँ रस या भाव अवास्तविक होते हुए भी पहले तो वास्तविक ही प्रतीत हों और बाद में अवास्तविक, वहाँ उन्हें रसाभास अथवा भावाभास कहा जायगा। अतः भरतने शृङ्गार की अनुकृति को हास्य रस कहा है[1]। नाट्यशास्त्र की इस पूर्वोक्त पंक्ति का उल्लेख करते हुए ~~जैसा कि~~ अभिनव कहते हैं कि भरत का यह अनुकृति शब्द 'आभास' का ही पर्यायवाची है[2]। बाद में इस प्रश्न पर परवर्ती आचार्यों ने विस्तार से विचार किया। उद्भट ने यद्यपि आभास के लक्षण का अलग से उल्लेख नहीं किया है, किन्तु ऊर्जस्वि अलंकार का लक्षण वही किया है जो बाद के मम्मट आदि ने रसाभास-भावाभास का माना है। उनका कहना है कि 'काम, क्रोधआदि के कारण अनुचित प्रवृत्त रसों तथा भावों को ऊर्जस्वि अलङ्कार कहते हैं।[3] सम्भवत: यही उद्भट का रसाभास भी था क्योंकि रसाभास की सत्ता को वे मानते ही थे, जैसा कि समाहित अलङ्कार के लक्षण में उन्होंने इसका उल्लेख किया है[4]। रुद्रट ने केवल शृङ्गाराभास का विवेचन किया है और अपने से विरक्त के प्रति किसी के रक्त होने अथवा रति भाव होने को उसका लक्षण बताया है, साथ ही यह भी कहा है कि यह शृङ्गाराभास उत्तम प्रकृतियों (आभाष्य) में नहीं प्रयुक्त किया जाना चाहिए[5]। ~~सम्भवत: रुद्रट के~~

---

१. शृङ्गारानुकृतिर्यास्तु सहास्य स्तु प्रकीर्तित:। —ना०शा० ६।४०

२. एतच्च शृङ्गारानुकृतिशब्दं प्रयुञ्जानो मुनिरपि सूचितवान्। अनुकृति रमुख्यता आभास इति ह्येकोर्थ:।। —लोचन, पृ० १७८-१७६

३. अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्। भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते। — का०सा०सं० ४।७।।

४. रसाभाव-तदाभासवृत्ते: प्रशमबन्धनम्। अन्यानुभावनि:शून्यरूपं यत्तत्समाहितम्। वही

५ अगले पृष्ठ पर

आनन्दवर्धन ने असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के प्रसंग में रसाभास एवं भावाभास की भी गणना की है।[१] तथा उसमें भी, प्रधान रूप से व्यंग्यता होने से, ध्वनिकाव्यता का सद्भाव बताया है।[२] किन्तु इनकी आभासता कब माननी चाहिए, उसके क्या लक्षण हैं, इत्यादि प्रश्नों पर कोई विचार नहीं किया, सम्भवतः रुद्रट वाला 'विरक्ते-रक्तः' आदि लक्षण इन्हें स्वीकृत था। अभिनव ने ध्वन्यालोक की पूर्वोक्त कारिका की व्याख्या के प्रसङ्ग में विभाव की आभासता होने पर रत्यादि स्थायियों की चर्वणाभासता मानी है तथा उसे रसाभासता का विषय बताया है।[३] वस्तुतः इसमें रति की कामना या अभिलाषा मात्र होती है जो स्थायि-स्वरूप नहीं अपितु व्यभिचारि मात्र है। किन्तु उसका अनुभव करने वाले सहृदय को स्थायि-भाव-सी प्रतीत होती है। इस रत्याभास या व्यभिचारिभाव रूपरति के कारण विभावा-याभास बन जाते हैं। इसीलिए वह रति स्थाय्याभासरूप में ही उपस्थित होती है। अर्थात् विभावाभास, अनुभावाभास तथा व्यभिचार्याभास के द्वारा रत्याभास से प्रतीत होने पर (रति का वास्तविक परिपाक न होकर जो केवल चर्वणाभास होता है) वह शृङ्गाराभास कहलाता है। जैसे सीता के प्रति रावण की दूराकर्षण मोहनमन्त्र इव में' इत्यादि उक्ति को सुनकर शृङ्गाराभास की प्रतीति होती है। रावण द्वारा सीता के प्रति व्यक्त की गई रति वस्तुतः रति नहीं है, रत्याभास है, क्योंकि इसमें दोनों ओर से परस्पर आस्थाबन्ध नहीं है। रावण अपनी कामान्धता के कारण, सीता उसको कितनी घृणा तथा उपेक्षा करती है, इसे समझ नहीं पा रहा है, क्योंकि जिस क्षण वह ऐसा जान जाय उसी क्षण उसका सीता के प्रति सारा अभिलाष विलीन हो जाय। और न ही उसे इस बात का भी निश्चय है कि सीता उसके प्रति अनुरक्त ही है। अतएव रावण के उस अभिलाष को रतिका आभास ही कहा जायगा, वैसे ही जैसे शुक्ति में रजत की प्रतीति रजताभास कही जाती है। इस प्रकार अभिलाष के एक पक्ष में ही रहने पर शृङ्गाराभास ही समझना चाहिए।

रुद्रट के लक्षण के अनुसार अभिनव ने भी विभावकी आभासता को ही रसाभास का हेतु माना है। मम्मट द्वारा दी गई आभास की परिभाषा में उद्भट के ऊर्जस्विगत अनौचित्य शब्द का प्रयोग दिखाई पड़ता है — जब रस तथा भाव अनुचित रूप में प्रवर्तित दिखाये जांय तो क्रमशः रसाभास एवं भावाभास कहलाते हैं।[४] अर्थात्

पिछले पृष्ठ का शेष — ५. शृङ्गाराभासः स तु यत्रविरक्ते ऽपि जायते रक्तः।
एकस्मिन्नपरो ऽसौ नामाभासः प्रयोक्तव्यः ।।काव्या०१४।३६

---

१. रसभाव-तदाभास-तत्प्रशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः।। ध्व० २।३

२. रसभावतदाभासतत्प्रशमलक्षणं मुख्यमर्थमनुवर्तमाना यत्र शब्दार्थालङ्कारा गुणाश्च परस्परं ध्वन्यपेक्षया विभिन्नरूपा व्यवस्थितास्तत्र काव्ये ध्वनिरितिव्यपदेशः। ध्व०२।पृ१८९

३. 'यदा तु विभावाभासाद्रत्याभासोदयस्तदा विभावानुभासाच्चर्वणाभास इति रसाभासस्य विषयः।' — लोचन, ध्व० २।३

४. तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः। —का०प्र० ४

जब किसी स्थायी भाव अथवा किसी संचारीभाव का विषय ऐसे को बनाया जाय जिसे नहीं बनाना चाहिए, तो वह, अनुचित प्रवर्तित होने के कारण, न पूर्ण न वास्तविक ही आस्वाद्य होगा, अपितु वह उसका आभास कहा जायगा। उदाहरण में उन्होंने अनुभयनिष्ठ तथा बहुनायकनिष्ठ रतिविषयक पद्य प्रस्तुत किया है। यहाँ आस्वाद्यदशा में तो यह असंलक्ष्यक्रमरूप शृङ्गार आदि रस ही होगा — अनौचित्यकी प्रतीति थोड़ी देर बाद होती है, और तब वह रसाभास तथा भावाभास कहलायेगा[1]।

मम्मट ने तिर्यगादिकों के भावों को रसाभास नहीं माना था। भयानक रस के उदाहरण में उन्होंने शाकुन्तल का 'ग्रीवाभङ्गाभिरामं' आदि पद्य उद्धृत किया, जिसमें मृग के भय का वर्णन है, तथा 'मित्रे क्वापि गते' आदि में पद्मिनी के विप्रलम्भ का, क्योंकि इनमें उन्हें कोई अनौचित्य नहीं प्रतीत होता। किन्तु उनके सिद्धान्तों का बहुश: अनुगमन करने वाले आचार्य हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में इस प्रश्न पर कुछ अधिक विस्तार से विचार किया है। उनका कहना है कि — 'इन्द्रिय-रहितों (जैसे वृक्ष, लता, नदी आदि) में तथा पशुपक्षियों (तिर्यगादि) में तथा इसी प्रकार ~~की~~ निशा, चन्द्रमा आदि में रत्यादि भावों का आरोप करने पर रसाभास तथा भावाभास माना जाता है[2]। हेमचन्द्र ने ऐसे रसाभास तथा भावाभास का समासोक्ति, अर्थान्तर-न्यास, उत्प्रेक्षा रूपक, उपमा, श्लेष आदि अलङ्कारों को जीवित माना है, अर्थात् उन अलङ्कारों के सहारे से ही रसाभास तथा भावाभास की योजना की जा सकती है[3]। किन्तु ध्वनिवादी रसाभास तथा भावाभास वहीं मानते हैं जहाँ व्यङ्ग्यार्थप्रधान हो और उसको भी असंलक्ष्यव्यङ्ग्य प्रकार का ध्वनिकाव्य कहते हैं। ~~समासोक्ति आदि अलङ्कारों में तो व्यङ्ग्यार्थप्रधान हो और उसको भी असंलक्ष्य व्यङ्ग्य प्रकार का ध्वनिकाव्य कहते हैं~~। समासोक्ति आदि अलङ्कारों में तो व्यङ्ग्यार्थ गुणीभूत रहता

---

१. तन्मयीभवनदशायां तु रतेरास्वाद्यतेति शृङ्गारतैवभातिपायापर्यविवेकावधीरणेन। ....
तदसौ शृङ्गाराभास एव तदङ्गं भावाभास: । — लोचन, पृ० ७६, के०एस०एस०, ४०

२. निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु चारोपाद्रसभावाभासौ। .... आदिशब्दान्निशा-
चन्द्रमसोर्नायिकत्वाद्यारोपात्संभोगाभास: । — का० अनु०, पृ० १२० — २२

३. रसाभासस्य भावाभासस्य च समासोक्त्यर्थान्तरन्यासोत्प्रेक्षारूपकोपमाश्लेषाद्यो
जीवितम्।" — का० अ०, पृ० १२२

४.

है, वाच्यार्थ प्रधान होता है। सबसे बड़ी बात तो यही है कि अभिनव तथा मम्मट के अनुसार तो गिरिन्द्रियों एवं तिर्यगादिकों के भावों में रस-भाव ही होंगे, उनकी आभासता नहीं।

साथ ही हेमचन्द्र ने अनौचित्य के कारण भी आभास माना है[1]। अन्योन्य के प्रति अनुरागादि के अभाव के कारण रत्यादि में अनौचित्य रहता है। अतएव उसे रसाभास तथा भावाभास कहते हैं।[2] इसी प्रकार अनेक कामुकविषयक अभिलाषको भी आभास ही कहा जायगा।[3] इस अनौचित्य-कृत रसाभास के प्रसङ्ग में तो हेमचन्द्र ने मम्मट का ही अनुगमन किया है।

एकावलीकार विद्याधरने मम्मट के अनुसार केवल अनौचित्य-प्रवृत्त स्थायी (और व्यभिचारी) को रसाभासतथा भावाभास का हेतु माना है[4]। हेमचन्द्र आदि द्वारा तिर्यगादिगत रसाभास वाले सिद्धान्त का उन्होंने प्रत्याख्यान किया है। उनका कहना है कि तिर्यक् प्राणियों को विभावादि का ज्ञान नहीं होता, अत: वे रसभाजन नहीं हो सकते -यह कहना ठीक नहीं, क्यों कि फिर तो कुछ मनुष्य भी विभावादि -ज्ञानशून्य होने के कारण इसके विषय नहीं हो सकते। रस के प्रति प्रयोजकता किसी का विभावादिरूप से सम्भव होना होता है, उसका विभावादि ज्ञान नहीं, विभावादिज्ञान उसे हो चाहे न हो, और पशु-पक्षियों में इस प्रकार की विभावता को प्राप्त करने की योग्यता होती है, अत: उनके भावों का निरूपण रस का विषय बन सकता है — जैसे कुमारसम्भव के इस श्लोक में —

ददौ सर: (रसात्) पङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणु: ।
अर्धोपभुक्तेन बिसेन जायां संभावयामास रथाङ्गनामा ।।

---

1. अनौचित्याच्च —का०अनु०, पृ० १२३

2. अन्योन्यानुरागाभावेनानौचित्याद्रसभावाभासौ ।। का०अनु०, पृ० १२३

3. यथावा— 'स्तुम: कं वामाक्षि क्षणमपि विनामं ।
 ब्यायसितुस्म् ।।
 ....
 अत्रानेककामुकविषयमभिलाषं तस्या: स्तुम: इत्याद्यनुगतं बहुव्यापारोपादानं व्यनक्ति ।। —का०अनु०, पृ० १२३

4. 'यत्रपुनरेकतरानुरागस्तत्र स्थायिनोऽनौचित्येन प्रवृत्तत्वात् तदाभास एव ।।
 —एकावली उन्मेष ३, पृ० १०६, बी०एस०एस०१६०३

यहाँ पूर्वार्ध में गज-आलम्बनविभावसे उत्पन्न होकर, वसन्त आदि उद्दीपन विभावों से उद्दीपित होकर, सुगन्धित गण्डूषजलदानरूप अनुभाव से प्रकाशित होकर, तथा हर्षादि-व्यभिचारी भावों से उपस्थित होकर करेणु (हथिनी) की रति सम्भोग शृङ्गार रूप में आस्वाद्य बनती है, इसी प्रकार उत्तरार्ध में चक्रवाक की रति सम्भोग शृङ्गाररूप में प्रकाशित होती है।[१]

प्रतापरुद्रीय में विद्यानाथ ने शृङ्गार को लोकोत्तर नायकाश्रित रहने पर तो रस माना है, किन्तु म्लेच्छादिविषयक होने पर रसाभास रूप कहा है। उन्हें शृङ्गाराभास तीन प्रकार का स्वीकृत है — १. एकत्रानुराग, (अनुभयनिष्ठरति), रूप, २. तिर्यङ्म्लेच्छादिगत तथा ३. नायिका का बहुनायकनिष्ठ[२]।

शारदातनय ने भाव-प्रकाश में अङ्गीरस के तृतीयांश में भी अङ्गरस के प्रविष्ट हो जाने पर मर्यादोल्लंघन होने के कारण रसाभासता मानी है।[३]

शिङ्गभूपाल ने अपने 'रसार्णवसुधाकर' में इस रसाभास के प्रश्न पर कुछ अधिक विस्तार के साथ विवेचन किया है। वे सिद्धान्ततः इस विषय में शारदातनय के अनुगामी हैं। उनका कहना है कि जैसे कोई अविनीत अमात्य स्वेच्छा से अपनी सम्पत्ति बढ़ाकर स्वामी (राजा) को आभास (गौण) दशा में पहुँचा देता है वैसे ही अङ्गरस के कारण अङ्गीरस आभास बन जाता है।[४]

इस विषय में उन्होंने भावप्रकाश की उन कारिकाओं को उद्धृत किया है, जिनमें प्रत्येक अङ्गरस के उद्रेक के कारण अङ्गीरस की आभासता कही गयी है।[५]

---

१. एकावली, उन्मेष ३, पृ० १०६—७

२. अतएव शृङ्गारस्य म्लेच्छादिविषयत्वेनाभासत्वम् तथा चोक्तम् —

एकत्रैवानुरागश्चेत्तिर्यङ्म्लेच्छगतोऽपि वा।

योषितो बहुसक्तिश्चेद्रसाभासस्त्रिधा मतः॥ प्र०रु०पृ० २२८-२९

३. भागत्रयप्रविष्टस्यप्रधानस्यैकभागतः। रसानां दृश्यते यत्र तत्स्यादाभासलक्षणम्॥')

४. अङ्गेनाङ्गी रसः स्वेच्छावृत्तिवर्धितसम्पदा।

अमात्येनाविनीतेन स्वामीवाभासतां व्रजेत्।' —र०सु० २।२६३, टी०एस०एस०

५. वे पंक्तियाँ इस प्रकार है —

शृङ्गारो हास्यभूयिष्ठः शृङ्गाराभास ईरितः।

हास्यो बीभत्सभूयिष्ठो हास्याभास इतीरितः॥

वीरो भयानकप्रायो वीराभास इतीरितः।

अद्भुतः करुणाश्लेषादद्भुताभास उच्यते॥ (क्रमशः)

हास्य-भूयिष्ठ होने पर शृङ्गार शृङ्गाराभास कहलाता है, जो चार प्रकार का होता है — १. अराग, अर्थात् नायक-नायिका में एक में ही राग हो दूसरे में नहीं, २. अनेकराग, अर्थात् स्त्री का अनेक पुरुषों में अथवा पुरुष का अनेक स्त्रियों में राग (दक्षिण नायक का तो एक नायिका में ही प्रौढ़ राग होता है अन्यों में केवल उसकी नायक वृत्ति ही रहती है राग नहीं। अतः उसे आभास नहीं कहा जायगा।) ३. तिर्यग्राग, तथा ४. म्लेच्छराग अर्थात् अनुत्तमप्रकृतिवाले व्यक्तियों का राग[1]।

शिङ्गभूपाल ने इस रसाभास के प्रसङ्ग में 'एकावली' में विद्याधर के 'तिरश्चामप्यस्त्येव रसः' वाले मत का बड़े तर्क के साथ खण्डन किया है। उनका कहना है कि मुनि (भरत) ने शृङ्गाररस में शुचि, समुज्ज्वल तथा दर्शनीय वस्तुओं को ही विभाव होने योग्य बताया है। तिर्यक् प्राणियों में उद्वर्तन, मज्जन, आकल्परचना आदि के अभाव के कारण उज्ज्वलत्व, शुचित्व तथा दर्शनीयत्व सम्भव ही नहीं। और यह कहना कि अपने जातिगतोचित धर्मों से करी-करिणी के प्रति विभाव हो जायेगा, ठीक नहीं।
क्यों कि उस रूप में करी करिणी के राग के प्रति कारण बनता है, विभाव नहीं।
और स्वजातिगतोचितधर्मों के कारण कोई वस्तु विभाव नहीं बनती, अपितु भावक अथवा सामाजिक के चित्त में उल्लासोत्पत्ति के हेतु रत्यादिविशिष्ट धर्मों के ही कारण। और फिर, औचित्यविवेक ही विभावादि ज्ञान होता है उससे रहित होने के कारण तिर्यक् प्राणी विभावत्व नहीं प्राप्त कर सकते। यद्यपि कुछ ऐसे मनुष्य भी होते हैं जिन्हें विभावादि-ज्ञान नहीं होता। तो क्या उनमें भी रसाभास ही माना जायगा ? हाँ, म्लेच्छगतराग ऐसे ही विवेकरहित मनुष्यों का तो उपलक्षण है। अतः उसे रसाभास ही कहना चाहिए। रसाभासता के लिए अविवेकजन्य अनौचित्य ही मूल में रहता है[2]।

वस्तुतः अनौचित्य ही रस-भाव की आभासता के मूल में माना जाना चाहिए। अनौचित्य भी दो प्रकार का होता है — १. असत्यरूप तथा २. अयोग्य रूप। वृक्ष, लता, नदी आदि अचेतन प्राणियों में वर्णित होने पर रत्यादिभाव असत्यरूप अनौचित्य से युक्त होता है, तथा नीच पुरुष एवं तिर्यक् प्राणियों में रहने पर अयोग्य रूप अनौचित्य से युक्त होता है। अतः वह उभयत्र आभास ही कहा जायगा[3]।

पिछले पृष्ठ का शेष— रौद्रः शोकभयाश्लेषाद् रौद्राभास इतीरितः।
करुणो हास्यभूयिष्ठः करुणाभास उच्यते ॥
बीभत्सो द्भुतशृङ्गारी बीभत्साभास उच्यते।
स स्याद्भयानकाभासो रौद्रवीरोपसङ्गमात् ॥

१. र०सु०, पृ० २०३-५ २. र०सु०पृ० २०६-७ ३. (देखें अगले पृष्ठ पर)

शृङ्गाराभास-

रसाभास के प्रसङ्ग में भानुदत्त ने एक बड़ा मार्मिक विवेचन किया है - जैसे एक नायिका का अनेक नायकविषयक रति रतिआभास है उसी प्रकार एक नायक का अनेक नायिका-विषयरति भी आभास ही है। किन्तु यहाँ (नायक की बहु-नायिकाविषयक रति में) एक विशेषता की ओर ध्यान रखना चाहिए कि जिस नायक की बहुत-सी नायिकायें व्यवस्थित हैं वहाँ अनौचित्य के अभाव के कारण रसाभास नहीं माना जायगा, नहीं तो, कृष्ण की रति जो सकलोत्तम नायक माने जाते हैं, आभासरूप हो जायगी, क्योंकि वह भी तो बहुकामिनी विषयक ही है। अतः अव्यवस्थितबहुकामिनी-विषयिणी, वैशयिकविषयिणी तथा बहुनायकविषयिणी रति ही आभासरूप मानी जायगी। इसीलिए तो प्राचीन आचार्यों ने वैशयिकों की तथा वेश्याओं के शृङ्गार को रसाभास ही कहा है।[१]

शारदातनय ने जब शृङ्गाररस हास्यरस से अभिभूत होता है, तो उसे शृङ्गाराभास कहा है।[२] यह इसलिए कि जब एक रक्त हो और दूसरा अपरक्त हो तो उनकी चेष्टा लोगों में हासकरी होती ही है। अतः वह (चेष्टा) दृष्टा, श्रुता या सूचिता भी शृङ्गाराभास की हेतु बनती है।[३] दो भागों में प्रविष्ट रस के प्रधान के एक भाग को लेकर उसका आभास कहाजाता है[४]। जो रस पहिले दिखाई पड़े, सुनाई

पिछले पृष्ठ का शेष- ३. आभासता भवेदेषामनौचित्यप्रवर्तिनाम् ।
असत्यत्वादयोग्यत्वाद् अनौचित्यं द्विधा भवेत् ।
असत्यत्वकृतंतत्स्याद् अचेतनगतं तु यत् ।
अयोग्यत्वकृतंप्रोक्तं नीचतिर्यङ्नराश्रयम् ।।
-दी०एन०ओ०आर० में उद्धृत, पृ० १४६

---

१. एवमेकस्या अनेकविषयारतिराभास एव । परन्त्वेष विशेषः यस्य व्यवस्थिता बह्व्यो नायिकाभवन्ति तत्र न रसाभास स्तथा सति कृष्णस्य सकलोत्तमनायकस्य बहुकामिनी विषययारतेराभासतापत्तेःतस्मादव्यवस्थितबहुकामिनीवैषयिकबहुनायकपरमेतत्, अतएव वैशयिकानां वेश्यानां च रसाभास इति प्राचीनमतम् - र०त० ८

२. हास्याभिभूतःशृङ्गारस्तदाभासोभविष्यति । ६।१३२

३. रक्तापुरक्तयोश्चेष्टा यतोहासकरी नृणाम् ।
दृष्टाश्रुतासूचितापि शृङ्गाराभासकारिका ।। ६।१३३

४. भागद्वयं प्रविष्टस्य प्रधानस्यैकभागता ।
रसानां दृश्यते यत्र तत्स्यादाभासलक्षणम् ।। ६।१३३

पड़े अथवा सूचित हो, उसे प्रधान कहते हैं [१]।

हरिपालदेव ने तो नीच-तिर्यगाश्रितरति को शृङ्गार से पृथक सम्भोग नाम से दूसरा रस ही करार दिया [२] है। विश्वनाथ ने अनौचित्यप्रवृत्त रसभाव को रसाभास तथा भावाभासतो माना ही है, साथ ही शृङ्गार में कहां-कहां अनौचित्य होता है इसका भी लेखा गिना दिया है- " जब रति उपनायक में स्थित हो, मुनि-गुरुपत्नीगत हो, बहुनायकविषयक हो, तथा अनुभयनिष्ठ हो तो उसमें अनौचित्य होता है। इसी प्रकार जब शृङ्गार प्रतिनायकनिष्ठ अधमपात्रगत अथवा तिर्यगादिगत होता है तो उसमें अनौचित माना जाता है। [३] इसी प्रकार लज्जादिभाव वेश्यादिगत होकर भावाभास कहलाते हैं। [४]

और अन्त में पण्डितराज ने रसाभास की अपने ढंग से मीमांसा की है। उनका कहना है कुछ आचार्यों के मत से जहां अनुचित विभाव का आलम्बन लिया जाय वह रसाभास होता है। [५] विभावादिकों का अनौचित्य तो लोकव्यवहार से जाना जा सकता है- जिसे लोग अनुचित कहें वही अनुचित है [६]। परन्तु रसाभास के उक्त लक्षण

---

१. प्रथमं दृश्यते यत्तु श्रूयते सूच्यते पिवा। तत्प्रधानमितिप्राहूरसप्राधान्यवेदिनः।६।१३३

२ सर्वजन्तुषु दृश्यत्वात् संभोगस्यास्तिनित्यता।
अतो व्यधायि संभोगो रसः शृङ्गारतः पृथक् ।। - दीएन०औआर० में उद्धृत, पृ०१४५

३. उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च।
बहुनायकविषयां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम् ।
प्रतिनायकानष्ठत्वे तदधमपात्रतिर्यगादिगते। शृङ्गारे नौचित्यम् ।
—सा०द० ३।२६३-२६४

४. भावाभासोलज्जादिके तु वेश्यादिविषये स्यात् ।
— सा०द० ३।२६६

५ अनुचितविभावालम्बनत्वं रसाभासत्वम् - र०गं०

६. विभावादावनौचित्यं पुनर्लोकानां व्यवहारतो विज्ञेयम्, यत्र तेषाम् अनुचितम् इति धीरितिकेचित् ।

— र०गं०

को दूसरे विद्वान् नहीं मानते । वे कहते हैं – इस लक्षण से यद्यपि मुनि-पत्नी, गुरु-पत्नी आदि के विषय में होने वाली रति का संग्रह हो जाता है, क्योंकि मुनिपत्नी आदि इतर मनुष्य की रति के लिए अनुचित हैं, यह बात लोगों की बुद्धि कबूल करती है, व तथापि किसी नायिका की अनेक नायकों के विषय में जो रति होती है और नायक-नायिका की उन दोनों में से केवल एक में जो रति होती है, उनका संग्रह नहीं होगा, क्योंकि वहां विभाव अनुचित नहीं है । अत: अनुचित विशेषण विभाव में न लगाकर रति आदि स्थायी भावों में लगाना चाहिए – अर्थात् जिसके रति आदि स्थायी भाव अनुचित रूप से प्रवृत्त हुए हों, वे रसाभास कहलाते हैं । ऐसा करने पर अनुचितविभाववाली, बहुनायकगत, तथा अनुभयनिष्ठ तीनों का संग्रह हो जायगा । क्योंकि तीनों में रति ही अनुचितप्रवृत्त होती है । अनौचित्य का लक्षण वहां भी पूर्ववत् ही रहेगा अर्थात् जिसे लोग अनुचित समझें[1]।

फिर पण्डितराज का कहना है कि कुछ लोग रसादि के आभास को रसादि के साथ समानाधिकरण नहीं मानते, क्योंकि रसादि तो वह है जो निर्मल अथवा निर्दोष हो । रसादि का आभास तो सदोष होता है । तो, जैसे हेत्वाभास हेतु नहीं हो सकता, वैसे ही रसादि का आभास और रसादि एक हैसियत के नहीं माने जा सकते ।[2] किन्तु अन्य मत से रसादि का आभास भी रसादि ही है – अर्थात् उसमें अनुचितत्व अथवा सदोषत्व के कारण उसके रसादि स्वरूप में कोई क्षति नहीं आयेगी, और, जैसे सदोष अश्व को ही अश्वाभास कहा जाता है, वैसे ही उस सदोष रस को ही रसाभास कहा जायगा[3]। जैसा कि इस प्रकरण के प्रारम्भ में स्पष्ट किया गया है आभास का अर्थ है अवास्तवप्रतीति– शुक्ति में रजत का आभास रजत की अवास्तव प्रतीति है, इसमें सन्देह

---

१. तदपरे न क्षमन्ते, मुनिपत्न्यादिविषयकरत्यादे: संग्रहे पि बहुनायकविषयाया अनुभयानिष्ठायाश्चरतेरसङ्ग्रहात् । तत्र विभावगतानौचित्यस्याभावात् । तस्मादनौचित्येन रत्यादिर्विशेषणीय: इत्थं चानुचितविभावालम्बनाया बहुनायकविषयाया अनुभयानिष्ठाया श्च संग्रह इति । 'अनौचित्यं च प्राग्वदेव । –र०गं० भाग १

२. तत्र रसाद्याभासत्वमिव हेतुत्वेन, रसत्वादिना न समानाधिकरणम् निर्मलस्यैव रसादित्वात् हेत्वाभासत्वमिव हेतुत्वेन, इत्येके ।। र०गं०

३. नह्यनुचितत्वेनात्महानि: अपितु सदोषत्वादाभास-व्यवहार: , अश्वाभासादि-व्यवहारवत्, इत्यपरे ।।

र०गं०–I

नहीं किन्तु अवास्तविकता का ज्ञान तब होता है जब प्रतीति नष्ट हो जाती है — शुक्ति में जब तक रजत की प्रतीति होती है तब तक अवास्तविकता का ज्ञान नहीं होता। इसीप्रकार रसाभास में अनौचित्य का ज्ञान बाद में होता है। रस की प्रतीति पहले हो जाती है। जब तक प्रतीति रहती है तब तक अनौचित्य का ज्ञान नहीं रहता और जब अनौचित्य का ज्ञान हो जाता है तभी प्रतीति बाधित होती है। अत: रसाभास रस के अन्तर्गत ही आता है (1 तथापि पश्चात्त्यैर्व सामाजिकानां स्थिति:, तन्मयीभवनदशायां तु रतेरास्वाद्यतेति शृङ्गारत्वेव भाति पौर्वापर्यविवेशावधीरणेन।") ६ II अतएव तदाभासत्वं वस्तुतस्तत्रस्थाप्यते शुक्तीरजताभासवत्।")

पण्डितराज ने नववधू के प्रति नायक की उस रति को, जो नववधू में नायक के प्रति अभी बिलकुल अङ्कुरित ही नहीं हो पाई है, अनुभयनिष्ठ होने के कारण, आभास रूप ही मानी है।[१] उन्होंने बहुनायकनिष्ठता का उदाहरण रूप से द्रौपदीका पाँचों पाण्डवों की पत्नी बनने पर उनके प्रति उसके रति-विषयक एक पद्य का उल्लेख किया है, और कहा कि इसे नव्य आचार्य तो रसाभास मानते हैं, किन्तु प्राचीन आचार्य तो उसी रति को आभास मानते हैं, जो बहुत से अपरिणीता नायकों के प्रति होती है, पाण्डव तो द्रौपदी के परिणीता थे[२]। अत: अन्त में उन्होंने शृङ्गाररस की भांति उसके आभास के भी दो भेद किए हैं — १. संयोगाभास तथा २. विप्रलम्भाभास[३] और उनके उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। वस्तुत: समाज में नैतिक सिद्धान्त अथवा शास्त्र लोकप्रकृति के नियामक हुआ करते हैं। भारतीय वाङ्मय में लोकशास्त्र का प्रयोग प्राय: एक साथ होता आया है। परन्तु कभी-कभी दोनों में तीव्र संघर्ष उत्पन्न हो जाता है।

---

१. यथावा— भुजपंजरे गृहीता, नवपरिणीता वरेण वधू:।
तत्कालजालपतिता, बालकुरङ्गीव वेपते नितराम् ।।

अत्र रतेर्नववध्वामनागप्यस्पर्शादनुभयनिष्ठत्वेनाभासत्वम् — र०गं०

(किन्तु नायक की इस रति को कौन सहृदय अनुचित कहेगा? पण्डितराज का यह विवेचन अधिक उचित नहीं समझ पड़ता। परिणीता के हृदय में तो परिणय के साथ ही नायक के प्रति रति का बीजारोपण हो जाता है। अत: उसके प्रति नायक की रति को अनुभयनिष्ठ दोष देना अनुचित है।)

२. अथात्र किं व्यङ्ग्यम् — व्यानम्राश्चलिताश्चैव, स्फारिता: परमाकुला:।
पाण्डुपुत्रेषु पांचाल्या: पतन्ति प्रथमा दृश:।।

अत्र व्यानम्रतया धर्मात्मताप्रयोज्यं युधिष्ठिरे सभक्तित्वम्, चलिततया स्थूलाकारताप्रयोज्यं भीमसेने सत्रासत्वम् स्फारिततया लौकिकशौर्यश्रवणप्रयोज्यमर्जुने सहर्षत्वम् परमाकुलतया परमसौन्दर्यप्रयोज्यं नकुलसहदेवयो रौत्सुक्यं च व्यंजयन्तीभिर्दृग्भि: पांचाल्याबहुविषयाया रतेरभिव्यञ्जनाद् रसाभास एवेतिनव्या:। प्राञ्चस्त्वपरिणेतृ-बहुनायकविषयत्वे रतेराभासतेत्याहु:। — र०गं०।

३. तत्र शृङ्गाररस इव शृङ्गाररसाभासो पि द्विविध: संयोगविप्रलम्भभेदात्। र०गं० I

दशम अध्याय

शृङ्गार - प्रकीर्ण

दशम अध्याय

शृङ्गार - प्रकीर्ण

भरत ने रसों के वर्ण और देवता का भी उल्लेख किया है। अभिनव ने रसों के इस वर्णादिकथन का प्रयोजन इतना ही माना है कि पूजा, ध्यान आदि में इसका उपयोग हो सकता है।[१] शृङ्गार को उन्होंने वर्ण श्याम[२] और देवता विष्णु माना है।[३] अभिनव ने यहाँ विष्णु शब्द का अर्थ कामदेव लगाया है।[४] शृङ्गार-रस को भरतने स्त्री-पुरुषहेतुक उत्तम युवप्रकृति बताया है।[५] युवावस्था के आने पर कुचाग्र आदि के बालों तथा स्तनाग्र आदि में श्यामता आ जाती है, अतएव वय:-सन्धि में स्थित नायिका को 'श्यामा' कहा जाता है।[६] सम्भवत: इसी कारण शृङ्गार रस का भी वर्ण श्याम मान लिया गया। अथवा, विष्णु देवता का श्याम-वर्णप्रथित होने के कारण भी शृङ्गार रस श्याम रङ्ग में रंग गया। अस्तु।

भानुदत्त ने भी शृङ्गारका देवता स्वयं विष्णु को कहा है। (और सम्भवत: उन्हीं के रंग के कारण इसका भी) रङ्ग श्याम बताया है।[७] वे कहते हैं कि शृ०र० इसलिए प्रथम गणनीय है कि उसके अधिदेवता विष्णु हैं। और वह सर्वाभिलषणीय है। और रसमंजरी में केवल उसी का विवेचन इसलिए करते हैं कि वह मध्यर्हिततम रस है।[८] विश्वनाथ ने भी शृ०र० का श्यामवर्ण तथा विष्णुदेवता माना है।[१०]

---

१. वर्णाभिधानं पूजादौ ध्यान उपयोगि — अभि० भार०, पृ० २९८

२. श्यामो भवेत्तु शृङ्गार: — ना०शा० ६।४२

३. शृङ्गारो विष्णुदैवत्य: — ना०शा० ६।४४

४. विष्णु: कामदेव: अभि० भार०, पृ० २९८

५. स च स्त्रीपुरुषहेतुक उत्तम-युव-प्रकृति: — ना०शा०, पृ० ३०१

६. यथा - 'तन्वी श्यामा शिखरिदशना' — उत्तरमेघ, 'श्यामायहंसस्य करानवाप्तेर्मन्दा-क्षलक्ष्या लगतिस्म पश्चात्' — नैषध।

७. अस्य दैवतं विष्णुर्वर्ण: श्याम: — र०त० ६

८. र०त०, ६

९. र०मं०, पृ० ४

१०. श्यामवर्णोऽयं विष्णुदैवत: — सा०द० ८६

कविकृष्णा शर्मा ने अपने मन्दारमरन्द चम्पू में (पृ०२०का) देवता विष्णु तथा वर्ण श्याम माना है[1]। विद्याराम ने भी शृङ्गार के विष्णुदेवता का तथा श्यामवर्ण का उल्लेख किया है।[2]

नाट्यवृत्तियाँ--

भरत ने नाट्यवृत्तियों का निरूपण किया है। उनके महत्त्वके विषय में नाट्यशास्त्रकार कहते हैं किवृत्तियाँ सभी काव्यों की जननी मानी गई हैं। इन्हीं वृत्तियों के प्रयोग से दश रूपका प्रादुर्भाव हुआ है।[3] और अभिनव तो यहाँ तक कहते हैं कि सम्पूर्ण संसार इन चार वृत्तियों से व्याप्त है।[4] वृत्ति शब्द की व्युत्पत्ति है 'वर्तनंवृत्तिः'। इस प्रकार मन, वचन तथा शरीर की चेष्टाएं ही वृत्ति कही जाती हैं। नाटकादि प्रबन्धों में उपनिबद्ध नायक नायिका आदि के विविध व्यापारों को वृत्ति कहते हैं। भगवान् हरि ही इन वृत्तियों के प्रवर्तयिता कहे गये हैं। नाट्य में उनकी उत्पत्ति के विषय में भरत ने इस प्रकार विवरण किया है -- सृष्टि के आदि में एकार्णवीभूत जगत् में मधु और कैटभ के साथ युद्ध करते समय विष्णु की वाणी एवं पद-न्यासों से भारतीवृत्ति प्रवृत्त हुई, शाङ्र्गधनुष् के धीर सत्त्वाधिक दीप्ति कर वल्गितों (टङ्कारों) से सात्त्वती वृत्ति हुई, संरम्भवेगबहुल, अनेक पैतरेबाजी (नाना चारी) वाली विचित्र युद्ध-क्रियाओं से आरभटी वृत्तिनिर्मित हुई तथा लीला-समुद्भूत अपने विचित्र अङ्गहारों से जो देव ने अपनी शिखा बांधी उससे कैशिकी वृत्ति निर्मित हुई। इस प्रकार भगवान् की वाणी, मन, काम तथा चेष्टा की वृत्तियों (व्यवहारों) को ही ब्रह्मा ने भारती आदि नाम से प्रतिपूजित किया। नाट्यवेद के निर्माण में जैसे पाठ्यआदि ऋग्वेद से लिए गए कहे गये हैं उसी प्रकार इन वृत्तियों में भी पाठ्य-प्रधाना-भारती ऋग्वेद से, अभिनय प्रधाना सात्त्वती यजुर्वेद से, अनुभावादि आवेशमय रस-प्रधाना आरभटी अथर्ववेद से तथा गीतवाद्या आदि उपरञ्जकप्रधाना कैशिकी सामवेद से गृहीत मानी गई[5]। वस्तुतः भारती वृत्ति रूपक प्रबन्धों में चित्रित चरितों का

---

१. दैवतं विष्णुरेतास्यवर्णःश्यामः प्रकीर्तितः ।।

२. अथास्यदैवतं विष्णुर्वर्णःश्यामः स्मृतो बुधैः --र०दी० २।६

३. सर्वेषामेव काव्यानां, मातृकावृत्त्यः स्मृताः ।
आभ्यो विनिस्सृतं ह्येतद्दशरूपंप्रयोगतः ।। --ना०शा० १८।४,गी०

४. सर्वो हि संसारो वृत्तिचतुष्टयेणाव्याप्तः ।' -- भारती

५. 'ऋग्वेदाद् भारतीक्षिप्ता यजुर्वेदाच्चसात्त्वता ।
कैशिकी सामवेदाच्च शेष चाथर्वणादपि ।। --ना०शा० २०।२५ गी०

वाग्व्यापार है। भरत ने उसे वाच्यभूयिष्ठा कहा है। [1] तथा वाक्प्रधाना माना है[2]। अभिनव ने भी इसे पाठ्यप्रधाना अथवा वाग्वृत्ति कहा है।

भट्टोद्भट ने काव्य में प्रयुक्त वर्णों के स्वरूपपर तीन प्रकार की वृत्तियों का निरूपण किया था । १. परुषा अथवा नागरिका , २. ललिता अथवा उपनागरिका तथा ३. कोमला अथवा ~~ग्राम्या~~ ग्राम्या[3]। इन्हें अन्य आलङ्कारिकों ने भी अनुप्रास की वृत्तियां कहा है। आनन्दवर्द्धन ने पूर्वोक्त भरत की नाट्य सम्बन्धी भारती प्रभृति तथा भट्टोद्भटकी नागरिकाप्रभृति (काव्य-सम्बन्धी) दोनों प्रकार की वृत्तियों को रसानुकूल क्रम से अर्थ एवं शब्द का औचित्यपूर्ण व्यवहार रूप माना है। उनका कहना है कि व्यवहार को ही वृत्ति कहते हैं। उनमें रसानुगुण औचित्ययुक्त जो वाच्य अर्थ का व्यवहार अथवा प्रयोग होता है उसे कैशिकी आदि वृत्तियां कहते हैं और जो वाचक शब्द का व्यवहार अथवा प्रयोग होता है उसे उपनागरिकादि वृत्तियां कहते हैं। रसादि के अनुरूप प्रयुक्तकी गई ये वृत्तियां नाट्य एवं काव्य में कुछ अनिर्वचनीय सौन्दर्य उत्पन्न कर देती हैं। रसादि इन दोनों प्रकार की वृत्तियों के जीवित अथवा प्राण रूप हैं[4]।

नाट्यदर्पणकार ने नाट्य-वृत्तियों का मनोवैज्ञानिक -सा विवेचन किया है। उन्होंने पुरुषार्थसाधक विचित्र व्यापार को वृत्ति नाम दिया है। नाट्य में सभी चेष्टा रसभाव से संवलित होती हैं। कायिक,वाचिक तथा मानस व्यापार परस्पर सम्बद्ध होते हैं अत: वृत्ति-तत्त्व तो एक-रूप ही है। उनमें भी जिसमें जो अंश

---

१. भारती वाच्य-भूयिष्ठा भारतीयं भविष्यति —ना०शा० - २२।६

२. या वाक्-प्रधाना .. .. — ना०शा० २२।२५

३. का०सा०सं० १।५—७

४. रसाद्यनुगुणत्वेनव्यवहारो र्थशब्दयो:
औचित्यवान् यस्तास्ता वृत्तयो द्विविधा:स्थिता: ।
व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते । तत्र रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो य व्यवहार स्ता एता: कैशिक्याद्या वृत्तय: । वाचकाश्रयस्चोपनागरिकाद्या: । वृत्तयो हि रसादितात्पर्येण संनिवेशिता: कामपिनाट्यस्य काव्यस्य च च्छाया-मावहन्ति । रसादयो हि द्वयोरपि तयो जीवितभूता: — ध्व०३।३३

प्रधान होता है उसकी दृष्टि से वृत्तियाँ चार मानी गई हैं। ये ही व्यापार वर्णनीय रूपसे जब कवि-हृदय में स्थित होते हैं तो इन्हीं से अथवा स्वयं ये ही काव्य-रूप में प्रकट होते हैं। नाट्य ही नहीं काव्य में भी वृत्तियाँ होती हैं — क्योंकि कोई भी वर्ण्य विषय व्यापारशून्य नहीं होता[१]।

शिङ्गभूपाल ने भारती को शब्दवृत्ति तथा अन्यतीनों को अर्थवृत्तियाँ कहा है[२]। विद्याराम ने सभी कर्मों की इतिकर्तव्यता को रीति तथा उनके यथार्थरूप में कर्म में प्रयोग को प्रवृत्ति कहा है।[३] वैसे तो काव्य के समस्त अङ्ग रीति-वृत्ति के अनुसार ही गुम्फित किए जाने चाहिए किन्तु रसों का वर्णन तो इन्हीं के अनुसार ही उचित है अन्यथा रस पुष्ट न होगा। वह रसाभास होगा तथा लोक में रीति-विरुद्ध कर्म की भाँति उपहासास्पद होगा।[४] उन्होंने वैदर्भी, मागधी, गौडी और पाँचाली चार रीतियाँ तथा इन्हीं रीतियों की क्रम से कैशिकी, भारती, आरभटी तथा सात्वती ये चार वृत्तियाँ बताई हैं[५]।

<u>शृङ्गाररस की वृत्ति कैशिकी</u> —

इन चारों में कैशिकी वृत्ति शृङ्गाररस की जीवितभूत मानी गयी है। उसके स्वरूप का विवरण भरत ने इन शब्दों में किया है।[६] " जो हृय वस्त्रनाल्यादि

---

१. पुरुषार्थ--साधको विचित्रो व्यापारो वृत्तिः। रसभावाभिनयतम्भिन्नो हि सर्वो नाथे व्यापारः। चतस्रइति चतुर्भेदत्वमन्यतमचेष्टांशप्राधान्यविवक्षाया, अपरानेकव्यापार-संवलितमेकमेव वृत्तितत्त्वम्। .... अतः सङ्कीर्णत्वे प्यंशप्राधान्यापेक्षया वृत्तयः चतस्रः नाट्यस्याभिनेयकाव्यस्य मातर इवमातरः। आभ्यो हि वर्णनीयत्वेन कविहृदये व्यवस्थिताभ्यः काव्यमुत्पद्यते। ..... अभिनेये पि काव्ये वृत्तयो भवन्त्येव। नहिव्यापार-शून्यं किंचिद् वर्णनीयमस्ति — ना०द०, ३ पाविवेक।

२. आसांतुमध्ये वृत्तीनां शब्द-वृत्तिस्तुभारती
तिस्रो र्थवृत्तयश्शेषास्तच्चतस्रोहिवृत्तयः ॥ — र०सु० १।२८६

३. इतिकर्तव्यतासर्वकर्मणां रीतयःस्मृताः
वृत्तयो वर्तनं तासां याथातथ्येनकर्मसु। — र०दी० ४।६०

४. र०दी० ४।५६—५६

५. वैदर्भी, मागधी, गौडी, पाँचाली चेति रीतयः।
चतस्रो वृत्तयो प्यासां चतस्रो हि यथाक्रमम् ॥
कैशिकी भारती चाथ तथैवारभटी परा।
सात्त्वती चेति विज्ञेयाश्चतस्रो वृत्तयो प्यमूः — र०दी० ४।६१।६२

६ (अगले पृष्ठ पर)

विशेष से रंगबिरंगी, स्त्री-बहुल, विपुल प्रकार के नृत्तगीत से पूर्ण तथा शृङ्गार सम्बन्धी उपचारों से युक्त हो उसे कैशिकी वृत्ति कहते हैं। इस प्रकार कैशिकी में शृङ्गाररस की विभाव स्त्रियां तथा अनुभाव नृत्तगीतादि पूर्णरूप में मिलते हैं। यह कैशिकी वृत्ति वास्तव में शृङ्गाररस की चेष्टा अथवा अनुभावरूप ही मानी गई है। 'कैशिकाएं अर्थात् प्रशस्त केशवाली स्त्रियां जिसमें प्रधान हों वह है कैशिकी वृत्ति है।'[1] इस व्युत्पत्ति से भी ~~इस वृत्ति से भी~~ इस वृत्ति का स्त्री-बहुल, नेपथ्यविचित्र, संगीतप्रचुर तथा काम-प्रवणस्वभाव स्वयं सिद्ध हो जाता है। वस्तुत: जहां कहीं भी शृङ्गार-रस, हास-परिहास, विलास, लालित्य एवं माधुर्य दिखाई पड़े वह सब कैशिकीवृत्ति का क्षेत्र माना जाना चाहिए।

कैशिकी के भेद-

कैशिकी के चार भेद (अथवा अङ्ग) गिनाये गये हैं - नर्म, २. नर्म-स्फुञ्ज, ३. नर्मस्फोट, तथा ४. नर्मगर्भ[2]। चारों में नर्म का होना आवश्यक है। नर्म कहते हैं जिसमें हास्यवचन प्रधान हो।[3] इस प्रकार इन चारों नर्मप्रकारों में हास्य की प्रधानता अवश्य होनी चाहिए। शृङ्गार और हास्य का साहचर्य तो निश्चित ही है।[4]

शेष - याश्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रास्त्रीसंयुता या बहुनृत्तगीता।
कामोपभोगप्रभवोपचारा तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति ।। ना०शा० २२।४ चौ०

~~अभिनवभारती~~ -

"श्लिष्यति हृदय मितिश्लक्ष्ण:सुकुमार: इति वा नेपथ्यविशेषोवस्त्रमाल्यादि: तेन चित्राभवति स्त्रीपात्रसंयुता बहु विपुलंगीतंनृत्तं च यस्यामु। कामोपभोगो रति:तत:प्रभवो य: स शृङ्गार स्तद् बहुल उपचारों व्यवहारो यस्यां सा तथोक्ता"
- भारती

---

१. अतिशायिन: केशा:सन्त्यासामिति कैशिका:।
स्त्रिय: स्तनकेशवतीत्वं हि स्त्रीणां लक्षण मितितत्प्रधानत्वात् तासामियं कैशिकी"

२. ना०शा० २२।४८, चौ०

३. हास्यप्रवचन-बहुलं नर्मेति - ना०शा० २२।४६ चौ०

४. शृङ्गाराद्भिवेद्धास्यम्। ना०शा०

नर्मप्रकार—

नर्म भी तीन प्रकार का होता है — १. आस्थापितशृङ्गार, २. विशुद्धकरण तथा ३. निवृत्तवीररस। इनमें जिस नर्म में ईर्ष्या-क्रोध-बहुल हास होता है, उसे आस्थापित-शृङ्गार कहते हैं, जिसमें उपालम्भवचनानुविद्ध हास हो, उसे विशुद्धकरण तथा जिसमें दूसरे मन को ठेस पहुँचने के लिए (परहृदयमभिव्याप्तुम्) हास होता है, उसे निवृत्तवीररस कहते हैं।

नर्मस्फुञ्ज—

नर्मस्फुञ्ज वह नर्म है, जिसमें सम्भोग केवल नवसङ्गमरूप ही होता है। जो रति-समुदयवेषवाक्य से संयुक्त होता है तथा जिसमें अवसान में पूर्वनायिका का भय रहता है।[१] इस प्रकार इसमें थोड़ा नर्म में विघ्न पड़ ही जाता है।

नर्मस्फोट—

वह नर्म है, जो विविध भावलवों से विभूषित हो तथा जिसमें रस समग्राभिव्याप्त न हो।[२] अर्थात् जो भयहासहर्षत्रासरोष आदि अंशरूप में ही रहें, पूर्ण नहीं। अतएव वहाँ भयानक हास्य, रौद्र आदि रसों की सम्भावना न होगी, रहेगा शृङ्गार ही, वे केवल सहायक रूप रहेंगे। नर्मस्फोट शब्द का अर्थ ही है नर्म अर्थात् नर्मोपलक्षित शृङ्गार का स्फोट अथवा चमत्कारोल्लास।[३]

---

१. नवसङ्गमसम्भोगो रतिसमुदयवेषवाक्यसंयुक्तः।
ज्ञेयो नर्मस्फुञ्जो ह्यवसानभयात्मकश्चैव॥ —ना०शा० २१.५६, गा०

१. 'यथा रत्नावल्यामुदयनस्य सागरिकायाश्च नर्मणः स्फुञ्जो विघ्न इत्यर्थः' — भारती

२. विविधानां भावानां लवै लवै र्भूषितो बहु विशेषैः यः।
असमग्राक्षिप्तरसो नर्मस्फोटस्तु विज्ञेयः॥ ना०शा० २०।६०

३. विविधाभावाः भयहासहर्षत्रासरोषाद्याः लवैर्लवैरित्यत एव भयादीनामंशेन भावात् स्थायित्वानुपगमात् भयानकहास्यरौद्रादिरसतापत्तिर्न सम्भवति। शृङ्गारस्तुपूर्ण एव 'जस्स कि दे तुमं एत्थ आअदा से एत्थ एव्व चिट्ठदि' इति सुसङ्गतोक्तौ हासलवः, न हास्यो रसः।

'सहि कस्स किदे अहं एत्थ आअदा इत्यत्र सागरिकोक्तौ (रौद्रा लवो न तु रौद्रः स्वमन्यत्र। नर्मणा इति तदुपलक्षितस्य शृङ्गारस्य स्फोटो वैचित्र्यं चमत्कारोल्लासकृतस्फुटत्वं यत्रेति। (भारती)

नर्मगर्भ-

नर्मगर्भ वह नर्म है, जहाँ नायक शृङ्गारोपयोगी विज्ञान, रूप, शोभा, धन आदि गुणों द्वारा कार्यवश प्रच्छन्नरूप से व्यवहार करता है[१] — इस प्रकार, कैशिकी वृत्ति शृङ्गार रस की चेष्टा (अनुभाव) रूप है। काव्य में एक ही रस तो होता नहीं, अनेक होते हैं। अतः जो बाहुल्य में हो उसी की वृत्ति प्रधान रूप से मानी जाती है। वृत्तियाँ भी चार होती हैं १-कैशिकी, २-आरभटी, सात्त्वती तथा भारती।

शृङ्गाररस की वृत्ति कैशिकी

धनञ्जय ने नायक और नायिका का वर्णन कर फिर नायक की रस विशेष में क्या व्यावृत्ति या व्यापार होता है इसका विवेचन किया है।[२] वृत्ति के कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी तथा भारती —इन चार प्रकारों में शृङ्गाररस के लिए कैशिकी वृत्ति को ही माना है जो गीत, नृत्य, विलासादि शृङ्गारचेष्टाओं के कारण कोमल होती है[३] (~~कैशिकी~~ ।) इस कैशिकी के भी —१. नर्म, २. नर्म-स्फिञ्ज(भरत ने नर्म-स्फुञ्ज, शब्द का प्रयोग किया था) , ३. नर्मस्फोट तथा ४. नर्मगर्भ —ये चार अङ्ग माने गये हैं।

प्रिय को प्रसन्न करने वाला विलास-पूर्ण व्यापार 'नर्म' कहलाता है। यह तीन प्रकार का होता है —१. हास्य से युक्त नर्म, २. शृङ्गार से युक्त नर्म तथा ३. भय से युक्त नर्म। इनमें शृङ्गारी नर्म तीन प्रकार का होता है —१. आत्मोपक्षेपपरक, जहाँ नायक या नायिका स्वयं के प्रेम को प्रकट करते हैं २. सम्भोग परक -- जहाँ सम्भोग की इच्छा प्रकट की जाय तथा ३. मानपरक।

भययुक्त नर्म दो प्रकार का होता है —१. शुद्ध तथा २. अङ्ग। इस तरह ये छः प्रकार के नर्म वाक्, वेष तथा चेष्टा के त्रिविध प्रकाशन के अनुसार १८ प्रकार के हो जाते हैं। एक बात इस प्रसंग में और जाननी चाहिए कि इन सभी प्रकारों में हास्य का समावेश तो रहता ही है[४]।

---

१. विज्ञानरूपशोभाधनादिभिर्नायको गुणैर्यत्र।
प्रच्छन्नं व्यवहरते कार्यवशान्नर्मगर्भोऽसौ ।। —ना०शा० २१।६१

२. तद्व्यापारात्मिका वृत्तिः — द०रू० २।४७

३- द० रू० २।४७

४. वैदग्ध्यक्रीडितं नर्मप्रियोपच्छन्दनात्मकम्
हास्येनैव सशृङ्गारभयेनविहितंत्रिधा ।।
सर्वं सहास्यमित्येवं नर्माष्टदशधोदितम् । (मुद्रा) द० रू० २।५०

नर्मस्फञ्ज उसे कहते हैं जहां नायक तथा नायिका का नव समागम के समय पहले तो सुख होता है, किन्तु बाद में भय होता है कि कहीं कोई उनके प्रेम को जान न जाये ।[१]

नर्मस्फोट वह है, जहां सात्त्विकादि भावों में लेशमात्र से किंचित् मात्र रस की सूचना कर दी जाय ।[२] और जहां किसी प्रयोजन के लिए नायक छिपकर प्रवेश करे उसे नर्मगर्भ कहते हैं[३]। कैशिकी के ये (नर्मस्फञ्ज , नर्म-स्फोट तथा नर्मगर्भ) अङ्ग सहास्य तथा निहास्य दोनों प्रकार के होते हैं ।[४] धनंजय ने कौशिकी को केवल शृङ्गाररस की वृत्ति कहा है ।[५] यद्यपि भरत ने शृङ्गार और हास्य दोनों की वृत्ति कैशिकी माना है ।[६] सम्भवत: कैशिकी के नर्म आदि अंगों को देखकर धनञ्जय ने उसे केवल शृङ्गार की वृत्ति कहा है, क्योंकि इसके चारों अंग शृङ्गारपरक ही हैं । अत: कैशिकी प्रधान रूप से तो शृङ्गार रस की ही वृत्ति है । हास्य में उसकी प्रधानस्थिति नहीं, वहां प्राधान्य भारती का ही रहता है ।[७] यह भरत के विचारों पर धनञ्जय का सूक्ष्म परिष्कार समझ पड़ता है ।

भोज ने काम-शृङ्गार के धर्मादि चारों प्रकारों में कामशृङ्गार में कैशिकी-वृत्ति का होना कहा है और मोक्ष शृङ्गार में सात्त्विकी वृत्ति तथा आवन्तीप्रवृत्ति मानी है ।[८]

---

१. नर्मस्फञ्ज : सुखारम्भोभयान्तोनवसंगमे । — २।५१

२. नर्मस्फोटस्तुभावानां सूचितोल्परसोलवै: — २।५१

३. छन्ननेतृप्रतीचारो नर्मगर्भोर्थहेतवे — द०रू० २।५२

४. अङ्गैः सहास्यनिर्हास्यैरेभिरेषात्रकैशिकी — द०रू० २।५२

५. शृङ्गारेकैशिकी — २।६२

६. शृङ्गारे चैवहास्ये च वृत्तिः स्यात् कैशिकी ति च ।। ना०शा० २३।६५

७. वृत्ति:सर्वत्र भारती — द०रू० २।६२

८. तदेन्मोक्षशृङ्गारवरूपमुपवर्णितम्

इन्द प्रवृत्तिरावन्त्या सात्त्विकीवृत्तिरिष्यते ।।

— शृ०प्र०

निःशङ्कशाङ्र्गदेव ने अपने सङ्गीतरत्नाकर में कैशिकी वृत्ति को वाणी, अङ्गों तथा आभरणों के सौकुमार्य से निर्मित, गीत तथा नृत्त से सम्पन्न शृङ्गाररस से पूर्ण तथा सौन्दर्यैकजीवित कहा है [१]।

विश्वनाथ ने भी शृङ्गार में कैशिकी वृत्ति का होना बताया है [२]। उनके अनुसार भी जिसमें नानाविध मनोरम वेशभूषणों की शोभा हो, जो रमणी पात्रों के बाहुल्य से विचित्र लगे, जिसमें बहुविध नृत्यगीतादि की योजना हो, जिसमें कामोपभोग अथवा रतिसुख से सम्बद्ध बहुविध व्यापारों का प्राधान्य हो तथा जो सुन्दर हाव-भावादि से समन्वित हो उसे कैशिकी वृत्ति कहा गया है [३]।

उसके वे ही चार अङ्ग कहे गए हैं। उनके लक्षणों में अवश्य कुछ विभेद हो गया है। १. नर्म, २. नर्मस्फूर्ज, ३. नर्मस्फोट तथा (४) नर्मगर्भ [४]। इनमें नर्म वह है जिसे प्रिय जन का मनोरंजक बहुविधक्रीडादि विलास कहते हैं। [५] वह भी तीन प्रकार का होता है — १. शुद्ध अथवा केवल हासपरिहासमय, २. शृङ्गारमिश्रित हास्यमय, तथा ३. भयमिश्रितहास्यमय। [६]

नर्मस्फूर्ज प्रेमी-प्रेमिका का ऐसा नवसंगम-रूप है जो आरम्भ में तो आनन्ददायक होता है किन्तु अन्त में (प्रति-नायक के कारण) भय का जनक हुआ करता है [७]। नाट्यशास्त्र में इसका नर्मस्फुञ्ज नाम दिया गया है। अभिनव ने स्फुञ्ज का अर्थ विघ्न किया है। [८] जो इसके लक्षण-वाक्य के साथ पूर्णतः संगत होता है। दशरूपक में इसे ही

---

१. वागङ्गाभरणानां या सौकुमार्येण निर्मिता
उल्लसद्गीतनृत्ताढ्या शृङ्गाररसनिर्भरा
निःशङ्कः कैशिकीं ब्रूते तां सौन्दर्यैकजीविताम्।

२. शृङ्गारे कैशिकी — सा०द० ६।१२२।

३. या श्लक्ष्णनैपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंकुला पुष्कलनृत्यगीता।
कामोपभोगप्रभवोपचारा सा कैशिकी चारुविलास-युक्ता ।। सा०द० ६।१२४

४. नर्म च नर्मस्फूर्जो नर्मस्फोटोऽथ नर्मगर्भश्च।
चत्वार्यङ्गान्यस्याः — सा०द० ६।१२५

५. वैदग्ध्यक्रीडितं नर्म। इष्टजनावर्जनकृत्। सा०द० ६।१२५

६. तच्चापि त्रिविधं मतम्। विहितं शुद्धहास्येन सशृङ्गारभयेन च। सा०द० ६।१२६

७. नर्मस्फूर्जः सुखारम्भो भयान्तो नवसङ्गमः। — सा०द० ६।१२७

८. नर्मणः स्फुञ्जो विघ्न इति — भारती

नर्मस्फञ्ज कह दिया है । अस्तु !

नर्मस्फोट वह कैशिकीप्रकार है जिसमें भय, हास, हर्ष, त्रास, रोषादि विविध भावलेशों से प्रेमी-प्रेमिका का रतिभाव किञ्चिन्मात्र अभिव्यक्त होता है ।[1]

और नर्मगर्भ कैशिकी का वह भेद है जिसमें छद्मवेषधारी प्रेमी नायक का प्रेमिका के साथ व्यवहार निरूपित हो —(नर्मगर्भो व्यवहृति नेतुः प्रच्छन्नवर्तिनः । सा०द०) ६।१२८ अभिनव ने भरत के नर्मगर्भ शब्द की व्युत्पत्ति की है कि जिसमें नर्मोपयोगी विज्ञानादि नायक के गुण छिपे होने के कारण मानों गर्भीकृत रूप रहें—जैसे नायक छिपकर सङ्केत स्थान में जाय ।[2]

कृष्णकोबेने रसावस्थानसूचक क्रमशः शब्दव्यापार तथा नेतृव्यापार रूप से शब्द और अर्थ की वृत्तियाँ कैशिकी, आरभटी, सात्त्वती तथा भारती चार प्रकार की मानी ~~गयी~~ हैं । इनमें कैशिकी शृङ्गाररस की वृत्ति है ।[3] इसके चार अंग होते हैं — नर्म, नार्मस्फूर्ज, नर्मस्फोट तथा नर्मगर्भ—इनके लक्षण पूर्ववत् ही हैं[4]।

नायक के व्यापाररूप वृत्तियाँ तथा कैशिकी वृत्ति-

शृङ्गारामृत लहरी में सामराज दीक्षित ने नायक के उपाचरण अथवा व्यापार रूप की वृत्ति को चार प्रकार का कहा है-- १. कौशिकी (कैशिकी ?) , २. आरभटी ३. भारतीतथा ४. सात्वती कै(कै)शिकी वृत्ति गीति , नृत्य, विलास आदि शृङ्गारचेष्टाओं द्वारा मृदुवृत्ति कही गयी है । उसके भी — १. नर्म, २. नर्मस्फुञ्ज, ३. नर्मस्फोट तथा ४. नर्मगर्भ — चार प्रकार होते हैं । विदग्ध क्रीड़ा को नर्म कहते हैं जिसका फल प्रियावशीकरण होता है । उसके भी १. शुद्धशृङ्गार, २. सभ्य तथा

---

१. नर्मस्फोटो भाव-लेशैःसूचितात्परसोमतः —सा०द० ६।१२७

२. नर्मोपयोगिनः विज्ञानाद्या गर्भीकृताइव प्रच्छन्नतयायत्रेति ।
यथा प्रच्छन्नरूपो नायकः संकेतस्थानं गच्छति — भारती

३. नृत्गीतविलासादि मृदु शृङ्गारचेष्टितैः ।
समान्विताभवेद् वृत्तिः कैशिकी श्लक्ष्णभूषणा ।।
— म०म०च०, पृ० ८८

४ म०म०च०, पृ० ८८-८९

सहास्य —तीन भेद होते हैं। इनके भी आगे उपभेद किये गये हैं। कैशिकी वृत्ति केवल शृङ्गार की है अन्य वृत्तियाँ अन्य रसों में भी होती हैं। अतः औरों का निरूपण नहीं किया गया है।

विद्याराम ने काव्य के मृदुल प्रसंग में कैशिकी वृत्ति मानी है[१]। और शृङ्गार को अत्यन्त मृदुल रस माना है।[२] इस प्रकार शृङ्गार की कैशिकी वृत्ति स्वतः सिद्ध हुई[3]। और इसी प्रकार वैदर्भी जो कैशिकी वृत्ति की अपनी रीति है[3] तथा जो मृदुसन्दर्भों वाली, स्निग्ध पदों वाली, लघुसमासों वाली तथा ललित एवं अतिसुन्दर रीति कही गई है ±
('तत्राति मृदुसन्दर्भा, , स्निग्ध पदा, लघुसमासा, ललिता, अतिसुन्दरा वैदर्भी रीतिः)[४]
शृङ्गाररस की रीति सिद्ध हुई[५]।

आनन्दवर्धन ने रस के और उसमें भी विशेषतया शृङ्गाररस के सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण फुटकल विचार प्रकट किए हैं। उनका मत है कि केवल गुणालंकार का ही सम्बन्ध नहीं, दोष का नित्यानित्यविभाग सम्बन्ध भी रस से ही होता है — जैसे श्रुतिदुष्ट आदि जो पद-दोष अनित्य रूप से कहे गये हैं, वे, जब शृङ्गाररस काव्यात्मरूप से प्रतिष्ठित हो, तभी दोष (हेय) होंगे, केवल वाच्य अर्थ के नहीं। अन्य (ओजोगुण वाले) रस के काव्यात्मरूप से प्रतिष्ठित रहने पर उलटे गुण होंगे, अथवा जब शृङ्गार प्रधान रूप से नहीं होगा तभी भी वे दोष रूप नहीं होंगे[६]।

---

१. कैशिकी मृदुसन्दर्भा —र०दी ४।६८

२. शृङ्गारकरुणौ चोभावत्यन्तमृदुलौ रसौ — र०दी० ४।७६

३. इयं रीतिः(वृत्तिः ?)शृङ्गारकरुणयोः सन्दर्भयोजनीया — र०दी० ४।७१

३अ. वैदर्भ्याः कैशिकी वृत्तिः —र०दी० ४।६३

४. र०दी० ४।६८

५. वैदर्भ्या वर्णनीयौ तौ शृङ्गारकरुणावतः।
तत्रैकैव वृत्तिः स्यात् सन्दर्भ श्चातिपेशलः — र०दी० ४।७८

६. अनित्या दोषा श्च ये श्रुतिदुष्टादयः सूचिता स्ते पिनाच्ये अर्थमात्रे, न च व्यङ्गये शृङ्गारव्यतिरेकिणि शृङ्गारे वा ध्वनेरनात्मभूते। किं तर्हि ? ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ङ्गितया व्यङ्ग्ये ते हेया इत्युदाहृताः। .अन्यथा हि तेषा मनित्यदोषतैव न स्यात्।

— ध्व०२।११, पृ० २१४

भरत द्वारा भी अलङ्कार, दोष तथा गुण का विवेचन भी वागभिनय के रूप में किया गया है। अत: ये वागभिनय अथवा वाचिक अनुभाव रूप ही माने जायेंगे। और फिर मुनि ने गुणों, अलङ्कारों, छन्दों तथा अनित्य दोषों का भी रसानुसार पृथक् निर्देश किया है। शृङ्गार रस में उन्होंने रूपक तथा दीपक इन दो अलङ्कारों को तथा आर्या (मात्रिक) छन्दों को अभ्यर्थित किया है।[१] यमक को, प्रयत्न-साध्य होने के कारण, शृङ्गार के प्रतिकूल तो भरत ने भी निश्चित ही समझा रहा होगा।

आनन्दवर्धन ने तो बड़े स्पष्ट शब्दों में शृङ्गार और यमक की सम्पृक्ति सदोष बताई है[२]। उन का मत है कि वह अनुप्रास अलङ्कार जिसमें एक प्रकार के वर्णों का आग्रह एवं सयत्न अनुबन्धन होता है आत्मभूत शृङ्गाररस का व्यंजक नहीं हो पाता। क्योंकि वहां कवि का प्रयत्न (संरंभ) केवल अलंकार की योजना में ही रह जाता है।[३] किन्तु जहां काव्यात्मरूप से शृङ्गार न हो वहां इस प्रकार के अनुप्रास की योजना कवि चाहे तो कर भी सकता है।[४] और ऐसा अनुप्रास जिसमें एक ही प्रकार के अक्षरों की आवृत्ति का आग्रह नहीं (जैसे लाट, छेक आदि) उससे शृङ्गार भी व्यक्त होता है।[५]

---

१. रूपकदीपकसंयुक्तमार्यावृत्तसमाश्रयम् ।
शृङ्गारे रसकार्यं तु काव्यंस्यान्नाटकाश्रयम् ।। ना०शा० १७।११६

२. ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम् ।
शक्तावपिप्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषत: ।। ध्वं०२।१५

३. यत्नत:क्रियमाणत्वात् — लो०, पृ० २१८

४. शृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान् ।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रास प्रकाशक: ।। --ध्व० २।१४

५. एकरूपं त्वनुबन्धं त्यक्त्वा विचित्रो नुप्रासो निबध्यमानो न दोषायेत्येकरूपग्रहणम् ।
-- ध्व० २।१४, पृ० २१८

इसी प्रकार जब शृङ्गार रस (काव्यात्मरूप) रहे तो यमक, मुरजचक्रबन्धादि तथा भङ्गश्लेषादि अलंकारों की योजना दोषावह होती है । एकाध यमक चाहे कहीं, अनायास आने के कारण, अनुकूल हो भी जाँय, किन्तु उसकी योजना तो शृङ्गार के प्रतिकूल ही पड़ती है, और विप्रलम्भ शृङ्गार के तो विशेष रूप से[1]। वास्तव में ध्वनिकार के अनुसार जिस अलङ्कार की योजना के लिए कवि को अलग से यत्न न करना पड़े, अर्थात् उसकी रस-सिद्धि के साथ जो सहज रूप से लगा चला आये, ध्वनिकाव्य में वही अलंकार ग्राह्य होता है और उसी के रहने पर रसादि व्यङ्ग्य भी अक्षुण्ण बना रहता है ।[2] बात यह है कि रस काव्य के वाच्य अर्थ एवं उसके प्रतिपादक शब्दों द्वारा व्यङ्ग्य होता है । ये रूपक आदि अलङ्कार: आखिर वाचार्थ रूप ही तो हैं, अत: रस की अभिव्यक्ति में वे आधारभूत अङ्ग ही हैं, कोई बहिरङ्ग नहीं। किन्तु यमक या अन्य चित्रबन्ध तो बाहर से अपनी ही छटा दिखाते हैं, उनसे रस की अभिव्यक्ति हो ही नहीं पाती । यदि कहीं कुछ यमकों में रस प्रतीत हो भी गया तो वहाँ भी उस रस की गौणास्थिति ही समझनी चाहिए प्रधानता तो यमक की ही होगी । क्योंकि उस यमक की योजना में कवि को बुद्धिपूर्वक उसीप्रकार के शब्द के अन्वेषण में एक पृथक् यत्न करना पड़ा है । अन्य रूपकादि अर्थालङ्कारों की तो यह विशेषता है कि रससमाहित-चेता प्रतिभावान् कवि की रचना में वे अहंपूर्विका (होड़) के साथ स्वत: निबद्ध होते जाते हैं ।[3]

अत: शृङ्गार जब प्रधानतया काव्यात्मा हो तो [illegible] रूपकादि अलङ्कार अङ्गरूप से (अङ्गीरूप से नहीं) निविष्ट किये जाते हैं, जिनका कवि अवसरविशेष पर ग्रहण तथा अवसरविशेष पर त्याग कर सकता है, अर्थात् जिनका पूर्ण निर्वाह ही करने

---

१. ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम् । शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषत: ।
ध्व० - २।१५

२. अत्र युक्तिरभिधीयते — रसाक्षिप्ततया यस्य बन्ध: शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य: सो लङ्कारो ध्वनौ मत: ।।
— ध्व० २।१६

३. यमके च प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वकं क्रियमाणे नियमेनैव यत्नान्तरपरिग्रह आपतति शब्दविशेषान्वेषणरूप: । अलंकारान्तरेष्वपि तत्तुल्य मिति चेत् नैवम्, अलंकारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतस: प्रतिभानवत: कवेरहम्पूर्विकया परापतन्ति - ध्व०, २।१६, पृ० २२२-२२

पर नहीं तुल पड़ता । कवि पूर्ण साङ्गोपाङ्ग निर्वाह करते हुए भी जिन अलङ्कारों को अङ्गरूप में ही रखता है, वे ही वस्तुत: उस रस की अभिव्यक्ति में साधक होते हैं[1]।

शृङ्गाररस एवं सङ्घटना—

आनन्दवर्धन ने काव्यात्म-भूत रस के ही सम्बन्ध से असमासा, मध्यमसमासा तथा दीर्घसमासा—यह तीन प्रकार की संघटना का भी विवेचन किया है । उनका मत है कि गुण एक पृथक् वस्तु है और सङ्घटना भी एक पृथक्[2] । यह संघटना माधुर्यादि गुणों में रहती हुई (अर्थात् माधुर्यादिगुणों को व्यक्त करती हुई) रसों को अभिव्यक्त करती है ।[3] यदि संघटना में गुणों का आश्रय माना जाय (जैसा कि भट्टोद्भट ने माना है) या संघटना और गुण एक ही रूप माने जायं (जैसा कि वामन ने 'विशिष्टपदरचनारीति:' कहा है) तो, संघटना का जैसे कोई रसविशेष नियत नहीं है , वैसे ही गुणों का भी किसी रस-विशेष के साथ सम्बन्ध नियत न रह जायगा । और वास्तव में बात ऐसी है नहीं । जैसे कि —माधुर्यगुण और प्रसादगुण का प्रकर्ष करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार में मिलता है, ओजस् का प्रकर्ष रौद्र और अद्भुत में है, माधुर्य और प्रसाद (सामान्यतया) सभी रसभाव एवं रसाभास और भावाभास को अभिव्यक्त करते ही है । इस प्रकार गुणों का रस रूप विषय नियत व्यवस्थित है । किन्तु संघटनाओं के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता —क्यों कि शृङ्गाररस की भी रचनायें दीर्घसमासा देखी जाती हैं, उसी प्रकार रौद्रादिरसों की भी असमासा । शृङ्गार रस में दीर्घसमासा रचना का उदाहरण जैसे —

'अनवरतनयनजललवनिपतनपरिमुषितपत्रलेखं ते ।
करतलनिषण्णमबले वदनमिदं कं न तापयति ।। —ध्व० पृ० ३१२

और रौद्र रस में असमासा रचना का उदाहरण जैसे—यो य: शस्त्रं बिभर्ति इत्यादि श्लोक।

१. ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्यविनिवेशित: । रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम् ।
एषा चास्य विनिवेशने समीक्षा :— —३१६
विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन
काले च ग्रहणत्यागौ नाति निर्वहणैषिता
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्
रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् । —ध्व० २।१७,१८

२. तस्मादन्ये गुणा अन्या च सङ्घटना —ध्व० पृ० ३१६

३. गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा रसान् ।
—ध्व० ३।६

गुणरसाश्रित होते हैं, संघटनाश्रित नहीं --

अत: गुणों का आश्रय या आधार संघटना नहीं रसादि ही होते हैं जैसा कि पूर्व की कारिका में स्पष्ट कहा है । 'उस अङ्गी अर्थ का आश्रय लेने वाले गुण कहलाते हैं ।[१] इत्यादि । यद्यपि गुणों का आश्रय शब्दों को भी (गौणरूप से) माना जा सकता है, किन्तु उससे उन्हें अनुप्रासादि शब्दालंकारों के तुल्य नहीं समझना चाहिए। क्योंकि अनुप्रास आदि शब्दालंकार तो बिना अर्थ की अपेक्षा किये केवल शब्द का वैशिष्ट्य बताते हैं जबकि गुण उसी शब्द के वैशिष्ट्य होते हैं, जिसका वाच्य अर्थ किसी व्यङ्ग्य- विशेष अर्थ का अभिव्यंजक होता है । अर्थात् गुणों का सान्निध्य सर्वदा रसभावादिरूप व्यङ्ग्य के साथ ही रहता है । इस प्रकार गुणों को शब्द का धर्म (वैशिष्ट्य) उसी प्रकार कहा जा सकता है जैसे शौर्य धैर्य आदि वास्तविक धर्म (वैशिष्ट्य) तो आत्मा के हैं किन्तु उन्हें शरीराश्रित भी कहा जाता है, आकार एवास्य शूर:' इत्यादि ।[२] इस रूप में गुण शब्दाश्रित यद्यपि कहे गये हैं किन्तु उनकी यह शब्दाश्रितता संघटनाश्रितता नहीं है । अर्थात् शब्द एक विशेष प्रकार से संघटित होकर ही अमुकगुण का आश्रय बनते हैं यह नहीं समझना चाहिए । क्योंकि जब रसादि व्यङ्ग्य तो वर्णों से तथा पदों से भी सीधे होते हैं, तो उनके नित्य अभिव्यंजक गुणों की भी स्थिति उन वर्णों एवं पदों में भी रहेगी ही । अत: उन्हें केवल संघटनाश्रित मानना अनुचित है ।[३] रसादिकों को वाक्य-व्यङ्ग्य मानने पर भी कोई विशिष्ट रूप की वाक्यता उनके आश्रय रूप से नियत नहीं[४] है ।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने संघटना (अथवा रीति) के विषय में अत्यन्त ग्राह्य एवं उचित सिद्धान्त प्रतिपादित किया है । उन्होंने पदसंघटना और गुणों के नियमन एक प्रकार से बता कर अन्त में उस रूप में गुण और सङ्घटना का ऐक्य तथा

---

१. तमर्थमवलम्बन्ते ये ङ्गिनं ते गुणा: स्मृता: ।' -- ध्व० २।६

२. अथवा भवन्तु शब्दाश्रया एव गुणा:, न चैषामनुप्रासादितुल्यत्वम् यस्मादनुप्रासादयो नपेक्षितार्थशब्दधर्मा एव प्रतिपादिता : गुणास्तु व्यङ्ग्यविशेषावभासिवाच्यप्रतिपादन समर्थशब्दधर्मा एव । शब्दधर्मत्वं चैषामन्याश्रयत्वे पि शरीराश्रयत्वमिव शौर्यादीनाम् । -- ध्व०, पृ० ३१३

३. वर्णपदव्यङ्ग्यत्वस्यरसादीनांप्रतिपादितत्वात् ।

४. अभ्युपगतेवा वाक्यव्यङ्ग्यत्वे रसादीनां न नियता काचित् संघटना तेषामाश्रयत्वं प्रतिपद्यत इत्यनियतसंघटना शब्दा एव गुणानां व्यङ्ग्यविशेषानुगता आश्रया: । -- ध्व०, ३१५

गुण का संघटना में रहना भी संगत कर दिया है। पद-संघटना का नियमन वक्ता एवं वाच्य के औचित्य के अनुसार होता है।[1] उनमें से वक्ता दो प्रकार का हो सकता है — १. कवि या २. कविनिबद्ध। और कविनिबद्ध वक्ता भी दो प्रकार का हो सकता है १ — रसभावआदि-रहित, अथवा २. रसभावआदि-सहित। उसमें रस भी दो प्रकार का हो सकता है। १. कथानायकनिष्ठ अथवा कथा-प्रतिनायकनिष्ठ। कथानायक भी धीरोदात्तादि[2] भेद से अनेक प्रकार का मुख्यनायक अथवा अन्य भी हो सकता है। इस प्रकार वक्ता के अनेक विकल्प हैं[3]। और इसी प्रकार वाच्य (अर्थ) भी ध्वनि-रूप काव्य के आत्मरूप प्रधान रस का (व्यञ्जकत्वेन) अङ्ग, अथवा रसाभास का (व्यञ्जकत्वेन), अङ्ग, अभिनेयार्थ या अनभिनेयार्थ, उत्तम प्रकृति में आश्रित, अथवा उससे भिन्न (अर्थात्, मध्यम या अधम) प्रकृति में आश्रित, रूप से अनेक प्रकार हो सकता है[4]।

सुकुमार-विप्रलम्भशृङ्गार में केवल समासरहित संघटना ही श्लाघ्य है —

इन अनेक प्रकार के वक्ताओं में से जब रसभाव-रहित स्वयं कवि वक्ता हो (अर्थात् जब कवि बिना किसी भाव आदि को व्यक्त करने के प्रयोजन से, केवल प्रबन्ध का सिलसिला जमाये रखने के रूप से कुछ कहता हो) तब रचना की स्वतंत्रता रहती है। किन्तु जब कवि अथवा कविनिबद्ध रसभाव-समन्वितवक्ता हो और रस भी प्रधानाश्रित होने से ध्वन्यात्मभूत हो तब वहाँ नियम से असमास अथवा मध्यमसमास वाली रचना ही करनी चाहिए। करुण और विप्रलम्भशृङ्गार में तो समासरहित ही सङ्घटना होनी चाहिए[5]। और यह इसलिए कि जब रस प्रधान रूप से प्रतिपाद्य होता है तब उसकी प्रतीति

---

१. तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः — ध्व० ३।६

२. धर्मयुद्धवीरप्रधानो धीरोदात्तः। वीररौद्रप्रधानो धीरोद्धतः। वीर-शृङ्गारप्रधानो धीरललितः। दानधर्मवीरशान्तप्रधानो धीर-प्रशान्तः इतिचत्वारो नायकाः क्रमेण सात्त्वती, आरभटी, कैशिकी, भारतीलक्षणवृत्तिप्रधानाः। — दशरूपक

३. तत्र वक्ता कविः कविनिबद्धो वा। कविनिबद्धश्चापि रसभाव-रहितो रसभावसमन्वितो वा। रसो पि कथानायकाश्रयस्तद्विपक्षाश्रयो वा। कथानायकश्चधीरोदात्तादिभेद-भिन्नः पूर्वस्तदनन्तरो वेति विकल्पाः। — ध्व०पृ० ३१८

४. वाच्यं च, ध्वन्यात्मरसाङ्गंरसाभासाङ्गं वा, अभिनेयार्थम् अनभिनेयार्थं वा, उत्तमप्रकृत्या श्रयं तदितराश्रयं वेति बहुप्रकारम्। — पृ० ३१८-१६

५. तत्र यदा कविरपगतरसभावो वक्ता तदा रचनायाःकामचारः। यदा हि कविनिबद्धो

(शेष अगले पृष्ठ पर)

में विघ्न डालने वालों का और उसके विरोधियों का पूर्ण रूप से परिहार करना चाहिए। इस प्रकार एक समस्त पद में अनेक प्रकार के समास तथा उनके विग्रह की सम्भावना होने से, दीर्घ समास वाली रचना रस प्रतीति में कदाचित् बाधक हो, अत: ऐसी (दीर्घसमासा) रचना वहां नहीं फबती। अभिनेय (दृश्य) काव्यों में तो विशेष रूप से दीर्घ समासों वाली रचना का परित्याग करना चाहिए। क्योंकि उन पदों का आङ्गिक एवं वाचनिक अभिनय बिना उन्हें तोड़े सम्भव ही नहीं। करुण और शृङ्गार में तो चाहे वह दृश्य हो चाहे श्रव्य दीर्घसमास वाली रचना उचित ही नहीं, क्योंकि ये दोनों अत्यन्त सुकुमार रस हैं। अत: उनमें शब्द और अर्थ की तनिक भी अस्पष्टता होने पर रस की प्रतीति शिथिल हो जाती है[1]।

प्रसादगुण की सर्वव्यापकता—

इस प्रसङ्ग में यह भी ज्ञेय है कि 'यो य: शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादि उदाहरणों में जो दीर्घसमासारचना के बिना भी रौद्ररस की अभिव्यक्ति होती है वह प्रसादगुण के कारण। प्रसादगुण सब प्रकार की संघटनाओं में व्यापक है। वह समस्त रसों और समस्त रचनाओं में समान रूप से रहने वाला साधारण गुण है। प्रसाद के बिना समासरहित रचना भी करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गार को अभिव्यक्त नहीं करती है, और उसके रहने पर मध्यमसमासवाली रचना भी करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गार को अभिव्यक्त करती है। वस्तुत: प्रसाद गुण का तो सर्वत्र, सब रसों एवं सबरचनाओं में अनुसरण करना सत्कवि के लिए परमावश्यक होता है।[2]

शेष— वक्ता रसभावरहितस्तदा स एव। यदा तु कवि:कविनिबद्धो वा वक्ता रसभावसमन्वितो, रसश्चप्रधानाश्रितत्वाद् ध्वन्यात्मभूतस्तदा नियमेनैव तत्रासमासमध्यमसमासे एव संघटने करुणविप्रलम्भशृङ्गारयोस्त्वसमासैव संघटना। — ध्व०पृ०३१९-२०

---

१. कथमिति चेत्, उच्यते-रसो यदाप्राधान्येनप्रतिपाद्यस्तदा तत्प्रतीतौ व्यवधायका विरोधिनश्चसर्वात्मनैवपरिहार्या: एवं च दीर्घसमासासंघटनासमासानामनेकप्रकारसम्भावनया कदाचिद्रसप्रतीतिं व्यवदधातीति तस्यां नात्यन्तमभिनिवेश: शोभते। विशेषतोऽभिनेयार्थेकाव्ये, ततोऽन्यत्रच विशेषत:करुणविप्रलम्भशृङ्गारयो:। तयोर्हि सुकुमारतरत्वात्स्वल्पायामप्यस्वच्छतायां शब्दार्थयो: प्रतीतिर्मन्थरीभवति। — ध्व०, पृ० ३२०-२१

२. सर्वासु च संघटनासु प्रसादाख्यो गुणो व्यापी। स हि सर्वरस साधारण:सर्वसंघटना साधारणश्चेत्युक्तम्। प्रसादातिक्रमे ह्यसमासा पि संघटना करुण-विप्रलम्भ-शृङ्गारौ

(शेष अगले पृष्ठ पर)

वक्तृ-वाच्यादि का औचित्य ही सङ्घटना का भी नियामक-

पूर्वोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि संघटना को गुणों से अभिन्न मानें या भिन्न, दोनों अवस्थाओं में वक्ता एवं वाच्य के औचित्य से संघटना का विषय-नियम बन ही जाता है, इसलिए वह भी रस की अभिव्यञ्जक होती है। और यह वक्तृवाच्य सम्बन्धी औचित्य ही गुणों का भी नियामक है — अतः सङ्घटना का गुणैक्य मानने में भी कोई दोष नहीं है।[१]

रसोपनिषद्-औचित्य तथा रतिभाव का प्रकृत्यौचित्य-

रसबन्ध की तो यह उपनिषद् है कि उसके औचित्य का निर्वाह हो। क्योंकि अनौचित्य से बढ़ कर रसभङ्ग का अन्य कोई हेतु नहीं।[२] आनन्दवर्धन ने भी उसी रति-वर्णन में उसी औचित्य का विचार रखना परमावश्यक बताया है। उत्तम, मध्यम, और अधम के विचार से काव्य-नाटक के दिव्य, अदिव्य तथा दिव्यादिव्य पात्र (प्रकृतियाँ) भी प्रत्येक तीन प्रकार के होते हैं फिर वे वीर, रौद्र, शृङ्गार, शान्त रस की प्रधानता के विचार से तथा धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित एवं धीर-प्रशान्त भेद से अनेक प्रकार के होते हैं।[३] भरत ने अपने नाट्यशास्त्र (२०-१०१) में भारतवर्षोचित व्यवहार के अनुसार दिव्य प्रकृतियों (देवताओं) का भी रत्यादिवर्णन करना बताया है,

---

शेष - नव्यनक्ति। तदपरित्यागे च मध्यमसमासापि न प्रकाशयति तस्मात् सर्वत्र प्रसादो नुसर्तव्यः अतएव न यो यः शब्दं बिभर्ति, इत्यादौ यद्योज सः स्थितिनेष्यते तत्प्रसादाख्य एव गुणो न माधुर्यम् न चाचारुत्वम् अभिप्रेतरसप्रकाशनात्।
— ध्व०पृ० ३२१-२२

---

१. तस्माद् गुणाव्यतिरिक्तत्वे गुणव्यतिरिक्तत्वे वा संघटनाया यथोक्तादौचित्याद्विषयनियमो स्तीति तस्या अपि रसव्यञ्जकत्वम्। तस्याश्च रसाभिव्यक्तिनिमित्तभूताया- गुणाश्रयेण व्यवस्थानमप्यविरुद्धम्। ध्व० ३१२

२. अनौचित्यादृतेनान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥ — ध्व०पृ० ३३०

३. प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च।
वीररौद्रशृङ्गारशान्तरसप्रधाना धीरोदात्तधीरोद्धतधीरललितप्रशान्ताः उत्तमाधममध्यमाश्च।
— का०प्र० ७, पृ० ४४१-४२ नि०सा०प्र०

किन्तु आनन्दवर्धन का कहना है कि रति-वर्णन में भी पात्र के अनुसार औचित्य का ध्यान रखना ही चाहिए। उसका उल्लङ्घन करने से अत्यन्त दोष होता है। उदाहरणार्थ, उत्तमप्रकृति का शृङ्गार यदि अधमोचित ढंग से किया जाय तो वह उपहासास्पद ही रहेगा।[1] अत: देवता आदि दिव्य प्रकृतियों का शृङ्गार जैसे उत्तम अदिव्य प्रकृति राजा आदि का भारतोचित ढंग से किया जाता है उस प्रकार से किया जाना चाहिए। तथा जैसे उत्तमप्रकृति राजा के विषय में ग्राम्य शृङ्गारवर्णन हेय होता है उसके ही अनुसार उत्तमदेवता विषय में भी उसे हेय समझना चाहिए।[2] इसलिए अभिनेयार्थ या अनभिनेयार्थ सभी प्रकार के काव्य में उत्तमप्रकृति राजा आदि का उत्तम प्रकृति की नायिका के साथ ग्राम्य (अधमोचित) सम्भोग का वर्णन करना माता-पिता के सम्भोग-वर्णन के समान अत्यन्त अनुचित एवं असभ्यतापूर्ण है। इसी प्रकार उत्तमदेवता विषयक सम्भोग वर्णन अनुचित और असभ्य है।[3] जहाँ तक उन उत्तमप्रकृतियों के शृङ्गार वर्णन का प्रश्न है, उसके विषय में आनन्दवर्धन का कहना है कि सम्भोग शृङ्गार का केवल सुरत-वर्णन रूप ही एक प्रकार तो नहीं है। अपितु उसके परस्पर प्रेम-दर्शन आदि और भी भेद हो सकते हैं। उत्तम प्रकृति के नायकादि के विषय में इन्हीं का वर्णन करना चाहिए। अत: रतिवर्णन में प्रकृत्यौचित्य का ध्यान सदा रखना चाहिए।[4] आनन्दवर्धन ने इस प्रसङ्ग में फिर कालिदास के पार्वती सम्भोग वर्णन की ओर कटाक्ष करते हुए कहा है कि इस प्रकार की महाकवियों की अनौचित्य-कारिता वस्तुत: दोष

---

१. तथा ह्यधमप्रकृत्यौचित्येनोत्तमप्रकृते: शृङ्गारोपनिबन्धने का भवेन्नोपहास्यता।

२. भारतवर्षविषये यथोत्तमनायकेषु राजादिषु शृङ्गारोपनिबन्धस्तथा दिव्याश्रयोऽपि शोभते। न च राजादिषु प्रसिद्धग्राम्यशृङ्गारोपनिबन्धनं प्रसिद्धं नाटकादौ, तथैव देवेषु तत्परिहर्तव्यम् — ध्व० ३३२

३. तस्मादभिनेयार्थेऽनभिनेयार्थे वा काव्ये यदुत्तमप्रकृते राजादेरुत्तमप्रकृतिभिर्नायिकाभि: सह ग्राम्यसम्भोगवर्णनं तत्पित्रो: सम्भोग वर्णनमिवसुतरामसभ्यम्। तथैवोत्तमदेवतादिविषयम् — ध्व० ३३२

४. न च सम्भोगशृङ्गारस्य सुरतलक्षण एवैक: प्रकार:, यावदन्येऽपि प्रभेदा: परस्पर प्रेमदर्शनादय: सम्भवन्ति, ते कस्मादुत्तमप्रकृतिविषयेन वर्ण्यन्ते? तस्मादुत्साहवद्रतावपि प्रकृत्यौचित्यमनुसर्तव्यम्। — ध्व० ३३३

ही कही जायगी । हां, उसके प्रतिभातिरेक के कारण वह आपातत: प्रतीत नहीं होता (क्योंकि विभावानुभावादि का ऐसा मनोरम सामंजस्य उपस्थित होता है कि सहृदय उसका पूर्ण रसास्वाद कर ही लेता है[1]।)

रस का विरोधाविरोध--

रस के विरोधाविरोध के प्रसंग में आनन्दवर्धन ने यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि जब अङ्गीरस लब्ध-प्रतिष्ठ हो जाय तो १. बाध्यरूप से अथवा २. अङ्गरूप से विरोधियों का कथन दोषरहित होता है।[2] जो (व्यभिचारी आदि) भाव जिस रस के स्वाभाविक अङ्गरूप है उनकी विरोधिता भी दोषावह नहीं होती --जैसे विप्रलम्भशृङ्गार में उसका अङ्गभूत होने के कारण व्याधि आदि व्यभिचारी भावों का अविरोध है किन्तु जो अङ्ग नहीं है उनका सन्निवेश दोषावह ही है जैसे --आलस्य, उग्रता, जुगुप्सा आदि का, क्योंकि वे शृङ्गार के व्यभिचारी नहीं कहे गये हैं, करुण के हैं। भरत ने आलस्य, औग्र्य जुगुप्सा के अतिरिक्त सभी व्यभिचारियों को शृङ्गाररस का अङ्ग माना है।[3]

शृङ्गार में अङ्गभूत मरण की समीक्षा--

इस प्रकार मानों भरत ने मरण को भी शृङ्गार रस का अङ्गमान लिया है, किन्तु, जैसा कि बाद के आचार्यों ने माना है, रस-विच्छेद होने के कारण कवि लोग शृङ्गार में नायक या नायिका का मरण नहीं होने देते।[4] तब ना०शा० के अनुसार मरण के भी शृङ्गाराङ्ग होने का क्या औचित्य होगा ? आनन्दवर्धन ने इस समस्या को भी अनुपम यथातथ्य के साथ सुलझाया है। उनका कहना है कि 'मरण'

---

१. यत्त्वेवंविधेविषये महाकवीनामप्यसमीक्ष्यकारितालक्ष्ये दृश्यते स दोष एव। स तु शक्तितिरस्कृतत्वात्तेषां न लक्ष्यत इत्युक्तमेव।' --ध्व०, पृ० ३३३

२. विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम्।
बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला ।। ध्व० ३।२०

३. आलस्यौग्र्यजुगुप्साख्यैर्भावैस्तु परिवर्जिता: ।
उद्भावयन्ति शृङ्गारं सर्वेभावा: स्वसंज्ञया ।। ना०शा० ७।१०२

४. रसविच्छेद हेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते --सा०द०

यद्यपि विप्रलम्भ शृङ्गार का अङ्ग है तथापि उसका वर्णन करना उचित नहीं, क्योंकि जब आश्रय का ही विच्छेद हो जायगा तो रस कहाँ टिकेगा। उसका भी प्रवाह-विच्छेद निश्चय ही हो जायगा। वहाँ फिर शृङ्गार के स्थान में करुण आ जायगा। अतः शृङ्गार में जहाँ मरण का प्रसङ्ग लाना हो (और शृङ्गार की शृङ्खला अविच्छिन्न बनाये रखनी हो) वहाँ शीघ्र ही पुनः समागम करा दे, अन्यथा तो करुण आ ही जायगा।[१] कालिदास के रघुवंश में इस प्रकार का एक प्रसङ्ग आया है। इन्दुमती की मृत्यु के पश्चात् महाराज अज ने विरह में दारुण शोक से रुग्ण होकर लम्बी बीमारी के पश्चात् गङ्गा - सरयू के संगम पर शरीर त्याग कर देव भाव (देवत्व) को प्राप्त किया, और देवलोक में पहिले से ही पहुँची हुई कान्ता इन्दुमती के साथ नन्दनवन के भीतर बने लीलाभवनों में रमण करने लगे।[२] इसमें वर्णित मरण इसी श्लोक में वर्णित रति का अङ्ग है। इस रूप में मरण को शृङ्गार का अङ्ग माना गया है। जैसा कि अभिनव ने स्पष्ट कहा है — 'अस्फुटैवरत्यङ्गता मरणस्य'। कवि-परम्परा में इस प्रकार का मरण-वर्णन प्रायः पाया जाता है। परन्तु मरणमूलक आत्यन्तिक वियोग या निरपेक्ष वियोग किसी को अभिप्रेत नहीं। विश्वनाथ आदि आचार्यों ने जो मरण को शृङ्गार का ~~अवि~~ व्यभिचारी नहीं माना है वह इसी आत्यन्तिक मरण रूप का ही।

इसी प्रकार जब शृङ्गार करुण का अङ्ग रहेगा तो उनका परस्पर विरोध दूर हो जायगा। जैसे —

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥

इस प्रसिद्ध श्लोक में शृङ्गार करुण का अङ्ग बन रहा है।

---

१. तदङ्गत्वे च सम्भवत्यपि मरणस्योपन्यासो न ज्यायान्। आश्रय-विच्छेदे रसस्यात्यन्त विच्छेद-प्राप्तेः। .... । शृङ्गारे वा मरणस्यादीर्घकालप्रत्यापत्तिसम्भवे कदाचिदुपनिबन्धो नात्यन्तविरोधी। दीर्घकालप्रत्यापत्तौ तु तस्यान्तरा प्रवाह-विच्छेद एवेत्येवंविधेतिवृत्तोपनिबन्धनं रसबन्धप्रधानेन कविना परिहर्तव्यम्। — ध्व० पृ० ३६६

२. तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वोः
देहत्यागादमरगणना लेख्यमासाद्य सद्यः।
पूर्वाकाराधिकचतुरया संगतः कान्तयासौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु॥ रघु० ८।९५

आनन्दवर्धन ने इस तथ्य पर विशेष बल दिया है कि इस विरोधाविरोध का विचार सर्वत्र तो करना ही चाहिए शृङ्गार रस के प्रसङ्ग में विशिष्टतया अवश्य करना चाहिए, क्योंकि शृङ्गाररस सबसे अधिक सुकुमार रस है।[१] (वैसे तो रस स्वयं सुकुमार होता है उसमें करुणा और, उससे भी अधिक शृङ्गार — अत: तमप्रत्यय हुआ है — लोचन) शृङ्गार की सुकुमारता का कारण यह है कि वह रति का परिपोष रूप है। और रतिस्वल्प भी कारण से भङ्ग हो जाती है। अप ने विरोधी के तनिक भी समावेश को रति नहीं सह सकती।[२] अत: आनन्दवर्धन का कहना है कि सत्कवि को उस शृङ्गार रस में सावधान रहना चाहिए, क्योंकि उसमें तनिक भी प्रमाद तुरन्त प्रतीत हो जाता है।[३] सब रसों से अधिक सुकुमार होने के कारण शृङ्गार रस में तनिक भी प्रमाद तुरन्त प्रतीत होकर उपहासास्पद हो जाता है। अत: उसमें कवि को अत्यन्त सावधान रहना चाहिए।[४] आनन्दवर्धन ने शृङ्गाररस का मूल्याङ्कन करते हुए कहा है कि — 'शृङ्गाररस का अनुभव संसार के सभी प्राणी निश्चित रूप से करते हैं अत: कमनीयता की दृष्टि से वह सब रसों में प्रधानभूत है'[५]। अस्तु।

रसादिकों का परस्पर विरोध दो प्रकार का होता है —सहानवस्थान-विरोध तथा २. बाध्यबाधकभावविरोध। सहानवस्थानविरोध में दो पदार्थ समान रूप से बराबर की स्थिति में एक जगह नहीं रह सकते हैं। यह एक प्रकार से अविरोध ही है और बाध्यबाधकभाव विरोध में बाधक के उदय होते ही बाध्य का विनाश हो जाता है।

---

१. विरोधमविरोधं च सर्वत्रेत्थं निरूपयेत्
विशेषतस्तु शृङ्गारे सुकुमारतमो ह्यसौ ।। ध्व० ३।२८

२. स (शृ०) हि रति-परिपोषात्मकत्वाद्रतेश्च स्वल्पेनापि निमित्तेन भङ्गसम्भवात् सुकुमारतम:सर्वेभ्यो रसेभ्यो मनागपि विरोधिसमावेशं न सहते — ध्व०, पृ० ३६६-६७

३. अवधानातिशयवान् रसे तत्रैव सत्कवि:। भवेत् तस्मिन्प्रमादो हि झटित्येवोपलक्ष्यते।
— ध्व० ३।२६

४. तत्रैव च रसे सर्वेभ्योऽपि रसेभ्य:सौकुमार्यातिशययोगिनि कविरवधानवान् प्रयत्नवान् स्यात्। तत्र हि प्रमाद्यतस्तस्य सहृदयमध्ये क्षिप्रमेवावज्ञानविषयता भवति। — ध्व०पृ० ३६७

५. शृङ्गाररसो हि संसारिणां नियमेन अनुभवविषयत्वात् सर्वरसेभ्य:कमनीयतया प्रधानभूत:
— ध्व०, पृ० ३६७

इन दोनों प्रकार के विरोधों में बाध्यबाधक भाव विरोध ही मुख्य है। जिन रसों का परस्पर समानवस्थान विरोध होता है उनको तो परस्पर अङ्गाङ्गिभाव हो जाने में कोई कठिनाई नहीं होती। परन्तु जिनका बाध्यबाधक भाव विरोध है उनमें परस्पर अङ्गाङ्गिभाव नहीं बन सकता। इस सिद्धान्त को विशद करते हुए आनन्दवर्धन का कहना है कि शृङ्गार का वीर, हास्य, रौद्र और अद्भुत के साथ अविरोध (अथवा समानवस्थान-विरोध) है। अभिनव ने इस अविरोध की व्याख्या इस प्रकार की है :— युद्धनीति, पराक्रम आदि से कन्या-रत्न के लाभ में वीर का शृङ्गार से अविरोध रहता है। हास्य तो वैसे भी शृङ्गार का अङ्ग रहता है -- फिर हास्य स्वयं तो कोई पुरुषार्थ है नहीं, हां अत्यधिक अनुरंजनात्मक होने के कारण, शृङ्गार के साथ अवरोधी—जैसा ही है। अब रौद्र और शृङ्गार का अविरोध इस रूप में समझना चाहिए जैसा कि भरत ने नाट्य-शास्त्र में कहा है कि रौद्र आदि शृङ्गार का सेवन करते ही हैं, अर्थात् रौद्रादि-प्रधान राक्षस, दानव एवं उद्धत मनुष्य आदि शृङ्गार का सेवन करते हैं।[१] हां, केवल नायिकाविषयक रौद्र शृङ्गार का विरोधी होता है।[२] इसी प्रकार, जैसे रत्नावली में, ऐन्द्रजालिक वर्णन के प्रसंग में अद्भुत के साथ भी शृङ्गार का अविरोध हो सकता है। अतः शृङ्गार का पूर्वोक्त रसों के साथ अङ्गाङ्गी भाव हो सकता है।

किन्तु जिनके साथ शृङ्गार का बाध्यबाधक सम्बन्ध है उनके साथ उनका अङ्गाङ्गी भाव कैसे सम्भव है—जैसे शृङ्गार और बीभत्स का — क्योंकि रतिस्थायीभाव अपने आलम्बनमें अनुरक्तिरूप है, जबकि जुगुप्साभाव अपने आलम्बनमें विरक्ति या पलायनरूप हुआ करता है। अतः दोनों कैसे एकसाथ एकआश्रयमें रह सकते हैं[३] इसी प्रकार तत्त्व ज्ञान से उत्पन्न समस्त सांसारिक विषयों से निर्वेद रूप सबके प्रति निरीह स्वभाव शान्त—भी विषयासक्ति रूप शृङ्गार के साथ एकालम्बन में कैसे रह सकता है[४]। अतः आनन्दवर्धन ने सामान्य रूप से इस विरोधाविरोध का परिहार

---

१. तैः रौद्रप्रभृतिभिः रक्षोदानवोद्धतमनुष्यैरित्यर्थः — लोचन

२. केवलं नायिकाविषय मौग्र्यं तत्रपरिहर्तव्यम् -- लोचन

३. आलम्बननिमग्नरूपतया च रतिरूपतिष्ठति ततः पलायनरूपतया जुगुप्सेति समानाश्रयत्वेन तयोरन्योन्य-संस्कारोन्मूलनत्वम्। —लोचन, पृ० ३८१

४. शान्तस्यापि तत्त्वज्ञान--समुत्थित-समस्तसंसारविषयनिर्वेदप्राणत्वेन सर्वतो निरीह स्वभावस्य विषयासक्तिजीविताभ्यां रतिक्रोधाभ्यां विरोध एव — लोचन, पृ० ३८१

बताया । उनका कहना है — शृङ्गारआदि किसी रस के प्रधान (प्रबन्धव्यङ्ग्य) होने पर उसके अविरोधी अथवा विरोधी किसी भी रस का अत्यन्त परिपोष नहीं करना चाहिए । इस नीति से उनका अविरोध हो सका है ।[1] और आगे उन्होंने इस परिपोषाभाव का तीन प्रकार बताया —उनमें प्रथम प्रकार यह कि यदि रस अविरोधी है तो अङ्गीप्रधानभूत रस की अपेक्षा उसका अत्यन्त आधिक्य नहीं करना चाहिए । दोनों का समान उत्कर्ष हो जाने तक पर भी विरोध सम्भव नहीं , जैसे —' एक ओर प्रियतमा रो रही है, दूसरी ओर युद्ध के नगाड़े बज रहे हैं । अतः स्नेह और युद्धोत्साह से वीर का हृदय दोलायमान हो रहा है ।[2] यहां (इस भाव-ग्रन्थि के उदाहरण में) वीर और शृङ्गार का एकाश्रय होने पर भी-दोनों के समान रूप रहने पर भी --विरोध नहीं है । इसी प्रकार शान्त और शृङ्गार के एकाश्रय विरोध का परिहार हो सकता है — जैसे —' गले में पहिने हार को निकाल कर जयमाला के समान उसे घेरती हुई, सांप के स्थान पर मेखलासूत्र में पर्यङ्कबन्ध आसन बांध कर, झूठमूठ मन्त्र-जप के कारण हिलते हुए अधरपुट से अभिव्यक्त हास को प्रकट करती हुई, सन्ध्या नामक सपत्नी के प्रति ईर्ष्यावश, महादेव का उपहास करती हुई देवी पार्वती तुम सबकी रक्षा करें ।[3] '— यहां प्रकृत ईर्ष्याविप्रलम्भ और तद्विरोधी मन्त्रजपादि से व्यङ्ग्य शान्त इन दोनों रसों का एकाश्रय रहने पर भी विरोध नहीं है, क्योंकि वहां पर शृङ्गार के विरोधी शान्त का अत्यन्त परिपोष नहीं किया गया । (यहां एक बात और ध्यान देने की है कि विप्रलम्भ शृङ्गार तथा शान्त दोनों ही देवविषयक रतिभाव के अङ्ग हैं) ।

परिपोष के परिहार का दूसरा प्रकार यह है —अङ्गीरस, के विरुद्ध व्यभिचारी भावों का अधिक संनिवेश न करे, अथवा निवेश करने पर शीघ्र ही अङ्गीरस के व्यभिचारी रूप में परिणत कर दे ।[4]

---

१. अविरोधीविरोधी वा रसोऽङ्गिनिरसान्तरे|परिपोषं न नेतव्यस्तथास्यादविरोधिता
ध्व० ३।२४

२. एकत्तो रुअइपिआ अण्णत्तो समरतूरणिग्धोसो ।
णेहेण रणरसेण अ भडस्स दोलाइअं हिअअम् ।।
एकतो रोदिति प्रिया अन्यतः समरतूर्यनिर्घोषः
स्नेहेनरणरसेन च भटस्यदोलायितंहृदयम् (इतिच्छाया) ।।

३. कण्ठाच्छित्वाक्षमालावलयमिवकरेहारमावर्तयन्ती
कृत्वापर्यङ्कबन्धं विषधरपतिना मेखलाया गुणेन । (शेष)
४-अगले पृष्ठ पर

विरोधी रस के व्यभिचारी भावों का यदि निवेश न किया जाय तो उसका परिपोष ही नहीं होगा । और न वह रस ही कहा जा सकेगा । अतएव `वा` से दूसरे विकल्प की प्रबलता सूचित होती है और यह दोनों विकल्प अलग-अलग नहीं है यह भी सूचित होता है । इसके दूसरे पक्ष में यह एक विशिष्ट रहस्य का उद्घाटन किया गया है कि विरोधी रस के व्यभिचारी भाव का निवेश करने पर भी उसको शीघ्र ही अङ्गीरस के व्यभिचारी भाव के रूप में परिणत कर दिया जाय । इसका सुन्दर उदाहरण जैसे —

कोपात् कोमल-लोल-बाहुलतिकापाशेनबद्धादृढं
नीत्वावासनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुर: ।
भूयो नैवमितिस्खलत्कलगिरासंसूच्यदुश्चेष्टितं
धन्योऽन्यत एव निह्नुतिपर: प्रेयान् रुदत्याहसन् ।

इसमें अङ्गीभूत रति में अङ्ग रूप से जो रौद्र के स्थायीभाव क्रोध का निवेश किया है उसमें `बद्धवादृढं` इस पद से उपनिबद्ध रौद्ररस के व्यभिचारी भाव का, रुदत्या और `हसन्` द्वारा शीघ्र ही रति के व्यभिचारीभाव ईर्ष्या औत्सुक्य और हर्ष के रूप में पर्यवसान हो जाता है, अतएव रौद्र का परिपोष नहीं हो पाता । यह विरोधी रस के परिपोष-परिहार का द्वितीय प्रकार हुआ । उसमें विरोधी व्यभिचारियों के अनिवेश की अपेक्षा (उनका) अङ्गिरस-व्यभिचारितया अनुसन्धान अधिक प्रबल समझना चाहिए यह उत्तर विकल्प का दार्ढ्य ग्रन्थकार ने `वा` पद से सूचित किया है ।

अब परिपोष के परिहार का तीसरा प्रकार बताते हैं — अङ्गभूत रस का परिपोष करने पर भी बार-बार उसकी अङ्गरूपता का ध्यान रखना[1] — आनन्दवर्धन ने इसी प्रसङ्ग में परिपोष परिहार के एकाध उपाय और बताए हैं, जैसे — किसी विरोधी रस की अङ्गीरस की अपेक्षा न्यूनता कर लेनी चाहिए, जैसे शान्त रस के प्रधान होने पर शृङ्गार की अथवा शृङ्गार के प्रधान होने पर शान्त की ।[2]

---

१. अङ्गत्वेन पुन: पुन: प्रत्यवेक्षा परिपोषं नीयमानस्याप्यङ्गभूतस्यरसस्येतितृतीय: ।
२. अनया दिशाऽन्येऽपि प्रकारा उत्प्रेक्षणीया: । विरोधिनस्तुरसस्याङ्गिरसापेक्षया कस्य चिन्न्यूनता सम्पादनीया यथा शान्ते ङ्गिनि शृङ्गारस्य शृङ्गारे वा शान्तस्य ।
-- ध्व०

यहाँ यह सन्देह भी नहीं करना चाहिए कि परिपोष प्राप्ति हुए विना रस का रसत्व ही कैसे बनेगा ? क्योंकि यहाँ अङ्गी रस की अपेक्षा से उसके परिपोष की कमी बताई गयी है --अर्थात् अङ्गीरस का जितना परिपोष किया जाय उतना उसके विरोधी अङ्गरस का नहीं (यहाँ विरोधी या अङ्गरस से स्थायी भाव समझना चाहिए ।) स्वत: उस विरोधी का चाहे जितना परिपोष हो जाय इसमें कोई आपत्ति नहीं ।[१]

यहाँ यह मत आनन्दवर्धन ने उन आचार्यों के मत की ओर संकेत करते हुए लिखा है जो यह मानते हैं कि रसों का परस्पर अङ्गाङ्गी भाव या उपकार्योपकारक भाव नहीं होता । उनके मत से रस वही है जो स्वत: पूर्ण चमत्काररूप हो । यदि उसकी स्वचमत्काररूप में विश्रान्ति नहीं होती है तो वह रस ही नहीं है । अङ्गाङ्गी भाव या उपकार्योपकारक भाव मानने में तो अङ्गभूत या उपकारक रस की स्वचमत्कार में विश्रान्ति नहीं हो सकती है --अत: वह रस ही नहीं कहला सकता । इसलिए उन लोगों के मत से रसों में अङ्गाङ्गि भाव सम्भव नहीं । किन्तु उनको भी ऐसे प्रबन्धों में,जहाँ अनेक रस हैं,रसों में परस्पर कोई न कोई सम्बन्ध मानना ही होगा । यहाँ यही सम्बन्ध ही दूसरे शब्दों में अङ्गाङ्गि-भाव नाम से कहा गया है । क्योंकि बिना सम्बन्ध माने तो प्रबन्ध-रचना की कथावस्तु का निर्माण ही नहीं हो सकता है[२]।

रसों का परस्पर अङ्गाङ्गीभाव —

रसों के परस्पर इस अङ्गाङ्गीभाव के विषय में भरत के नाट्य शास्त्र के सप्तम अध्याय का यह सिद्धान्त वाक्य मूलस्रोत के रूप में उद्धृत किया जा सकता है । " बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद् बहुसमन्तव्यो रसस्थायी शेषा: संचारिणोमता: ।" रसों के परस्पर अङ्गाङ्गीभाव या स्थायी संचारी भाव मानने वालों के मत में इसका अर्थ

---

१. परिपोषरहितस्य कथं रसत्वमिति चेत् उक्तमत्राङ्गिरसापेक्षयेति । अङ्गिनो हि रस-स्वभावात् परिपोषस्तावानस्य न कर्तव्य:स्वतस्तुसंभवी परिपोष:केन वार्यते । ध्व०

२. उपकार्योपकारकभावोरसानां नास्ति स्वचमत्कारविश्रान्तित्वात्, तद्भावे च समङ्गाङ्गितेत्यपि येषां मतं तैरपि कस्यचिद्रसस्य प्रकृष्टत्वं भूय:प्रबन्धव्यापकत्वम् न्येषां-वाल्पप्रबन्धानुगामित्वमभ्युपगन्तव्यमितिवृत्तसंघटनाया एवान्यथानुपपत्ते:, भूय: प्रबन्ध-व्यापकस्य च रसस्य रसान्तरे यदि न काचित् संगतिस्तदितिवृत्तस्यापि न स्यात् सङ्गतिश्चैवयमेवोपकार्योपकारकभाव: ।

— लोचन, पृ० ३८५

इस प्रकार होता है — 'चित्तवृत्तिरूप अनेक भावों में से जिसका रूप बहु अर्थात् अधिक प्रबन्ध-व्यापक हो, उसको स्थायी रस मानना चाहिए और शेष को व्यभिचारी। इस प्रकार इस मत से भरतमुनि ने रसों के स्थायी अर्थात् अङ्गी रूप और संचारी अर्थात् अङ्गरूप दोनों रूप स्वीकार किए हैं। लोचनकार ने भागुरि मुनि को रसों के स्थायी संचारी मानने वाले पक्ष का समर्थक बताते हुए लिखा है — 'तथा च भागुरिरपि किं रसानामपि स्थायिसंचारितास्तीति आक्षिप्याभ्युपगमेनैवोत्तरमवोचद् बाढमिति।' अतः रसों का स्थायी संचारीभाव अर्थात् अङ्गाङ्गी भाव होता है यह भागुरिमुनि को भी अभिमत है। इस मत को ही प्रधानभाव मान कर आनन्दवर्धन ने विस्तार के साथ उसके उपपादन का प्रयत्न किया।[1]

दूसरे मत वाले 'रसस्थायी' को एक समस्त पद मानते हैं, और उसका विग्रह 'रसस्य रसे, रसं वा स्थायी' इस प्रकार करते हैं। ये रसों का नहीं अपितु उनके स्थायी भावों का अङ्गाङ्गी भाव अथवा स्थायीसंचारीभाव मानते हैं। अर्थात् एकरस में स्थायी रूप से कहा गया भाव अथवा दूसरे रस में संचारीभाव हो सकता है, जैसे क्रोध, रौद्र, रस का तो स्थायीभाव है किन्तु वीर रस में व्यभिचारी भाव होता है। उसी प्रकार एक रस का व्यभिचारी भाव दूसरे रस का स्थायीभाव हो रहा है, जैसे —सब रसों में व्यभिचारी रूप निर्वेद शान्त का स्थायी हो जाता है, जैसे विक्रमोर्वशीय नाटक में चतुर्थ अङ्क में उन्माद। इस प्रकार भावों की स्थायिता और संचारिता का प्रतिपादन करने के लिए भरत मुनि ने यह कारिका लिखी है, यह इस मत वालों का कहना है। वे श्लोक के पदों का समन्वय इस प्रकार करते हैं कि चित्तवृत्ति रूप अनेक भावों में से जिसका अधिक विस्तृत रूप उपलब्ध होता है, वह स्थायी भाव होता है, और वही रसीकरण के योग्य होता है, उसी से उसे रसस्थायी कहते हैं —शेष सब व्यभिचारी होते हैं। इसीलिए एकरस का स्थायीभाव दूसरी जगह व्यभिचारी अथवा एक रस का व्यभिचारी भाव दूसरी जगह स्थायीभाव हो जाता है। भोज ने यही मत अपने शृङ्गार-प्रकाश में माना है।

इस प्रकार पहिले मत में साक्षात् रसों का, और दूसरे मत में उनके स्थायी भावों का साक्षात् —और परम्परा या लक्षणा से रसों का अङ्गाङ्गीभाव या

---

1. एतच्च सर्वथा रसो रसान्तरस्यव्यभिचारी भवति इति कीर्तनं लक्ष्मैनोच्यते।

—ध्व०, पृ० ३८५-८

उपकार्योपकारक भाव हो सकता है। इसलिए दोनों ही मतों में विरोधी रसों के अविरोध का उपपादन किया जा सकता है।

रसविरोधपरिहार के साधारण उपाय—

आनन्दवर्धन ने इस प्रकार प्रबन्धस्थ प्रधान रस के साथ उसके अविरोधी तथा विरोधी रसों में साधारण अविरोधोपाय का प्रतिपादन करके कुछ विशेष उपायों का भी निर्देश किया है। परस्पर विरोधी रस दो प्रकार के होते हैं —१. ऐकाधिकरण्य-विरोधी, २. नैरन्तर्यविरोधी। यदि स्थायी (अर्थात् प्रधान) रस का ऐसा विरोधी हो कि उसके साथ एकाश्रय में प्रधान रस न रह सकता हो तो उसे पृथगाश्रय कर देना चाहिए। और पृथक् स्थित उस विरोधी का परिपोष भी हो जाय तो कोई दोष नहीं होता[१]। ऐकाधिकरण्य विरोध या एकाश्रय विरोध का अर्थ है कि समान अधिकरण या आश्रय में दोनों रस न रह सकें। जैसे वीर और भयानक ये दोनों रस एकाश्रय अर्थात् एक नायक में नहीं रह सकते। वीर का स्थायी भाव उत्साह और भयानक का स्थायीभाव भय ; ये दोनों भाव एक व्यक्ति में नहीं रह सकते। फिर इनका प्रबन्ध में कैसे निर्विरोध समावेश किया जाय ? आनन्दवर्धन का कहना है कि वीर को कथानायक निष्ठ कर दे और भयानक को प्रतिनायक निष्ठ। ऐसा करने से उस वीर-विरोधी भयानक का परि-पोष न केवल निर्दोष होगा, अपितु वीर रस का उत्कर्षाधायक होगा - उससे नायक की नीति, पराक्रम आदि अत्यन्त उद्योतित होंगी।

और जो रस एकाश्रय तो प्रधान रस के साथ रह सकता है किन्तु नैरन्तर्य में नहीं रह सकता अर्थात् प्रधान के साथ निरन्तर रूप से, पास अव्यवहित रूप से, नहीं रह सकता, उसको बीच में किसी अन्य विरोधी रस के वर्णन से व्यवहित कर देना चाहिए[२]। जैसे नागानन्द में 'रागस्यास्पदमित्यवैमि नहि मे ध्वंसीति न प्रत्यय: ...' इत्यादि से लेकर परार्थ —शरीरवितरणरूपनिर्वहणपर्यन्तशान्त रस है, किन्तु उसका विरोधी मलयवती-विषयक शृङ्गार है। इन दोनों के बीच में दोनों के अविरोधी अद्भुत रसका अहोगीत महोवादित्रम्' आदि का समावेश और उसी की पुष्टि के लिए 'व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना' आदि का समावेश किया गया है। इस प्रकार नैरन्तर्य विरोधी रसों के बीच में अविरोधी रस का समावेश कर देने से उनका अविरोध हो सकता है। आनन्दवर्धन का कहना है कि इस पूर्वोक्त उपाय से न केवल प्रबन्ध के नैरन्तर्यविरोधी रसों का विरोध शान्त हो जाता है, अपितु एक वाक्य

---

१. विरुद्धैकाश्रयो यस्तु विरोधी स्थायिनो भवेत्। स विभिन्नाश्रय: कार्यस्तस्य पोषेऽप्यदोषता ----- ध्व० ३।२५। २- (अगले पृष्ठ पर)

तक में इस नीति से विरोधी रसों का विरोध ठंडा पड़ जाता है[1]। उदाहरण के लिए तीन श्लोकों के एक वाक्य (विशेषक) को आनन्दवर्धन ने उद्धृत किया है[2]। अर्थात् (युद्ध में मारे जाकर स्वर्ग से) नवीन पारिजातमाला के पराग से सुरभित वक्षस्थल वाले, सुरांगनाओं से आलिङ्गित उर: स्थल वाले, चन्दन जल से सिक्त सुगन्धित कल्पलता के बने दुकूलों के द्वारा पंखा किये जाते हुए विमानों में पलंगों पर ह बैठे हुए वीरों ने कौतूहलवश अपनी स्वललनाओं द्वारा अंगुली से दिखलाए जाते हुए, पृथ्वी की धूल में सने हुए, सियारिनों से गाढ़ आलिङ्गित, मांसाहारी पक्षियों के रक्त में सने हुए तथा हिलते हुए पंखों से हवा किये जाते हुए युद्ध भूमि में पड़े अपने शरीरों को देखा।

यहाँ एक ही आश्रय वीरों में शृङ्गार तथा बीभत्स दो विरुद्ध रसों को वीर रस से व्यवहित करके रखा गया है, जिससे उनका विरोध शान्त हो गया है।

विरोधपरिहार की दृष्टि से शृङ्गार का वैशिष्ट्य—

आनन्दवर्धन ने रस का यह विरोधाविरोध-विवेचन शृङ्गार के प्रसंग में अधिक महत्त्वशील बताया है। उनका कहना है कि विरोधाविरोध का इसी प्रकार सर्वत्र निरूपण करना चाहिए। विशेषकर शृङ्गार में, क्योंकि वह रस सबसे अधिक

शेष — एकाश्रयत्वे निर्दोषो नैरन्तर्ये विरोधवान्।
रसान्तरव्यवधिना रसो व्यङ्ग्य: सुमेधसा ।। — ध्व० ३।२६

---

१. रसान्तरव्यवहितयोरेकप्रबन्धस्थयोर्विरोधितानिवर्तत इत्यत्र न काचिद् भ्रान्ति:। यस्मादेकवाक्यस्थयोरपि रसयो रुक्तयानीत्या विरुद्धतानिवर्तते। ध्व०पृ० ३६५

२. भूरेणुदिग्धान्नवपारिजातमालारजोवासित बाहुमध्या:।
गाढं शिवाभि: परिरभ्यमाणान् सुराङ्गनाश्लिष्टभुजान्तराला: ।।
संशोणितै: क्रव्यभुजां स्फुरद्भि: पक्षै: खगानामुपवीज्यमानान्।
संवीजिता: चन्दनवारिसेकै: सुगन्धिभि: कल्पलतादुकूलै: ।।
विमानपर्यङ्कतले निषण्णा: कुतूहलाविष्टतया तदानीम्।
निर्दिश्यमानाँल्ललनाङ्गुलीभि वीरा: स्वदेहान् पतितानपश्यन् ।।

३. अत्र हि शृङ्गारबीभत्सयोस्तदङ्गयोर्वा वीररसव्यवधानेन समावेशो न विरोधी —
— ध्व०, पृ० ३६६

सुकुमार है ।[१] अभिनव का कहना है कि वैसे तो सभी रस सुकुमार होते ही हैं उनमें करुण अन्य सबसे और शृङ्गार तो करुण से भी अधिक सुकुमार होता है ।[२] उसकी इस सुकुमारता का कारण यह कि शृङ्गार तो ~~करुण~~ रति-परिपोष रूप होता है । और रति एक ऐसा भाव है कि तनिक भी कारण से उसका भङ्ग होता है । अतएव इसे सुकुमारतम कहा गया है ।[३] अतः सत्कवि को शृङ्गार का निरूपण करते समय अत्यन्त सावधान रहना चाहिए क्योंकि तनिक भी प्रमाद तुरन्त प्रतीत हो जाता है और उस कवि की --सहृदयों के बीच अवज्ञा भी हो जाती है ।[४]

शृङ्गार रस का अनुभव संसार का प्रत्येक प्राणी अवश्य करता है, अतः सर्व कमनीय होने के कारण वह सब रसों से प्रधान भी है ।[५]

काव्य में विरोधीरसों के भी साथ शृङ्गार के अङ्गों के सन्निवेश का प्रयोजन -

शृङ्गार रस की हैसियत एक दृष्टि से और भी अन्य रसों की अपेक्षा निलक्षण है । शृङ्गार एक ऐसा रस है कि उसके अङ्गों का जो शृङ्गार विरोधी रसों के साथ स्पर्श है वह केवल पूर्वोक्त विरोधनिवारक लक्षणों के होने पर ही परिहृत हो ऐसी बात नहीं है । (अपितु शिष्यों को काव्यमुखेन सदुपदेश को ग्रहण करने की ओर)

---

१. विरोधमविरोधं च सर्वत्रेत्थं निरूपयेत् ।
विशेषतस्तु शृङ्गारे सुकुमार तमो ह्यसौ ।। ध्व० ३।२८

२. 'सुकुमारस्तावद्रसजातीयः ततो पि करुणास्ततो पि शृङ्गारइतितमप्रत्ययः ।'
--लोचन - पृ० ३६७

३. 'स (शृं०) हि रतिपरियोषात्मकत्वात् रतेश्चस्वल्पनापि निमित्तेन भङ्गसम्भवात् सुकुमार तमः सर्वेभ्यो रसेभ्य मनागपि विरोधिसमावेशं न सहते - ध्व० पृ०३६६-६

४. अवधानातिशयवान् रसेतत्र सत्कविःभवेत् तस्मिन् प्रमादो हि झटित्येवोपलक्ष्यते ।
ध्व० ३।२६

तत्र हि प्रमाद्यतस्तस्य सहृदयमध्ये क्षिप्रमेवा ऽवज्ञाविषयता भवति ।)

५. शृङ्गारसो हि संसारिणां नियमेनानुभवविषयत्वात् सर्वरसेभ्यः कमनीयतया प्रधानभूतः ।
-- ध्व० ३६७

उन्मुख करने के लिए जो विशेष रूप की काव्य-शोभा उसकी दृष्टि से किया जाने पर भी दूषित नहीं होता। शृङ्गाररस के अङ्गों (से) आकृष्ट शिष्यगण सदाचार के उपदेशों को आनन्दपूर्वक ग्रहण कर लेते हैं। भरतादिमुनियों ने शिक्षणीय जनों के हित के लिए ही सदाचारोपदेश रूपनाटकादि गोष्ठी की अवतारणा की है।[1] और फिर शृङ्गार ही एक ऐसा रस है जो सब को मन को रमणीय एवं सुन्दर लगता है, अत: उसके विभावानुभाव संचारी आदि के समावेश से काव्यसौन्दर्य की वृद्धि ही होती है।[2] जैसे इस पद्य में -

सत्यं मनोरमा रामा: सत्यं रम्या विभूतय: ।

किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम् ।।

(स्त्रियाँ मनोरम होती हैं यह ठीक है, संसार की विभूतियाँ भी मनोरम होती हैं यह भी ठीक है, किन्तु यह जीवन ही, जो उनका भोग करने वाला है, मत्तयुवती के कटाक्ष के समान अत्यन्त चञ्चल (अस्थिर) है) यहाँ कवि शुष्क उपदेश की भाँति यह नहीं कहता कि `रामा विभूति आदि सब मिथ्या हैं, अत: सब त्यागकर वैराग्य का आश्रय लो इत्यादि`। अपितु उनके लिए `सत्य` शब्द का प्रयोग कर मानो पर-हृदय में प्रवेश कर कहना चाहता है कि हम मिथ्या ही वैराग्य की बात नहीं करते, अपितु ये `रामा:` और रम्या विभूतिय:` जिसके लिए हैं वह जीवन ही अत्यन्त अस्थिर है। और अस्थिरता का उपमान बनाया शृङ्गार के प्रसिद्ध विभाव मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्ग` जिसकी चञ्चलता से विश्व विमुग्ध है। अत: सर्वाभिलाषणीय कटाक्ष की अस्थिरता की उपमा देने से कवि वैराग्य का विषय अति सरलता से सर्वग्राह्य बनाकर समझा दे रहा है। एक अन्य अति रम्य स्वरचित उदाहरण अभिनव ने अपने लोचन में उद्धृत किया है —

`त्वां चन्द्रचूडं सहसा स्पृशन्ती प्राणेश्वरं गाढवियोगतप्ता ।

सा चन्द्रकान्ताकृतिपुत्रिकेव संविद् विलीयापि विलीयते मे ।।

इस श्लोक में चन्द्रचूड शिव की स्तुति है। शृङ्गार की प्रतीति में चन्द्रचूड शिव को पति, और अपनी बुद्धिवृत्ति को चन्द्रकान्तमणि से निर्मित पुतली के समान सुन्दर अपनी पुत्री तथा

---

१. विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा । तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदङ्गानां न दुष्यति ।

— ध्व० ३।३०

२. किंच शृङ्गारस्य सकलजनमनोहराभिरामत्वात् तदङ्गसमावेश: काव्ये शोभातिशयं पुष्णाती-त्यनेनापि प्रकारेण विरोधिनि रसे शृङ्गाराङ्गसमावेशो नविरोधी`

— ध्व० ३६६

शिव की पत्नी रूप माना है । वह बुद्धिवृत्ति अपने प्रियतम शिव से बहुत काल से वियुक्त होने के कारण अत्यन्त वियोग-सन्तप्त है। शिव के ध्यान में तनिक देर के लिए चित्त एकाग्र होने से, चन्द्रचूड़ शिव का स्पर्श पाकर वह तदाकारापन्न होने से स्वरूप-विहीन, पति के आलिङ्गन में सर्वात्मनाविलीन - सी होकर चन्द्रचूड़ के स्पर्श से द्रवित होकर विलीन हो जाने वाली चन्द्रकान्तपुत्तलिका के समान विलीन हो जाती है। यहां शान्त रस की बातें शृङ्गार की-सी कही गयी हैं। शान्त शृङ्गार का विरोधी रस है, किन्तु शृङ्गार की विलक्षणता देखिए उसके पुट से काव्य में अद्भुत चमत्कार आ गया है। अश्वघोष ने अपने सौन्दरनन्द के प्रारम्भ में शृङ्गार काव्य को अपनाने का उद्देश्य ही विषयानुभूतिकर्तुं काव्यशोभार्थं ही बताया है?

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने शृङ्गार का सबसे बड़ा प्रयोजन प्रतिपादित किया है--काव्यशोभा को बढ़ाना तथा काव्य को कान्तासम्मित बना देना।

समस्त विवेचन- निष्कर्ष-

इस प्रकार शृङ्गार रस के विषय में आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में विकीर्ण विचारों का यह संक्षिप्त संकलितरूप होगा —

(१) शृङ्गार मधुर रस है, क्योंकि परमप्रह्लादन है। अतः जहां भी शृङ्गार रस होगा, वहां माधुर्य गुण अवश्य होगा। उसका विप्रलम्भ पक्ष तो सम्भोग से भी मधुरतर है। (करुण को उन्होंने मधुरतम कहा है)।

(२) जहां शृङ्गार रस प्रधान रूप में स्थित हो वहीं श्रुतिकटु आदि दोष माने जाते हैं। जहां वह प्रधान (आत्मा) रूप से न स्थित हो, अथवा जहां वाच्य अर्थ प्रधान हो वहां वे दोष नहीं माने जाते।

(३) जहां अनुप्रास, यमक, तथा चित्रबन्ध आदि अलङ्कार होंगे वहां शृङ्गार रस नहीं चमत्कार दे सकता है।

(४) जब ~~अलङ्कार~~ शृङ्गाररस प्रधान रूप से स्थित हो तो रूपकादि अलङ्कारों को बहुत विचार के साथ रखना चाहिए।

(५) विप्रलम्भ शृङ्गार तथा करुण रस में असमासा ही संघटना रहनी चाहिए। दीर्घसमासा संघटना तो कथमपि नहीं रह सकती क्योंकि दोनों ही अतिशय सुकुमार रस हैं।

(६) किन्तु शृङ्गार रस में प्रसादगुण का होना तो अत्यन्त आवश्यक है। यहां तक कि प्रसादगुण के रहने पर मध्यमसमासा संघटना भी शृङ्गाररस की व्यञ्जक

होती है और बिना उसके तो असमासा भी संघटना शृङ्गार रस को नहीं व्यक्त कर सकती ।

(७) सम्भोग शृङ्गार (रति) के वर्णन में पात्रौचित्य का बड़ा ध्यान रखना चाहिए । उत्तमप्रकृति का ग्राम्य शृङ्गार अत्यन्त हेय है । उत्तम प्रकृति का रति के अतिरिक्त अन्य प्रकार से ही प्रेम-अवलोकन आदि रूप से ही शृङ्गार वर्णन किया जाना चाहिए ।

(८) शृङ्गार में मरण का वर्णन हो तो अविलम्ब समागम का वर्णन होना चाहिए ।

(९) करुण का अङ्ग बन कर रहने पर शृङ्गार का करुण से विरोध दूर हो जाता है, जैसे ' अयं सरशनोत्कर्षी ' में ।

(१०) शृङ्गार रस के प्रसङ्ग में विरोधाविरोध का विचार बड़े महत्त्व का है, क्योंकि वह सुकुमारतम रचना होती है ।

(११) शृङ्गार रस सभी मनुष्यों के लिए सुबोध होता है अतएव उसकी प्रधानता मानी जाती है ।

(१२) शृङ्गार रस का वीर, हास्य तथा रौद्र और अद्भुत रसों के साथ सहानवस्थित रूप विरोध रहता है ।

(१३) शृङ्गार के साथ बाध्य-बाधक विरोध के परिहार के तीन उपाय हैं —

(१) अङ्गरूप में रखना, २. विरोधी का अङ्गीरस की भांति परिपोष न करना, तथा ३. दोनों के बीच किसी अविरोधी रस को रखना ।

(१४) जब विनेयों को उन्मुख करने के लिए अथवा काव्य की शोभा के लिए शृङ्गार के अङ्गों का समावेश किया जाता है तो उसका विरोधी रसों के साथ सम्पर्क दूषित नहीं होता ।

भरत ने छन्दों में भी आर्या को उसकी सुगेयता के कारण, शृङ्गारानुकूल बताया है — आर्यावृत्तसमाश्रयम् । जैसा कि शृङ्गारहृदय 'शाकुन्तल' की ' त्वं न जाने हृदयम्'[१] आदि/ प्रायः सभी शृङ्गार की अति मधुर उक्तियों में देखा जाता है । किन्तु यह भी उपलक्षण ही माना जायगा, क्योंकि अर्थयोग से छन्द का निर्णय उन्होंने बहुत कुछ प्रयोक्ता के विवेक पर छोड़ दिया है —[२]

इसी प्रकार छन्दों में गुणों को भी रस के अनुसार ही सन्निविष्ट करना चाहिए । उनमें उदार अथवा मधुर आदि शब्द रस के अनुसार ही किये जाने चाहिए ।

---

१. शा० ३।१३

२. शेषाणामर्थयोगेनछन्दःकार्यं प्रयोक्तृभिः — ना०का० १७।११४

क्षेमेन्द्र के शृङ्गारोचित छन्द —

यद्यपि क्षेमेन्द्र का विषय रसादि का विवेचन नहीं । किन्तु उन्होंने कवि बनने के लिए कुछ विषयों में सुन्दर उपदेश दिये हैं, जैसे — रसादि की दृष्टि से छन्दों के प्रयोग में । रसों के विषय में उचित प्रयोक्तव्य छन्दों को बताते हुए वे शृङ्गार के लिए छन्द निर्देश करते हैं— 'शृङ्गार में उसके आलम्बन रूप उदार नायिका रूप के वर्णन में तथा उद्दीपन रूप वसन्तादि के वर्णन में उपजाति छन्द सबसे अधिक उपयुक्त होता है ।[3]

उदाहरण के लिए उन्होंने कालिदास के कुमारसम्भव से दो उद्धरण दिये हैं — रूपवर्णन में जैसे —

मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या वलित्रयं चारु बभार बाला ।
आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम् ।।

---

१. शृङ्गारालम्बनोदारनायिकारूपवर्णनम् ।
वसन्तादि तदङ्गं च सच्छायमुपजातिभिः ।।

वसन्तवर्णन में, जैसे—

'बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद्बभुः पलाशान्यतिलोहितानि
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीववनस्थलीनाम् ।।'

उनके अनुसार शृङ्गार उद्दीपन विभावों चन्द्रोदयादिके वर्णनों में 'रथोद्धता भव्य मानी गयी है-[1] उदाहरण भी कालिदास से दिया गया है —

अङ्गुलीभिरिव केशसञ्चयंसन्नियम्य तिमिरंमरीचिभिः
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीवरजनीमुखंशशी ।।

वर्षा के समय प्रवास-विप्रलम्भ के वर्णन में मन्दाक्रान्ता को क्षेमेन्द्र ने समुपयोगी बताया है।[2]

जैसे कालिदास का —

'तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी
नीत्वा मासान् कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः
आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ।।

रस का अन्योन्य मेलन—

शारदातनय ने रसों के परस्पर संयोग का विवेचन करते हुए कहा है कि यदि दो रसों के भाव परस्पर पौर्वापर्य सम्बन्ध से भी सम रहें तो उसे रसविदों ने रसमेलन कहा है।[3] इस प्रकार केवल शृङ्गार और वीर का ही सम्यक् अन्योन्यमेल हो सकता है।[4]

वैसे तो सभी रस कार्यवश परस्पर मिलते ही हैं।[5] उनमें जो रस पहिले कहा

---

१. 'रथोद्धताविभावेषु भव्या चन्द्रोदयादिषु'
२. 'प्रावृट्प्रवासव्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते'
३. पौर्वापर्येण भावाः स्युःसमायदिमिथो द्वयोः ।
तदैव रसविद्भीरसमेलनमुच्यते ।। ६।१३४
४. शृङ्गारवीरयोः सम्यग् भवेदन्योन्यमेलनम् ।। ६।१३४
५. रसाः कार्यवशात् सर्वे मिलन्त्येव परस्परम् । ६।१३४

जाता है, वह प्रधानरस कहलाता है।[१] दो तीन के संसर्गसाम्य रहने पर रस-सङ्कर कहलाता है। इस प्रकार रसों के प्राधान्य, आभासत्व, मिलनत्व तथा सङ्करत्व का ध्यान रखकर रचे गए काव्य कवि का प्रयत्न सफल करते हैं तथाउसकी शाश्वती-कीर्ति को पुष्ट करते हैं।[३]

अन्त में उपसंहाररूप में रसस्थिति के लिए आवश्यक तत्त्वों का शारदातन ने परिगणान किया है — इस प्रकार रस के रूप, प्रकार, देश, काल, ऋतु, अवस्था, प्रकृति भाव, तथा लिङ्ग को जानकर रस-स्थिति की जानी चाहिए।[४]

देश आदि (उद्दीपन) विभाव, आलम्बन विभावों में हर्ष आदि व्यभिचारियों को और भी अधिक उत्पन्न करते हैं।[५] इन देशों का वर्णन यहां प्राय: सम्पूर्णत: भोज के स०क० के अनुसार हुआ है। देश दो प्रकार के होते हैं — १. कृत्रिम और २. अकृत्रिम। नगर, ग्राम, पल्ली, जनपद आदि (मनुष्यनिर्मित) कृत्रिम देश ह हैं तथा सरित्, शैल, वेला(समुद्रतट) अरण्य आदि अकृत्रिम हैं।[६] शृङ्गार, हास्य तथा वीर रसों में बहुत से विनोदों का समावेश किया जाता है।[७] फिर शारदातनय ने छहों ऋतुओं के विनोदों का उल्लेख किया है, जो विशिष्ट रूप से शृङ्गार के ही नायक-नायिकाओं के लिए कहा

---

१. प्रथमं यो रस:स्यात्त: सप्रधानोभविष्यति ।।६।१३४

२. द्वित्राणामपि संसर्गसाम्ये सङ्कर उच्यते ।६।१३५

३. इत्थं स्वतन्त्रैराभासै र्मिलितै:सङ्करै रसै: ।
तारतम्यं विजानीयात्सम्यग्गामापरागयो: ।।
एवं विभाव्यकविभि:काव्यबन्धोविरच्यताम् ।
विलोकिता:कालबन्धा रसभावविवेचकै : ।
कवे: प्रयत्नसाफल्यं कीर्तिं पुष्णान्तिशाश्वतीम् ।। ६।१३४

४. एवं रूपं प्रकारं च देशं कालमृतुं वय: ।
प्रकृतिं भावलिङ्गे च ज्ञात्वा विधाद्रसस्थितिम् ।६।१३४

५. देशादयो विभावास्तु हर्षादीन्व्यभिचारिण: ।
आलम्बनविभावेषु जनयन्तियथाबलम् ।। ६।१३६

६. कृत्रिमोऽकृत्रिमश्चेति द्विधा देशो विभाव्यते ।
कृत्रिमा नगरग्रामपल्लीजनपदादय: ।
अकृत्रिमा: सरिच्छैलवेलारण्यादयस्तथा ।

७. विनोदा बहव: सन्ति शृङ्गारे हास्यवीरयो: । ६।१३७

गया प्रतीत होता है।[1] यह सब भोज के ही अनुसार हुआ है।

शृङ्गार में सम्बोध्यपद-

इसके अनन्तर भरत ने भाषा-विधान तथा सम्बोध्यपदों का विचार किया है। शृङ्गाररस में राजा अथवा अन्य कोई भी अपनी भार्या को 'प्रिया' पद से सम्बोधित करे।[2] इसी प्रकार अन्य के भी सम्बोधन-पद हैं।

पाठ्यगुण-

वागभिनय के ही प्रसंग में कुछ पाठ्यगुण भी प्रयुक्त किये जाते हैं। अभिनव ने पाठ्यगुण शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है -गुण का अर्थ है उपकारक अर्थात् जिनसे उपकृत होकर काव्यपाठ्य अथवा पठनीय हो जाता है।[3] ये पाठ्यगुण ये हैं — सातस्वर, तीनस्थान, चार वर्ण, दो काकु, छ: अलङ्कार तथा छ: अङ्ग।[4] सात स्वरों में शृङ्गार के लिए उपयोगी मध्यम तथा पञ्चम कहे गये हैं।[5] इस शरीर रूपी वीणा में स्वर के तीन उच्चारणस्थान[6] हैं। १. उरस्, २. शिरस् तथा ३. कण्ठ।

वर्ण चार कहे गये हैं[7] -१. उदात्त, २. अनुदात्त, ३. स्वरित, तथा ४. कम्पित।[8] ये उदात्त आदि वेदाङ्गशिक्षाग्रन्थों में उदात्त आदि से भिन्न हैं। काव्यों में वे उदात्त आदि अर्थविशेष के नियामक नहीं बन सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर समस्त पदों में श्लेष का चमत्कार ही नष्ट हो जायगा। 'मन्यामिकौरवशतम्' आदि में अभिधानियामक वेदप्रसिद्ध उदात्तादि स्वरों के कारण विशिष्ट अर्थ की प्रतीति नहीं होती, अपितु काकु आदि की सहायता से व्यञ्जना द्वारा ही होती है। अत: यहाँ 'वर्ण' का अर्थ है

---

१. भा०प्र० ६।१३०-३८

२. 'प्रियेतिभार्याशृङ्गारे वाच्या राजेतरेण वा' -ना०शा० १६।३८

३. गुणाउपकारका:यदुपकृतंकाव्यं पाठ्यं भवति -भारती।

४. ना०शा०१६, पृ० २२१ चौ०

५. 'हास्यशृङ्गारयो:कार्यौ स्वरौ मध्यम-पञ्चमौ। -ना०शा० १६।३८ चौ०

६. शारीर्यामथवीणायांत्रिभ्य: स्थानेभ्यएवतु।
उरस:शिरस: कण्ठात् स्वर: काकु:प्रवर्तते ।। ना०शा० १६।४०-४१

७. ना०शा० १६।४३

८. ना०शा० १६।४३

'अर्थविशेष के बोधक स्वर के उच्चारण की विधि।'[1]

शृङ्गाररस के अभिनय में उदात्त (उच्च) तथा स्वरित (मध्यम)—इन दो वर्णों अर्थात् 'पाठ्योपकारकस्वरधर्मों' का प्रयोग किया जाता है।[2]

इसी प्रकार १. उच्च, २. दीप्त, ३. मन्द्र, ४. नीच, ५. द्रुत तथा ६. विलम्बित —ये छः पाठ्यगुण और हैं, जिन्हें भरत ने अलङ्कार नाम दिया है। किन्तु ये अलङ्कार यमक उपमा आदि अलङ्कारों से भिन्न अर्थवाले हैं। ये अलङ्कार काकु के स्वरूप को निष्पन्न करते हैं।[3]

इस प्रकार यदि ध्यान से देखा जाय तो ये छः प्रकार के अलङ्कार वस्तुतः छः प्रकार की काकु ही है।

फिर पाठ्यगुणरूप में ही १. विच्छेद, २. अर्पण, ३. विसर्ग, ४. अनुबन्ध, ५. दीपन तथा ६. प्रशमन ये छः 'अङ्ग' कहे गये हैं। इनमें विच्छेद, अर्पण, दीपन तथा प्रशमन ये चार अङ्ग शृङ्गार रस के अभिनय में प्रयुक्त किये जाते हैं।[4] ये छः प्राठ्यगुण भी काकुविधान रूप में ही माने जाने चाहिए। अतएव इस अध्याय के अन्त में उपसंहार करते हुए भरत कहते हैं —उक्तं काकुविधानं तु यथावदनुपूर्वशः।' वागभिनय में रसभाव के प्रदर्शन में वस्तुतः यह काकु प्राण-रूप से रहती है।

---

१. 'उच्चता नीचता मध्यमता उच्चनीचोभयदोलावलम्बनमितिचत्वारः स्वरधर्माः।
वर्णा गुणा यदि वा पाठ-क्रिया-विस्तारका, विवृण्वते प्रकटयन्ति स्वार्थविशेष-मिति वा — भारती

२. तत्रहास्यशृङ्गारयोः स्वरितोदात्तैः .... ।
पाठ्यमुपपादयेत्। — ना०शा० १६, पृ० २२२

३. अपयापर्दे काकोः स्वरूपं येन सम्भाव्यते सो लङ्कारः। — भारती

४. तत्र हास्य शृङ्गारयोरर्पणाविच्छेदन दीपनप्रशमनयुक्तं वाक्यंकार्यम्। — ना०शा० १६। पृ० २२४

एकादश अध्याय

भक्तिरस

एकादश अध्याय

भक्तिरस

श्रद्धा और प्रेम—

स्त्री-पुरुष के परस्पर रति अर्थात् प्रेमभाव को सभी आचार्यों ने शृङ्गार रस कहा है। किन्तु मनुष्य का हृदय तो भावों का ही आधार माना गया है। उसका प्रेम प्रेयसी के अतिरिक्त अन्यत्र भी देखा जाता है। तृण से लेकर ब्रह्म तक उसके प्रेम के पात्र हो सकते हैं —चर-अचर, जड़-चेतन, स्थावर-जंगम सभी। उसकी ऐसी रति को, जो स्त्री से इतर के प्रति होती है, अनेक आचार्यों ने अनेक नाम दिये हैं। मम्मट ने उसे 'भाव' कहा है।[1] प्राय: लोक में किसी 'वस्तु' के प्रति होने वाली रति को लोभ कहा जाता है, तथा किसी 'व्यक्ति' के प्रति होने पर उसे प्रीति कहते हैं। फिर वह प्रीति भी कई प्रकार की होती है, क्योंकि कुछ व्यक्ति अपने से हर प्रकार से बड़े और कुछ हर प्रकार से छोटे होते हैं। अपने से बड़े के प्रति उसके किसी बड़प्पन अथवा वैशिष्ट्य के कारण मनुष्य में जो पूज्यबुद्धि उत्पन्न होती है उसे लोक में श्रद्धा कहते हैं। यह पूज्यबुद्धि अत्यन्त शुद्ध तथा सात्त्विक होती है। अपने उस श्रद्धा के पात्र से हम बदले में कुछ नहीं चाहते। इसी प्रकार अपने से छोटे के प्रति जो प्रीति होती है उसे वात्सल्य कहते हैं।[2] इस प्रकार रतिस्थायी भाव द्वारा वात्सल्य, शृङ्गार तथा भक्ति —इन तीन रसों का सर्जन होता है। यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि शृङ्गार रस तभी होता है जब स्त्री-पुरुषविषयक प्रेम की चर्चा होती है। दाम्पत्य-भाव ही शृङ्गार का मूल है, अन्यथा समवयस्कों का प्रेम मैत्री ही कहलायेगा। पात्र (आलम्बन)-भेद के कारण ही रति द्वारा तीन विभिन्न रसों का सर्जन होता है, किन्तु तीनों ही दशाओं में स्थायीभाव एक ही रति ही रहता है। यही कारण है कि वात्सल्य तथा भक्ति रसों को स्वतंत्र न मान कर शृङ्गाररस के ही अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। इस प्रकार स्थायीभावरति तथा तज्जन्य शृङ्गार अत्यन्त व्यापक ठहरते हैं। बड़े के प्रति होने वाली श्रद्धा और समान के प्रति होने वाली प्रीति या प्रेम में यह अन्तर है कि प्रेम का प्रारम्भ किसी का अच्छा

---

१. रतिर्देवादिविषयाव्यभिचारितथाञ्जित:। —भाव: प्रोक्त:—का०प्र०, ४

२. स्नेहो भक्तिर्वात्सल्यमिति रतेरेवविशेषा:।
तुल्ययोर्वा परस्परं रति: सस्नेह:। अनुत्तमोत्तमे रति: प्रसक्ति:। सैव भक्तिपदवाच्या। उत्तमस्यानुत्तमेरतिर्वात्सल्यं—काव्यानुशासन-विवेक, पृ० ८१-८२

लगने मात्र से होता है किन्तु श्रद्धा का पात्र तो कोई तभी हो सकता है जब उसका कोई आकर्षक गुण या कार्य ऐसा हो जो उसे हमसे क्या प्राय: लोक-सामान्य से बड़ा बना रहा है।" हमारे अन्त:करण में प्रिय के आदर्शरूप का संघटन उसके शरीर या व्यक्तिमात्र के आश्रय से हो सकता है, पर श्रद्धेय के आदर्शरूप का संघटन उसके फैलाए हुए कर्म-तन्तु के उपादान से होता है। प्रिय का चिन्तन हम आंख मूंदे हुए, संसार को भुलाकर करते हैं, पर श्रद्धेय का चिन्तन हम आंखें खोले हुए, संसार का कुछ अंश सामने रख कर करते है। यदि प्रेम यदि स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है। प्रेमी प्रिय को अपने लिए और अपने को प्रिय के लिए संसार से अलग करना चाहता है। प्रेम में व केवल दो पक्ष होते हैं - प्रेमी और प्रिय। श्रद्धा में तीन -श्रद्धालु, श्रद्धेय तथा विशिष्टगुण या कार्य। प्रेम में कोई मध्यस्थ नहीं पर श्रद्धा में मध्यस्थ अपेक्षित है। यदि किसी कवि का काव्य बहुत अच्छा लगा किसी चित्रकार का बनाया चित्र बहुत सुन्दर जंचा और हमारे चित्त में उस कवि या चित्रकार के प्रति एक सुहृद्भाव उत्पन्न हुआ तो वह श्रद्धा है, क्योंकि यह काव्य या चित्र रूप मध्यस्थ द्वारा प्राप्त हुआ है।[1] " प्रेम का कारण बहुत कुछ अनिर्दिष्ट और अज्ञात होता है।[2] पर श्रद्धा का कारण निर्दिष्ट और ज्ञात होता है। श्रद्धा में दृष्टि कर्मों पर से होती हुई श्रद्धेय तक पहुँचती है, और प्रीति में प्रिय पर से होती हुई उसके कर्मों आदि पर उतरती है। एक में व्यक्ति को कर्मों द्वारा मनोहरता प्राप्त होती है, दूसरी में कर्मों को व्यक्ति द्वारा, एक में कर्मप्रधान है, दूसरी में व्यक्ति।"[3] श्रद्धालु अपने श्रद्धा-भाजन पर किसी प्रकार का अधिकार कम नहीं चाहता, पर प्रेमी प्रिय के हृदय पर अपना अधिकार चाहता है। श्रद्धा एक सामाजिक भाव है। अपने श्रद्धेय को हम बहुतों की श्रद्धा का पात्र बनाना चाहते हैं। एक प्रकार से किसी के प्रति सार्वभौम कृतज्ञता का व्यक्तित रूप से प्रकाशन है। यह एक उच्च सात्त्विक भाव है जो स्वार्थियों एवं अभिमानियों में नहीं रह सकता। इसका उद्भव ही दूसरे के महत्त्व की स्वीकृति की भावना से होता है। दूसरे शब्दों में -सत्पुरुष के सत्कर्म या सद्गुणों का

---

१. चिन्तामणि, पृ० १६

२. भवभूति की इस उक्ति से प्रमाणित है :-

व्यतिषजति पदार्थानान्तर: कोऽपि हेतु
नं खलु बहिरुपाधीन् प्रीतय: संश्रयन्ते।
विकसति हि पतंगस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्त: ।। (उत्तरचरित)

३. चि०म० १६

भावात्मक मूल्य श्रद्धा कहलाता है[१]। यह भाव सदा अपने से अधिक सामर्थ्य के प्रति होता है।

भक्तिभाव—

"यही श्रद्धा या पूज्यबुद्धि जब प्रेम या प्रीति से संयुक्त होती है तो भक्ति कहलाती है।[२] भक्ति-भाजन का सब कुछ हमें अच्छा लगने लगता है। हम सर्वात्मना उसके परवान् हो जाते हैं —सर्वथा आत्मनिवेदन कर देते हैं। भक्तिभावना के उदय के साथ ही दैन्य की भावना का, अर्थात् दूसरे के महत्त्व की स्वीकृति के साथ ही अपने लघुत्व की भावना का उदय हो जाता है। यह भावना केवल मानव हृदय में ही उठती है —पशु-हृदय में नहीं। अपने भक्ति-भाजन का सान्निध्य पाने के लिए ही श्रवण, कीर्तन आदि नवधा चेष्टायें या प्रयत्न गिनाये गये हैं जो नवधा भक्ति के नाम से प्रसिद्ध हैं। यहाँ एक बात और कहनी है कि भक्ति प्राय: ऐसी प्रीति होती है जो प्रेमी को समाज से तथा परिवार से भी विच्छिन्न कर देती है। उसमें प्रियपक्ष का प्रबलराग जीवन के अन्य सब पदार्थों से पूर्ण विराग की प्रतिष्ठा कर देता है। भारतीय साहित्य में गोपियों के प्रेम को प्राय: यही स्वरूप दिया गया है। भक्ति-मार्ग में प्राय: यही ऐकान्तिक और अनन्य प्रेम लिया गया है, क्योंकि यह एक ऐसा राग है, जिसके प्रभाव से (अन्य वस्तुओं से) विराग की साधना आप से आप, बिना किसी मानसिक प्रयत्न के हो जाती है।"[३] ऐसी भक्ति कुछ स्वीया के प्रेम से सादृश्य रखती है। कुछ सत्त्वनिष्ठ कर्मयोगी भक्त महापुरुषों की भगवद्भक्ति लोकजीवन से पूर्णसम्पर्क रखते हुए भी चलती है, इसको कर्मयोग भी कहते हैं, जैसा की गीता में कहा है — उस परमेश्वर को अपने अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजकर मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त करता है[४]। एकान्त भक्ति की अपेक्षा यह भक्ति अधिक मङ्गलमयी मानी गई है।

"भगवद्भक्ति के लिए हम तो प्रेम की यही पद्धति समीचीन मानते हैं। जब कि प्रिय के सम्बन्ध से न जाने कितनी वस्तुएं प्रिय हो जाती हैं तब उस परम प्रिय के सम्बन्ध में सारा जगत् प्रिय हो सकता है। शुद्ध भक्ति-मार्ग में जगत् से विरक्ति का स्थान हम ढूंढ़ते हैं और नहीं पाते हैं। भक्तिराग की वह दिव्यभूमि है जिसके भीतर सारा चराचर जगत् आ जाता है जो भक्त इस जगत् को ब्रह्म की ही व्यक्त सत्ता या विभूति समझेगा, भगवान् के लोकपालक

---

१. गुरुशास्त्रवचनेषु विश्वास: श्रद्धा ।

२. पूज्येषु अनुरागो भक्ति:

३. चि०म०, ८६

४. स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव: । (१८।४६

और लोकरंजन स्वरूप पर मुग्ध रहेगा, वह अपने स्नेह, अपनी दया, अपनी सहानुभूति को लोक में और फैलायेगा कि चारों ओर से खींच लेगा ? हम तो जगत् के बीच हृदय के सम्यक् प्रसार में ही भक्ति का प्रकृत लक्षण देखते हैं क्योंकि राम की ओर ले जाने वाला रास्ता इसी संसार से हुआ गया है।"[1]

पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार भक्ति भाव का मूल—

आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञानचिन्तकों में एक वर्ग, जैसा कि अन्य समस्त कार्य-कलापों के मूल में, उसी प्रकार इस भक्ति भावना के भी मूल में अभुक्त कामवासना को ही स्थित मानता है। उसका मत है कि अभुक्त कामवासना ही जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न रूप से प्रेरणा दिया करती है। इस मत के प्रवर्तक हैं सिगमण्डफ्रायड। इसी परम्परा के विद्वान् डा० हैवलाक एलिस का कहना है कि भक्ति भावना के भी मूल में इसी अभुक्त काम-वासना अथवा असफल दाम्पत्य-जीवन को समझना चाहिए।" जो धार्मिक क्षेत्र में आ गये हैं उन्हें प्रेम और धर्म का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध भलीभाँति विदित है। प्रेम और धर्म मानव-जीवन के सबसे अधिक विस्फोटकारी मौलिक मनोवेग हैं। एक क्षेत्र में उत्पन्न स्पन्दनों द्वारा अन्य क्षेत्र का प्रभावित होना अनिवार्य है। इन दोनों क्षेत्रों में यदि आपस में सक्रिय सहयोग एवं सम्बन्ध हो तो इसमें आश्चर्य क्या है ? जन्मजात काम भाव अधिक व्यापक एवं स्पष्ट है। अवकाश पाकर अगर वह धर्मभाव में परिणत हो जाय तो वह स्वाभाविक ही है। बस मानुषी प्रेम का दैवी रूप में बदल जाने का यही रहस्य है। धर्मभाव का सबसे बड़ा स्रोत योनि-भाव है। भगवत्प्रेम और दाम्पत्य प्रेम दोनों ही मनोदशायें समान रूप से वेगवती होती हैं।" अस्तु।

प्राचीन आचार्यों की दृष्टि में भक्ति :— भामह, दण्डी और रुद्रट —

वेदान्त दर्शन में तो भक्ति का विवेचन बड़े विस्तार एवं सूक्ष्मता के साथ हुआ है। यहाँ साहित्य-शास्त्र में केवल रसरूप उस भक्ति के स्वरूप एवं विकास का निरूपण प्रसङ्गोचित है। संस्कृत साहित्य के आचार्यों में भामह और दण्डी ने प्रियतर कथन व्यक्त करने वाले श्लोकों को प्रेयोलंकार के ही उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है।[2]

दण्डी ने पूर्वोक्त प्रेयस् के मूल में प्रीति माना है और शृङ्गार

---

१. चि०म०, ८१

२. ~~अभिनव~~—यद्यपि अभिनव उनमें शान्तरस ही मानेंगे। किन्तु शान्तरस का सम्बन्ध तो मोक्ष पुरुषार्थ से होता है—जबकि भक्ति को उसके समर्थक स्वयं में मोक्ष से भी बढ़कर मानते हैं, वह साधन भी है और अन्त में साध्य भी वही बन जाती है।

रस के मूल में रति।[१]

कुछ काव्यों में स्नेह तथा वात्सल्य की उत्तम अभिव्यक्तियां देखने को मिलती है। रुद्रट ने सर्वप्रथम प्रेयस् को रस रूप में स्वीकार किया और इसका स्थायी भाव स्नेह को बताया[२]– यह स्नेह सम्भवत: रति का ही रूपान्तर है। मित्रों के परस्पर व्यवहार को उन्होंने प्रेयान् कहा है।[३]

अयौन (Non Saxual) के चार वर्ग या प्रकार–

अब यदि पूर्वोक्त कथन का संक्षेप में वर्गीकरण करें तो अयौन-प्रीति को चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं –

(१) वह, जो रुद्रट के अनुसार स्नेह-मूलक मैत्री रूप होती है।

(२) वह, जो माता-पिता या बड़ों का अपने बच्चों के प्रति होती है, जिसे कुछ आचार्यों ने वात्सल्य रस कहा है।

(३) वह, जो नेता की और उसके अनुयायी में अथवा राजा की और उसके परिजनों में आदररूप होती है। और

(४) वह, जो बड़ों के प्रति श्रद्धारूप तथा देवता के प्रति भक्ति रूप होती है (किन्तु मूल में चारों के स्थायीभाव रूप से रतिभाव ही है।)

कवि कर्णपूरगोस्वामी ने असम्प्रयोगविषया रति को ही कुछ पूर्वोक्त प्रकारों में विभक्त किया है (१) प्रीति, (२) मैत्री, (३) सौहार्द्र तथा (४) भाव।[४] सम्प्रयोग-विषया तो स्त्री-पुरुष के बीच रहती है, वही असम्प्रयोग विषया प्रीति कहलाती है। २. मैत्री और ३. सौहार्द्र तो प्रसिद्ध ही है। (४) भाव देवादि विषयक रति को कहते हैं[५]।

दण्डी तथा भोज का प्रेयस् एवं भक्ति–

असम्प्रयोगविषया प्रीति में प्रेयस् के ये सभी प्रकार समाविष्ट हो जाते हैं[६]–

---

१. प्राक् प्रीतिर्दर्शिता सेयं रति: शृङ्गारतांगता –का०आ० २।२८६

२. स्नेहप्रकृति: प्रेयान्

३. अन्योन्यं प्रति सुहृदो र्व्यवहारो यं मतस्तत्र। (का०अ० १६।१८)

४. रतिश्चेतोरंजकतासुखभोगानुकूल्यकृत्।
सा प्रीतिमैत्रीसौहार्द्रभावसंज्ञाश्च गच्छति। अ०कौ० ५।६

५. सैव देवादिविषया रतिर्भावश्चकथ्यते – अ०कौ० ५।६८

६. प्रीतिरप्येवमेव स्यान्नत्वस्यां सांप्रयोगिकी – स०क० ५

दण्डी ने जो भी उदाहरण प्रेयोऽलंकार के दिए हैं वे भक्ति के ही उदाहरण माने जा सकते हैं। उन्होंने भक्ति शब्द का प्रयोग भी किया है तथा उसका एक अन्य पर्याय प्रीति बताया है, क्योंकि विदुर के "अद्य या मम गोविन्द जातात्वयि गृहागते" इत्यादि वाक्य की व्याख्या सी करते हुए स्वयं दण्डी कहते हैं --इस प्रकार विदुर ने उचित उक्ति सुनाई -- जिससे केवल भक्ति के द्वारा समाराधनीय हरि सुप्रसन्न हो गये।[१] फिर प्रेयस् के दूसरे उदाहरण में शिव के साक्षात् करने पर राजा राजवर्मा की उक्ति को प्रीति का प्रकाशक कहा है[२] -- सगुण एवं साकार देवोपासना के इस देश में, जहां प्रीति के आलम्बन रूप देव के रूप, गुण, चरितों की कल्पना की जाती है, भक्ति को रसों के बीच स्थान मिलना आवश्यक था, और यह कार्य बंगाल के वैष्णव आचार्यों ने प्रधानतया पल्लवित और परिवर्द्धित किया।

अभिनव की भक्ति --शान्तरस--

यद्यपि अभिनव ने अपनी 'भारती' में ईश्वरविषयक भक्ति, श्रद्धा (स्मृति, मति, धृति उत्साह आदि से युक्त) को शान्तरस के ही भीतर गिना है।[३]

(धनञ्जय की भक्ति)--

किन्तु धनंजय ने प्रीति और भक्ति को भाव ही माना, तथा हर्ष आदि में उनका स्पष्टत: अन्तर्भाव किया है।[४]

अन्य आचार्यों की भक्ति-

शिवराम ने अपने रसरत्नहार में भक्ति को भाव में अन्तर्भूत किया है और श्रद्धा-रस को उन्हीं प्रसिद्ध रसों में ही गिना है।[५]

---

१. इत्याह युक्तं विदुरो नान्यतस्तादृशी धृति:
भक्तिमात्रसमाराध्य: सुप्रीतश्चततो हरि: ।। का०आ० २।२७७

२. इति साक्षात् कृते देवे राज्ञो यद्राजवर्मण: ।
प्रीति-प्रकाशनं तच्च प्रेय इत्यवगम्यताम् ।। का०आ० २।२७८

३. अतएव ईश्वरप्रणिधानविषये भक्तिश्रद्धे स्मृतिमति-धृत्युत्साहानुप्रविष्टे अन्यथैव अङ्गम् (शान्तस्य) इति न तयो: पृथग्रसत्वेन गणनम् ।' --अभि०भा०, अ०६, पृ० ३४०

४. प्रीति-भक्त्यादयो भावा: मृगयाक्षादयो रसा: ।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिता: ।। द०रू० ४।८३

५. नन्वेवमपि नवरसा इत्यनुपपन्नम् । भक्तिवात्सल्यश्रद्धाख्यैस्त्रिभि: सह द्वादश (क्रमश:)

स्नेह को भी, जो रुद्रट के प्रेयान् का स्थायी भाव है, कुछ आचार्यों ने पृथक् रस माना है और इसका स्थायी भाव आर्द्रता माना है।

हेमचन्द्र की भक्ति--

अभिनव के अनुकरण पर हेमचन्द्र ने भरतमुनि द्वारा माने गये नव के अतिरिक्त रसों का उन्हीं नवों में अन्तर्भाव करते समय विस्तार से उल्लेख किया है। हेमचन्द्र ने तो इस विषय में अभिनव भारती के ही शब्दों को अपनाया है।[2]

और शाङ्र्गदेव ने भी संगीत-रत्नाकर में इसी मत का अनुसरण किया है और भक्ति, स्नेह को रति का भेद मात्र माना है।[3] इस प्रकार कुछ इन आचार्यों के मत से तो प्रीति, स्नेह, भक्ति, वात्सल्य आदि अनुरागमूलक रसों की सत्ता ही समाप्त हो जाती है। माना कि इन सबके मूलमें रतिही स्थायीभावहै, किन्तु अभिव्यक्ति-रूपतो आलम्बनभेदसे भिन्न ही

---

१ संख्यात्वात् तत्र भक्तिर्भगवति प्रसिद्धा। श्रद्धाप्यास्तिक्यनिश्चयात्मिका वेदशास्त्रार्थविषया शिष्टानां प्रसिद्धैव, वात्सल्यं पुत्रादौ स्नेहाभिधानमितिचेत् न। भक्तिवात्सल्ययोर्भावान्तर्भावात्, श्रद्धायाश्च सुखात्मकत्वा च्चमत्कारानुत्पादान्तरगत्वमिति नवसंख्योक्तिर्न विरुद्धा। --(रस रत्नहार, श्लोक ५, पर उन्हीं की लक्ष्मीविहार टीका)

२. आर्द्रतास्थायिक: स्नेहो रस इति त्वसत्। स्नेहोह्यभिषङ्ग:। स च सर्वो रत्युत्साहादावेव पर्यवस्यति। तथाहि--बालस्य मातापित्रादौ स्नेहो भये विश्रान्त:। यूनोर्मित्रजने रतौ। लक्ष्मणादौ भ्रातरि स्नेहो धर्ममय एव। एवं वृद्धस्य पुत्रादाविति द्रष्टव्यम् एषैव गन्धस्थायिकस्य लौल्यरसस्य प्रत्याख्याने सरणिर्मन्तव्या। हासे वा रतौवान्यत्र पर्यवसानात्। एवं भक्तावपि वाच्यम्। --अभि०भा०, अ० ६। पृ० ६४१

आर्द्रतास्थायिक: स्नेहो रस इत्यसत्। तस्य रत्यादावन्तर्भावात्। तथाहि यूनो मित्रे स्नेहो, रतौ, लक्ष्मणादेर्भ्रातरि स्नेहो धर्मवीरे बालस्य मातापित्रादौ स्नेहोभये विश्रान्त: एवं वृद्धस्य पुत्रादाविति द्रष्टव्यम्। तथा गर्धस्थायिकस्य लौल्यरसस्य हासे वा रतौ वान्यत्र वान्तर्भावोवाच्य:। एवं भक्तावपि वाच्यम्। का०अ०, पृ० ८१--८२

स्नेहो भक्ति र्वात्सल्यमितिहि रतेरेव विशेषा: तुल्ययोर्यापरस्परं रति: सस्नेह:। अनुत्तमोत्तमे रति: प्रसक्ति: सैवभक्तिपदवाच्या। उत्तमस्यानुत्तमे रतिर्वात्सल्यम् --

-- हेमचन्द्र की काव्यानुशासन की विवेक टीका।

३. अगले पृष्ठ पर देखें

है। उनके परस्पर सूक्ष्म भेदों को दृष्टि में रख कर इन्हें पृथक् नाम ही देना अधिक उचित है। सभी प्रकार के स्नेह को रति या शृङ्गार नाम देना समीचीन नहीं समझ पड़ता। राम-सुग्रीव, राम-भरत, राम-लक्ष्मण, दशरथ-राम के स्नेह को मूल में रति के कारण शृङ्गार नाम देना कहाँ तक उचित होगा। अतः स्नेह, भक्ति, वात्सल्य की पृथक् सत्ता माननी चाहिए।

आचार्य श्री रूपगोस्वामी –

संस्कृत साहित्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त को शैवागम, वेदान्त, तथा कुछ सांख्यशास्त्र ने प्रभावित किया था। किन्तु गौडीय आचार्यों ने वैष्णवगार्हस्थ्य भाव के आधार पर रस-सिद्धान्त का नितान्त नूतन विकास किया। अपने 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' ग्रन्थ में श्रीरूप-गोस्वामी ने बड़े विस्तार के साथ भक्ति का रस के रूप में निरूपण किया है। नारद, शाण्डिल्य आदि भक्ति-सूत्रों में भक्ति का एक दार्शनिक धार्मिक प्रक्रिया के रूप में विवेचन किया गया है – साहित्यिक रचनाओं से उससे कोई सम्बन्ध नहीं। किन्तु इन बंगाल के वैष्णव तथा अन्य भक्तिवादी आचार्यों ने श्रीमद्भागवत् तथा अन्य भगवद्-विषयक काव्य-कृतियों में आस्वाद्य देवविषयक भक्ति का मार्मिक अनुशीलन कर उसे हमारे सम्मुख रक्खा है। यहाँ संक्षेप में उस भागवत-सम्प्रदाय का विवेचन अनुपयुक्त न होगा जो इन वैष्णव आचार्यों की रसनिरूपण शैली की पृष्ठभूमि रहा है।

बौद्धधर्म का ह्रास तथा वैष्णव आन्दोलन – शङ्कराचार्य –

ईसा की सप्तमशताब्दी के अन्त होते होते बौद्ध धर्म का ह्रास होने लगा और धीरे धीरे वह मन्त्र, तन्त्र, जादू-टोने तथा वामाचार का सम्प्रदाय बन गया। बिहार से आसाम तक ये तान्त्रिक बौद्ध योगी अथवा 'वज्रयानी' फैले हुए थे। फलतः वह अब शिष्ट एवं सुशिक्षित समाज के लिए आकर्षक न रहा। दैवात् उसी समय शङ्कराचार्य के दुर्धर्ष तर्कों के प्रबल झोंकों ने उसे निर्मूल-सा ही कर दिया। उन्होंने उपनिषदों, गीता

पिछले पृष्ठ का शेष –

३. भक्तिं स्नेहं तथा लौल्यं केचित् त्रीन्, मन्वते रसान्।
श्रद्धारतिमभिलाषांश्च स्थायिनस्तेषु ते विदुः॥
त्वसत्-रतिभेदौ हि भक्तिस्नेहौ नृगोचरौ।
व्यभिचारित्वमस्यौः नुनार्यैः स्थायिनो तुलौ॥ सं०र० ७

तथा ब्रह्मसूत्र की परमोत्कृष्ट व्याख्या प्रस्तुत कर जनमत पनमन को पलातु वैदिक ब्राह्मण धर्म की ओर पुनः आकृष्ट किया और फलतः वैदिक धर्म पुनः प्रतिष्ठित हो गया। तत्कालीन राजपूतों की क्षत्रिय मनोवृत्ति ने भी वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा में अनुकूल योगदान किया।

किन्तु शंकराचार्य का मत प्राधान्येन अद्वैतवादी था, उसमें निर्गुण ब्रह्म की प्रधान रूप से प्रतिष्ठा थी। अतः सगुण उपास्यदेव की कल्पना, श्रीकृष्ण चली और वेदान्त-सिद्धान्तों की भी भक्तिपरक व्याख्या उपस्थित की गयी। इस प्रकार दक्षिण भारत में अनेकों भागवतसम्प्रदायों की स्थापना हुई जैसे श्रीसम्प्रदाय, ~~[illegible] अथवा~~ ब्रह्मसम्प्रदाय, रुद्रसम्प्रदाय तथा सनकसम्प्रदाय — श्रीकृष्ण सबके परमाचार्य हैं।[१]

(क) रामानुजाचार्य — (श्रीसम्प्रदाय)

इनमें से दक्षिण भारत में ही श्री रामानुजाचार्य (१२ वीं सदी का पूर्वार्द्ध) का विशिष्टाद्वैत विशेष महत्त्वशाली हुआ-जिसमें चेतन-अचेतन-विधान-विशिष्ट ब्रह्म का अभेद अथवा एकत्व निरूपित किया गया है। इसी विशिष्टाद्वैत से ही प्रतिपादक रामानन्द हुए, इसी के पोषक गोस्वामी तुलसीदास हुए। इसमें विष्णु के राम अवतार का माहात्म्य प्रतिष्ठित किया गया है।

रामानुज के मत से भगवान् की कृपा ही भगवत्प्राप्ति में एकमात्र उपाय है — उनके विशिष्टाद्वैत में भक्ति अन्तिम सोपान है जिस पर चढ़कर जीव प्रभु को प्राप्त करता है। कर्मयोग के पश्चात् ज्ञानयोग और उसके भी पश्चात् भक्तियोग का उदय होता है। किन्तु रामानुज की भक्ति में विष्णु एवं नारायण की प्रधानता है — सीताराम अथवा राधाकृष्ण की नहीं — उनमें प्रेम भाव अथवा माधुर्यभाव वाली भक्ति नहीं। रामानुजसम्प्रदाय को ही श्री~~[illegible]~~सम्प्रदाय भी कहते हैं। इस सम्प्रदाय का प्रधान कार्य-क्षेत्र दक्षिणभारत में आन्ध्र तथा तामिल प्रान्त रहा।

(ख) मध्वाचार्य - (ब्रह्मसम्प्रदाय)

इनके पश्चात् माध्वसम्प्रदाय आया, जिसे ब्रह्मसम्प्रदाय भी कहते हैं, क्योंकि ब्रह्मा इसके मूल प्रवर्तक परमाचार्य माने जाते हैं। मध्वाचार्य (जन्म ११९९ ई०) ने इसका लोक में प्रवर्तन किया। माध्व मत में अद्वैतवादियों का खण्डन है। यहाँ ईश्वर जीव और प्रकृति में तात्त्विक भेद है। जगत् सत्य है। भक्ति का सर्वोच्च साधन अमला भक्ति है। मुक्ति भी चार प्रकार की है — सालोक्य, सामीप्य सारूप्य तथा

---

१. श्रीब्रह्मरुद्रसनकाद्यैवा: क्षितिपावना:। चत्वारस्ते कलौ भाव्या ह्युत्कलेपुरुषोत्तमात्।

सायुज्य । उनमें भी सायुज्यभक्ति सर्वश्रेष्ठ है । माध्वमत द्वैतवाद का पोषक है ।

निम्बार्काचार्य – ((हंससम्प्रदाय)

श्रीरामानुज के कुछ ही दिन बाद दक्षिण में श्री निम्बार्काचार्य का उदय हुआ । (जन्म ११६२ ई०) । इन्होंने राधाकृष्ण की भक्ति का प्रचार किया । इससे प्रभावित होकर जयदेव ने 'गीतगोविन्द' का गान किया । धार्मिक क्षेत्र में निम्बार्काचार्य को और काव्यजगत् में जयदेव को राधा की प्रतिष्ठा का श्रेय है । निम्बार्क द्वैताद्वैतवादी थे । इनके लिखे ग्रन्थ 'वेदान्तपारिजातसौरभ' तथा 'सिद्धान्तरत्न' हैं । प्रथम ब्रह्मसूत्र का भाष्य है, तथा सिद्धान्तरत्न को दशश्लोकी भी कहते हैं ।

निम्बार्क (द्वैताद्वैत) मत में भगवान् कृष्ण ही परब्रह्म है । जीव प्रपत्ति द्वारा भगवान् का अनुग्रह पा सकता है । भगवत्कृपा से ही आत्मा में भक्तिभाव जगता है जिसमें भगवान् का साक्षात्कार होता है । निम्बार्क ने कृष्ण के साथ राधा की उपासना पर भी जोर दिया और वे राधाकृष्ण के अलावा अन्य किसी देवता को नहीं मानते । दशश्लोकी में राधा की स्तुति कुछ इस प्रकार की गयी है –

'अङ्गे तु वामे वृषभानुजांमुदा, विराजमानामनुरूपसौभगाम् ।
सखी-सहस्रै: परिसेवितां सदा, स्मरेमदेवीं सकलेष्टकामदाम् ।।

वस्तुत: राधाकृष्ण की उपासना आचार्य निम्बार्क से ही प्रारम्भ हुई । रामानुज ने नारायण तथा लक्ष्मी की प्रधानता दी थी – निम्बार्क ने राधाकृष्ण को प्रधान आराध्य बनाया । निम्बार्क की भक्तिभावना पाँच प्रकार की है – शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और उज्ज्वल । (उज्ज्वल रस के भक्त हैं गोपी तथा राधा । वल्लभ एवं चैतन्य के सम्प्रदायों में भी) उज्ज्वल रस को ही श्रेष्ठ माना गया है । कृष्ण की गोपियों के साथ की लीला वैसी ही थी जैसे बालक अपने प्रतिबिम्ब के साथ क्रीडा करता है ।[1] (इसीको सनक सम्प्रदाय भी कहते हैं ।)

वल्लभाचार्य – (रुद्रसम्प्रदाय)

आचार्य विष्णु स्वामी द्वारा प्रवर्तित (रुद्र) सम्प्रदाय से सम्बन्धित आचार्य वल्लभ हुए । इनका जन्म सोलहवीं शताब्दी में रायपुर के मार्ग में वनमें मध्यभारत में हुआ था । वल्लभ शुद्धाद्वैतवादी थे, जिसमें शंकराचार्य का अद्वैत मायारहित होकर शुद्ध बन गया था । मायारहित अद्वैत ही शुद्धाद्वैत है । इस वाद में माया को हटाकर भक्ति का समावेश किया गया, जो ज्ञान से भी श्रेष्ठ है । और आचार्य वल्लभ ने श्रीकृष्ण को शुद्धाद्वैत का ब्रह्म बताया । वे ही अनन्त शक्तियों से सम्पन्न होकर आत्मा में रमण करने से आत्माराम कहलाते हैं तथा दिव्यशक्तियों से सम्पन्न होकर बाह्य अभिव्यक्ति करने पर पुरुषोत्तम कहलाते हैं । पुरुषोत्तम में पूर्ण आनन्द का आविर्भाव होता है । परब्रह्म पुरुषोत्तम (श्रीकृष्ण की लीलाएं नित्य हैं जो सदा वैकुण्ठ से भी ऊपर गोलोक में चला करती हैं –

---

1. रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भक: स्वप्रतिबिम्ब-विभ्रम: । भा०पु०१०।३३।१७

जहाँ वृन्दावन , यमुना, निकुंज, सब शाश्वत रूप में रहते हैं । भगवान् के अनुग्रह से भक्त भगवान् के नित्यधाम में प्रवेश करता है । इस अनुग्रह को पोषण या पुष्टि कहते हैं । अतः वल्लभाचार्य का भक्तिमार्ग पुष्टिमार्ग (Path of Divine Grace) कहलाता है ।[1] साधनों द्वारा मुक्ति तो मर्यादा-मार्ग है और हरिअनुग्रह से मुक्ति पुष्टिमार्ग[2]। और यह पुष्टि भी चार प्रकार की होती है — १. प्रवाहपुष्टि, २. मर्यादापुष्टि, ३. पुष्टिपुष्टि तथा ४. शुद्धपुष्टि । पुष्टिमार्ग में जीव भी तीन प्रकार का माना गया है — १. पुष्टि-जीव, जिन्हें भगवान् के अनुग्रह ही का भरोसा है । २. मर्यादा जीव - जो वेदविधियों का अनुसरण कर स्वर्ग आदि प्राप्त करते हैं तथा ३. प्रवाहजीव, जो संसार के प्रवाह में पड़े सांसारिक सुखों की प्राप्ति में लगे रहते हैं । श्रीवल्लभाचार्य के मत में व्रत, उपवास, तपस्या आदि कष्ट-साध्य साधनों का विशेष महत्त्व नहीं है । इस मार्ग में हिन्दी के सूरदास आदि अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि हुए ।

बङ्गप्रदेश में वैष्णव सम्प्रदाय—

बङ्ग देश में वैष्णव भक्ति का आधार 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' है, जिसमें शिवशक्ति के अनुकरण पर कृष्ण के साथ राधा की उपासना का विधान है । कालान्तर में वह मधुरा-भक्तिरूप से धर्म और साहित्य में ग्रहण कर ली गई । प्रियतम अथवा प्रियतमा के रूप में इष्टदेव की उपासना माधुर्यभाव है । इस भाव का काव्यरूप में अपूर्वगान संस्कृत में बंगाल में जयदेव ने अपने 'गीतगोविन्द' में किया जिसे बिहार में विद्यापति ने दुहराया । बंगाल में जयदेव-विद्यापति के सबसे बड़े प्रचारक तथा उन्हें लोकप्रिय बनाने वाले १६ वीं शताब्दी में हुए श्रीकृष्ण चैतन्य(गौरांग)महाप्रभु । बंगाल में वैष्णवसम्प्रदाय के ये सबसे बड़े नेता हुए । इन पर लोगों की इतनी श्रद्धा थी कि ये विष्णु के अवतार समझे जाते थे । विद्यापति के ललित और पवित्र भावनाओं से पूर्णपदों को गाकर ये भाव में निमग्न हो जाते थे । इन्होंने जयदेव, लीलाशुक, चण्डीदास तथा विद्यापति के पदों का प्रयोग किया। "इन्होंने गान और नृत्य के साथ संकीर्तन को भी स्थान दिया । इनके उपदेशों के कारण बंगाल में एक धार्मिक क्रान्ति-सी उत्पन्न हो गयी । सदियों से शैव, शाक्त और तान्त्रिक विचारधाराओं से जकड़ी हुई बङ्गभूमि महाप्रभु के सात्त्विक जीवन और भक्तिपूर्ण उपदेशों के कारण राधाकृष्ण की रागानुगिका भक्ति के रंग में रँग गई ।"[3] श्री महाप्रभु की

---

१. 'तदनुग्रहीतानामपि स्वस्वरूपबलेनस्वप्राकट्यादि पुष्टिरित्युच्यते' — अणुभाष्य

२. पोषणं तदनुग्रहः —भाग पु० -

३. हि० सा० वि०

एकमात्र अवशिष्ट कृति शिक्षाष्टक अतिप्रसिद्ध है।

चैतन्यसम्प्रदाय--

श्री चैतन्यमहाप्रभु द्वारा चलाया मार्ग चैतन्य-सम्प्रदाय अथवा गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय कहलाता है। दार्शनिक रूप से इसका सिद्धान्त 'अचिन्त्य भेदाभेदभाव' कहलाता है। वस्तुत: चैतन्य महाप्रभु दीक्षित तो माध्वसम्प्रदायमें हुए थे किन्तु दार्शनिक दृष्टि से निम्बार्क मत के द्वैताद्वैत के समीप है। उस गौडीय मत के अनुसार श्रीमद्भागवतपुराण ब्रह्मसूत्र का भाष्य है। अत: वहां अन्य किसी भाष्य की आवश्यकता नहीं कही गयी है। हां, श्रीमध्वाचार्य के भाष्य का अवश्य सम्मान किया जाता है। कालान्तर में बलदेव विद्याभूषण ने ब्रह्मसूत्रपर टीका लिखी है।

श्रीचैतन्य मत पर माध्व और निम्बार्क के साथ श्रीवल्लभ का भी प्रभाव पड़ा प्रतीत होता है। श्रीवल्लभ का पुष्टिमार्ग-साधन तथा गौडीय मत का मधुरभाव-साधन प्राय: एक ही वस्तु है। अचिन्त्य भेदाभेदवाद प्राय: श्री निम्बार्क के द्वैताद्वैतवाद के समान है। श्री निम्बार्क और श्री चैतन्य की अचिन्त्य शक्ति भी प्राय: एक ही वस्तु है। श्रीमध्व के मत से ब्रह्म सगुण और सविशेष है। मध्वमतानुसार जीव अणु सेवक है, और भगवान् सेव्य हैं। भगवान् के प्रसाद से ही जीव की मुक्ति होती है। इस विषय में भी चैतन्य-मत मध्व के मत से मेल खाता है। माध्व और गौडीय दोनों मत जगत् को सत्य मानते हैं। दोनों मतों से जगत् ब्रह्म का परिणाम है। ब्रह्म जगत् का निमित्त और उपादान कारण है। मध्व-मत से जीव और ब्रह्म चिरभिन्न है।[१]

हां, तो श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने भक्ति मार्ग में राधा को प्रमुख स्थान दिया और मधुरभाव की रागानुगा भक्ति का प्रचार किया। उनकी भक्ति पांच प्रकार की है — १. शान्त, २. दास्य, ३. सख्य, ४. वात्सल्य और ५. माधुर्य। इस प्रकार बंगाल में वैष्णव धर्म को महाप्रभु ने बड़ा आकर्षक रूप दिया।

वैष्णव भक्तों के यहां शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा मधुर —ये पांच ही मुख्य रस भी माने जाते हैं, और शेष हास्य, अद्भुत, वीर, भयानक, करुण, रौद्र एवं बीभत्स, गौण रस। और ये दोनों ही वर्ग भक्तिरस के मुख्य तथा गौण दो पक्ष हैं। वैष्णवभक्तों ने तो परकीया प्रेम को केवल एक मानसिक अथवा आध्यात्मिक अवस्था माना था, किन्तु इस गौडीय सम्प्रदाय में परकीया प्रेम को विशेष महत्त्व दिया गया। कुछ वैष्णव सम्प्रदायों में राधा को स्वकीया माना गया है, किन्तु इस चैतन्य के सम्प्रदाय में

---

१. टी०क०शु०र०चि०

राधा कृष्ण की परकीया प्रेयसी है। परकीया में आत्मत्याग और लगन की मात्रा अधिक होती है। अतः, इनके सिद्धान्तानुसार, भगवान् की भक्ति परकीया भाव से ही करनी चाहिए। और गौडीय सम्प्रदाय में इस भक्ति को उज्ज्वलरस कहा गया है। चैतन्य-महाप्रभु के शिष्य एवं महान् रसमर्मज्ञ आचार्य रूपगोस्वामी ने अपने `हरि-भक्तिरसामृतसिन्धु` तथा `उज्ज्वलनीलमणि` ग्रन्थों में इस तत्त्व की अपूर्व प्रतिष्ठा की है। उनके टीकाकार उन्हीं के भतीजे जीवगोस्वामी ने `षट्सन्दर्भ` नामक अपने भागवतभाष्य में भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

इस प्रकार वैष्णवएवं गौडीय भक्तिकाव्य ने राधाकृष्ण की रागानुगा भक्ति का प्रचार कर उनके मधुरस्वरूप को उपस्थित किया और काव्य में उनके प्रेमतत्त्व की पूर्ण प्रतिष्ठा की। जयदेव के गीतगोविन्द, चण्डीदास के भजन तथा विद्यापति की पदावली के प्रचार के कारण माधुर्य-भाव के दाम्पत्य प्रेम ने क्रमशः लौकिक प्रेम का स्वरूप धारण किया। इसमें वासना का समावेश होना स्वाभाविक ही था।

गौडीय सम्प्रदाय के मतावलम्बियों ने व्रजमण्डल में अपने केन्द्र स्थापित किये और व्रज भाषा के श्रीकृष्णसम्बन्धी शृङ्गार-साहित्य को अपनी विचारधारा द्वारा प्रभावित किया। कृष्णकाव्य तो उसमें सराबोर डूब ही गया, उसका रंग कुछ कुछ रामकाव्य पर भी चढ़ा ही। फलतः तुलसीदास-जैसे सन्त कवि ने भी मर्यादा पुरुषोत्तम राम के जीवन की भी `हिंडोला` `फाग` की झाँकियाँ उपस्थित कीं।

आचार्य रूप गोस्वामी का हरिभक्तिरसामृतसिन्धु—

यहाँ आचार्य रूपगोस्वामी के भक्तिरस-विवेचन ग्रन्थ `हरिभक्तिरसामृतसिन्धु` तथा `उज्ज्वनीलमणि` का विहंगावलोकन करना है।[१]

---

१. यद्यपि आचार्य वोपदेव ने भी अपने मुक्ताफल नामक ग्रन्थ में श्रीमद्भागवत पुराण के श्लोकों का विभिन्न विषयों (शीर्षकों) के अनुसार उन्नीस अध्यायों में पुनर्गठन किया है, उसी में उत्तरार्ध में नवों रसों के अनुसार भी उन्हें उदाहरण रूप में अलग-अलग अध्यायों में रखा है, किन्तु रस सिद्धान्त का प्रतिपादन उनका कोई अपना नहीं।

उत्तमाभक्ति —

सर्वप्रथम उत्तमा भक्ति का लक्षण करते हुए रूपगोस्वामी कहते हैं — 'कृष्ण की सेवा या आराधना (अनुशीलन) को उत्तमाभक्ति कहते हैं, जो सभी प्रकार के अभिलाषों अथवा इच्छाओं, से रहित हो, ज्ञान कर्म आदि के सिद्धान्तों से असम्बद्ध हो तथा (जो सेवा) कृष्ण (आराध्य) के अनुकूल (आराधक के नहीं) हो[1]। यहाँ कृष्ण शब्द लाक्षणिक है, इसका अर्थ स्वयं भगवान् कृष्ण तथा उनके अन्य रूप भी होते हैं।[2] उक्त भक्ति में भजन-पात्र के अनुकूल प्रवृत्ति होती है। प्रतिकूल प्रवृत्ति भी एक प्रकार की प्रवृत्ति बताई गई है, जिसका आगे विवेचन किया जायगा। किन्तु वह भक्ति नहीं। उत्तमभक्ति तो सभी क्लेशों को नष्ट करने वाली, सभी प्रकार का शुभ देने वाली, मोक्ष तक को अपने से लघु प्रतीत करा देने वाली, अतिशय दुर्लभ (ब्रह्मानन्द से भी बढ़कर) सान्द्रानन्दमयी तथा श्रीकृष्ण को वश में कर देने वाली होती है।[3]

उत्तमाभक्ति के भेद —

रूपगोस्वामी ने इस भक्ति के तीन प्रकार बताये हैं[4] — १. साधन, २. भाव तथा ३. प्रेम।

जीवगोस्वामी ने इसकी दुर्गम-संगमनी टीका में पूर्वोक्त भेद निरूपण को केवल आपाततः (ऊपरी) ज्ञान कराने के लिए माना है। और स्वयं उसके भेदों का निरूपण दूसरे प्रकार से किया है। उसके अनुसार प्रथमतः भक्ति दो प्रकार की होती है — १ साधनरूपा तथा २- साध्यरूपा

साध्यरूपाभक्ति —

यह साध्यरूपाभक्ति हार्दरूपा (स्नेहरूपा) होती है। इसका भी एक नाम

---

१. अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ।। ह०भ०र० १।१।११

२. कृष्णशब्दश्चात्र स्वयं भगवतःश्रीकृष्णस्य तद्रूपाणां चान्येषामपि ग्राहकः।
— जीवगोस्वामी की दुर्गमसङ्गमनी टीका।

३. क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्द-विशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षणी च सा ।। ह०भ०र० १।१।१३

४. सा भक्तिः साधनं भावः प्रेमा चेति त्रिधोदिता ।

भक्ति ही दिया गया है। उसके १. भाव, २. प्रेम, ३. प्रणय, ४. स्नेह तथा ५. राग-ये पांच भेद किये गये हैं। और इस हरिभक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ के परिशिष्टरूप में रचे गये उज्ज्वलनीलमणि' में १. मान, २. अनुराग तथा ३. महाभाव-ये तीन अधिक भेद गिनायेगये हैं, जिससे कुल मिलाकर आठ भेद होते हों। अत: यहाँ मूल ग्रन्थ में (साध्य भक्ति के) केवल भाव और प्रेम- इन दो भेदों का उल्लेख उपलक्षणरूप में ही समझा जाना चाहिए।[१]

साधनरूपाभक्ति—

साधनरूपाभक्ति के दो प्रकार माने गये हैं। १. वैधी तथा २. रागानुगा [२]। जो भक्ति शास्त्रोपदिष्ट रूप में ही प्राप्त हो तथा जिसकी प्रवृत्ति में राग का उतना स्थान न हो (जितना यह कर्तव्य है इसका) उसे वैधी भक्ति कहते हैं।[३]

जब तक हृदय में भोग या मोक्ष की पिशाची स्पृहा बनी रहती है तब तक वहाँ भक्ति-सुख का अभ्युदय नहीं हो सकता।[४] और इस सम्बन्ध में एक बात और बड़ी मार्मिक कही गई है कि सिद्धान्तत: यद्यपि कृष्ण और विष्णु के स्वरूपों में कोई भेद नहीं, किन्तु भक्तिरस के लिए कृष्ण-रूप उत्कृष्ट अथवा अधिक उपयुक्त माना जाता है —यही भक्तिरस की सिद्धान्त-स्थिति है।[५] इसी लिए तो कृष्ण को विष्णु का लीलावतार कहा गया है।

इस वैधी भक्ति के आचरण में शास्त्र-प्रतिपादित विधियों अथवा मर्यादाओं का

---

१. आपातत: प्रतीत्यर्थमेवेदं विवेचनं, विशेषतस्त्विदं ज्ञेयम् भक्तिस्तावद् द्विविधा-साधनरूपा साध्यरूपा च, तत्र प्रथमाया लक्षणं भेदाश्च वक्ष्यन्ते, द्वितीया तु हार्दरूपा, सापि भक्तिशब्देनोच्यते यथैकादशे —' भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनु मिति। अस्या श्चभावप्रेमप्रणयस्नेहरागाख्या: पंचभेदा: तथोज्ज्वलनीलमणावस्यपरिशिष्टग्रन्थे मानानुरागमहाभावास्त्रयश्च सन्ति तदेवमष्टौ, तथापि भाव: प्रेमेति द्विभेदत्वेनोक्ति स्तूपलक्षणार्थ मेव।', — पृ० २३

२. वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनाभिधा — ह०भ०र० १।२।३

३. यत्ररागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरुपजायते।शासनेनैवशास्त्रस्य सा वैधीभक्तिरुच्यते । १।२।३,४

४. भुक्तिमुक्तिस्पृहायावत् पिशाची हृदिवर्तते।
तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयोभवेत्॥ १।२।११

५. सिद्धान्ततस्त्वभेदेपि श्रीश-कृष्णस्वरूपयो:।
रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थिति:॥ १।२।५९

प्राबल्य रहता है — जपश्रवणाध्यान आदि विविध उपचारों का सविधि पालन करना पड़ता है अत: इसे मर्यादामार्ग भी कहते हैं।[१]

और रागानुगा अथवा रागात्मिका भक्ति का स्वरूप इस प्रकार कहा है — प्रिय (इष्ट) में स्वाभाविक राग तन्मयता (परमाविष्टता) को राग कहते हैं। उसी रागमयी भक्ति को रागात्मिका अथवा रागानुगा नाम दिया जाता है, जैसा कि व्रजवासियों का कृष्ण के प्रति था।[२]

इस रागानुगा अथवा रागात्मिका भक्ति के दो प्रकार या स्वरूप माने गये हैं— १. कामरूपा तथा २. सम्बन्धरूपा[३]।

भागवतपुराण का कहना है कि काम, द्वेष, भय, स्नेह किसी भावना से ईश में मन का लगना उसकी गति को प्राप्त कराता है। जैसे —गोपियाँ काम भावना से, कंस भय से, शिशुपाल आदि नरेश द्वेष से, वृष्णिवंशीय लोग विविध सम्बन्ध से, पाण्डव स्नेह से तथा नारद आदि मुनिजन भक्ति (दास्यभक्ति) से कृष्णजी की गति प्राप्त किये।[४]

कामरूपा रागानुगा भक्ति वह है जो सम्भोग तृष्णा को भी अपने अर्थात् प्रेमरूप में परिणत कर देती है, क्योंकि इसमें केवल कृष्ण के सौख्य के लिए प्रेमी (भक्त) का प्रयत्न होता है। व्रज की गोपियों की भक्ति इसी रूप की मानी गयी है उनके प्रेम को `काम` संज्ञा दी जाती है।[५]

कामानुगाभक्ति दो प्रकार की कही गई है —१. सम्भोगेच्छामयी तथा २. तद्-भावेच्छामयी।[६]

---

१. `शास्त्रोक्तया प्रबलया तत्तन्मर्यादयान्विता।
वैधी भक्तिरियं कैश्चिन्मर्यादामार्ग उच्यते।। २।५६,६०

२. इष्टे स्वारसिकी राग:परमाविष्टता भवेद्।
तन्मयी सा भवेद् भक्ति: साऽत्र रागात्मिकोदिता।। १।२।६२

३. सा कामरूपा सम्बन्धरूपा चेति भवेद्द्विधा । १।२।६३

४. कामद् द्वेषाद्भयाद् स्नेहाद्यथाभक्त्येश्वरेमन:
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तदगतिं गता:।
गोप्य:कामाद् भयात् कंस: द्वेषाच्चैद्यादयोनृपा:।
सम्बन्धाद् वृष्णय: स्नेहाद्यूयं भक्त्यावयंविभो।। इति। भा०पु० ७।१।२६,३०

५. सा कामरूपा सम्भोगतृष्णां या नयति स्वताम्।
यदस्यां कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यम:।।
इयं तु व्रजदेवीषु सुप्रसिद्धा विराजते। १।२।६८,६६

६—

शेष अगले पृष्ठ पर

और सम्बन्धरूपा वह भक्ति है जो वृष्णियों तथा वल्लवों (अहीरों) की कृष्ण के प्रति पिता, पुत्र, भाई आदि सम्बन्धों के रूप में थी। ये कृष्ण के प्रति ईशभाव नहीं रखते थे, इनके सम्बन्ध में राग की ही प्रधानता रहती है।[१]

वृष्णियों बल्लवों के अतिरिक्त भी इस प्रकार की भक्ति के अधिकारी हैं। पुराणों में इनके अनेक आख्यान सुने जाते हैं। अतएव नारायण-व्यूहस्तव में उन सबको नमस्कर णीय कहा है जो भगवान् हरि का पति, पुत्र, सुहृद, भ्राता, पिता मित्र आदि किसी भाव से ध्यान करते हैं।[२]

इसी सम्बन्धानुगाभक्ति को पुष्टिमार्ग भी कहते हैं।[३] क्योंकि इसमें उनका अनुग्रह ही प्रधान रहता है।

भावभक्ति--

साधनभक्ति का निरूपण कर चुकने के पश्चात् अब साध्यभक्ति का प्रथम रूप भाव-भक्ति का प्रसंग आता है। शुद्धसत्त्व गुण रूप प्रेमरूपी सूर्य की किरणों के सदृश् अपनी कान्तियों से चित्त में कोमलता उत्पन्न करने वाली भक्ति को भाव-भक्ति कहते हैं।[४] अर्थात् प्रेम की प्रथमावस्था अथवा पूर्वावस्था को भाव कहते हैं।[५]

यही भाव सघन, सान्द्र अथवा विकसित होकर प्रेम कहलाने लगता है[६]--

---

पिछले पृष्ठ का शेष --

६. कामानुगा भवेत्तृष्णा कामरूपानुगामिनी।
सम्भोगेच्छामयी तत्तद्भावेच्छात्मेतिसाद्विधा ।। १।२।८१-८२

----

१. सम्बन्धरूपा गोविन्दे पितृत्वाद्यभिमानिता।
अत्रोपलक्षणतया वृष्णीनां वल्लवा मताः।
यदैश्य-ज्ञानशून्यत्वादेषां रागेप्रधानता ।। १।२।७२,७३

२. पतिपुत्रसुहृद्भ्रातृपितृवन्मित्रवद्धरिम्। येध्यायन्ति सदोद्युक्तास्तेभ्योपीहनमोनमः ।।
(मीरा की भक्ति भी इसी कोटि की थी)

३. कृष्णतद्भक्तकारुण्यमात्रलाभैकहेतुका।
पुष्टिमार्गतयाकैश्चिदियंरागानुगोच्यते। १।२।८९

४. शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्। रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौभावउच्यते ।१।३।१

५. जैसा कि तन्त्र में कहा गया है -- "प्रेम्णस्तु प्रथमावस्थाभाव इत्यभिधीयते।"

६. भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते।

फिर यह भावभक्ति दो प्रकार की मानी गयी है — १. साधनाभिनिवेशजा तथा २. (कृष्ण एवं उनके भक्त की) प्रसादजा ।[१]

साधनाभिनिवेशज भाव वैधीमार्ग तथा रागानुगामार्ग से दो प्रकार का माना गया है ।[२]

जो भाव बिना साधन के कृष्ण अथवा उनके किसी भक्त की कृपा से सहसा उत्पन्न होता है उसे प्रसादज भाव कहते हैं ।[३]

प्रेमाभक्ति—

जब भाव की यह अवस्था हो कि उसमें चित्त भली प्रकार कोमल हो जाय तथा (प्रिय कृष्ण के प्रति अन्य ममता से रहित) ममता का अतिशय आ जाय तब वही सघन भाव प्रेमा कहलाने लगता है ।[४] इस प्रेम के दो प्रकार हैं — १. भावोत्थ तथा २. हरि के अतिप्रसाद से उत्पन्न ।[५]

अन्तरंग अङ्गों की अनुसेवा द्वारा जब भाव परमोत्कर्ष को प्राप्त करता है तो वह भावोत्थ प्रेम कहलाता है ।[६] जिसमें भक्त उन्मत्त-सा रोता, गाता, हंसता, नाचता है ।[७] हरि के अतिप्रसाद से उत्पन्न वह प्रेम है जो उनकी कृपा से सत्संग आदि के कारण उनके प्रति उत्पन्न होता है ।[८]

---

१. साधनाभिनिवेशेन कृष्णतद्भक्तयोस्तथा ।
प्रसादेनाति धन्यानां भावो द्वेधा भिजायते ।। १।३।४

२. वैधीरागानुगामार्गभेदेन परिकीर्तितः ।
द्विविधःखलु भावोत्र साधनाभिनिवेशजः ।। १।३।५

३. साधनेन विना यस्तु सहसैवाभिजायते ।
सभावःकृष्णतद्भक्तप्रसादज इतीर्यते ।। १।३।६

४. सम्यङ्मसृणितस्वान्तोममत्वातिशयाङ्कितः
भाव स एव सान्द्रात्मा बुधैःप्रेमानिगद्यते ।। १।४।१

५. भावोत्थोऽति प्रसादोत्थः श्रीहरेरिति स द्विधा । १।४।३

६. भाव स्वान्तरङ्गाणामङ्गानामनुसेवया ।
आरूढःपरमोत्कर्षं भावोत्थःपरिकीर्तितः ।। १।४.४ ।

७. तत्र वैधभावोत्थो यथैकादशे
एवं-व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यतिलोकबाह्यः । ह०र०सि०, पृ० ११५

८- हरेरतिप्रसादोऽयं सङ्गादनादिरात्मनः ।१।४।४

इस प्रेमा के और भी दो प्रकार बताये गये हैं — १. माहात्म्यज्ञानयुक्त तथा २. केवल ।[१]

विधिमार्ग (वैधी) के अनुयायियों को माहात्म्यज्ञान-युक्त प्रेम होता है, तथा रागानुगा के अनुयायियों को केवल प्रेम होता है ।[२]

इसके अनन्तर साधनों में प्रेमभक्ति की उत्पत्ति एवं विकास का क्रम बताया है । सर्वप्रथम प्रभु के प्रति श्रद्धा (पूज्यबुद्धि) उत्पन्न होती है । फिर साधुजनों का संग, तथा तत्पश्चात् भजनव्यापार चलता है । उससे अनर्थों का नाश होता है जिससे हरि में निष्ठा बढ़ती है और तदनन्तर रुचि बढ़ती है । रुचि होने पर आसक्ति होती है और उससे भाव उत्पन्न होता है । जो अत्यारूढ़ होकर प्रेम का रूपधारण कर लेता है ।[३] किसी धन्य-व्यक्ति के ही चित्त में इस प्रकार का नूतन प्रेम उदय होता है । इस प्रेम भाव में उन्मत्त व्यक्ति को ऐसा परमानन्द प्राप्त होता है कि उसे सुख दुःख किसी की अनुभूति नहीं होती[४]।

भक्तिरस—

इतनी दूर तक भूमिका रूप में भक्ति का सामान्य रूप तथा प्रकार बताया गया है । अब आगे भक्ति का रस के रूप में निरूपण करते हैं । रस का जो साधारण सिद्धान्त है कि विभाव, अनुभाव, तथा व्यभिचारियों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है, उसे रूपगोस्वामी ने भक्तिरस के प्रसंग में भी प्रयुक्त किया है। और उसे इन शब्दों में रखते हैं — 'विभावों, अनुभावों, सात्त्विकों तथा व्यभिचारियों के द्वारा (भक्तों के हृदय में श्रवणादि से स्वाद्य बन कर) यह कृष्ण के प्रति रति रूप स्थायी भाव भक्तिरस कहलाता है ।[५]

---

१. माहात्म्यज्ञानयुक्तश्च केवलश्चेति स द्विधा । १।४।४

२. महिमज्ञानयुक्तः स्याद् विधिमार्गानुसारिणाम् ।
रागानुगाश्रितानां तु प्रायशः केवलो भवेत् ।। १।४।५

३. आदौ श्रद्धा ततःसाधुसंगो ~~निष्ठारुचिस्ततः~~ऽथ भजनक्रिया ।
ततोऽनर्थनिवृत्तिःस्यात्ततो निष्ठारुचिस्ततः ।
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति ।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः ।। १।४।६,७

४. अत एव नारदपांचरात्रे—
भावोन्मत्तो हरेः किंचिन्नवेद सुखमात्मनः ।
दुःखंचेति महेशानि परमानन्दमाप्लुतः ।। पृ० १९८

५. विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
स्वाद्यत्वं हृदिभक्तानामानीता श्रवणादिभिः ।। एषाकृष्णारतिःस्थायीभावोभक्तिरसोभवे

जैसे अन्य रसों के लिए पूर्ववासना का होना आवश्यक है वैसे ही, जिसे प्राक्तनी अथवा आधुनिकी भक्तिवासना है, इसभक्ति रस का आस्वाद उसी के हृदय में होता है।[१] इसके लिए फिर विभावआदि का स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है -' कृष्णारति के हेतु कृष्णा, उनके भक्त तथा मुरली-नाद आदि इस भक्तिरस के विभाव माने जायेंगे। उस रति के कार्यरूप जो स्मितादि तथा स्तब्धता आदि आठ सात्त्विक चेष्टायें कही गयी हैं; वे अनुभाव माने जायेंगे तथा निर्वेद आदि प्रसिद्ध सहायक भावों को व्यभिचारी कहा जायगा[२] -

उनमें कृष्णा तथा कृष्णा के भक्त लोग तो इसके आलम्बन माने जायेंगे।[३]
तथा उनके (श्रीकृष्णाके) गुण, चेष्टायें प्रसाधन, स्मित, अङ्गसौरभ, वंश, शृङ्ग, नूपुर, शङ्ख, पदाङ्क, क्षेत्र, तुलसी, भक्त, हरि के दिन आदि भक्ति रस के उद्दीपन माने जायेंगे।[४]
तथा-उनके

इस रस के अनुभाव (भक्त) की नृत्य, गीत, क्रोशन, आदि चेष्टायें तथा स्तम्भ आदि सात्त्विक भाव माने गये हैं जो चितस्थ रतिभाव के बाह्यविक्रिया रूप हैं।[५]

और संचारीभाव वे ही पुराने तैंतीस हैं, जो वाक्, अङ्ग तथा सत्त्व द्वारा सूचित होते हैं, जो स्थायीभाव की ओर विशिष्ट रूप से अभिमुख होकर प्रवृत्त होते हैं, अतः व्यभिचारीभाव कहलाते हैं) तथा स्थायी भाव की गति का संचार करते हैं।[६] (अतः

---

१. प्राक्तन्याधुनिकीचास्ति यस्य सद्भक्तिवासना
एषभक्तिरसास्वादस्तस्यैव हृदिजायते ।। २।१।७

२. ये कृष्णाभक्त मुरलीनादाद्याहेतवो रतेः
कार्यभूताः स्मिताद्याश्च अथाष्टौस्तब्धतादयः ।
निर्वेदाद्याःसहायाश्च ते ज्ञेया रसभावने ।
विभावा अनुभावाश्च सात्त्विका व्यभिचारिणः ।। २।१।१३,१४

३. कृष्णाश्च कृष्णाभक्ताश्चबुधैरालम्बना मताः । २।१।१६

४. उद्दीपनास्तु ते प्रोक्ता भावमुद्दीपयन्ति ये ।
ते तुश्रीकृष्णाचन्द्रस्य गुणाश्चेष्टाःप्रसाधनम् ।।
स्मिताङ्गसौरभे वंशशृंगनूपुरकम्बवः ।
पदाङ्कक्षेत्रतुलसीभक्ततद्वासरादयः ।। २।१।११४,११५

५. अनुभावास्तु चित्तस्थभावानामवबोधकाः ।
ते बहिर्विक्रियाप्रायाः प्रोक्ताउद्भासराख्यया ।
नृत्यं विलुठितं गीतं क्रोशनं तनुमोटनम् ।। २।२।१,२
तदा स्तम्भाद्यो भावा भक्तदेहे भवन्त्यमी । २।३।६

६. अगले पृष्ठ पर

संचारीभाव कहलाते हैं) ।

इन तेंतीस के अतिरिक्त कुछ अन्य भाव भी दिखायी पड़ते हैं जैसे — मात्सर्य, उद्वेग, दम्भ, ईर्ष्या, विवेक निर्णय, वैक्लव्य, क्षमा, कुतुक, उत्कण्ठा, विनय, संशय, धार्ष्ट्य, तथा रति, आदि ([1] किन्तु इनका उन्हीं तेंतीस में अन्तर्भाव हो जाता है, अत: इन्हें पृथक् नहीं दिखाया गया ।[2] इन तेंतीस संचारी भावों की एक विशेषता यह भी है कि इनमें परस्पर कभी कोई किसी का विभाव हो जाता है तथा कोई किसी का अनुभाव, जैसे— निर्वेद में तो ईर्ष्या विभाव बनती है, किन्तु असूया में वही ईर्ष्या अनुभाव हो जाती है, इसी प्रकार औत्सुक्य के प्रति तो चिन्ता अनुभाव होती है, किन्तु निद्रा के प्रति वही विभाव रूप हो जाती है ।[3]

इन सभी भावों की प्रतिकूल अथवा अनुचित रूप में वृत्ति होने पर इन्हें उन उन भावों का आभास कहा जाता है ।[4]

भावाभिव्यक्ति में वैविध्य—

इन भावों की अभिव्यक्ति में भी विभावादिके वैशिष्ट्य के कारण वैविध्य देखा जाता है ।[5] भक्तों के मन विविध प्रकार के होते हैं । और उस मन के अनुसार भावों की अभिव्यक्ति (उदय) में भी तारतम्य (कमी - बेसी) होता है । जैसे — जिसका चित्त

---

६. पिछले पृष्ठ का शेष—

अथोच्यन्ते त्रयस्त्रिंशद्भावायेव्यभिचारिण: ।
विशेषेणाभिमुख्येन चरन्तिस्थायिनं प्रति ।
वागङ्गसत्वसूच्या ये ज्ञेयास्ते व्यभिचारिण: ।
संचारयन्तिभावस्यगतिं संचारिणोऽपिते ।। —२।४।१,२

---

१. २।४।७५,७६

२. उक्तेष्वन्तर्भवन्तीति नपृथक्त्वेन दर्शिता: । —२।४।७६ द्रष्टव्य —२।४।७७-७६

३. एषां संचारिभावानां मध्ये कश्चन कस्यचित्
विभावश्चानुभावश्चभवेदेवपरस्परम् ।
निर्वेदे तु यथेर्ष्याया भवेदत्र विभावना ।
असूयायां पुनस्तस्या व्यक्तमुक्तानुभावता ।
औत्सुक्यं प्रति चिन्तायाः कथितात्रानुभावता ।
निद्रां प्रति विभावत्वमेव ज्ञेया:परे प्यमी ।। २।४।७६-८७

४ तथा ५ अगले पृष्ठ पर देखें ।

गरिष्ठ, गम्भीर, महिष्ठ तथा कर्कश आदि हैं, उनमें ये भाव सम्यग् उन्मीलित (प्रकट) होकर भी लोगों को स्फुटरूप से लक्षित नहीं होते, और इसके विपरीत जिसका चित्त लघिष्ठ, उत्तान, क्षोदिष्ठ तथा कोमल आदि होता है, उसमें थोड़ा भी उन्मीलित होने पर लोगों को स्पष्ट आभासित होने लगते हैं। गरिष्ठमन स्वर्ण के पिण्ड की भांति होता है तथा लघिष्ठ मन तूल के पिण्ड की भांति।[१]

भक्तिरस का स्थायी भाव—

इस प्रकार भक्तिरस के विभावादि कों का निरूपण कर रूपगोस्वामी ने सबसे अधिक महत्त्व के विषय में उसके स्थायी भाव का विवेचन किया है। स्थायी भाव का तो लक्षण ही यही है कि जो अविरुद्ध तथा विरुद्ध दोनों प्रकार के भावों को अपने वश में करता हुआ सुराजा की भांति सुशोभित होता है उसे स्थायी भाव कहते हैं।[२]

इस भक्तिरस का स्थायी भाव तो कृष्ण के प्रति (भक्त की) रति है। उसे रसज्ञों ने दो प्रकार की मानी है -१ मुख्या तथा २. गौणी,[३] इसमें जो शुद्ध सत्त्व विशेष रूप[४] रति होती है उसे मुख्यारति कहते हैं। उसके भी दो प्रकार माने गए हैं— १. स्वार्था तथा परार्था।[५]

पिछले पृष्ठ का शेष—

४. आभासः पुनरेतेषामस्थाने वृत्तितो भवेत्।
प्रातिकूल्यमनौचित्यमस्थानत्वं द्विधोदितम् ॥ २।४।६७,६८

५. विभावनादि-वैशिष्ट्याद् भक्तानां भेद तस्तथा।
प्रायेण सर्व भावानां वैशिष्ट्यमुप जायते ॥ २।४।११२

---

१. विविधानां तु भक्तानां वैशिष्ट्याद् विविधं मनः।
मनो नुसाराद् भावानां तारतम्यं किलोदये।
चित्ते गरिष्ठे गम्भीरे महिष्ठे कर्कशादिके।
सम्यगुन्मीलिताश्चामी न लक्ष्यन्ते स्फुटं जनैः।
चित्ते लघिष्ठे चोत्तानक्षोदिष्ठकोमलादिके।
मनागुन्मीलिताश्चामी लक्ष्यन्ते बहिरुल्वणाः।
गरिष्ठं स्वर्णपिण्डाभं लघिष्ठं तूलपिण्डवत् ॥ २।४।११३—११६

२. अविरुद्धान्विरुद्धांश्च भावान्यो वशतां नयन्
सुराजेव विराजेत स स्थायी भाव उच्यते ॥ २।५।१

३-५. अगले पृष्ठ पर

स्वार्था वह है जो केवल अविरुद्धभावों से अपने को पुष्ट करती है ।[१] तथा परार्था वह है जो स्वयं संकुचित होती हुई अविरुद्ध या विरुद्ध भावों को अनुगृहीत करती है[२]।

मुख्यारति के भेद-

फिर इस मुख्या रति के पाँच भेद माने गये हैं — १. शुद्धा, २. प्रीति, ३. सख्य, ४. वात्सल्य तथा ५. प्रियता[३]।

शुद्धा तीन प्रकार की होती है — १. सामान्या, २. स्वच्छा, तथा ३. शान्ति । इसमें अंगकम्पन, नेत्र-निमीलन तथा उन्मीलन आदि होते हैं ।[४]

सामान्या शुद्धा वह है जो साधारण लोगों की तथा बालिका आदि की कृष्ण

पिछले पृष्ठ का शेष —

३. स्थायीभावोऽत्र सम्प्रोक्त: श्रीकृष्णविषयारति. ।
मुख्या गौणी च सा द्वेधारसज्ञै: परिकीर्तिता ।। २।५।३

४. प्रेमेत्यर्थ: —दुर्गमसङ्गमनी

५. शुद्ध सत्त्वविशेषात्मा रतिर्मुख्येतिकीर्तिता ।
मुख्यापि द्विविधा स्वार्था परार्था-चेति कीर्त्यते ।। २।५।३

---

१. अविरुद्धै : स्फुटं भावै: पुष्णात्यात्मानमेव या । २।५।४

२. अविरुद्धं विरुद्धं वा सङ्कुचन्ती स्वयं रति: ।
या भावमनुगृह्णाति सा परार्था निगद्यते ।। २।५।५

३. शुद्धा प्रीतिस्तथा सख्यंवात्सल्यं प्रियतेत्यसौ ।
स्वपरार्थैव सा मुख्या पुन: पंचविधाभवेत् ।। २।५।६

४. सामान्या सौ तथा स्वच्छा शान्तिश्चेत्यादिया त्रिधा ।
एषा ङ्गकम्पतानेत्रमीलनोन्मीलनादिकृत् ।। २।५।८

के प्रति होती है। यह कोई विशेष रूप नहीं प्राप्त किये रहती है।[१]

जब विविध रूप धारण करती है तो स्फटिक के समान उसे स्वच्छारति कहा जाता है।[२] अतिशुद्ध आर्यों की प्राय: स्वच्छ ही रति होती है।[३]

मानस में रति की निर्विकल्पता को शम कहते हैं[४]— विषयों की उन्मुखता छोड़ कर आत्मा की स्वभाव अर्थात् स्वानन्द में स्थिति को शम कहते हैं। प्राय: शमप्रधान - मुनियों की ममता की गन्ध से रहित कृष्ण में परमात्मभावना से उत्पन्न रति शान्ति कही जाती है।[५]

प्रीति, सख्य तथा वात्सल्य आदिजन्य स्वादों से असम्पर्क के कारण इस प्रीति को शुद्धा कहते हैं।[६]

फिर उन लोगों की आराध्यत्व रूप रति, जो हरि से न्यून रहे तथा हरि के अनुग्राह्य रहे, प्रीति कहलाती है —यह प्रीति हरि में तो आसक्ति उत्पन्न करती है, किन्तु अन्य वस्तुओं से सभी प्रकार लगाव तोड़वा देती है।[७]

जो हरि के साथ तुल्यता का व्यवहार रखने वाली रहे, वे उनके सखा कहे गये हैं। बराबरीके कारण ही उनकी कृष्ण के प्रति जो रति विस्रम्भरूपा अर्थात् अन्तरणारूपा

---

१. कंचिद् विशेषमप्राप्ता साधारणजनस्य या
बालिकादेश्च कृष्णे स्यात् सामान्या सा रतिर्मता ।। २।५।८

२. तत्तत्साधनतो नानाविधभक्तप्रसंगत: ।
साधकानां तु वैविध्यं यान्ती स्वच्छारतिर्मता ।
यदा यादृशि भक्ते स्यादसक्तिस्तादृशं तदा ।
रूपं स्फटिकवद्धत्ते स्वच्छासौ तेन कीर्तिता ।

३. आर्याणामति शुद्धानां प्राय: स्वच्छारतिर्भवेत् ।। २।५।१२

४. मानसे निर्विकल्पत्वं शम इत्यभिधीयते —२।५।१३

५. विहाय विषयोन्मुख्यं निजानन्द-स्थितिर्यत: ।
आत्मन: कथ्यते सोऽत्र स्वभाव: शम इत्यसौ ।
प्राय: शमप्रधानानां ममतागन्धवर्जिता ।
परमात्मतया कृष्णे जाता शान्तीरतिर्मता ।। २।५।१२-१५

६. स्वादै: प्रीत्यादिसंश्रयै: । रतेरस्या असम्पर्कादियं शुद्धेतिभण्यते ।। २।५।१५

७. स्वस्माद्भवन्ति ये न्यूनास्ते नुग्राह्या हरेर्मता: ।
आराध्यत्वात्मिका तेषां रति: प्रीतिरितीरिता ।
तत्रासक्तिकृदन्यत्र प्रीतिसंहारिणी ह्यसौ ।। —२।५।२३-२४

होती है उसे सख्य कहते हैं। इस सख्यरति में परस्पर कृष्ण के साथ परिहास प्रहास आदि चला करते हैं।[1]

जो कृष्ण के गुरुजन रहे वे उनके पूज्य थे। कृष्ण के प्रति उनकी अनुग्रहमयी रति को वात्सल्य कहते हैं। इसमें दुलारना, भव्य आशीर्वाद तथा चिबुकस्पर्श आदि चेष्टाएं होती हैं।[2]

और प्रियता वह रति है जो कृष्ण और अन्य मृगनयनाओं के बीच सम्भोगादि का कारण बनती है, तथा जिसका दूसरा नाम मधुरारति है। इसमें कटाक्ष, भ्रूक्षेप प्रियवाणी एवं स्मित आदि हुआ करते हैं।[3]

पूर्वोक्त निरूपित पांचों प्रकारों में यद्यपि यथोत्तर स्वादीयस्त्व माना गया है किन्तु किसी को कोई, किसी को कोई अपनी वासना के अनुसार प्रिय लगती है।[4]

गौणी रति के भेद —

इस प्रकार संक्षेप में मुख्यारति का निरूपण करके फिर गौणी रति का निरूपण करते हैं। जब कृष्ण के प्रति रति भाव ही अपने को संकुचित करते हुए किसी अन्य भावविशेष को, जो विभावोत्कर्ष के कारण उत्पन्न हुआ, अनुगृहीत अथवा पोषित या प्रकटित करता है तो वह गौणी रति भाव कहलाता है।[5]

वे अनुगृह्यमाण प्रसिद्ध सात अन्य स्थायी भाव ही हैं जैसे — हास, २. विस्मय, ३. उत्साह ४. शोक, ५. क्रोध, ६. भय तथा ७. जुगुप्सा[6]। इनमें जुगुप्सा को छोड़ कर

---

१. ये स्युस्तुल्या मुकुन्दस्य ते सखाय: सतांमता: ।
साम्याद् विश्रम्भरूपैषां रति: सख्यमिहोच्यते ।
परिहास प्रहासादिकारिणीयमयन्त्रणा ।। २।५।२४,२५

२. गुरवो ये हरेरस्य ते पूज्या इतिविश्रुता: ।
अनुग्रहमयीतेषां रतिर्वात्सल्यमुच्यते ।
इदं लालनभव्याशीश्चिबुक-स्पर्शनादिकृत् ।। २।५।२६

३. मिथो हरे मृगाक्ष्याश्चसम्भोगस्यादिकारणम् ।
मधुरापरपर्याया प्रियताख्योदितारति: ।
अस्यां कटाक्षभ्रूक्षेपप्रियवाणीस्मिताद्य: । २।५।२७

४. यथोत्तरमसौस्वादविशेषोल्लासमय्यपि । रतिर्वासनया स्वाद्वी भासते कापि कस्यचित् ।
२।५।२८

५. विभावोत्कर्षजो भावविशेषो योऽनुगृह्यते । (शेष अगले पृष्ठ पर)

६. अगले पृष्ठ पर

गन्य रूपों के विभाव भी कृष्ण ही हो सकते हैं और जुगुप्सा के विभाव अपने शरीर आदि ही होंगे, किन्तु उसकी भी मूल में कृष्ण के प्रति रति भाव की प्रेरणा रहता है।[१]

गौणी-रति-स्थायी-भाव की रति परार्था होती है, अर्थात् वह हास इत्यादि भावों के रूप में परिणत रहती है और उनका नाम हास इत्यादि ही किया जाता है। जबकि छठा परार्था रति, हास आदि से संचालित होकर हास-रति आदि कहलाती है।[२]

श्रीकृष्ण की लीला आदि के अनुसार ये हास आदि स्थायी भाव रति भाव से संचालित होकर नाना प्रकार किसी भक्त में कुछ समय के लिए स्थायी भाव का रूप प्राप्त करते हैं।[३] ये वस्तुतः सात भाव कैवल कुछ समय के लिए कभी अभिव्यक्त हो जाते हैं। इनका आधार नियत नहीं। सहज होते हुए भी बलवान् रति भाव से उत्पन्न विरोध द्वारा दबाये गएरहते हैं।[४] उन सब भावों की दशा में आत्यन्तिक स्थायी भाव तो रति ही होती है। इसके बिना सभी भाव व्यर्थ होते हैं। इसके न रहने पर (जैसे शत्रु आदि के हृदयों में) क्रोध आदि स्थायी भाव भक्ति-रस कहलाने योग्य नहीं हो पाते।[५]

अर्थात् ये हासादि सात भाव ऐसे हैं, जो मूलतः रति के कारण कृष्ण को आलम्बन बनाकर स्थायीरूप में प्रवृत्त होते हैं और अतएव हास-भक्ति, करुणा-भक्ति-आदि

१पिछले पृष्ठ का शेष— संकुचन्त्या स्वयंरत्या स गौणी रतिरुच्यते ।। २।५।३०

---

६. हासो विस्मय उत्साहः शोकः क्रोधो भयं तथा ।
जुगुप्सा चेत्यसौ भाव-विशेषःसप्तधोदितः ।।

---

१. अपि कृष्णविभावत्वमाधषट्कस्य सम्भवेत् ।
स्यद्देहादिविभावत्वं सप्तम्यास्तु रतेर्वशात् ।। २।५।३२

२. तदैवं गौणीनां रतीनां हासादय एव संज्ञाः परार्थायास्तु हास रत्यादयः|दुर्गमसंगमनी ।

३. कञ्चित्कालंक्वचिद् भक्ते हासाद्याः स्थायितामभी ।
रत्याद्याक्रान्ता यान्ति तल्लीलाद्यनुसारतः ।। २।५।३५

४. तस्मादनियताधाराः सप्त सामयिका इमे । सहजा अपि लीयन्ते बलिष्ठेनतिरस्कृताः ।

५. काप्यव्यभिचरन्तीषा स्वाधारान् स्वस्वरूपतः ।
रतिरात्यन्तिकस्थायीभावो भक्तजने खिले ।
स्युरेतस्या विना भावाद्भावाः सर्वे निरर्थकाः ।
विपक्षादिषु,यान्तो पि क्रोधाद्याः स्थायितांसदा ।
लभन्ते रतिशून्यत्वान्नभक्तिरसयोग्यताम् ।। २।५।३७-३८

नाम से पुकारे जाते हैं — जब कृष्ण के प्रति रति भाव से शून्य रहेंगे तो हास-भक्ति आदि ~~नाम से पुकारे-~~ज नहीं कहलायेंगे, अपितु केवल हास्य, क्रोध, आदि ही, जैसे शत्रु का कृष्ण के प्रति क्रोध, रौद्र रस कहलायेगा — रौद्र भक्ति नहीं, क्योंकि वह रति से शून्य है। और निर्वेदादि संचारी भाव तो रति-संवलित होकर भी रति में ही विलीन रहते हैं उनकी स्थिति स्थायी रूप नहीं हो पाती।[1] फलत: पूर्वोक्त हास्यादि सात भी स्थायी बन कर सात प्रकार की गौणी भक्ति बनाने के अधिकारी होते हैं।[2]

भक्तिरस के आठ स्थायीभाव —

इस प्रकार पूर्वोक्त विधि से मुख्य रति पांच प्रकार की होकर भी केवल रति की ही सत्ता सब में होने के कारण एक प्रकार की कही जाती है तथा गौणी सात प्रकार की। अत: भक्तिरस तथा उसका स्थायी रति भाव आठ प्रकार का माना गया है।[3]

मुख्यभक्तिरस के पांच प्रकार—

मुख्यभक्ति-रस के पांच भेदों के नाम इस प्रकार है — १. शान्त, २. प्रीति, ३. प्रेयान्, ४. वत्सल तथा ५. मधुर। इनमें यथोत्तर श्रेष्ठता मानी गयी है।[4]

गौणभक्तिरस के सात प्रकार—

गौणभक्ति रस सात प्रकार का माना गया है — १. हास्य, २. अद्भुत, ३. वीर, ४. करुण, ५. रौद्र, ६. भयानक तथा ७. बीभत्स[5]।

---

१. २।५।३८—४२

२. अष्टानामेवभावानां-संस्काराधायिता मता।
तत्तिरस्कृतसंस्कारा: परे न स्थायितोचिता: ।। २।५।४२—४३

३. भवेद्भक्तिरसो ह्येष मुख्यगौणतया द्विधा।
पञ्चधापि रतेरैक्यान्मुख्यस्त्वेक इहोदित: ।।
सप्तधात्र तथा गौण इति भक्तिरसो ष्टधा। २।५।६५—६६

४. मुख्यस्तु पंचधा शान्त: प्रीति: प्रेमाश्च वत्सल:।
मधुरश्चेत्यमी ज्ञेया यथापूर्वमनुत्तमा:। २।५।६६-६७

५. हास्यो द्भुतस्तथा वीर: करुणो रौद्र इत्यपि।
भयानक: सबीभत्स इति गौणश्च सप्तधा ।। २।५।६७-६८

इसप्रकार कुल भक्तिरस का योग बारह तक पहुंचा । पुराणादिकों में तो केवल पांच ही प्रकार का कहा गया है।[१] क्योंकि वहां इन हास आदि सात गौण भक्तियों को व्यभिचारी रूप में ही रखा है।[२]

भक्तिरसों के वर्ण-देवता-

इन बारह भक्तिरसों के क्रमश: बारह वर्ण तथा बारह अधिष्ठातृदेवता इस प्रकार गिनाये गये हैं -वर्ण :-१. श्वेत, २. चित्र, ३. अरुण, ४. शोण, ५. श्याम, ६. पाण्डर, ७. पिङ्गल, ८. गौर, ९. धूम्र, १०. रक्त, ११. काल तथा १२. नील। देवता:- १. कपिल,२.माधव, ३. उपेन्द्र, ४. नृसिंह, ५. नन्दनन्दन, ६. बल, ७. कूर्म, ८. कल्की, ९. राघव, १० भार्गव, ११. वराह (किरि) तथा १२ बुद्ध[३]। सम्भवत: बारहों भक्तिभावों के ये बारह आलम्बन माने गये।

भक्तिरस के आस्वादभेद -

किन्तु इन बारहों प्रकार के भक्ति रसों का आस्वाद पांच ही प्रकार का होता है -१. पूर्ति २. विकास, ३. विस्तार, ४. विक्षेप तथा ५. क्षोभ।[४]

शान्त में पूर्ति, प्रीति, वत्सल, मधुर तथा हास्य में विकास, वीर, अद्भुत में विस्तार, करुण, रौद्र में विक्षेप तथा भयानक एवं बीभत्स में क्षोभ रूप आस्वाद होता है।[५] स्वादवैविध्य रहने पर भी अखण्डसुखरूपता सभी में तुल्य ही रहती है।[६]

---

१. वस्तुतस्तु पुराणादौ पंचधैवविलोक्यते ।। २।५।९९

२. हासादीनां व्यभिचारिषु पर्य्यवसानात् । दु:सं०

३. श्वेतश्चित्रो रुण: शोण: श्याम: पाण्डरपिंगलो ।
गौरोधूम्रस्तथारक्त: कालोनील:क्रमादमी ।
कपिलो माधवोपेन्द्रौ नृसिंहो नन्दनन्दन: ।
बल:कूर्मस्तथाकल्कीराघवो भार्गव: किरि: ।
बुद्ध: इत्येष् कथिता:क्रमाद् द्वादश देवता: ।। २।५।९९-१०१

४. पूर्तिर्विकाश-विस्तार-विक्षेप-क्षोभतस्तथा ।
सर्वभक्तिरसास्वाद: पंचधापरिकीर्तित: ।। २।५।१०२

५. पूर्ति:शान्ते विकाशस्तु प्रीतादिष्वपि पंचसु
वीरेद्भुते च विस्तारो विक्षेप: करुणोग्रयो:
भयानके चबीभत्से क्षोभोधीरैरुदाहृत: ।२।५।१०३-४

६. अगले पृष्ठ पर देखें

शान्तभक्तिरस (मुख्य १)

पूर्वोक्त बारहों प्रकार की भक्तियों में पाँच मुख्य तथा सात गौण बताई गई हैं। रूपगोस्वामी ने इन सबका एक-एक करके लक्षणोदाहरणसहित सविस्तार विवेचन किया है।

शान्तभक्तिरस का आस्वादन शमी अथवा शमप्रधान पुरुष ही करते हैं।[1] चतुर्भुज सच्चिदानन्द रूप परमात्मा परं ब्रह्म और तथा उनके शान्त आत्माराम सनकादि एवं अन्य तापस भक्त इस भक्तिरस के आलम्बन विभाव हैं।[2] उपनिषद् वाक्य, विविक्तस्थानसेवन, तत्त्वविवेचन, विश्वरूपदर्शन, ज्ञानी भक्तों का संसर्ग, ब्रह्म-सत्र आदि उसके असाधारण या विशिष्ट उद्दीपन विभाव हैं तथा हरि के चरण कमल, तुलसी, उसकी गन्ध, शंख-ध्वनि, पुण्यशैल, शुभारण्य, सिद्धक्षेत्र, गंगानदी विषयों की नश्वरता, काल की सर्वापहारिता, उसके साधारण या सामान्य उद्दीपन माने गये हैं।[3]

इसके अनुभाव भी दो प्रकार के कहे गये हैं – १. असाधारण तथा २. साधारण। नासाग्र में दृष्टि जमाना, अवधूत की चेष्टा करना, केवल चार हाथ (युगमात्र) की दूरी तक ही दृष्टि छोड़ते हुए चलना (युगमात्रेक्षितगतिः) ज्ञानमुद्रा का प्रदर्शन[4] हरि के प्रति विद्वेष करने वालों के प्रति भी न तो द्वेषभाव, तथा हरिप्रियजनों के प्रति न तो अतिशय भक्ति, सिद्धता तथा जीवन्मुक्ति के प्रति अत्यधिक सम्मानभाव, निरपेक्षता, निर्ममता निरहंकारिता, तथा मौन आदि उसके असाधारण अनुभाव हैं।[5] और जृम्भा (जम्हाई), अंगोतोड़ना, भक्ति का उपदेश, हरि को प्रणाम, तथा स्तुतिवचन आदि साधारण अनुभाव माने जाते हैं।[6] इस रसवाले निरभिमानी योगियों के शरीर में रोमांच, स्वेद, कम्प आदि

---

१. शमिनां स्वाद्यतां गतः – ३।१।३

२. ३।१।६–१२

३. ३।१।१३–१७

४. ज्ञानमुद्रा-तर्जन्यंगुष्ठयोर्युतिः –दु०सं०

५. ३।१।१८–२०

६. ३।१।२१

पिछले पृष्ठ का शेष:–

६. अखण्डसुखरूपत्वे च्येषामस्तिक्वचित्क्वचित् ।
रसे सुगहनास्वादविशेषः को प्यनुत्तमः।।
— २।५।१०४–५

सभी सात्त्विक भाव केवल प्रलय को छोड़कर प्रज्ज्वलित होते हैं ।[१] इस भक्ति में निर्वेद, धृति, हर्ष, मति, स्मृति, विषाद, उत्सुकता, आवेग, तथा वितर्क आदि संचारीभाव कहे गये हैं ।[२] इस रस का स्थायी भाव शान्तिरति प्रसिद्ध है जो दो प्रकार की मानी गयी है — १. समा, तथा २. सान्द्रा[२]।

नन्दनन्दन की कृपा हो जाने पर ही ज्ञानियों को भी यह शान्ति-रतिभाव उनके प्रति उदित होता है । फिर उनकी करुणा से जब जन्मसंस्कार की परम्परा श्लथ हो जाती है, उस समय वह भक्त इस शान्तभक्तिरस के आनन्द की प्राप्ति करने का नैपुण्य प्राप्त करता है । इसके सबसे बड़े प्रमाण आत्माराम शुकदेव माने जाते हैं ।[३]

प्रीतिभक्तिरस (मुख्य २)

प्रीति भक्ति रस दो प्रकार का कहा गया है — १. सम्भ्रम प्रीत तथा २. गौरव प्रीत, क्यों कि अनुग्राह्य भक्त दो प्रकार के होते हैं, कुछ दास रूप, कुछ लालनीय (लाल्य) रूप ।[४]

जो भक्त श्रीकृष्ण के प्रति अपनेसेवकभाव रखते हैं उनकी वह सम्भ्रममयी प्रीति सम्भ्रमप्रीतरस कहलाती है ।[५] इसके आलम्बन हरि तथा उनके दास कहे गये हैं । दो भुजाओं अथवा चार भुजाओं वाले, एक रोमकूप में कोटि-कोटि ब्रह्माण्डधारणकर्ता, कृपासमुद्र, अचिन्त्य-नीय, महाशक्तिवाले, सर्वसिद्धिनिषेवित, अवतारों के मूलबीजरूप, महात्माराम गुणवाले, ईश्वर, परमआराध्य, सर्वज्ञ, सुदृढ़व्रत, समृद्धिमान्, क्षमाशील, शरणागतपालक, दक्षिण, सत्यवचन, दक्ष, सर्वशुभंकर, प्रतापी, धार्मिक, शास्त्रचक्षु, भक्त-सुहृत्तम, वदान्य, तेजोयुक्त, कृतज्ञ, कीर्ति के आश्रय, वरीयान्, बलवान्, तथा प्रेमवश्य आदि रूपवाले माने गये हैं । और हरि के दास वे लोग हैं जो हरि के प्रश्रय में रहने वाले उनके निदेशवर्ती विश्वस्त तथा हरि की प्रभुता का ज्ञान होने के कारण विनम्रीकृतबुद्धि वाले होते हैं । उनके चार प्रकार माने गए हैं — १. अधिकृत, २. आश्रित, ३. पारिषद तथा ४. अनुग[६]। इनमें अधिकृत दासों में ब्रह्मा, शंकर, शक्र आदि को कहा गया है ।[६] अधिकृत का अर्थ जीवगोस्वामी ने

---

१. ३।१।२२,२३

२. संचारिणो त्र निर्वेदो धृतिर्हर्षोमति: स्मृति:
विषादोत्सुकता वेगवितर्काद्या: प्रकीर्तिता: ।। ३।१।२३—२४

२. अत्र शान्तिरति: स्थायीसमासान्द्रा च सा द्विधा । ३।१।२४

३. भवेत्कदाचित्कुत्रापिनन्दसूनो: कृपाभर: ।
प्रथमंज्ञाननिष्ठो पि सो त्रैवरतिमुद्वहेत् ।। (अगले पृष्ठ पर देखें)

इस प्रकार का किया है - जिन्हें श्रीकृष्ण ने अधिकारी रूप में स्थापित किया है।[१]

आश्रितदास तीन प्रकार के होते हैं- १. शरण्य, २. ज्ञानिचर तथा ३. सेवानिष्ठ[२]। और पारिषदों में उद्धव, दारुक, जैत्र, श्रुतदेव, शत्रुजित, नन्द, उपनन्द, भद्र आदि यदुवंशी तथा भीष्म, परीक्षित, विदुर आदि कुरुवंशियों में गिनाये गये हैं।[३] किन्तु हरि के पार्षदों में प्रेम-विह्वल उद्धव सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं।[४]

और अनुगदास वे हैं जो सर्वदा प्रभु की परिचर्या में आसक्त चित्त रहते हैं। वे दो प्रकार के कहे गये हैं - पुरस्थ तथा २. व्रजस्थ। पुरस्थों में सुचन्द्र आदि तथा व्रजस्थों में रक्तक आदि के नाम गिनाये जाते हैं।[५] व्रजस्थ अनुगों में रक्तक सबसे वरिष्ठ माने गये हैं।[६]

पिछले पृष्ठ का शेष -

तत्कारुण्यकटाक्षौघीभूताज्ञानतमस्का ग्रलन्दति: ।

एषभक्तिरसानन्दनिपुण:स्यादकुधाकुः ।। ३।१।२५-२७

४. अनुगाख्यस्यदासस्यातल्यत्वादप्यवंदिधा ।

भिघते सम्भ्रमप्रीतो गौरवप्रीतइत्यपि ।। ३।२।४

५. दासाभिमानिनां कृष्णेस्यात् प्रीति: सम्भ्रमोत्तरा ।

पूर्ववत् पुष्यतामोयं सम्भ्रमप्रीत उच्यते ।। ३।२।५

६. ३।२।१२-१३

७. ३।२।१४

---

१. श्रीकृष्णेन अधिकृत्यस्थापिता इत्यर्थ: दुर्ग०:

२. ३।२।१५,१८

३. ३।२।१८-२०

४. एतेषांप्रवर: श्रीमान् उद्धव:प्रेमविक्लव: । ३।२।२१

५. ३।२।२९-३५

६. व्रजानुगेषु सर्वेषु वरीयान्रक्तकोमत: ।।

-३।२।१५

पारिषदों तथा अनुगों को तीन वर्गों में बांटा है-धुर्य, धीर तथा वीर [१]। और आश्रित, पारिषदों एवं अनुगों को पुनः एक प्रकार से तीन वर्गों में बांटा गया है - १. नित्यसिद्ध, २. सिद्ध तथा ३. साधक।[२]

प्रभुता के ज्ञान से जो भक्त के हृदय में सादर कम्प उत्पन्न होता है तत्पुरःसर प्रीति को ही सम्भ्रम प्रीति कहते हैं[३]।

इस सम्भ्रमप्रीत भक्तिरस के उद्दीपन दो प्रकार के होते हैं - १. असाधारण तथा २. साधारण। इनमें असाधारण उद्दीपन ये हैं - अनुग्रहलाभ, चरणरज की प्राप्ति तथा भोग लगाया हुआ भात आदि का लाभ, तथा हरिभक्ति की संगति आदि। और साधारण उद्दीपन ये हैं - मुरली एवं शृङ्गी का नाद, सस्मित अवलोकन, गुणोत्कर्ष श्रवण, चरणकमल,के चिह्न, नूतन श्याम मेघ, तथा तदङ्गसौरभ आदि।[४]

इसी प्रकार इस रस के अनुभाव भी दो प्रकार के गिनाये गये हैं - १. असाधारण तथा २. साधारण[५]। इसी प्रकार स्तम्भ आदि सात्त्विक तथा हर्ष गर्व आदि व्यभिचारी भी इसके गिनाये गये हैं।[६]

इस सम्भ्रम प्रीति की तीन अवस्थाएं क्रमशः होती हैं - १. प्रेमा, २. स्नेह तथा ३. राग।[७]

जब यह सम्भ्रमप्रीति बद्धमूल होने के कारण ह्रास-शंका से च्युत रहती है तब उसे प्रेमा कहते हैं। वही प्रेमा जब सान्द्र (सघन) होकर चित्तद्रुतिकारक बनता है तो स्नेह कहलाता है और यही स्नेह जब दुःख को भी सुख रूप में कर देता है तथा प्राणों को देकर भी श्रीकृष्ण का सम्बन्धत्व भी प्राप्त करने में प्रवृत्त होता है तो राग कहलाता है।[८]

---

१. ३।२।२६-२९
२. ३।२।३०
३. ३।२।४०-४१
४. ३।२।३२।३३
५. ३।२।३३-३५
६. ३।२।३६-३८
७. एषा तु सम्भ्रमप्रीतिःप्राप्नुवत्युत्तरोत्तराम्।
वृद्धिं प्रेमा ततः स्नेह स्ततो राग इतित्रिधा ।। ३।२।४३
८. ३।२।४४-४६

फिर इस प्रीतिभक्तिरस के दो भेद कहे गये हैं — १. अयोग तथा २. योग ।[१]

हरि के संग का अभाव अयोग कहलाता है । इस अयोग की दशा में तन्मनस्कता तद्गुणादि का अनुसंधान तत्प्राप्ति के उपाय आदि की चिन्ता आदि चेष्टाएं (अनुभाव) होती हैं ।[२]

इस अयोग के भी दो भेद किए गये हैं — १. उत्कण्ठित तथा २. वियोग ।[३]

कभी न देखे गये हरि के प्रति दिदृक्षा को उत्कण्ठा कहते हैं ।[४] इस स्थिति में अयोग (विरह) के सभी व्यभिचारियों का सम्भव रहने पर भी औत्सुक्य, दैन्य, निर्वेद, चिन्ता, चपलता, जड़ता, उन्माद तथा मोह का विशिष्ट रूप से आतिशय्य होता है ।[५]

और मिले हुए हरि का साथ छूटना वियोग कहलाता है ।[६]

इस वियोग नामक सम्भ्रम प्रीति की वेला में ये दस अवस्थायें होती हैं —

१. ताप, २. कृशता, ३. जागर्या, ४. आलम्बशून्यता (चित्त की अनवस्थिति)
५. अधृति (सर्वत्र अरागिता) ६. जड़ता, ७. व्याधि, ८. उन्माद, ९. मूर्च्छा तथा
१०. मृति ।[७]

श्रीकृष्ण के साथ संगम को 'योग' (प्रीतिभक्ति) कहते हैं । उसके तीन प्रकार माने गये हैं — १. सिद्धि, २. तुष्टि तथा ३. स्थिति ।[८]

सिद्धिनायक योग (भक्ति) वह है जिसमें उत्कण्ठित होने पर हरि की प्राप्ति हो जाय ।[९] उनके साथ वियोग होने पर पुन: मिलन हो जाना तुष्टि कहलाता है ।[१०]

---

१. अयोगयोगावेतस्य प्रभेदौ कथितावुभौ । ३।२।४९

२. ३।२।५०

३. ३।२।५१

४. अदृष्टपूर्वस्य हरेर्दिदृक्षोत्कण्ठितं मतम् । ३।२।५१

५. अत्रायोगप्रसक्तानां सर्वेषामपि सम्भवे ।
औत्सुक्यदैन्यनिर्वेदचिन्तानां चापलस्य च ।
जडतोन्मादमोहानामपि स्यादतिरिक्तता ।। ३।२।५२,५३

६. वियोगो लब्धसंगेन विच्छेदो दनुजद्विषा — ३।२।५३

७. ३।२।५४

८. ३।२।५८

९. उत्कण्ठितहरे:प्राप्ति:सिद्धिरित्यभिधीयते । ३।२।५९

१०. जाते वियोगे कंसारे: संप्राप्तिस्तुष्टिरुच्यते । ३।२।५९

तथा मुकुन्द के साथ सहवास की स्थिति कहते हैं।[१]

यहाँ रूपगोस्वामी ने एक पुराने मत का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार इस कृष्णरति (अथवा देवादि विषयरति) को भावरूप ही माना है, रसरूप में स्वीकार नहीं की है। किन्तु इनका कहना है कि कुछ पुराणों में तथा विशिष्टरूप से भागवत पुराण में तो यह भक्तिरस बड़ा स्पष्ट दिखायी पड़ता है॥[२] New Para यहाँ तक तो सम्भ्रम-प्रीति का विस्तार विवेचन किया। अब गौरवप्रीति का स्वरूप दिखाते हैं। श्रीकृष्ण जिनके गुरु (बड़े पूज्य) हैं, उन कृष्ण के लालनीय लोगों की प्रीति में जो कृष्ण के प्रति गुरुता की भावना होती है वही विभावादि से पुष्ट होकर गौरवप्रीति कहलाती है।[३] इस गौरव-प्रीति के आलम्बन हरि तथा हरि के लालनीय (प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, साम्ब आदि) होते हैं।[४] इसमें उद्दीपन हरि की वात्सल्यपूर्ण मुसकान तथा अवलोकन है।[५] श्रीकृष्ण के लालनीयों का उनके सम्मुख नीचे आसन पर बैठना, गुरु के मार्ग का अनुसरण करना, उनके कार्य-भार(धुर) में हाथ बटाना, तथा स्वैराचार आदि का त्याग करना,[६] आदि इसमें अनुभाव हैं।

अभी सम्भ्रमप्रीति के प्रसंग में कहे गये सभी व्यभिचारी भाव इसमें भी होते हैं।[७] यह गौरवप्रीति, जैसा कि अभी कहा गया है, देह के नाते से कृष्ण के प्रति उनके छोटे सम्बन्धियों की गौरवभावनापूर्ण प्रीति ही है। अतः उसे ही इसका स्थायिभाव समझना चाहिए।[८] कुछ विशेषता के कारण यही कभी प्रेम, कभी स्नेह तथा कभी राग कहलाती है।[९]

इस गौरव प्रीति के भी, सम्भ्रमप्रीति की भाँति, अयोग, योग, उत्कण्ठित, वियोग आदि भेद समझने चाहिए, यद्यपि इसका रूपगोस्वामी ने विस्तार नहीं

---

१. सहवासो मुकुन्देनस्थितिर्निगदिता बुधैः। ३।२।६७

२. केचिदस्याःरतेःकृष्णभक्त्यास्वादबहिर्मुखाः।
भावत्वमेव निश्चित्यनरसावस्थतांजगुः।
इति तावदसाधीयो यत्पुराणेषु केषुचित्
श्रीमद्भागवते चैषप्रकटोदृश्यतेरसः ।। ३।२।६०-६२

३. ३।२।६४-६५ गौरवं= श्रीकृष्णारूपनिष्ठगुरुत्वमेवोत्तरं प्रौढत्वे पर्यवसितं यस्याम् -दु०सं०

४. ३।२।६५

५. उद्दीपनास्तु वात्सल्यस्मितप्रेक्षादयो हरेः ३।२।७१

६. ३।२।७२-७३
७: अनन्तरोक्ताः सर्वेऽत्र भवन्ति व्यभिचारिणः।
७. ३।२।७६-७७

८. ३।२।७८   ९. ३।२।७९

किया है[१]।

प्रेयान भक्तिरस (मुख्य ३) —

मुख्य भक्तिरस का तीसरा भेद प्रेयान् कहलाता है। इसमें सख्य भाव आत्मोचित विभावादिकों से पुष्ट होकर सहृदय सामाजिकों के हृदय में प्रेयान् रस रूप से आस्वाद्य होता है[२]। इसके आलम्बन हरि तथा उनके वयस्य लोग होते हैं।[३] हरि भी दो भुजाओं वाले श्रीकृष्ण ही अभीष्ट हैं। उनके इस रूप में सुवेषता, दक्षता, विदग्धता, सुशिक्षा आदि अनेक गुण गिनाये गये हैं।[४] और उनके वयस्य भी रूप, वेष आदि में उनके तुल्य, तथा उनके पूर्ण विश्वास पात्र पुरसम्बन्धी एवं व्रजसम्बन्धी लोग माने गये हैं। पुरसम्बन्धियों में अर्जुन को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। व्रजवासियों को तो सदा श्रीकृष्णोत्कण्ठित कहा गया है।

श्रीकृष्ण के वयस्यों का भी चार वर्ग किया गया है — १. सुहृद् , २. सखा, ३. प्रियसखा तथा ४. प्रियनर्मवयस्य।[५]

इस रस के उद्दीपन हैं — हरि की अवस्था, रूप, शृङ्ग, वेणु, विनोद, नर्म, प्रेष्ठजन, खलारादिचेष्टाएं तथा अनुकरण आदि क्रियायें।[६]

इसके अनुभावों में ये चेष्टायें परिगणित हैं — श्रीकृष्ण के तोष के लिए उनके साथ नियुद्ध, कन्दुक, द्यूत, सवारी, लगुडालगुडिक्रीडायुद्धपर्यङ्क, आसन, दोला आदि पर सहोपवेशन, चारु चित्र परिहास, सलिलविहार, लास्य तथा गान आदि[७]।

इस प्रेयान् में (श्रीकृष्ण के प्रति) औग्र्य त्रास तथा आलस्य को छोड़ कर सभी व्यभिचारी भाव माने गये हैं।[८]

---

१. ३।२।७६

२. स्थायीभावो विभावाद्यैः सख्यमात्मोचितैरिह।
   नीतश्चित्ते सतां पुष्टिं रसः प्रेयानुदीर्यते ।। ३।३।१

३. ३।३।२

४. ३।३।३:५

५. ३।३।१६

६. ३।३।२७-२८

७. ३।३।४२-४४

८. औग्र्यं त्रासं तथालस्यं वर्जयित्वाखिलाः परे।
   रसे प्रेयसि भावज्ञैः कथिता व्यभिचारिणः ।। ३।३।५२

इस विषय में इतना और विचार किया है कि प्रेयान् के अंग रूप में मद, हर्ष, गर्व, निद्रा एवं धृति व्यभिचारी नहीं होते तथा योग रूप में मृति, क्लम, व्याधि, अप-स्मृति एवं दीनता व्यभिचारी नहीं रहते हैं।[1]

और इस प्रेयान् का स्थायी भाव समवयस्कों का परस्पर संभ्रमरहित विश्रम्भरूप सख्यरति मानी गयी है।[2] किसी के प्रति गौरव की भावना के कारण जो व्यग्रता होती है उसे सम्भ्रम कहते हैं।[3] समवयस्कों में उसे न होना चाहिए।

इस विश्रम्भरति के क्रमशः वृद्धि प्राप्त करते हुए पांच भेद माने गये हैं — १. सख्य-रति, २. प्रणय, ३. प्रेमा, ४. स्नेह तथा ५. राग[4]।

वत्सलभक्तिरस (मुख्य ४)

मुख्यभक्ति का चतुर्थ प्रकार है वत्सलभक्तिरस—जिसमें विभावादिकों से पुष्ट होकर वात्सल्य स्थायी भाव रस दशा को प्राप्त करता है।[5]

इसके आलम्बन (वत्सलरूप) श्रीकृष्ण तथा उनके वे गुरुजन हैं जिनका उनके प्रति वात्सल्य था।[6] गुरुजनों में यशोदा, नन्द, रोहिणी, देवकी, कुन्ती, वसुदेव तथा सान्दी-पनि आदि हैं।

इसके उद्दीपन हैं --कृष्ण की कौमार आदि अवस्था, रूप, वेष, शैशवचापल्य, जल्पित, स्मित तथा विविध लीलायें।[7]

इसके अनुभाव हैं —(श्रीकृष्ण को) सिर से सूंघना, सारे अंगों पर हाथ फेरना, आशीर्वाद देना, आज्ञा देना, दुलारना, रक्षण करना तथा हितोपदेश आदि करना।[8]

---

१. ३।३।५२-५४

२. ३।३।५४-५५

३. सम्भ्रमो त्र गौरवकृतवैयग्र्यम् —दु०सं०

४. एषा सख्यरतिर्वृद्धिं गच्छन्ती प्रणयः क्रमात्।
प्रेमा स्नेहस्तथारागा इति पञ्चभिदोदिता ।। ३।३।५६

५. ३।४।१

६. ३।४।२।५

७. ३।४।८-९

८. ३।४।२०-२१

इसमें स्तम्भ आदि आठ सात्त्विकों के अतिरिक्त एक नया सात्त्विक भाव भी माना गया है — स्तन से दूध बहना (स्तन्यस्राव)।[१]

अपस्माररहित वे सभी व्यभिचारी भाव इसमें होते हैं जो प्रीति भक्ति में कहे गये हैं।

और इस वात्सल्य का स्थायी है अनुकम्पनीय पर अनुकम्पिता की ~~श्री~~ सम्भ्रमादि रहित रति ~~होती है~~। उसी को वात्सल्य कहते हैं।[२] यशोदा आदि की वात्सल्यरति को स्वभाव से अति प्रौढ़ होने के कारण कभी प्रेम, कभी स्नेह तथा कभी राग की भांति प्रतीत होती है।[३]

इन प्रीति,सख्य तथा वात्सल्य रसों की प्राय: संकुलता अथवा संकरता भी देखी जाती है जैसे बलराम में श्रीकृष्ण के प्रति सख्य था किन्तु प्रीति-वात्सल्य से युक्त था, युधिष्ठिर में वात्सल्य था किन्तु प्रीति और सख्य से युक्त था आदि।[४]

मधुरभक्तिरस (मुख्य ५)

मुख्य भक्ति रस का पंचम तथा सर्वप्रधान भेद है मधुरभक्तिरस, जिसमें मधुरा रति आत्मोचित विभावादिकों से पुष्ट होकर सत्तामागियों के हृदय में रसता को प्राप्त होती है।[५]

मधुरभक्तिरस एक दुरूह एवं रहस्यरूपरस है। अतएव इसको सविस्तर स्पष्ट करने के लिए रूपगोस्वामी ने अपने भ०र०सिन्धु के परिशिष्ट रूप में एक अन्य ग्रन्थ की भी रचना की 'उज्ज्वलनीलमणि।' उसमें इसका साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया है।[६]

इस रस के आलम्बन हैं श्रीकृष्ण तथा उनकी प्रिया सुन्दरस्त्रियां,[७] उनकी प्रेयसियों में भी वृषभानुजा राधा सर्वश्रेष्ठ मानी गयी हैं।[८]

---

१. नवात्र सात्त्विका: स्तन्यस्राव: स्तम्भाद्यश्चते। ३।४।२३

२. ३।४।२४

३. ३।४।२५

४. ३।४।२६-३३

५. ३।५।१

६. मुख्यरसेषु पुराय: संक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात्।
पृथगेव भक्तिरसराट् सविस्तरेणोच्यते मधुर:॥ उ०नी०म०, पृ० ३

७. अस्मिन्नालम्बन: कृष्ण: प्रियास्तस्य च सुभ्रुव:। ३।५।३

८. प्रेयसीषु हरेरासु, प्रवरा वार्षभानवी। ३।५।४

इस भक्तिरस के उद्दीपन है मुरलीनाद, आदि, अनुभाव हैं कटाक्षस्मित आदि, व्यभिचारी भाव हैं आलस्य और उग्रता के अतिरिक्त अन्य सभी भाव, तथा स्थायी है पूर्वोक्त मधुरा रति।[१]

यह मधुरभक्तिरस दो प्रकार का माना गया है — १. विप्रलम्भ और २. सम्भोग। वस्तुत: इसका रूप साधारण शृङ्गार रस का ही है, अन्तर इतना ही है कि इसमें नायक साधारण पुरुष न होकर नन्दनन्दन हैं — अत: इसे भक्तिरस का एक प्रकार गिना जायगा।

फिर विप्रलम्भ के पूर्वराग, मान, प्रवास आदि अनेक प्रकार बताये गये हैं। तथा दोनों (श्रीकृष्ण एवं प्रेयसी) के सम्मिलन एवं भोग को संभोग कहते हैं।[२]

हास्यभक्तिरस (गौण १)

इस प्रकार मुख्य भक्ति के पांचों प्रकारों का स्वरूप-निरूपण करके अब गौणभक्तिरस को एक-एक करके विवेचित करते हैं। इन गौणभक्तिरसों के विवेचन में यह एक साधारण नियम नहीं भूलना चाहिए कि मूलत: तो ये सात रस हास्यादिक अपनी प्रकृति के अनुसार ही होंगे, भेद केवल इतना ही होगा कि हास्यरस आदि को स्थायी शुद्ध हास आदि होता है जबकि हास्यभक्ति आदि का स्थायी शृङ्गारतिभूत हास आदि अथवा हास-रति आदि होता है।

सर्वप्रथम हास्य-भक्ति को ही लेते हैं। इसमें विभावादि से पुष्ट होकर हासरति हास्यभक्तिरस कहलाती है।[३]

इसके आलम्बन श्रीकृष्ण तथा तदनुगामी अन्य भी होते हैं। प्राय: वृद्ध एवं शिशु-मुख उसके आश्रय होते हैं, कभी कभी विभावादि के वैशिष्ट्य से अन्य प्रकार के व्यक्ति भी आश्रय होते हैं।[४]

और उद्दीपन हैं हरि की उस प्रकार की वाणी, वेष एवं चेष्टाएं।[५] इसके

---

१. उद्दीपना इह प्रोक्ता मुरली-निस्वनादय:
अनुभावास्तु कथिता दृगन्तेक्षास्मितादय: ।।
आलस्यौग्र्ये विना सर्वेविज्ञेया व्यभिचारिण: ।
स्थायी भावो भवत्यत्र पूर्वोक्ता मधुरारति: ।। ३।५।५-६ :

२. ३।५।६।१०, ३. ४।१।६

४. ४।१६-१७

५. उद्दीपना हरे स्तादृग् वाग्वेषचरितादय: । ४।१।८

——— अनुभाव, व्यभिचारीभाव, स्मित, हसित आदि ६: प्रकार, हास्याश्रय का कभी-कभी साक्षात् न कहा जाना आदि विवेचन शुद्ध हास्य रस के समान ही किये गये हैं।[१]

अद्भुतभक्तिरस (गौण २)

अद्भुत भक्तिरस में विस्मयरति स्थायी भाव रूप से रहती है। सब प्रकार के भक्त इस रस के आश्रय होते हैं। लोकोत्तर चेष्टा के हेतु केशव आलम्बन तथा उनकी चेष्टाएं उद्दीपन हैं। नेत्रविस्तार, स्तम्भ, पुलकादि अनुभाव तथा आवेग हर्ष, जाड्य आदि व्यभिचारी माने गये हैं। इस अद्भुतभक्तिरस के १. साक्षात् तथा २. अनुमित दो भेद होते हैं।[२]

अप्रिय आदि की तो अलौकिकी भी क्रिया विस्मयकारक नहीं होती, किन्तु प्रिय की थोड़ी भी असाधारण क्रिया विस्मयावह बनती है। फिर जो प्रिय से भी बढ़कर प्रिय है, उसकी सर्वलोकोत्तर क्रिया क्यों न विस्मयकारिणी होगी।[३]

वीरभक्तिरस—(गौण ३)

वीरभक्तिरस में वही उत्साहरति (स्थायी रूप) उक्त विभावादिकों के कारण स्वाद्य बनती है।[४]

वीर के १. युद्ध, २. दान, ३. दया तथा ४. धर्म के अनुसार चार भेद किये गये हैं ये ही चारों वीर यहां भी आलम्बन होते हैं।[५]

युद्धवीर का आलम्बन श्रीकृष्ण का कोई सखा अथवा बन्धुविशेष जो उनके परितोष के लिए युद्ध में उत्साहयुक्त है, अथवा स्वयं प्रतियोद्धारूप से मुकुन्द ही या फिर श्रीकृष्ण के प्रेक्षकरूप से रहने पर उन्हीं की इच्छा से कोई अन्य सुहृद्वर होगा।[६]

कत्थना, आस्फोट (ताल ठोंकना) विस्पर्धा विक्रम तथा अस्त्रग्रहण आदि प्रतियोद्धा (शत्रु) में स्थित रह कर इस रस के उद्दीपन कहे जाते हैं।[७]

---

१. ४।२।६—१६
२. ४।२।१—५
३. ४।२।६—७
४. ४।३।१
५. ४।३।५
६. ४।३।३—५
७. ४।३।६—७

और ये ही कल्पनादिक जब स्व (नायक श्रीकृष्ण या उनके स्वजन) में स्थित बताये जाते हैं तो अनुभाव हो जाते हैं।[१]

चारों प्रकार के वीरों में सभी सात्त्विकभाव तथा गर्व, आवेग, धृति, व्रीडा मति, हर्ष, अवहित्था, अमर्ष, उत्सुकता, असूया एवं स्मृति आदि व्यभिचारी भाव रहते हैं।[२]

इस युद्धवीरभक्तिरस में एक बात ध्यान देने की है कि यहाँ कृष्ण का प्रतिभट उनका सुहृद् ही होता है, शत्रु नहीं। क्योंकि शत्रु तो भक्त में क्षोभ पैदा करने वाला होगा, अतः वह रौद्र का आलम्बन हो जायगा।[३] रौद्र में नेत्रों में रक्तता आदि रहती है वीर में वह सब कुछ नहीं।[४]

दानवीर दो प्रकार का होता है — १. बहुप्रद तथा २. उपस्थितदुरापार्थत्यागी[५]।

बहुप्रद वह है जो दामोदर के सौख्य के लिए सबका सब कुछ दे देता है।[६] ऐसा बहुप्रद इसका आलम्बन, दान पात्र (सम्प्रदान) की दृष्टि आदि इसका उद्दीपन, वांछित से अधिक दातृता, स्मितपूर्वाभिभाषण, स्थैर्य, दाक्षिण्य तथा धैर्य आदि इसके अनुभाव, वितर्क औत्सुक्य, हर्ष आदि व्यभिचारी तथा प्रगाढ़स्थिरतरदित्सा (दानोत्साहरति) स्थायीभाव माना गया है।[७] इस बहुप्रद दानवीर को भी दो प्रकार का कहा गया है — १. आभ्युदयिक, तथा २. तत्संप्रदानक। जो कृष्ण के अभ्युदय के लिए याचक एवं ब्राह्मणों को सर्वस्व अर्पित कर देता है, उसे आभ्युदयिक कहते हैं।[८]

और ज्ञाति रूपी हरि के लिए जो स्वकीय अहंता और ममता का आधार सर्वस्व देता है, उसे तत्सम्प्रदानक कहते हैं।[९] ऐसा दान भी प्रीति और पूजा रूप से दो प्रकार का माना गया है। प्रीति वह है जो बन्धु आदि रूप में स्थित हरि को दिया जाता है। और पूजा दान वह है जो विप्र रूप में हरि को दिया जाता है, जैसे वामन आदि को।[१०]

उपस्थित दुरापार्थत्यागी वह है, जो हरि के द्वारा दिये गये वर दान को भी स्वीकार

---

१. ४।३।७।८

२. ४।३।६-१०

३. सुहृदेव प्रतिभटो वीरे कृष्णस्य नत्वरिः।
स भक्तक्षोभकारित्वाद्रौद्रे त्वालम्बनो रसे ।। ४।३।१२,१३

४. ४।३।१३

५. ४।३।१४

६. ४।३।१५

७. ४।३।१५-१८

८. ४।३। २०

९. ४।३।२

१०. ४।३।२२-२३

नहीं करता । इसमें कृष्ण की कृपा, आलाप तथा स्मित आदि उद्दीपन, उत्कर्ष-वर्णन आदि अनुभाव, धृति का आधिक्य संचारी भाव, तथा त्याग सम्बन्धी उत्साह रति स्थायी-भाव माना गया है ।[१]

जो (प्रच्छन्न रूप में स्थित कृष्ण के लिए) कृपा से आर्द्र-हृदय होकर अपने शरीर को खण्ड-खण्ड करके समर्पित करे वह दयावीर कहलाता है ।[२]

इसका आलम्बन तो वह वीर है तथा उद्दीपन उसकी आर्तिव्यंजना आदि हैं ।[३]

अपने प्राणों को भी देकर विपन्न की रक्षा, ढाढस भरी उक्तियां, तथा स्थैर्य आदि अनेक अनुभाव हैं ।[४]

औत्सुक्य, मति, हर्ष आदि इसके व्यभिचारीभाव माने गये हैं ।[५]

और दयोत्साहरति तो स्थायीभाव है ही ।[६] दयार्द्रता से युक्त उत्साह को दयोत्साह कहते हैं ।[७] इस दयावीर का दानवीर में अन्तर्भाव बताकर बोपदेव आदि विद्वान् वीर को तीन ही प्रकार का बताते हैं ।[८]

जो सर्वदा केवल कृष्ण को प्रसन्न करने के धर्म में लीन रहता है वह प्रायः धीर शान्त भक्त धर्मवीर कहलाता है ।[९]

वह धर्मवीर तो इसका आलम्बन होगा, तथा सत् शास्त्रों का श्रवण आदि इसमें उद्दीपन माने जायेंगे । नय, आस्तिक्य, सहिष्णुता तथा यम आदि अनुभाव और मति, स्मृति आदि इसमें व्यभिचारीभाव माने जायेंगे । धर्मोत्साहरति इसका स्थायीभाव है । धर्मैकाभिनिवेश को ही धर्मोत्साह कहते हैं ।[१०]

धनिक आदि कुछ आचार्यों ने वीर के दान, दया, युद्ध ये तीन ही भेद माने हैं, धर्मवीर नहीं ।[११]

करुणाभक्तिरस (गौण ४)

इसी प्रकार सत्सामाजिकों के हृदय में शोकरति अपने उचित विभावादिकों से परि-

---

१. ४।३।२४-२७
२. ४।३।२८
३. ४।३।२८-२९
४. ४।३।३०
५. ४।३।३०-३१
६. ४।३।३
७. ४।३।३
८. ४।३।३४-३५
९. ४।३।३५
१०. ४।३।३६-३८
११. ४।३।४१

पुष्ट होकर करुणाभक्ति रस कहलाती है।

निरन्तर परमानन्द रूप होकर भी प्रेमवश अनिष्ट में पड़े कृष्ण, अथवा कृष्ण का कोई प्रिय, या फिर कृष्णभक्ति सुख को न प्राप्त कर सकने वाले भक्त का अपना ही कोई प्रिय इसके आलम्बन होते हैं।[१] उन आलम्बनों के कर्म, गुण तथा रूप आदि इसके उद्दीपन कहे जाते हैं। मुख सूखना, विलाप, शरीर की शिथिलता, नि:श्वास, क्रोशन, भूपात, भूताडन तथा उरस्ताडन आदि इसके अनुभाव कहे गये हैं। इसमें आठों सात्त्विक भाव तथा जाड्य, निर्वेद, ग्लानि, दीनता, चिन्ता, विषाद, औत्सुक्य, चापल, उन्माद, मृत्यु, आलस्य, अपस्मृति, व्याधि तथा मोह आदि व्यभिचारीभाव माने गये हैं। हृदय में विद्यमान कृष्णरति अपने अनिष्टप्रवण अंश के कारण शोक रूप में परिणत होकर शोकरति बनती है, और इस करुण भक्तिरस में यही स्थायीभाव बनती है।[२]

हासादिकों की एक सामान्य बात यह है कि कभी बिना रति के भी उनका उद्गम हो जाता है, किन्तु इस शोक की सम्भावना तो बिना रति के हो ही नहीं सकती। रति की ही बहुलता अथवा कृशता पर इस शोक की बहुलता अथवा कृशता आधारित है। इस प्रकार इस करुणाभक्तिरस में शोक का रति के साथ अविनाभाव सम्बन्ध समझना चाहिए।[३]

यहां एक बात और स्पष्ट कर देनी है कि उन भक्तों का कृष्ण के प्रति यह शोक भाव उनकी भगवत्ता के प्रति अज्ञान अथवा अविद्या के कारण नहीं प्रवृत्त होता, अपितु कृष्ण के प्रति रति अथवा प्रेमाधिक्य के कारण[४] जहां प्रेम होता है वहां अनर्थ की शंका तो साधारण रूप से भी होती रहती है। किन्तु यह करुणाभक्तिरस शोकरूप होकर भी रसदशा में अद्भुतास्वादरूप सुख का कारण बनता है।[५]

रौद्रभक्तिरस (गौण-५)

भक्तजन के हृदय में अपने उचित विभावादिकों द्वारा पुष्टि प्राप्त कर क्रोध रति, रौद्र-भक्तिरस बनती है।[६]

---

१. ४।४।२-३

२. ४।४।५-८

३. ४।४।६-१०

४. ४।४।११

५. अत:प्रादुर्भवन् शोकोलब्ध्वा प्यद्भुतां मुहु: ।
दु:खामेव तनुते गतिं सौख्यस्य कामपि ।। ४।४।१२

६. ४।४।५

इसके तीन प्रकार के आलम्बन होते हैं - १. कृष्ण २. उनका हित तथा ३. उनका अहित। कृष्ण के प्रति क्रोध का आश्रय तो सखी या जरती आदि होती हैं। और हित एवं अहित के प्रति क्रोध भाव का आश्रय तो सब प्रकार के भक्त ही कहे गये हैं।[1]

इनमें जब कृष्ण के (प्रेमके) कारण (राधा आदि) किसी सखी को कुछ (मूर्छा, मृति आदि) अत्याहित उपस्थित हो रहा हो, तो उसकी सखी का कृष्ण के प्रति क्रोध होता है।[2] एवं जरती (वृद्धा स्त्री) का क्रोध तब होता है, जब वह अपनी पुत्र-बधू के साथ कृष्ण को देखती है।[3]

कृष्ण का हित रूप इस रस का आलम्बन तीन प्रकार का कहा गया है — १. अनवहित (असावधान), २. साक्षी तथा ३. ईर्ष्यु[4]। अनवहित वह है जो कृष्ण का पालनकर्ता है किन्तु कभी, किसी कर्म में विशेष अभिनिवेश के कारण पालन-क्रिया में प्रमाद कर बैठे (अतः वह भक्त के क्रोध का पात्र होगा ही।[5] साक्षी आलम्बन वह है जो भय-कारक कार्यों के लिए कृष्ण को प्रेरणा दे।[6] तथा ईर्ष्यु वह नायिका होगी जो अतिशय-मानवती तथा प्रौढेर्ष्याक्रान्तमानस हो।[6क]

और अहित आलम्बन दो प्रकार का होता है १. भक्त का अपना (कृष्ण सम्बन्धी) अहित करने वाला तथा २. श्रीकृष्ण का अहित कारक (शत्रु आदि)[7]

तीनों प्रकार के आलम्बनों में स्थित व्यंग्यभरी (सोल्लुण्ठ) हंसी, वक्रोक्ति, कटाक्ष, तथा अनादर आदि इसके उद्दीपन हैं।[8] हाथ मलना, दांत पीसना, रक्तनेत्रता, होंठ चबाना, भौंहें वक्र करना, भुजाएं फैलाना एवं ठोंकना, चुप हो जाना, मुंह लटकाना, निश्वासदृष्टि टेढ़ी करना, फटकारना, सिर हिलाना, रक्तकटाक्षता तथा भ्रूभेद, अधर-कम्प आदि इसके अनुभाव कहे गए हैं।[9] सभी सात्त्विक एवं आवेग, जड़ता, गर्व, निर्वेद, मोह, चापल, असूया, औग्र्य, अमर्ष एवं श्रम आदि व्यभिचारी भाव माने गये हैं।[10]

---

१. ४।५।२,३

२. ४।५।२

३. ४।५।३,४

४. ४।५।५

५. ४।५।६

६. य: प्रेरको भयस्थाने साक्षी स निगद्यते। ४।५।७ . ६क . ४।५।७

७. ४।५।८,९

८. ४।५।९,१०

९. ४।५।१०,१२

१०. ४।५।१३-१४

इसका स्थायीभाव तो क्रोध रति है ही । वह क्रोध भी तीन प्रकार का होता है १. कोप, २. मन्यु तथा ३. रोष । कोप शत्रु (अहित) पर होता है, मन्यु बन्धुओं पर जो कि पूज्य , सम, तथा न्यून —तीन प्रकार के माने गये हैं और रोष स्त्रियों के प्रिय के प्रति होता है ।[१] इनमें क्रोप में हस्तपेष (हाथमलना) आदि,मन्यु में चुप हो जाना आदि तथा रोष में नेत्रकोणों का लाल हो जाना आदि अनुभाव होते हैं ।[२] रति के बिना किया हुआ (जैसे शिशुपाल आदि का) क्रोध भक्तिरस नहीं होता (वह रौद्र की कोटि में रक्खा जायगा)[३]।

भयानक भक्तिरस-(गौण ६)

भयरति अपने उचित विभावादिकों से परिपुष्ट होकर भयानकभक्तिरस कहलाती है । इसमें दो प्रकार के आलम्बन माने गये हैं —एक तो स्वयं श्रीकृष्ण तथा दूसरे दारुण दुष्ट लोग । जो अनुकम्पीय लोग सापराध हैं उनके प्रति तो स्वयं श्रीकृष्ण आलम्बन है, तथा जो कृष्ण के बन्धुजन हैं, जिनके मन में स्नेहवश श्रीकृष्ण के ऊपर अनिष्ट आने की शंका हुआ करती है, उनके भय के आलम्बन दारुण दुष्ट दैत्य लोग हैं । और यह आलम्बनता दर्शन, श्रवण तथा स्मरण तीन प्रकार से आती है ।[४]

इसमें आलम्बन की भृकुटि आदि उद्दीपन, मुखशोषण, उच्छ्वास, घबड़ाकर चारों ओर देखना, अपने को छिपाना, चक्कर आना (उद्घूर्णा) शरण खोजना, तथा चिल्लाना (क्रोशन) आदि अनुभाव, अश्रुवर्जित शेष सात्त्विक तथा सन्त्रास, मरण, चापल, आवेग, दीनता, विषाद, मोह, अपस्मार, तथा शङ्का आदि व्यभिचारी भाव कहे गये हैं ।[५] इसका स्थायी भाव तो अपराध के कारण भयरति पहिले ही कहा जा चुका है । जो आकृति या प्रकृति या प्रभाव से भीषण हैं, उन्हीं से कृष्ण प्रेमियों के हृदय में विशेषत: स्त्रियों तथा बालकों के हृदय में यह भयरति उत्पन्न होती है ।[६] आकृति से भीषण, जैसे पूतना

----

१. ४।५।१५-१६ २. ४।५।१६,१७

३. क्रोधाश्रयाणां शत्रूणां चैद्यादीनां स्वभावत: ।
क्रोधो रतिविनाभावान्नभक्तिरसतां व्रजेत् ।। ४।५।१८,१९

४. ४।६।१-३

५. ४।६।४६

६. ४।६।८,९

आदि, प्रकृति से, जैसे दुष्ट नरेश (चैद्य आदि) तथा प्रभाव से, जैसे सुरेन्द्र, गिरिश (शंकर) आदि । किन्तु भगवान् से सदा आत्यन्तिक भीति रखने वाले कंस आदि में, रति-शून्यता के कारण, भक्तिरस की आलम्बनता न आयेगी ।[1]

बीभत्सभक्तिरस—(गौण ७)

जब अपने उचित विभावादिकों के कारण जुगुप्सारति सामाजिक के हृदय में पुष्टि प्राप्त करती है तो उसे बीभत्सभक्तिरस कहते हैं ।[2]

इसका आलम्बन शान्त के आश्रय लोग होते हैं । उसमें थूकना, मुंह बिचकाना, नाक दबाना, दौड़ना, कम्प, पुलक तथा स्वेद आदि अनुभाव और ग्लानिश्रम, उन्माद मोह, निर्वेद, दीनता, विषाद, चापल, आवेग तथा जाड्य आदि व्यभिचारी भाव होते हैं ।[3]

जो जुगुप्सा रति इसका स्थायी भाव मानी गयी है उसके दो रूप होते हैं — १. विवेकजा तथा २. प्रायिकी । कृष्णभक्त का जो विवेक के कारण अपने देह आदि के प्रति जुगुप्सा उत्पन्न होती है, उसे विवेकजा कहते हैं, और जो अशुचि एवं दुर्गन्धि के अनुभव से भक्त को प्राय: सर्वत्र हुआ करती है, उसे प्रायिकी कहते हैं ।[4] जिसने श्रीकृष्ण की भक्ति प्राप्त कर ली उसका मन तो सदा पूत रहता है । उसके किसी अघलेश मात्र पर भी क्षुब्ध होने पर रति से पोष होने के कारण उसे बीभत्सभक्तिरस कहा जाता है ।

मुख्य और गौणभक्तिरस का सम्बन्ध —

यह अन्त में रूपगोस्वामी का कहना है कि यह हास्य आदि को जो गौण रूप में भी रसरूप कहा है वह प्राचीन आचार्यों के मतानुसार समझना चाहिए । वस्तुतस्तु शान्त आदि मुख्यपांच ही हरिभक्ति रस हैं, और ये हास आदि उसमें व्यभिचारी भाव रूप से प्राय: रहा करते हैं ।[5]

उज्ज्वलनीलमणि में मधुराभक्ति—

रूपगोस्वामी ने, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, अपने " [illegible] " उज्ज्वलनील-मणिनामक ग्रन्थ में मुख्यभक्ति रस के प्रधान भेद मधुराभक्ति का बड़े विस्तार से विवेचन किया है । 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' में उसका अति संक्षेप में परिचयदिया है । बिना पूरा विस्तार से उसके प्रत्येक अंग का विवेचन किये वह रहस्यरूप ही रहता ,अत: उसके रहस्योद्घाटन के लिए उन्हें इस ग्रन्थ की रचना करनी, पड़ी, जिसमें उस 'भक्तिरस-

---

१. ४।६।८—१०   २. ४।७।१   ३. ४।७।२,३   ४. ४।७।४—७, ५. अगले पृष्ठ पर

राट्` का सांगोपांग दर्शन कराया[१] —

मधुराभक्तिरस के आलम्बन विभाव —

इस मधुरा भक्ति रस के आलम्बन विभाव श्रीकृष्ण तथा उनकी वल्लभायें हैं। यहां कृष्ण के धीरोदात्त आदि चार भेदों में प्रत्येक के पूर्णतम, पूर्णतर तथा पूर्ण तीन भेद हैं फिर हुए और फिर उनके पति तथा उपपति दो भेद होते हैं। [२] उनमें भी उपपति रूप में शृङ्गार का परमोत्कर्ष प्रतिष्ठित है।[३] फिर इन दोनों (पति-उपपति) के चार भेद होते हैं — १. अनुकूल, २. दक्षिण, ३. शठ तथा ४. धृष्ट। इस प्रकार नायक श्रीकृष्ण के छ्यानवे भेद होते हैं। उनके धूर्तादि भेद यहां नहीं लिये गये हैं।[४]

नायक के सहायक—

१. चेटक, २. विट्, ३. विदूषक, ४. पीठमर्द तथा ५. प्रियनर्मसखा होते हैं।[५] साथ ही दूतियां भी सहायक बतायी गयी हैं।

हरि की वल्लभायें इस रस की नायिकाएं हैं जो प्रथमत: दो प्रकार की होती हैं — १. स्वकीया तथा २. परकीया। उनकी स्वकीयायें तो सोलह हजार आठ थीं। उनमें आठ अग्रणी थीं। उन आठों में भी रुक्मिणी और सत्यभामा सर्वश्रेष्ठ थीं। रुक्मिणी ऐश्वर्य में तथा सत्यभामा सौभाग्य में।[६] उनकी परकीया वे हैं, जो दोनों लोकों (कुलों) की बिना

---

* पिछले पृष्ठ का शेष —

५. हास्यादीनां रसत्वं यद् गौणत्वेनाभिकीर्तितम्।
प्राचां मतानुसारेण तद्विज्ञेयं मनीषिभि: ।।
अमी पंचैव शान्ताद्या हरे र्भक्तिरसाभता: ।
एषु हासादय: प्रायो बिभ्रति व्यभिचारिताम् ।। ४।७।८,६

---

१. मुख्यरसेषु पुरा य: संक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात्
पृथगेव भक्तिरसराट् स विस्तरेणोच्यते मधुर: । उ०नी०म०, पृ० ३।२

२. पृ० ७, श्लो० ६

३. अत्रैव परमोत्कर्ष: शृंगारस्य प्रतिष्ठित: । पृ० ११।१६

४. उदात्ताद्यैश्चतुर्भेदैस्त्रिभि: पूर्णतमादिभि:
द्वादशात्मा चतुर्विंशत्यात्मा पत्यादियुग्मत: ।
नायक: सो नुकूलाद्यै: स्यात् षण्णवतिधोचित: ।
नोक्तो धूर्तादिभेदस्तु मुने: संमत्यभावत: । उ०न०पृ०३२।श्लो० ३८, ३९ | ५,६ अगले पृष्ठ पर

परवाह किये अपने को राग में श्रीकृष्ण के लिए समर्पित कर चुकी रहती हैं।[१] वे दो प्रकार की हैं, १. कन्यका तथा २. परोढा। इनमें व्रज की गोपियां आती हैं।[२] ये सभी शोभा, सद्गुण तथा वैभव द्वारा कृष्ण के प्रति रमा आदि से भी अधिक प्रेम माधुर्यभाव से विभूषित होती हैं।[३]

वे फिर तीन प्रकार की कही गयी हैं —१. साधनपरा, २. देवी तथा ३. नित्यप्रिया।[४]

साधनपरा के दो प्रकार होते हैं —१. यौथिकी तथा २. अयौथिकी। यौथिकी वे हैं, जो गण, अथवा समूह में साधन में निरत हों।[५] वे (यौथिकियां) भी दो प्रकार की है —१. वे त्रेता के मुनिगण जो दण्डक में राम को देखकर रिरंसु होने के कारण व्रज में गोपियाँ बने थे।[६] तथा २. वे सभी महोपनिषदें जो गोपियों के सौभाग्य से सुविस्मित होकर श्रद्धापूर्वक तप कर प्रेमा आदि नाम से व्रज में गोपियां हुई थीं।[७]

अयौथिकी वे हैं जो साधनरत लोग एक एक अथवा दो-तीन करके समय समय पर व्रज में गोपियों के रूप में आविर्भूत हुए। उन अयौथिकियों के दो भेद हैं — १. प्राचीना तथा २. नवीना।[८]

देवी नायिकायें वे देवाङ्गनाएं हैं जो कृष्ण की तुष्टि के लिए व्रज में गोपियाँ बनी थीं।[९]

और नित्यप्रिया राधा, चन्द्रावली आदि वे व्रज की गोपियां हैं जो श्रीकृष्ण के समान ही नित्य सौन्दर्य तथा वैदग्ध्य आदि गुणों का आश्रय हैं।[१०] लाखों सुन्दरियों में ये दो सर्वश्रेष्ठ हैं और राधा तो इन दोनों में भी श्रेष्ठ हैं।[११] राधा में भूयिष्ठ मनोहर-गुण हैं।[१२]

पिछले पृष्ठ का शेष —५. उ०नी०, पृ० ३२, श्लो० १। ६. उ०नी०, पृ०४२, श्लो० १६

---

१. उ०नी०, पृ० ४२, श्लो० १६ २. वही, पृ० ४७, ३. वही, पृ० ५०, श्लोक ३८

४. वही, पृ० ५१, ५. वही, पृ० ५१ ०६.

६. पुरा महर्षय: सर्वे दण्डकारण्यवासिन:। दृष्ट्वा रामं हरिंतत्र भोक्तुमैच्छन्सुविग्रहन्।
ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्ना:समुद्भूताश्चगोकुले। हरिं संप्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात्।।
—पद्मोत्तर खण्ड, दुर्गमसंगमनी में उद्धृत।

७. उ०नी०, पृ० ५३, श्लो० ४५,४६ ८. वही, पृ० ५३, श्लोक ४७, ४८

९. वही, पृ० ५६, श्लोक ५०,५१। १०.

११. तथा १२ अगले पृष्ठ पर देखें

फिर, इन स्वकीया तथा परकीया में प्रत्येक के मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा तीन-तीन भेद होते हैं।[१]

और इनमें भी मध्या तथा प्रगल्भा के १. धीरा २. अधीरा तथा ३. धीराधीरा तीन-तीन भेद मान, अवस्था की दृष्टि से किए गए हैं।

रसोत्कर्ष की दृष्टि से मध्या श्रेष्ठ कही गयी है, क्योंकि इसमें मुग्धा और प्रगल्भा दोनों का संयोग होता है।[२]

मध्या और प्रगल्भा के नायक के प्रति प्रणय की दृष्टि से ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा में दो भेद और किए गए हैं।[३]

इस प्रकार कन्याकाती केवल एक भेद मुग्धा होता है, किन्तु स्वीया तथा परोढा के मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा --तीन भेद होते हैं। फिर मध्या तथा प्रगल्भा में प्रत्येक के धीरा, अधीरा तथा धीरा-धीरा तीन-तीन भेद होते हैं, जिससे स्वीया तथा परोढा के १४ भेद और एक कन्या को मिलाकर कुल १५ भेद हुए।[४] फिर सभी नायिकाओं का अवस्थाष्टक होता है --अभिसारिका, वासकसज्जा, उत्कण्ठिता आदि। जिससे अब तक की संख्या १२० हुई। फिर उनके उत्तमा, मध्यमा तथा कनिष्ठा ये तीन कोटियाँ होती हैं, जिससे कुल संख्या ३६० हुई।[५]

पिछले पृष्ठ का शेष -- १०. राधाचन्द्रावलीमुख्या:प्रोक्तानित्यप्रियाव्रजे।
कृष्णवन्नित्यसौन्दर्यवैदग्ध्यादिगुणाश्रया:। उ०नी०,पृ०५७।५२

११. तत्रापि सर्वथा श्रेष्ठे राधाचन्द्रावलीत्युभे।
तयोरप्युभयोर्मध्ये राधिका सर्वथाधिका॥ वही, पृ० ५८,५९

१२. वही, पृ० ६०--७६

---

१. उ०नी० ८६।१०

२. सर्व एव रसोत्कर्षो मध्यायामेव युज्यते।
यदस्यां वर्तते व्यक्ता मौग्ध्यप्रागल्भ्ययोर्युति:॥ उ०नी० ९८।४०

३. मध्यातथाप्रगल्भा च द्विधासापरिमियते।
ज्येष्ठा चापि कनिष्ठा च नायकप्रणयंप्रति। उ०नी० १०५।५६

४. इतिता:कीर्तिता: पंचदशभेदाइहाखिला:॥ वही १०७।६५

५. पूर्वं या: पंचदशधाप्रो...धा शतं तथा।
विंशतिश्चाभिन्न स्यादवस्थाभि:किलाष्टभि:।
पुनश्च त्रिविधैरेभि:प्रभेदै रुत्तमादिभि:।
त्रिशती स्पष्ट मुक्तात्र षष्ट्याढ्यात्र मनीषिभि:॥ वही ११७।१००-१

पुन: यूथेश्वरियों में भी सौभाग्य के आधिक्य से अधिका, साम्य से समा तथा लघुत्व से लघु इस प्रकार तीन भेद होते हैं ।[1] फिर प्रत्येक के १. प्रखरा, २. मध्या तथा ३. मृद्वी ये तीन प्रकार होते हैं ।

अधिका के भी १. आत्यन्तिकी तथा २. आपेक्षिकी —ये दो प्रभेद होते हैं ।[2] इस प्रकार यूथेश्वरियों के कुल भेद बारह हुए ।

मधुराभक्ति के उद्दीपन आदि भाव —

उद्दीपन रूप में कृष्ण तथा उनके प्रियजनों के भी गुण, वय:, रूप, नाम, चरित, मण्डन, वेणी, लगुडी, शृङ्गी, वृन्दारण्य, यमुना, रासस्थली आदि का सविस्तर वर्णन किया है ।

अनुभावरूप में, अलंकार, (अंगज, अयत्नज, तथा स्वभावज) उद्भास्वर(नीवीस्रंसन, उत्तरीयस्रंसन आदि) तथा वाचिक (आलाप, विलाप, संलाप आदि) और सात्त्विकों का निरूपण किया गया है ।

व्यभिचारियों में निर्वेद आदि का उनके हेतु सहित सोदाहरण विवेचन हुआ है ।

स्थायी रति का अभियोग, विषय, सम्बन्ध, अभिमान आदि रूप से अनेक प्रकार का विवेचन किया गया है । इसी प्रसंग में रति के स्नेह, प्रणय, राग, भाव आदि रूपों का भी सविस्तार विवेचन किया गया है ।

फिर शृङ्गार के विप्रलम्भ पक्ष में पूर्वराग, मान, प्रवास —तीनों प्रकारों का निरूपण हुआ है ।

तथा अन्त में उसके सम्भोग पक्ष के अन्तर्गत मुख्य, गौण संभोगों का सविस्तर वर्णन हुआ है । इसी प्रसंग में भावदशाविशेषों को बताते हुए इसके अन्तर्गत जल्प, स्पर्शन, वर्त्मरोधन, रास, वृन्दावन, क्रीडा, यमुनाजलकेलि, वंशीचौर्य, वस्त्रचौर्य, मधुपान, कपटसुप्तता, आश्लेष, संप्रयोग आदि सबका सोदाहरण निरूपण किया गया है ।

जैसा कि पहिले संकेत किया गया है इस उज्ज्वलनीलमणि में रूपगोस्वामी ने जिस मधुरा रति का इतना विस्तार के साथ विवेचन किया है वह कृष्ण को शृङ्गार-नायक मान कर शुद्ध शृङ्गार रस का विवेचन समझ पड़ता है । इसमें कहीं थोड़ी भी गन्ध भक्ति की नहीं मिलती । गीतगोविन्द के साथ इसका भी प्रभाव मध्यकालिक हिन्दी की शृङ्गारमयी

---

१. उ०नी० ८।१,२

२. आत्यन्तिकी तथैवापेक्षिकी चेत्यधिका द्विधा । वही ११६।४

रचनाओं पर पर्याप्त पड़ा । केशव, देव, बिहारी, मतिराम, आदि की कविता एवं आचार्यता इन्हीं ग्रन्थों से प्रभावित समझ पड़ती है । अस्तु ।

कविकर्णपूरगोस्वामी का भक्तिरस-

रूपगोस्वामी के पश्चात् तो भक्तिरस काव्यशास्त्र का विवेचनीय विषय बन गया है । अब आचार्य लोग भक्तिरस का विवेचन शुद्ध काव्यशास्त्रीय विषय के रूप में करने लगे किसी विशेष सम्प्रदाय के अनुयायी के रूप में नहीं ।

श्रीकविकर्णपूर गोस्वामी ने भी अपने 'अलंकारकौस्तुभ' नामक लक्षण ग्रन्थ में भक्तिरस पर कुछ विचार किये हैं । शृङ्गार रस के स्थायीभाव रति का स्वरूप बताते हुए वे कहते हैं - चित्त की रंजकता, अर्थात् द्रवत्वजनकधर्म विशेष को रति कहते हैं । यह ऐसा चित्तधर्म है जो चित्त की कठोरता को दूर कर उसमें कोमलता तथा द्रवीभाव उत्पन्न करता है । और जब यह सम्प्रयोगविषयक होता है तभी इसको रति कहते हैं, अन्यथा इसके दूसरे नाम हैं ।[1] यह रति ही सुखभोगों को अनुकूलता देती है । अर्थात् जैसे भूख लगी रहने पर अन्न व्यंजन आदि में भोजन का सुख मिलता है, वैसे ही इस रति भावना के रहने पर ही श्रीकृष्ण के नाम गुण लीला आदि के श्रवण-दर्शन में सुख प्राप्त होता है । रतिरहित लोगों को वह नहीं प्राप्त हो सकता ।[2]

उस रति को फिर कर्णपूर ने चार प्रकार बताया है - १. प्रीति २. मैत्री ३. सौहार्द्र तथा ४. भाव । अर्थात् रति को लेकर पांच प्रकार होंगे । क्योंकि इन चारों से पृथक् उसका लक्षण-स्वरूप बताया गया है । रति तो सम्प्रयोग विषयक होती है ।

---

१. रतिश्चेतोरञ्जकता' -चित्तस्यरंजनंद्रवीभाव स्तज्जनकधर्मविशेष एव चेतोरंजकता । सैव सम्प्रयोगविषया चेत्तदा रतिरुच्यते-इयमेव चित्तस्यकठोरत्वं दूरीकृत्य कोमलत्वं द्रवीभावन्यो-त्पादयति । - अ०कौ० ५।६५, पृ० १२४

२. सुखभोगानुकूल्यकृत्- क्षुधा यथा अन्न व्यंजनादीनां भोजनजन्यसुखस्यानुकूल्यं करोति तथैव रति-रपि श्रीकृष्णस्य नामरूपगुणलीलाश्रवणादर्शनादिजन्यसुखभोगानामानुकूल्यं करोति । रतिमतां यथा श्रीकृष्णस्य नामगुणलीलादिश्रवणादर्शनादिजन्यं सुखं जायते न तथा रति-शून्यानामितिज्ञेयम् । अ०कौ, पृ० १२४

सम्प्रयोग स्त्री-पुरुष के पति-पत्नी-रूप व्यवहार को कहते हैं ।[१] और असम्प्रयोगविषयक होने पर उसे प्रीति कहा जाता है । यह सम्बन्ध प्राय: मित्र, पत्नी तथा पति के मित्र का परस्पर होता है । इसको भी स्त्री-पुरुष का ही सम्बन्ध कहते हैं, किन्तु वह पति-पत्नी सम्बन्ध नहीं होता । इसका उदाहरण द्रौपदी और कृष्ण का सम्बन्ध कहा जा सकता है ।[२]

दो पुरुष मित्रों या स्त्री सखियों की परस्पर प्रीति मैत्री कहलाती है । यह पुरुष-पुरुष या स्त्री-स्त्री के ही बीच होती है ।[३] इसमें परस्परस्पर्श आदि हो सकते हैं प्रीति अथवा सौहार्द में यह सम्भव नहीं ।[४]

जो प्रीति स्त्री की सखियों एवं पति के मित्रों में परस्पर सम रूप तथा विकार-रहित होती है उसे सौहार्द कहते हैं[५] — सम-रूप-स्त्री

और यही रति जब देवादिविषयक होती है तो 'भाव' कहलाती है । इसी को भक्ति रस कहते हैं ।[६]

यही रति, जो स्त्री-पुरुष के बीच सम्प्रयोगविषयक होती है, जब श्रवण कीर्तन आदि के पौन:पुन्य से उत्कर्ष अथवा उदात्तता को प्राप्त करती है तो प्रथम पाक अथवा प्रथम रति भाव अवस्था से अनुराग, प्रणय, प्रेम आदि अवस्थान्तरों को प्राप्त करती हुई चरम

---

१. या सम्प्रयोगविषया सा रति: परिकीर्तिता ।
सम्प्रयोग: स्त्रीपुरुषव्यवहार: सतां मत: ।। अ०कौ०, पृ० १२४

२. असम्प्रयोग-विषया सैवप्रीतिर्निगद्यते ।
पतिपत्न्यां पति-सखे द्रौपदीकृष्णयोर्यथा ।। अ०कौ०, पृ० १२५

३. द्वयो:स्त्रीषु सखिषु सैवमैत्रीनिगद्यते । अ०कौ०, पृ० १२५

४. मनोवृत्तिमयी प्रीतिर्मैत्री स्पर्शादिकोचिता । इयं मैत्री परस्परस्कन्धादिषु हस्तादिस्पर्श-कर्मोद्युचिताभवति, स्त्रीणां परस्परश्लिष्टस्पर्शादिव्यवहारे दोषोनास्ति एवं पुरुषा-णामपि ज्ञेयम् । प्रीतिसौहार्दाभ्यामेतादृशविशेषो मैत्र्यां ज्ञेय: । तत्र तत्र स्त्रीपुरुष-सख्ये स्वच्छन्दस्पर्शानौचित्यात् स्त्रीसखीनां स्त्रीणां पतिसखीनां पुरुषाणांच परस्परविषया । अ०कौ०, पृ० १२६

५. निर्विकारा सदैकाभा सा सौहार्दमितीष्यते ।
सदैकाभा सदैकरूपा सा चेतोरञ्जकता सौहार्दम् ।।
सा च स्त्री सखीनां पति -सखानाञ्च परस्पर विषया ------ । निर्विकारेति---
स्त्री-पुरुषयो: परस्परदर्शनेऽपि विकाररहितेत्यर्थ: । - अ०कौ०, १२६

६. देव: श्रीकृष्णस्तस्य देवत्वसर्वव्यापकत्वादिरूपेण या चेतोरञ्जकता सैवभाव: - अयमेव भक्ति रसोभवतीत्यग्रे वक्ष्यति । पृ० १२७

अवस्था 'भक्ति' अथवा महाराग रूप में परिणत हो जाती है। जैसे — ईख का कच्चा रस एक पाक के पश्चात् दूसरे पाक में पहुँचता हुआ अन्त में चरम पाक सितोपला अथवा मिश्री रूप में परिणत हो जाता है। वह उसका चरम पाक है। उसके बाद उसकी कोई अवस्था नहीं।[1]

इस प्रकार का आनन्द की परमावधिरूप यह महाराग केवल गोपियों का कहा जाता है — अन्य किन्हीं भक्तों का नहीं। भागवत् में उद्धव ने उनके कृष्ण में प्रेम को रूढ़ भाव कहा था। यह रूढ़भाव ही महाराग कहा जाता है। अतएव गोपियों की चरणधूलि प्राप्त करने के लिए उद्धव ने तृण, गुल्म, लता बनने की आकांक्षा की थी। इसप्रकार रुक्मिणी और लक्ष्मी की चरण धूलि प्राप्त करने की इच्छा कहीं किसी ने नहीं प्रकट की है।[2]

आगे आनन्दरूप रस को १. प्राकृत, २. अप्राकृत तथा ३. आभासरूप में तीन प्रकार का बताते हुए कर्णपूर कवि का कहना है कि यह अप्राकृतरति भी परकीयानिष्ठ (जैसे कृष्ण एवं गोपियों की) ही सर्वोत्तम मानी गयी। स्वकीयानिष्ठ जैसे कृष्ण-रुक्मिणी आदि की रति भी कम अधिक उत्कृष्ट कही गयी है। क्योंकि उसमें देह-गेह किसी का ध्यान नहीं.

---

[1] सा सम्प्रयोगविषया साप्यवस्थाविशेषत: ।
पाकात् पाकान्तरं प्राप्य चरमे पर्यवस्यति ।
चरमे पाके गत: पाकान्तरं नास्ति, यथेक्षुरस:
सितोपलापाकावधि: — यदुक्तम् —
यथेक्षूणां रसो ह्याम: पाकात् पाकान्तरैर्गुड: ।
गुडोपि पाकत: पाके चरमेस्यात् सितोपला ।
तथा रतिर्भावपूर्वरागाख्य, (पाकत:) । अनुराग: स प्रणयप्रेमभ्यां पाकमागत: ॥
स्नेहपाकमयो याति महारागो यमुच्यते । — अ०कौ०, पृ० १२८

[2] एतादृशो महारागो गोपीनामेव नान्येषां भक्तानाम अतएव कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढ़भाव इत्युक्तवताउद्धवेनाप्यस्यैव रूढभावत्वेनैवोत्कर्ष कृत: । एवम् आसामहो चरणरेणु जुषा महं स्यामिति पद्येन गोपीनामेव चरणधूलिप्राप्तौ तृणाद्यन्याकांक्षा कृता, न तु कदापि रुक्मिणीलक्ष्मीप्रभृतीनां क्वापि शास्त्रे दृष्टत्वात् , — अ०कौ०टी०, पृ० १२८

रहता। अतएव भागवत में उसकी बड़ी प्रशंसा की गयी है। रूप-गोस्वामी ने भी अतएव उसमें शृङ्गार का परमोत्कर्ष माना था। अन्यत्र भी काव्य-नाटकों में परकीया-प्रेम को ही महाकवियों ने श्रेष्ठ कहा है।[१]

कर्णपूर का कहना है कि जैसे निर्वेद एक व्यभिचारी भाव होते हुए भी शान्त रस में स्थायीभाव की हैसियत पाकर रस बनता वैसे ही देवादिविषयक रति, जो भाव इस पारिभाषिक नाम से प्रसिद्ध होती है, स्थायी भाव बन कर उन उन विभावादि सामग्रियों से परिपुष्ट होकर भक्तिरस कहलाती है। उन्होंने इस भक्ति रस के श्रीकृष्ण-विषयक होने पर किसी पूर्व आचार्य के मत से दस प्रकार बताए हैं।[२]

कर्णपूर के अनुसार रसों की संख्या -

कर्णपूर ने रसों की संख्या बारह मानी है। आठ तो भरत मुनि वाले ही, शान्त वात्सल्य, प्रेम तथा भक्ति ये चार और।

इन्होंने वात्सल्यरस का स्थायी ममकार या ममता को माना है। इसके आलम्बन श्रीकृष्ण, उद्दीपन उनका चङ्क्रमण आदि, तथा व्यभिचारी हर्षादि हैं। यह भी अप्राकृत रस ही है। यह केवल एक में (काम्य) ही होता है।[३] यदि यह कृष्णविषयक है तो

---

१. सा च रति द्विविधा स्वकीया रुक्मिण्यादिनिष्ठा, परकीया व्रजसुन्दरीनिष्ठाच। तयो र्मध्ये परोढरमणी श्रीव्रजसुन्दरी तन्निष्ठा रतिः सर्वोत्तमेत्यर्थः। सर्ववेदेति रसपुराणादीनां सारभूते श्रीभागवते श्रीकृष्णेनोक्तं नपारये ऽहमित्यादौ या मा भजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः संवृश्च्य इत्यादि तत्रैव श्रीउद्धवेनाप्युक्तं या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वेत्यादि। उज्ज्वलनीलमणौ श्रीमद्रूपगोस्वामिभिरप्युक्तम् - अत्रैव परमोत्कर्षः शृङ्गारस्य प्रतिष्ठितः इत्यादौ। महानुभावानां दृश्यश्रव्यकाव्यादौ परकीया सर्वोत्तमोत्तमतया श्रूयतइत्यर्थः - अ०कौ०, टीका, पृ० १३३

२. यथा निर्वेदो व्यभिचारी सन्नपि शान्तरसे।
स्थायितां प्राप्य रसतामाप्नोति तथ सैव
देवादिविषया रति 'भाव' इति पारिभाषिको पि भावः स्थायीसन् तत्तद्विभावादि-सामग्रीसमवेतो भूत्वा भक्तिरस इति — । स पुन र्भक्तिरसः श्रीकृष्णाश्रयो भवन् रत्यादिभिः स्थायिभि र्दशविधो भवति तदन्यत्रोह्यम् - अ०कौ०, पृ० १४७

३. अमकारः स्थायी। एष एकनिष्ठः। आलम्बनं श्रीकृष्णः उद्दीपनन्तद्गतचङ्क्रमणादि। अनुभावः कण्ठे कृत्वालिङ्गनादिः। व्यभिचारी हर्षादिः। (रूप परोक्षा) व्रजेश्वरीनिष्ठः प्रत्यक्षः सामाजिकनिष्ठः। उभयथैवायमप्राकृतः - अ०कौ०, पृ० १४४

भक्ति का ही एक प्रकार होगा। अतएव कर्णपूर ने रूपगोस्वामी के भक्ति के बारह प्रकारों में इन वात्सल्य एवं प्रेम (प्रीति) को अलग कर स्वतंत्र रस नाम दिया और उनके अनुसार भक्तिरस केवल दस प्रकार कहा है।[१]

प्रेमरस का स्थायीभाव चित्तद्रव है और यही तो कर्णपूर का रतिभाव है।[२] यह ऐसा रस है जो आलम्बन और आश्रय दोनों में परस्पर होता है। अतएव दोनों परस्पर आलम्बन होंगे तथा दोनों के गुण-परिमल परस्पर उद्दीपन होंगे। इसका अनुभाव विशिष्ट रूप से निर्वचन का अभाव रूप ही है, तथा व्यभिचारी मति, औत्सुक्य आदि। यह प्रेम रस परोक्षरूप तो राधाकृष्ण वाला है, प्रत्यक्ष सामाजिकों का।[३] सम्भवत: भोज से प्रभावित होकर कर्णपूर कहते हैं कि इस प्रेमरस में सभी रस अन्तर्भूत हो जाते हैं। और फिर रूपगोस्वामी से प्रभावित होकर राधाकृष्ण तक ही रख कर भक्तिरस का ही एक प्रकार मान लेते हैं। उनका इसका एक पृथक् रस नाम देना बहुत कुछ समीचीन नहीं समझ पड़ता है। उन्होंने प्रेम को ही अङ्गी रस कहा, बल्कि शृङ्गार को उसका अङ्गरूप ही कहा है। सागर में लहरों की भाँति अखण्ड प्रेम में सभी रस एवं भाव डूबते उतराते रहते हैं[४]।

भक्तिरस में वही देवविषया चेतोरञ्जकता अथवा रति जिसे (इन्होंने भी तथा मम्मटादि अन्य आचार्यों ने) भाव नाम दिया है, स्थायी भाव होता है, इसके आलम्बन श्रीकृष्ण, उद्दीपन उनकी महिमा आदि, अनुभाव हृदयद्रव आदि तथा व्यभिचारी भाव निर्वेद-दैन्य-आदि होते हैं। यह रस भक्तों को तो परोक्ष में भी, किन्तु सामाजिकों को काव्य नाटक की श्रवण-दर्शन-वेला अर्थात् प्रत्यक्ष में अनुभूत होता है।[५]

कवि कर्णपूर रूपगोस्वामी से इतने प्रभावित समझ पड़ते हैं कि उनके विशाल भक्ति-रस के आलम्बन श्रीकृष्ण ही इनके भी सभी रसों से संवलित (आलम्बन) श्रीकृष्ण

---

१. सपुनर्भक्तिरस: श्रीकृष्णाश्रयीभवन्। रत्यादिभि:स्थायिभिर्दशविधो भवति। तदन्य-श्रोत्स्यम्। — अ०कौ०, पृ० १४७

२. रतिश्चेतोरञ्जकता - चित्तस्यरञ्जनं द्रवीभावस्तज्जनकधर्मविशेषएव चेतोरञ्जकता- — अ०कौ०, पृ० १२४

३. वही, पृ० १४८

४. प्रेमरसे सर्वे रसा अन्तर्भवन्तीत्यत्र महीयानेव प्रपंच:। ग्रन्थगौरवभयाद्दिङ्गमात्रमुक्तम्। केषाञ्चिन्मते श्रीराधाकृष्णयो: शृङ्गार एव रस: -तन्मते प्रेम्णो तदङ्गत्वं नासङ्गतम्। शृङ्गारो ङ्गी प्रेमाङ्गम् अस्यापिक्वचिदुद्रिक्तता। वयन्तु प्रेमाङ्गी शृङ्गारो ङ्गमिति विशेष:। तथा च —

(शेष)

५ आलेख्यकम्

हो जाते हैं। शृङ्गार के तो वे मानो देवता ही हैं।[1] और श्रीकृष्ण को सर्वरसात्मक माना है।[2]

श्रीकृष्ण से सम्बन्धित करने पर उसे या तो भक्तिरस से प्रभावित कहा जायगा या फिर श्रीकृष्ण के सम्बन्ध का कोई महत्त्व नहीं। कोई भी व्यक्ति भिन्न भिन्न अवसरों पर विविध रसात्मकता प्राप्त करता है। अस्तु।

शार्ङ्गदेव का भक्तिरस—

श्री निःशङ्क शार्ङ्गदेव ने तो अपने 'संगीत-रत्नाकर' में भक्ति रस की पृथक् सत्ता ही नहीं स्वीकार की है, उसे रति का भेद मानकर उसी में अन्तर्भूत किया है। उनका कहना है कि भक्ति, स्नेह तथा लौल्य —तीन रसों को कुछ आचार्यों ने मान्यता दी है, और उसके स्थायी भाव क्रम से श्रद्धा तथा अभिलाष को रक्खा है, किन्तु यह ठीक नहीं। क्योंकि जब यह भक्ति तथा स्नेह पुरुष-पुरुष के बीच होते हैं तो उनके बीच (श्रद्धा एवं आर्द्रता रूप) वह रति व्यभिचारी भाव रूप ही रहती है, और केवल भावदशा तक पहुंचती है। और जब स्त्री-पुरुष के बीच भक्ति तथा स्नेह दिखाई पड़ता है तो वहां स्थायीभाव रति होती है, अतः उसे शृङ्गार ही कहेंगे —जैसे राम में सीता की भक्ति और सीता में राम का स्नेह जो शृङ्गार ही माने गये हैं। अस्तु।

मधुसूदन सरस्वती का भक्तिरससिद्धान्त —

भक्ति को काव्यरस के रूप में निरूपित करने वाले अन्य सम्मान्य आचार्य मधुसूदन - सरस्वती हैं। उन्होंने अपने 'भगवद्भक्तिरसायन'[3] में अपने रस-विषयक सामान्य विशेष

शेष — उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेमण्यखण्डरसत्वतः
सर्वेरसाश्चभावाश्च तरङ्गाइववारिधौ ॥ अ०का०, पृ० १४८—४६

५. अ०का०, पृ० १५०

---

१. यद्यपि भगवान् सर्वरसकदम्बसम्वलितः तथापि मूर्तः शृङ्गार एव, सावण्यात् तद्देवतत्वाच्च, तथाहि 'रसः शृङ्गारनामार्यश्यामलः कृष्णादैवतः।' अ०का०, पृ० १५०-५१
('रसः शृङ्गारनामार्य श्यामलः कृष्णादैवतः' । वही, पृ० १५०-५१

२. शृङ्गारी राधिकायां, सखिषु सकरुणः ब्वैदग्धेष्वधाहे।
बीभत्सी तस्य गर्मे व्रजकुलतनयाचेलचौर्ये प्रहासी।

3 अगले पृष्ठ पर (शेष)

सभी प्रकार रखी है। रसविषयक उनका सामान्य सिद्धान्त तो वही है, जो अभिनव-मम्मट आदि ध्वनिवादियों का है। विभाव, अनुभाव तथा संचारीभावों द्वारा स्थायीभाव बोद्धा में सुखरूप से अभिव्यज्यमान होकर रस कहलाता है।[1] उसका बोध कराने वाली शब्द की व्यन्जन नामक वृत्ति होती है।[2] जो रस की व्यंजना का क्रम संलक्षित नहीं होता, अत: उसे असंलक्ष्यक्रम ध्वनि कहते हैं।[3] किन्तु भक्तिरस के विषय में अपने पूर्ववर्ती रूपगोस्वामी आदि आचार्यों से इनका मत बहुत कुछ स्वातन्त्र्य रखता है। हाँ, इनका भी यह भक्ति रस कृष्ण के ही प्रति निरूपित हुआ है। अन्यसाधारण देवों के प्रति होने वाली भक्ति को इन्होंने भी मम्मट के अनुसार 'भाव' ही नाम दिया है। वह भक्तिरस नहीं कही जायगी[4]। उनका कहना है कि कान्ता-आदि-विषयक भी जो रति आदि भाव हैं वे भी उस प्रकार से रस दशा को नहीं प्राप्त करते (जिस प्रकार यह श्रीकृष्णविषयारति) क्योंकि वे पूर्ण सुख से स्पृष्ट नहीं होते। भगवद्भक्तिोपरिपूर्णरस वाली है, वह अन्य क्षुद्र रसों से उसी प्रकार बलवत्तर है जैसे आदित्य की ज्योति खद्योतों से बलवत्तर होती है।[5] इस प्रकार भक्ति-रस का आस्वादमधुसूदन ने सबरसों से कहीं बढ़कर माना है। उसके स्वरूप विवेचन का प्रारम्भ

शेष -- वीरा दैत्येषु, रुद्री कुपितवति तुरासाहि, हैयङ्गवीन
स्तेये भीमान् विचित्री निजमहिम्नि दामवन्धे स जीयात्।। अ०को०, पृ० १५१
३. बनारस एडिशन, १६५०

---

१. भ०र० ३।२
२. तस्यप्रत्यायक: शब्दो वृत्त्याव्यंजनरूपया — ३।२०
३. एवमव्यवधानेन क्रमोयस्मान्नलक्ष्यते।असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यं ध्वनिं तस्मादिमं विदु: । ३।१५
४. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथांजित: ।
भाव: प्रोक्तोरसोनेति यदुक्तं रसकोविदे: ।।
देवान्तरेषु जीवत्वात् परानन्दाप्रकाशनात् ।
तद्योज्यम्परमानन्दरूपे न परमात्मनि — २।७३-७४
५. कान्तादिविषया वा ये रत्याद्यास्तत्र नेदृशम्
रसत्वम्पुष्यते पूर्णसुखास्पर्शित्वकारणात्
परिपूर्णरसाक्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रति:
खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा ।
— २।७५,७६

करते समय उन्होंने कुछ विशेषणों का प्रयोग किया है, जिसमें भक्ति रस के प्रति अपने विचारों को मानों सूत्र रूप में कहा है। मुकुन्द के प्रति यह भक्ति-योग नवरसमिश्रित भी अथवा केवल भी परमपुरुषार्थ माना गया है क्योंकि वह भक्तियोग निरुपमसुखसंविद्रूप होता है तथा सर्वथा दुःख से अस्पृष्ट होता है।[1]

मधुसूदन की भक्ति के दो भेद —

भक्ति दो प्रकार की मानी गयी है — १. साधनरूपा तथा २. फलरूपा। इन दोनों अर्थों में भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है। 'भजनम् भक्तिः' अर्थात् अन्तःकरण की भगवदाकारता-प्राप्ति को भजन कहते हैं, इस प्रकार भाव में व्युत्पत्ति करने पर भक्ति शब्द का अर्थ फलरूप होता है।[2] और 'भज्यते अनया इति भक्तिः' अर्थात् जिसके द्वारा अन्तःकरण की भगवदाकारता प्राप्ति होती है इस प्रकार करण में व्युत्पत्ति करने पर भक्ति शब्द का अर्थ श्रवण-कीर्तन आदि साधन होते हैं।[3] श्रीमद्भागवत् में इस प्रकार दो अर्थों में भक्ति शब्द का प्रयोग एक ही श्लोक में किया गया है।[4]

मधुसूदन की भक्ति का स्वरूप —वेदान्त मत से —

भक्ति का लक्षण मधुसूदन ने पूर्ववर्ती आचार्यों से कुछ विलक्षण किया है। उनका कहना है भगवद्-गुण-श्रवण द्वारा द्रुतावस्था को प्राप्त चित्त की जो धारावाहिक अर्थात् निरवच्छिन्नरूप से सर्वेशविषयक वृत्ति अर्थात् भगवदाकारताप्राप्ति है, उसे भक्ति कहते हैं।

---

१. नवरसमिलितं वा केवलं वा पुमर्थं
परममिह मुकुन्दे भक्तियोगं वदन्ति।
निरुपमसुखसंविद्रूपमस्पृष्टदुःखं
तमहमखिल तुष्ट्यै शास्त्रदृष्ट्या व्यनज्मि ॥ १।१
और सर्वथा दुःख से अस्पृष्ट सुख को ही परमपुरुषार्थ माना गया है —
'दुःखासंभिन्नसुखं परमः पुरुषार्थ इति सर्वतन्त्र सिद्धान्तः — पृ० १४

२. भजनम् अन्तःकरणस्य भगवदाकारताख्यं भक्ति रिति भाव व्युत्पत्त्या भक्तिशब्देन फलमभिधीयते। पृ० २१

३. भज्यते सेव्यते भगवदाकारमन्तःकरणं क्रियते ऽनयेति करण-व्युत्पत्त्या भक्तिशब्देन श्रवण-कीर्तनादिसाधनमभिधीयते। पृ० २२

४. स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्।
भक्त्या संजातया भक्त्याबिभ्रत्युत्पुलकांतनुम् ॥ श्रीभा०, ११।३।३१

(शेष)

वृत्ति का अर्थ म०सू० ने तदाकारता ही लिया है।[1] चित्त की उपमा जतु (लाख) से दी गयी है, जो स्वभाव से तो कठिन होता है किन्तु तापक विषयों के योग से द्रवदशा को प्राप्त कर लेता है।[2] चित्त-जतु के तापक विषय काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष तथा शोक एवं दया आदि (भाव) हैं - अर्थात् जिस विषय में काम आदि का उद्रेक होता है उसी विषय में चित्त की द्रवता होती है। फिर उस विषय के शान्त अर्थात् विषयान्तर के संचार होने पर कामादिकों का तिरोभाव हो जाता है, और फलतः चित्त भी पूर्ववत् कठिन हो जाता है।[3] चित्त-द्रुति के समय उसमें जिस वस्तु का अपना आकार पड़ता है, वही चित्त का संस्कार, वासना, भाव, भावना आदि कहा जाता है। जिस चित्त में द्रवत्व नहीं वह कठिन हो जाता है तथा उसमें किसी विषय की वासना नहीं पड़ती।[4] द्रवत्व दशा में चित्त में जो वस्तु प्रविष्ट होती है वह उसकी काठिन्य दशा तक रहती है तथा फिर अन्य द्रवीभाव की दशा में जब विषयान्तर का ग्रहण करती है, उस समय उस पूर्वप्रविष्ट वस्तु को नहीं छोड़ती अतएव उसे वासना कहते हैं। अतः जिस चित्त में द्रवावस्था में भगवदाकारता प्रविष्ट हुई, वह सदा उसकी वासना से कृतकृत्य हो जाता है।[5]

शेष - अत्र करणव्युत्पत्त्या प्रथम भक्तिशब्दो भागवत-
धर्मेषु प्रयुक्तः, द्वितीयस्तु भावव्युत्पत्त्या फले ।। (पृ० २२)

---

१. द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते । १।३
. . . . भगवद्धर्मा अत्र भगवद्गुण-श्रवणम् . . . . . .
. . . भगवद्गुणश्रवणेन वक्ष्यमाण- कामक्रोधाद्युद्दीपनद्वारा द्रवावस्थां प्राप्तस्य चित्तस्य धारावाहिकी या सर्वेशविषया वृत्तिःभगवदाकारतेत्यर्थः । तदाकारतैव हि सर्वत्रवृत्तिशब्दार्थो स्माकं दर्शने । सा भक्तिरित्यभिधीयते शास्त्रविद्भिः । पृ० ३५ ।)

२. चित्तद्रव्यं हि जतुवत् स्वभावात् कठिनात्मकम्
तापकैर्विषयैर्योगे द्रवत्वम्प्रतिपद्यते ।। १।४ ।।

३. कामक्रोधभयस्नेहहर्षशोकदयादयः ।
तापकाश्चित्तजतुनस्तच्छान्तौ कठिनं तु तत् ।। १।५।।
— यद्विषये कामादीनामुद्रेकस्तद्विषये चित्तस्य द्रवीभावः, पुनर्विषयान्तरसंचारादिना कामादितिरोभावे काठिन्यमेवेत्यर्थः । पृ० ३७

४. द्रुते चित्ते विनिक्षिप्तः स्वाकारो यस्तु वस्तुना ।
संस्कार-वासना-भाव-भावनाशब्दभागसौ ।। (शेष)

परमानन्दस्वरूप भगवान् स्वयम् जिस चित्त में द्रवावस्था में प्रविष्ट होते हैं वह चित्त तदाकारता प्राप्त कर लेता है। यह सम्बन्ध बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप है। अर्थात् भगवान् बिम्ब हैं और तदाकारितचित्त उनका प्रतिबिम्ब है। प्रतिबिम्ब ही स्थायीभाव बन कर रस रूपता अर्थात् परमानन्द साक्षात्कार प्राप्त करता है। बिम्ब उसका आलम्बन है। किन्तु बिम्ब प्रतिबिम्ब में ऐक्य की भी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ईश, जीव की भांति उनका भेद स्पष्ट व्यवहारसिद्ध है। स्थायीभाव, आलम्बनविभाव तथा रस-दशा ० तीनों का रूप एक ही है[१]।

शेष -स्थिरीभावमात्रंतु मनोगच्छत्यतापके: ।

न तत्र वस्तु विशति वासनात्वेन किंचन ।। १।६।७

५. द्रुतायां प्रविष्टं सद्यत् काठिन्यदशां गतम् ।

चेत: पुनर्द्रुतौ तत्यागपि तन्नैव मुञ्चति ।। १।८

एवं द्रवावस्थे चेतसि यद्वस्तुस्वरूपं प्रविष्टं सत् काठिन्यदशापर्यन्तं स्थितं तत् पुनर्द्रवीभावान्तरेणाविषयान्तरे गृह्यमाणे पि प्रकाशमानत्वाच्चेतसान त्यज्यते। अत: सा वासनेत्युच्यते ----------। एवम् यस्यैकदा द्रुते चित्ते भगवदाकारता प्रविष्टा स सर्वदा तदाकारतया तु कृतकृत्यो भवति। — पृ० ४०

---

१. भगवान् परमानन्दस्वरूपस्स्वयमेव हि ।

मनोगतस्तदाकारो रसतामेति पुष्कलम् ।।

१।१०

बिम्बमेव ह्युपाधिनिष्ठत्वेनप्रतीयमानं प्रतिबिम्बमित्युच्यते। परमानन्दश्च भगवान् मानसिप्रतिबिम्बितस्थायिभावतामासाद्य रसतामासादयतीति भक्तिरसस्य परमानन्दरूपत्वन्निर्विवादम्। नाप्यालम्बनविभावस्थायिभावयोरैक्यम्, बिम्बप्रतिबिम्बभावेन भेदस्यव्यवहारसिद्धत्वादीशजीवयोरिव — पृ० ४५

मधुसूदन की भक्ति का स्वरूप -सांख्यमत से -

इस प्रकार वेदान्तसिद्धान्त के अनुसार भक्तिरसैक्य का प्रतिपादन कर मधुसूदन अब सांख्यमत से भी रसस्वरूप का निरूपण करते हैं। सांख्यसिद्धान्त के अनुसार संसार की सभी वस्तुएं सत्त्व, रजस् तथा तमस् के सम्मिश्रण से निर्मित होने के कारण ही, सुख-दु:ख तथा मोहमय होती हैं। तो, किसी वस्तु का सत्त्व गैर अथवा सुखमय रूप जब द्रवावस्था में मानस में प्रविष्ट होता है उस समय वही स्थायीभाव बनकर रस दशा को प्राप्त करता है।[1] रस के पूर्वोक्त वेदान्त तथा सांख्य -दोनों मतों के मूल में यह सिद्धान्त काम करता है कि मन विषय के साथ संयोग पाने पर उस विषय के ही आकार का हो जाता है।[2] इसी प्रकार एक ही वस्तु पृथक्-पृथक् व्यक्तियों के मन में पृथक् आकार प्राप्त करती है -उदाहरणार्थ -एक ही मांसमय स्त्री-पिण्ड पत्नी, पुत्रवधू, ननद, जेठानी, माता आदि अनेक प्रकार के मनोमय रूपों को पृथक् पृथक् व्यक्तियों में प्राप्त करता है, उसी प्रकार एक ही पुरुष-पिण्ड जामाता, श्वसुर, पुत्र, पिता आदि अनेक रूप से ग्रहण किया जाता है -यह सब उसके मनोमय रूप हैं।[3] बाह्यपिण्ड के नष्ट हो जाने पर भी मनोमय रूप बना ही रहता है। अतएव विद्वानों ने इस मनोमय रूप को 'स्थायी' कहा है।[4]

---

१. एवं सति सुखाकार: प्रविष्टो मानसे यदा।
तदा स स्थायिभावत्वम्प्रतिपद्य रसोभवेत्। १।१८

२. गृह्णाति विषयाकारम्मनो विषययोगत:।
इतिवेदान्तिभि: सांख्यैरपि सम्यङ्निरूपितम्। १।२०

३. अतो मांसमयी योषित् काचिदन्या मनोमयी।
मांसमय्या अभेदे पि भिद्यते च मनोमयी।
भार्यास्नुषा ननान्दा च याता मातेत्यनेकधा।
जामाता श्वशुर: पुत्र: पितेत्यादि पुमानपि।। १।२६,२७

४. बाह्यपिण्डस्य नाशे पि तिष्ठत्येव मनोमय:।
अत: स्थायीति विद्वद्भिरयमेव निरूपित:।। १।२८

अब जब द्रुत मन विभु, नित्य, पूर्णबोधसुखात्मक भगवान् हरि को ग्रहण करलेता फिर क्या शेष बचता है ?[१] मन की द्रवत्व के अतिरिक्त काठिन्य दशा में कुछ ग्रहण नहीं होता । अत: विषयों की ओर तो मन को कठिन रहना चाहिए, किन्तु भगवच्चरणों में द्रुत रक्खे । इसके लिए भागवतादि पुराणों में तथा अन्यत्र शास्त्रों में उपाय निर्दिष्ट हुए हैं । क्योंकि सभी शास्त्रों का यही तो परमसिद्धान्त है कि विषयविमुख कर मन को ईश्वर के चरणों में लगाना[२]। वस्तुत: जिसका ध्यान किया जाय चित्त उसी में संसक्त होता है — विषयों का ध्यान करने से विषयों में तथा भगवच्चरणों का ध्यान करने से भगवान् में। अत: सदा हरि की भावना से तन्मय होकर मन को उन्हीं के चरणों में लीन रक्खे ।[३]

भक्तिरस का स्थायीभाव तथा उसके वैविध्य—

सो, द्रुत चित्त में प्रविष्ट होकर स्थिर होने वाली गोविन्दाकारता को भक्ति कहते हैं ।[४] और वही भक्तिरस का स्थायीभाव है ।[५] इस चित्तद्रुति के काम, क्रोध, भय

---

१. भगवन्तं विभुं नित्यं पूर्णबोध सुखात्मकम् ।
यद् गृह्णाति द्रुतं चित्तं किमन्यदवशिष्यते ।। १।३०

२. काठिन्यं विषये कुर्याद् द्रवत्वं भगवत्-पदे ।
उपायैः शास्त्रनिर्दिष्टैः रनुक्षणमतो बुधः ।। १।३२

एतावान् हि सर्वेषां शास्त्राणां रहस्यभूतो र्थो यद्विषयाकारतानिराकरणपूर्वकं चित्तस्य भगवदाकारतासम्पादनम् सर्वेषामपि शास्त्राणामत्रैवव्यापारभेदेन पर्यवसानात् ।
—पृ० ६३

३. विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येवप्रविलीयते ।।
तस्मादसदभिध्यानं यथास्वप्नमनोरथम् ।
हित्वा मयि समाधत्स्व मनो मद्भावभावितम् ।।
—श्री०भा० ११।१४।२७, २८

४. द्रुतेचित्ते प्रविष्टा या गोविन्दाकारता स्थिरा । सा भक्तिरित्यभिहिता । २।१

५. स्थायिभावगिरा तो सो वस्त्वाकारो भिधीयते । १।६

स्नेह, हर्ष, शोक, दया आदि कारणों के जितने भेद हैं भक्ति के भी उतने ही भेद होंगे [1]।

चित्तद्रुति के कारण —

सर्वप्रथम काम कारण का निरूपण करते हैं। शरीर के सम्बन्धविशेष की स्पृहया-लुता अर्थात् सुरतेच्छाशीलता को काम कहते हैं। [2] वह आलम्बन के सान्निधान तथा असान्निधान के अनुसार दो प्रकार का होता है। [3] उससे जन्य द्रुति में चित्त की जो श्रीकृष्णानिष्ठता होती है वह आलम्बन की सन्निधानवेला में संभोग तथा असन्निधान वेला में विप्रलम्भ रति कहलाती है। [4]

चित्तद्रुति का दूसरा कारण क्रोध है। ईर्ष्या के कारण चित्त के अभिज्वलन को क्रोध कहते हैं। तज्जन्य द्रुति में श्रीकृष्णानिष्ठता द्वेष कहलाती है। [5]

द्वेष कारण के बिना अपने अपराध (मन्यु) निमित्त से उत्पन्न जो चित्त की विकलता उसके कारण होने वाली चित्तद्रुति में जो श्रीकृष्ण निष्ठा रति उसे भय कहते हैं। [6]

स्नेह— दो प्रकार का होता है —एक वह जो पुत्रादि के प्रति होता है, तथा पाल्य-पालक-सम्बन्धरूप है, तथा दूसरा वह, जो सेव्य-सेवक-सम्बन्ध-रूप होता है। यह दूसरा सेव्य-सेवकसम्बन्ध वाला स्नेह भी तीन प्रकार का माना गया है —१. दास्य, २. सख्य तथा ३. मिश्रित। तो उस स्नेह के कारण द्रुतिशाली चित्त में जो कृष्णाकारता होती है वह यदि पाल्य-पालक-भाव से है तो उसे वत्सलरति कहते हैं, और यदि सेव्य-सेवक भाव से है तो प्रेयोरति कहते हैं। [7]

चित्त के समुल्लास को हर्ष कहते हैं—वह वैसे तो चार प्रकार का होता है, किन्तु उनमें जो परानन्दरूप हरि के प्रति माहात्म्य के कारण होता है उससे चित्त की द्रुति होने

---

१. चित्तद्रुतेः कारणानाम्भेदाद्भक्तिस्तु भिद्यते ।। २।२

२. कामः शरीरसम्बन्धविशेषस्पृहयालुता । २।३ ।

३. सन्निधानासन्निधानभेदैः स भवेद्द्विधा । २।३ ।

४. वही २।४

५. वही २।५

६. वही २।८

७. वही २।६-११

पर जो शुद्ध गोविन्दविषयारति होती है उसे हर्ष कहते हैं। शास्त्रों के साधनोपदेशों का यह चरमबिन्दु है।[१]

मधुसूदन ने हास, विस्मय, तथा उत्साह को भी हर्ष के ही तीन अन्य प्रकार बताये हैं, जो क्रमशः क्रीडाविकृतवाग्वेषचेष्टादि से, लोकोत्तरचमत्कारीवस्तु को देखकर तथा युद्ध-सम्मर्द से उत्पन्न होते हैं। उनके कारण चित्तद्रुति में श्रीकृष्णाकारनिष्ठा रति को क्रम से हास, विस्मय तथा उत्साह कहते हैं।[२]

इष्ट-विच्छेद से जो चित्त में क्लेश का उदय होता है उसके कारण चित्त की द्रुति को (जो श्रीकृष्णाकारनिष्ठारति उसे) शोक कहते हैं।[३]

चित्तद्रुति का ही हेतु जुगुप्सा भी है जो तीन प्रकार की होती है -- १. उद्वेगिनी, २. क्षोभिणी तथा ३. शुद्धा।[४] इसी प्रकार किसी भीतनीत की रक्षा के लिए सानुतापप्रवृत्ति दयोत्साह तथा स्वधर्मरक्षा के लिए प्रवृत्ति धर्मोत्साह भी चित्तद्रुति के कारण हैं। और चित्तवृत्तियों का वशीकरण अथवा काम स्पृहा-हीनता शम कहलाता है। यह भी चित्त द्रुति का एक हेतु है।[५] किन्तु ये पूर्वोक्त छहों भाव अन्य विषयों में होते हैं। इन्हें भगवद्विषयक नहीं माना गया है। अतः धर्मवीर, दयावीर, वीभत्स तथा शान्त --ये भाव भक्ति रस नहीं बन पाते।[६] उत्साह के दान-रूप को भक्तिरस में स्वीकार किया गया है।[७]

चित्त की जितनी द्रुतियां हैं उतने ही स्थायी भाव होते हैं तथा विभावादि का समाश्रय पाकर वे रस दशा को प्राप्त करती हैं।

---

१. वही २।१२।१३

२. वही, २।१५।१६

३. वही, २।१७

४. वही, २।१८,२०

५. वही, २।१४

६. धर्मोत्साहो दयोत्साहो जुगुप्सा त्रिविधाशमः।
   षडप्येते न्यविषया भगवद्विषया नहि ॥
   धर्मवीरो, दयावीरो, वीभत्सः शान्त इत्यमी।
   अतो न भक्तिरसतां यान्तिनिन्नरपदत्वतः। २।२७,२८

७. वही २।२१

भक्तिरस बनने तथा न बनने वाले भाव —

मधुसूदन का मत है कि ईर्ष्या एवं भय से उत्पन्न द्वेषभाव चाहे भगवद्विषयक ही क्यों न हों, भक्तिरस नहीं बन पाता, क्योंकि वह साक्षात् रति-विरोधी होता है। इस प्रकार शुद्ध रौद्र तथा रौद्रभयानक रस प्रीति विरोध के कारण, आस्वाद्य रस नहीं होते।[1]

अब जो रतिभाव भक्तिरस बन सकते हैं उनके भी दो प्रकार किये गये हैं —
१. मिश्रित, तथा २. शुद्ध। इनमें दो प्रकार का काम्य,-रतिभाव, क्रोध, हास, भय, विस्मय, युद्धोत्साह तथा दानोत्साह ये भाव भगवद्विषयक होकर भक्तिरस बनते हैं और शृङ्गार, करुणा, हास्य, प्रीतिभयानक अद्भुत, युद्ध वीर तथा दानवीर नाम से मिश्रित भक्तिरस कहे जाते हैं।[2] इसी प्रकार शुद्धरति, वत्सलरति तथा प्रेयोरति —ये तीन प्रकार की रतियाँ अन्य भावों से अमिश्रित होने के कारण अमिश्रा रति कही जाती हैं।[3] तन्मूलक भक्तिरस भी तीन प्रकार का होता है १. विशुद्ध, २. वत्सल तथा ३. प्रेयान्।[4] किन्तु शृङ्गारात्मक भक्तिरस यद्यपि अन्य भाव से मिश्रित रहता है तो भी शुद्ध मिश्र सभी प्रकार के भक्तिरसों से बलवत्तर कहा जाता है। क्योंकि उसी में रति का तीव्र, निष्प्रकार रूप देखने को मिलता है —

रसों के चारवर्ग —

इस प्रकार अन्त में मधुसूदन ने सभी रसों को चार वर्गों में विभक्त किया है — १. केवल संकीर्ण, २. संकीर्णमिश्रित, ३. केवल मिश्र तथा ४. शुद्ध।[5] इनमें रौद्र, रौद्र-भयानक, धर्मवीर, दयावीर, बीभत्स तथा शान्त ये (जो भक्तिरस नहीं बन सकते) केवल संकीर्ण कहे गये हैं। भगवद्भक्तिविषयक जो शृंगार आदि मिश्र भक्तिरस कहे गये हैं वे ही जब भगवदितरविषयक होते हैं तो संकीर्णमिश्रित कहे जाते हैं तथा भगवद्विषयक होकर तो केवल मिश्रित प्रसिद्ध ही हैं। और शुद्धरस भी विशुद्ध वत्सल, प्रेयान् पहिले ही

---

१. ईर्ष्याभयजद्वेषो भगवद् विषयावपि।
न भक्तिरसतां यातः साक्षाद्रतिविरोधितः। २।२६
शुद्धो रौद्ररसस्तत्र तथा रौद्रभयानकः।
नास्वाद्यः सुधिया प्रीतिविरोधेन मनागपि। २।३०

२. वही २।३१।३३

३. वही, २।३४

४. वही, २।३५

५. वही, २।३७

कहे जा चुके हैं ।[1]

भक्ति के अन्य दृष्टि से भेद —

उन्होंने एक अन्य प्रकार से भेद करने पर भक्ति को चार प्रकार का बताया है — १. राजसी, २. तामसी, ३. शुद्ध सात्त्विकी तथा ४. मिश्रिता । इनमें जो ईर्ष्यादिजन्य द्वेष से उत्पन्न हो वह राजसी, भयजन्य और द्वेष से उत्पन्न होने वाली तामसी, हर्ष से उत्पन्न होने वाली शुद्धसत्त्वोत्था तथा कामक्रोधादि भावों से उत्पन्न होने वाली मिश्रिता कही गयी है ।[2]

पूर्वोक्त चार प्रकार की भक्ति फिर —१. दृष्टफला, २. अदृष्टफला तथा ३. उभयफला इस भेद से तीन प्रकार की होती है ।[3] इनमें राजसी तथा तामसी भक्ति तो केवल अदृष्टफला है, मिश्रिता भक्ति उभयफला होती है तथा शुद्धसत्त्वोद्भवा भक्ति दृष्टफला है ।[4] किन्तु भगवान् के प्रति रजस् तथा तमस् अंश के प्रबल रहने पर भक्ति सुख देने वाली नहीं होती । शिशुपाल, कंस तथा आधुनिक पाशुपत आदि मतों की यही दशा है ।[5] वस्तुतस्तु रजस् एवं तमस् से रहित भगवद्विषयक मति ही सचमुच सुखाभिव्यंजक होने के कारण रति कही जाती है ।[6]

मधुसूदन का भक्तिपुरुषार्थ —

इस पूर्वोक्त समस्त विवेचन में एक विशिष्टता दिखायी पड़ती है कि मधुसूदन के

---

१. वही २।३८,४०

२. २।४१-४२

३. भक्तिश्चतुर्विधा ह्येषा भगवद्विषया स्थिरा ।
 दृष्टादृष्टोभयफला भक्तिस्त्रिधा भवेत् ।। २।४४

४. राजसी तामसी भक्तिरदृष्टफलमाभवेत् ।
 दृष्टादृष्टोभयफला मिश्रिताभक्तिरिष्यते ।। २।४५
 शुद्ध सत्त्वोद्भवा चैव सा कौषवस्मदादिषु ।
 दृष्टमात्रफला सा तु शुद्धेषु सनकादिषु ।। २।४६

५. वही २।५२।५६

६. रजस्तमोविहीना तु भगवद्विषया मतिः ।
 सुखाभिव्यञ्जकत्वेन रतिरित्यभिधीयते ।। २।५८

अनुसार शान्तरस एवं मोक्षपुरुषार्थ के वे अधिकारी हैं जो अद्रुतचित्त हैं। भक्ति स्वयं एक पृथक् पुरुषार्थ है। अतः उन्होंने भक्ति के क्षेत्र से शान्त को अलग रक्खा । रूप-गोस्वामी आदि पूर्व के आचार्यों ने शान्त को भक्ति रस में सम्मिलित किया था । इसी प्रकार उन्होंने धर्मवीर तथा दयावीर को भक्ति से, उनके आलम्बन में पार्थक्य के कारण, बाहर कर दिया, तथा रौद्र, भय तो प्रेम के विरोधी ही है और द्वेष में तो द्रुति होती ही नहीं। अतः ये भी भक्ति के क्षेत्र से बहिर्भूत हैं।

परिशिष्ट

हिन्दी साहित्य में शृङ्गार-रस-मीमांसा

हिन्दी साहित्य में शृङ्गार-रस-मीमांसा

संस्कृत-साहित्य में शृङ्गाररस का स्थान—

संस्कृतसाहित्य में प्रायः सर्वत्र हमें शृं०र० के दर्शन मिलते हैं, कहीं प्रधान प्रतिपाद्य विषय अथवा अङ्गी के रूप में कहीं अङ्ग के रूप में, कहीं प्रधान विषय को केवल रुचिकर बनाने के लिए और कहीं काव्यशोभा देने के लिए ही। है वह सर्वव्यापक ही। वाल्मीकि, व्यास, भास, नल, अश्वघोष, कालिदास, भारवि, माघ, अमरुक, बिल्हण, रत्नाकर, मङ्खक, श्रीहर्ष, सुबन्धु, बाण, दण्डी, हर्ष, भवभूति, राजशेखर, भर्तृहरि, जयदेव, जगन्नाथ आदि सिद्धरस महाकवियों की कृतियों में शृङ्गाररस की पावन अमृतधारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित दिखाई पड़ती है। साथ ही वेदों, वेदाङ्गों दर्शनों तथा अन्य शास्त्र ग्रन्थों में उन-उन विषयों के प्रतिपादन के प्रसङ्ग में विषय को सुबोध एवं हृद्य बनाने के लिए आचार्यों ने शृङ्गाररस सम्बन्धी उक्तियों की शरण ली है। क्योंकि मानवमात्र शृङ्गार की बातें समझता है तथा प्राणी-मात्र इसकी क्रिया जानता है। फिर यहां तक कि ईश्वर को भी इसका आलम्बन बनाने पर सुगम एवं सुलभ पाया गया और यही शृङ्गार भक्ति की नौका बन कर भवसागर से पार करने लगा। इस प्रकार इसके तीन रूप अथवा श्रेणियां देखी गयी हैं — १. नीच-रूप जो भवसागर में डुबाता है, जो वासनारूप है, जो ग्राम्य एवं हेय कहा गया है; २. समरूप, जो उत्तम प्रकृति के मानवों का रहता है, तथा जो भवसागरविहार का सुख देता है; और ३. उच्च रूप, जो ईश्वर के प्रति होता है, जो आध्यात्मिक हो जाता है, जो भक्ति कहलाता है, तथा जो भवसागर के पार करने वाला माना गया है।

जीवन में शृङ्गार—

सांसारिक जीवन में शृङ्गारप्रधान है। इसी कारण समस्त साहित्य ग्रन्थों में शृङ्गाररस का पूर्ण प्रसार एवं प्रकर्ष पाया जाता है। सांसारिकता का आधार गृहस्थजीवन है। गृहस्थ-जीवन पुत्र-कलत्र पर अवलम्बित है, और पुत्र कलत्रादि मूर्तिमान् शृङ्गार ही हैं। अतएव सांसारिकता का सम्बन्ध शृङ्गार है। विश्व के जितने हास-विलास वाञ्छनीय हैं, जितने केलिकलाप कमनीय हैं, जितनी लीलायें लोकप्रिय एवं ललित हैं, जितने आचार विचार और व्यवहार प्रशंसनीय हैं, वे प्रायः सबके सब शृङ्गाररस में अन्तर्हित हो जाते हैं।

शृङ्गार में हिन्दी का उत्तराधिकार—

संस्कृतसाहित्य में शृङ्गार की पूर्वोक्त तीनों श्रेणियों की रचनाएं देखने को

मिलती है, किन्तु अधिक मात्रा सम एवं उच्च कोटि के ही शृंगार की है, अधम अथवा ग्राम्यशृंगार वहां अतिशय हेय तथा काव्य की दृष्टि से सदोष माना जाता था। अत: संस्कृत में उसकी रचना अतिस्वल्प अथवा नहीं के बराबर हुई है। कुछ प्राकृत एवं अपभ्रंश की फुटकल रचनाओं में वह देखा जा सकता है। हिन्दी को तो संस्कृत साहित्य की बहुत सी परम्पराएं उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुईं। वास्तव में हिन्दी का शृंगारसाहित्य एक प्रकार से संस्कृत साहित्य का ही मूलित संशोधित एवं परिवर्द्धित रूप है। हिन्दी की रीतिरचना का युग बहुत कुछ संस्कृत काव्य-शास्त्र के रसवादी आचार्यों का समकालिक तथा समनन्तरकालिक रहा है। अत: उनके मतों से उसका प्रभावित होना भी स्वाभाविक था। शृंगार के विषय में हिन्दी के उन रीतिकालीन आचार्य कवियों का श्लाघ्य योगदान रहा - विचाररूप में तो कम किन्तु काव्यरूप में अधिक। अत: उनका संक्षेप में पर्यवेक्षण करना अनुपयुक्त न होगा।

हिन्दी में रीतिकाल -

हिन्दी में 'रीति' का प्रयोग साधारणत: लक्षणग्रन्थों के लिए होता है: जिन ग्रन्थों में काव्य के विभिन्न अङ्गों का लक्षण-उदाहरणादि विवेचन होता है, उन्हें 'रीतिग्रन्थ' कहते हैं, और जिस वैज्ञानिक पद्धति पर जिस विधान के अनुसार यह विवेचन होता है उसे रीति-शास्त्र कहते हैं। संस्कृत में इसे अलङ्कारशास्त्र अथवा काव्य-शास्त्र ही प्राय: कहा गया है। रीति का संस्कृत में एक विशेष अर्थ है और उसे एक विशेष सम्प्रदाय के लिए ही प्रयुक्त किया गया है। रीति का अर्थ वही है, 'विशिष्ट पद-रचना।'[1] किन्तु हिन्दी साहित्य में काव्यरचना सम्बन्धी नियमों के विधान को ही सम्भवत: रीतिनाम दे दिया गया है। जिस ग्रन्थ में रचना सम्बन्धी नियमों का विवेचन हो वह रीतिग्रन्थ और जिस काव्य की रचना इन नियमों से आबद्ध हो वह रीति-काव्य है। रीति शब्द का इस अर्थ में प्रयोग हिन्दी की अपनी विशिष्टता है। रीतिकाल के अनेक कवियों ने प्राय: आरम्भ से ही 'काव्य की रीति', 'कवित-रीति' आदि शब्दों का प्रयोग स्पष्टत: इसी अर्थ में किया है।[2]

---

१. रीतिकाव्य की भूमिका - डा० नगेन्द्र, पृ० १४३

२. "काव्य की रीति सिखीसुकवीन सों, देखी सुनी बहुलोक की बातें"

-दासकाव्य निर्णय।

"कविरीति कछु करत हैं व्यंग्य अर्थ चितलाय" - प्रतापसाहि व्यंग्यार्थकौमुदी।

हिन्दी के आचार्य-कवि -

संस्कृत काव्यशास्त्र को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ अलंकारग्रन्थों के प्रणेता प्राय: आचार्यरूप में दिखाई पड़ते हैं कवि रूप में नहीं । वहाँ प्राय: कवि तथा आचार्य की भिन्न भिन्न श्रेणियाँ रहीं । आचार्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का खण्डन-मण्डन करते थे । इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनमें अनेक उच्चकोटि के कवि भी थे । कुछ ने सिद्धान्तविवेचन के पश्चात् उदाहरण रूप में अपनी ही कृतियों को प्रस्तुत किया दण्डी, उद्भट, रुद्रट, विश्वनाथ, विद्याधर, पण्डितराज आदि कुछ ऐसे ही आचार्य कवि हुए हैं । इसी परम्परा में 'चन्द्रालोक' के रचयिता जयदेव हुए, जिन्होंने लक्षण तथा उदाहरण एक ही, अनुष्टुप् छन्द में प्रस्तुत किया तथा गद्य का एकदम बहिष्कार कर दिया । हिन्दी के रीतिकार आचार्य कवियों ने प्राय: जयदेव वाली परम्परा का अनुसरण किया । किन्तु इस एकीकरण का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा । आचार्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्यालोचन शक्ति की अपेक्षा होती है उसका विकास नहीं हुआ । कवि लोग एक दोहे में अपर्याप्त लक्षण देकर अपने कवि कर्म में प्रवृत्त हो जाते थे । काव्यांगों का विस्तृत विवेचन, तर्क द्वारा खण्डन-मण्डन, नये-नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन आदि कुछ भी न हुआ । इसका कारण यह भी था कि उस समय हिन्दी गद्य का विकास नहीं हुआ था । जो कुछ लिखा जाता था वह पद्य में ही लिखा जाता था । पद्य में किसी बात की सम्यक् मीमांसा या उस पर तर्क-वितर्क हो नहीं सकता । इस अवस्था में चन्द्रालोक वाली पद्धति ही सुगम दिखाई पड़ी कि एक श्लोक या एक चरण में ही लक्षण कहकर छुट्टी ली । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हिन्दी में लक्षणग्रन्थ की परिपाटी पर रचना करने वाले जो सैकड़ों कवि हुए वे आचार्य कोटि में नहीं आ सकते थे । वे वास्तव में कवि ही थे । उनमें आचार्यत्व के गुण नहीं थे । उनके अपर्याप्त लक्षण साहित्यशास्त्र का सम्यक् बोध कराने में असमर्थ हैं ।

और जब हिन्दी में काव्यांगों का स्वतंत्र विवेचन ही नहीं हुआ तब तरह तरह के वाद कैसे प्रतिष्ठित होते ? संस्कृत साहित्य में जैसे, अलंकारवाद , रीतिवाद , रसवाद, ध्वनिवाद, वक्रोक्तिवाद इत्यादि अनेक वाद पाये जाते हैं, वैसे वादों के लिए हिन्दी के रीति-क्षेत्र में रास्ता ही नहीं निकला । केशव को ही काव्य में अलंकार आवश्यक मानने के कारण अलंकारवादी कह सकते हैं । किन्तु उनके पश्चात् होने वाले आचार्य-कवियों ने किसी वाद का निर्देश नहीं किया । वे रस को ही काव्य की आत्मा या प्रधान वस्तु मानकर चले ।

इन रीति-ग्रन्थों के कर्ता भावुक, सहृदय तथा निपुण कवि थे। उनका प्रधान उद्देश्य कविता करना होता था, न कि काव्याङ्गों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों (विशेषतः शृङ्गाररस) और अलङ्कारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यन्त प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए।

हिन्दी के शृङ्गाररस-ग्रन्थ —

ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण-ग्रन्थों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी। अलङ्कारों की अपेक्षा नायिका-भेद की ओर कुछ अधिक झुकाव रहा। इससे शृङ्गाररस के अन्तर्गत बहुत सुन्दर मुक्तक-रचना हिन्दी में हुई। इस रस का इतना अधिक विस्तार हिन्दी साहित्य में हुआ कि इसके एक-एक अङ्ग को लेकर स्वतन्त्र ग्रन्थ रचे गये। इस रस का सारा वैभव कवियों ने नायिका-भेद के भीतर दिखाया। रसग्रन्थ वास्तव में नायिकाभेद के ही ग्रन्थ हैं जिनमें और दूसरे रस पीछे से संक्षेप में चलते कर दिये गये हैं। नायिका शृङ्गार रस का आलम्बन है। इस आलम्बन के अङ्गों का वर्णन एक स्वतन्त्र विषय हो गया और न जाने कितने ग्रन्थ केवल नखशिखवर्णन के लिखे गए। इसी प्रकार उद्दीपन के रूप में षड्ऋतु वर्णन पर भी कई अलग पुस्तकें लिखी गयीं। विप्रलम्भसम्बन्धी 'बारहमासे' भी कुछ कवियों ने लिखे।[1]

रीतिग्रन्थों का विकास अधिकतर अवध में हुआ। अतः इस काल में काव्य की ब्रजभाषा में अवधी के प्रयोग और अधिक मिले। इस काल में कविता तो शृङ्गार के साथ वीररस की भी हुई किन्तु प्रधानता शृङ्गार की ही रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई शृङ्गारकाल कहे तो कह सकता है। शृङ्गार के वर्णन को बहुतेरे कवियों ने अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा दिया था। इसका कारण जनता की रुचि नहीं, आश्रयदाता महाराजाओं की रुचि थी जिनके लिए कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।[2]

हिन्दी में शृङ्गार की व्यापकता —

हिन्दी का कदाचित् ही कोई कवि हो, जिसकी रचनायें शृङ्गाररसान्तर्गत न आ सकती हों। वात्सल्य शृङ्गार ने सूरदास जैसे महात्मा कवि दिए। ईश्वरीय

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल

२. वही।

शृङ्गार की सबसे महान् विभूति गोस्वामी तुलसीदास हैं। दाम्पत्य शृङ्गार ने रीतिकालीन सामान्य कवि उत्पन्न किये, जिन्होंने समस्त साहित्यसागर का मन्थन ही कर डाला और मणिमुक्ता के अतिरिक्त सीप और घोंघे भी एकत्र कर डाले।

"शृङ्गाररस में प्राय: अन्य समस्त रसों का साम्य हो जाता है —कुछ का उसके संयोग रूप में, कुछ का वियोग रूप में। दो विभाग होने से शृङ्गार रस का क्षेत्र अत्यन्त अविस्तृत और व्यापक हो जाता है। सुख और दु:ख के अतिरिक्त संसार में है ही क्या और ये दोनों ही 'शृङ्गार' की अधीन हैं।"[1]

रीतिकाल की अवधि -

संस्कृत में अलङ्कारशास्त्र की रचना-परम्परा का क्रम १७ वीं सदी के अन्त तथा १८ वीं सदी के प्रथम पाद तक चलता रहा। संस्कृत की यह परम्परा हिन्दी को उत्तराधिकार के रूप में मिली। हिन्दी साहित्य की अलङ्कारशास्त्र के लक्षण-ग्रन्थ सहित काव्यरचना का यह युग 'रीतिकाल' विशिष्टरूप से प्राय: १७ वीं सदी के मध्य से प्रारम्भ हो कर १८ वीं सदी के मध्य तक चलता रहा। वास्तव में तो हिन्दी के रीतिकाल का अध्याय अथवा लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा न तो कोई आकस्मिक घटना ही थी और न कोई नवीन उद्भावना ही। वह तो एक प्राचीन परम्परा का नियमित विकास थी, जिसके अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी के भक्तिकाल में क्रमिक विकास होते रहे।"[2]।

रीतिकाव्य के आश्रयदाता -

हिन्दी साहित्य की यह रीतिकालीन कविता वास्तव में राजाओं और रईसों के आश्रयमें ही पली है। रीतिकाल का आरम्भ ही तब हुआ जब औरङ्गजेब की मृत्यु के पश्चात् दिल्ली दरबार का आकर्षण कला-विदों के लिए कुछ नहीं रह गया था। केन्द्रशक्ति के विघटित होने पर छोटे छोटे राजे-महाराजे स्वतन्त्र हो गये। कवि, चित्रकार, गायक और शिल्पी सभी उन राजाओं तथा रईसों के यहां आश्रय की खोज में भटकने लगे। ये राजा और रईस अधिकांशत: हिन्दू या हिन्दू रीति-रिवाजों से घुले-मिले हिन्दी-रसिक मुसलमान थे। कुछ स्वनामधन्य महाराजाओं को छोड़ कर शेष सभी

1- ए स्टडी आफ इरोटिक सेन्टीमेन्ट इन हिन्दी पोयेट्री- पृ० ५१५

2. हिन्दी साहित्य का इतिहास।

का जीवन सामाजिक राजनीति से पृथक् मकार और विलास का जीवन था । दिल्ली का रहते गी ना इस समय इतने गौरवता के बीच ऐश और आराम में मस्त था तो इन राजा और रईसों को तो चिन्ता तथा संघर्ष कम और अवकाश एवं विलास का अवसर कहीं अधिक था । अतएव ये लोग, चाहे छोटे पैमाने पर ही सही, दिल्ली राजदरबार की प्रतिच्छाया थे । शताब्दियों के पारतन्त्र और उत्पीड़न के उपरान्त अब वह समय आ गया था जब इनमें आत्मगौरव की चेतना निःशेष हो चुकी थी--इसलिए तो विप्लव और उत्क्रान्ति के युग में भी ये लोग चैन की वंशी बजा सकते थे । जीवन के प्रति इनका दृष्टिकोण सर्वथा ऐहिक और सामन्तीय रह गया था । परन्तु ऐहिकता और सामन्तवाद की शक्ति थी अब उनमें नहीं थी केवल भोगवाद ही शेष था ।

अतएव ये लोग भोग के सभी उपकरणों को — विनोद के सभी रसालाओं को एकत्र करने में प्रयत्नशील रहते थे । जिनमें सुन्दरी, सुराही और प्याला के साथ-साथ तानतुकताला और गुणीजनों का रसकाव्य भी सम्मिलित था । कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सभी में कविता सबसे अधिक परिष्कृत उपकरण थी —वह केवल विनोद का रसाला ही नहीं थी, एक परिष्कृत बौद्धिक आनन्द का साधन तथा व्यक्तित्व का शृंगार भी थी । ये राजा और रईस अपनी संस्कृति और अभिरुचि को समृद्ध करने के लिए रससिद्ध व्युत्पन्न कवियों का सत्सङ्ग और काव्य का आस्वादन अनिवार्य समझते थे — उससे उनका व्यक्तित्व कलात्मक एवं संस्कृत बनता था । रीतिकाल के कवि भी, वे आश्रित थे जिनको प्रायः साहित्यिक अभिरुचि पैतृक परम्परा के रूप में प्राप्त थी — काव्य का परिशीलन और सृजन (के) इनका स्वतः नहीं स्थायी कर्तव्य-कर्म था ।"[१]

रीतिकाव्य का लक्ष्य—

इन रीतिकालीन आचार्य कवियों का वास्तविक लक्ष्य मौलिक सिद्धान्त प्रतिपादन करना नहीं था । इनका प्रथम उद्देश्य तो सरस काव्य की रचना करना था, और दूसरा था शौकीन-मिजाज राजा, रईसों और रसिक नागरिकों को काव्याङ्गों का साधारण ज्ञान करा देना, इनके अतिरिक्त किसी किसी का उद्देश्य पाण्डित्य प्रदर्शन भी था ।[२] और इसलिए उनकी दृष्टि ऐसे ही संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों की ओर गयी जो बिना शास्त्रार्थपूर्वक सिद्धान्त-स्थापन किये, संक्षेप में केवल पद्य में ही एक पंक्ति में लक्षण देकर सरस उदाहरण प्रस्तुत करते थे, जैसे चन्द्रालोक आदि ।

---

१. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० १४६, डा० नगेन्द्र

२. डा० नगेन्द्र ।

रीति-ग्रन्थों की निरूपण शैलियाँ -

इस प्रकार हिन्दी के रीतिग्रन्थों का पर्यवेक्षण करने पर उनमें तीन प्रकार की निरूपण शैली प्रयुक्त दिखायी पड़ती है - १. काव्य के सभी अङ्गों पर थोड़ा प्रकाश डालने वाली शैली २. शृङ्गारतिलक, रसमंजरी आदि की शृङ्गाररसम्बन्धी नायिका भेद वाली शैली, जिसमें केवल शृङ्गार के विभिन्न अङ्गों, विशेषतः नायिकाभेद का ही निरूपण किया गया है, तथा ३. चन्द्रालोक की सांङ्गोपाङ्ग अलङ्कार-निरूपण शैली, जिसमें अलङ्कारों के ही सांङ्गोपाङ्ग लक्षण तथा उदाहरण दिये गए हैं।

काव्याङ्ग-निरूपण शैली -

" पहली श्रेणी में सेनापति का काव्य-कल्पद्रुम, चिन्तामणि के दो ग्रन्थ कविकुल-कल्पतरु' और काव्यविवेक', कुलपतिमिश्र का 'रस-रहस्य' देव का 'काव्य-रसायन' 'सुरतिमिश्र का 'काव्य सिद्धान्त', श्रीपति का 'काव्यसरोज' दास का 'काव्य -निर्णय', सोमनाथ का 'रस-पीयूष-निधि', कुमार मणि भट्ट का 'रसिक-रसाल', रतन कवि का 'फतेहभूषण' जनराज कवि का 'साहित्य...', प्रतापसाहि का 'काव्यविलास' और रसिक गोविन्द का 'रसिकगोविन्दानन्द-घन' सदृश सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ आते हैं। इनके अतिरिक्त काव्यप्रकाश के कुछ अनुवाद भी हुए।[१]

नायिकाभेद-निरूपण-शैली -

द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत वे ग्रन्थ आते हैं जिनका प्रतिपाद्य विषय केवल शृङ्गाररस ही है। ऐसे ग्रन्थ हैं - केशव की रसिकप्रिया, मतिराम का 'रसराज' सुखदेव मिश्र के 'रसरत्नाकर' और रसार्णव, देव के 'भावविलास' 'रसविलास' 'भवानी विलास', सुजानविनोद' आदि, कवीन्द्र का 'रसचन्द्रोदय', दास का 'रसनिर्णय, तोष का 'सुधानिधि', बेनी प्रवीन का 'नवरसतरंग', पद्माकर का जगद्विनोद इत्यादि। इन ग्रन्थों के आधार प्रधानतया रुद्रभट्ट का 'शृङ्गारतिलक' तथा भानुदत्त की 'रसतरंगिणी' एवं रसमञ्जरी' रहे हैं। इन हिन्दी रीति-ग्रन्थों में प्रधानतया शृङ्गाररस का ही निरूपण किया गया है। अन्य रसों का उल्लेख तो ~~xxxxx~~ ग्रन्थपूर्ति के लिए ही हुआ है।

---

१. री०का०भू०, पृ० १४८

इन सभी आचार्यों ने एकस्वर से शृङ्गार को सभी रसों का राजा माना है।[१]

अपने ग्रन्थों में इन आचार्यों ने शृङ्गार की प्रधानता कई रूप से प्रतिपादित की है। केशव जैसे कुछ कवियों ने अन्य रसों का भी समाहार शृङ्गार में कुशलता से कर दिखाया है। 'रसिकप्रिया' में हास्य, अद्भुत आदि मित्र रसों का ही नहीं, भयानक, बीभत्स आदि अमित्र रसों का भी उसके अन्तर्गत समाहार कर दिया है। इसी प्रकार देव तथा बेनीप्रवीन ने भी करुण, रौद्र, वीर और भयानक का शृङ्गार-विमिश्रित वर्णन किया है। वास्तव में ये प्रयत्न कुछ सीमा तक ही सफल हुए हैं और हो सकते हैं। इनकी अपेक्षा मतिराम आदि ने अन्य रसों की सर्वथा उपेक्षा कर अधिक विवेक का परिचय दिया है। मतिराम ने अपने रसराज में केवल शृङ्गार का ही वर्णन और चित्रण किया है।

इन ग्रन्थों में शृङ्गार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का सम्यक् निरूपण मिलता है। संयोग के अन्तर्गत नायक-नायिका (आलम्बन) सखी, दूती एवं षट् ऋतु (उद्दीपन) और उसके अनुभाव, सात्त्विकभाव, नायिकाओं के स्वभावज अलङ्कार आदि मनोहर वर्णन विस्तारपूर्वक अत्यन्त मनोनिवेश के साथ किया गया है। वियोग पक्ष में पूर्वानुराग, मान, प्रवास आदि विभिन्न भेद, पूर्वानुराग के श्रवण, चित्रदर्शन, प्रत्यक्ष-दर्शन आदि साधन, मानमोचन के अनेक उपाय और वियोग-जन्य कामदशाएं आदि वर्णित और अङ्कित हैं। संयोग और वियोग में इन कवियों की वृत्ति संयोग में ही अधिक रमी है। और उसमें भी सबसे अधिक महत्त्व दिया है नायिकाभेद को, क्योंकि इन कवियों की रसवृत्ति का अन्य प्रसङ्गों की अपेक्षा नारी के रूप-भेदों से ही अधिक सीधा सम्बन्ध था।[२]

१.(१) केशव दास हरिनायक है शृङ्गार' —केशव- रसिकप्रिया

(२) रसइनिसाररसिंगाररस, प्रेमसार सिंगार' — देव-शब्दरसायन।

(३) स्याम बरण ब्रजराजपति, थाई है रति भाव।
ताहिकहत सिंगार है, सकल रसन को राव।। —बेनीप्रवीन —नवरसतरंग।

(४) नवरस में सिंगार रस सिरै कहत सब कोई। —पद्माकर—जगद्विनोद।

२. रीoकाoभूo; पृo १५३

(क) शृङ्गार की तीन परम्परायें —

एकदृष्टि में हिन्दी के शृङ्गारसाहित्य में संस्कृत की तीन परम्पराओं की त्रिवेणी (त्रि-धारा) बहती दिखायी पड़ती है — १. गाथा सतसई, अमरुशतक, शृङ्गारतिलक वाली (रीति) मुक्तक परम्परा, २. चण्डीशतक, पुनासिम्बशती, गीतगोविन्दआदि, (पारलौकिक) स्तोत्र परम्परा तथा ३. रसमञ्जरी, रसिकरहस्य, अनङ्गरङ्ग आदि वाली, नायिका भेद वाली परम्परा।

(ख) नायिका-वर्णन से ही ग्रन्थारम्भ —

नायक-नायिका वाली शैली भी उन तीनों में प्रधान रही । नायक-नायिका शृङ्गार के आलम्बन हैं, अतएव उचित क्रम तो यह होना चाहिए कि पहिले रस के स्वरूप भेद, स्थायी आदि का वर्णन करने के उपरान्त विभाव के अन्तर्गत नायिकाभेद का वर्णन हो । परन्तु इनमें बहुत से कवियों ने बिना किसी प्रकार के सङ्कोच अथवा दम्भ के नायिका भेद से ही अपने ग्रन्थों का आरम्भ कर दिया है, और उसका कारण यह दिया है कि — सब रसों में मुख्य है शृङ्गाररस और शृङ्गार आलम्बित है नायक और नायिका पर, अतएव सबसे पूर्व उसी का वर्णन किया जाता है[1]—

देव ने तो नायिका और नायक को साक्षात् माया और ब्रह्म ही कह दिया है ।[2]

सङ्क्षिप्त अलङ्कारनिरूपण-शैली —

तीसरी शैली चन्द्रालोक तथा कुवलयानन्द के अनुकरण पर अलंकारनिरूपण की सङ्क्षिप्त शैली है । इसका आरम्भ तो सम्भवत: करनेस के `श्रुतिभूषण` आदि ग्रन्थों से हुआ था, किन्तु इसको वास्तविक प्रतिष्ठा महाराज जसवंत सिंह के `भाषाभूषण` से मिली । इस सङ्क्षिप्त पद्धति के अनुकरण पर हिन्दी में अनेक उपयोगी अलङ्कारग्रन्थों का निर्माण हुआ — जिनमें सूरतिमिश्र कृत `अलंकारदीपक` `अलंकारमाला`

---

१. (१) होत नायका-नायकहिं, आलम्बित शृङ्गार ।
तातें बरणौं नायका, नायक मति अनुसार । (मतिराम-रसराज)

(२) सुरस नायिका नायकहि, आलम्बित है सोई ।
तातें प्रथमहि नायिका, नायक कहत बनाइ ।।
जुगति जथामति आपनी, सुकविन कौं सिर नाइ ।।
— पद्माकर-जगद्विनोद ।

२. मायादेवीनायिका, नायकपुरुष आप`

रसिकसुमति का 'अलंकार चन्द्रोदय', भूपति का 'कंठाभूषण', शम्भुनाथ मिश्र का 'अलंकारदीपक', ऋषिनाथ रचित 'अलंकार-मणि-मञ्जरी', बैरीसाल का 'भाषाभरण' नामक ग्रन्थ तथा महाराज रामसिंह के 'अलंकारदर्पण' तथा पद्माकर - कृत 'पद्माभरण' आदि उल्लेखनीय हैं। इन सभी ग्रन्थों का लक्ष्य स्वीकृत रूप से अलङ्कार-निरूपण ही है —काव्य-रचना नहीं।

उदाहरणप्रधान शैली —

पूर्वोक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त एक दूसरा वर्ग ऐसे ग्रन्थों का है जिनकी अलङ्कार-निरूपण-दृष्टि इनसे सर्वथा विपरीत है। इस वर्ग में मतिराम के 'ललित-ललाम' भूषण के 'शिवराजभूषण', रघुनाथ के 'रसिकमोहन,' दूलह के 'कविकुल-कण्ठाभरण' दत्त के 'लालित्यलता', ग्वाल के 'रसिकानन्द' और प्रताप सिंह के अलङ्कार चिन्तामणि' आदि की गणना की जा सकती है। इनके रचयिताआचार्यों ने अलङ्कार-लक्षणों की अपेक्षा उदाहरणों को अधिक महत्त्व दिया। इनका प्रधान लक्ष्य अलङ्कार-निरूपण नहीं था।

रीतिकालीन ~~की~~ रचनाओं में शृङ्गार का साङ्गोपाङ्ग-निरूपण —

किन्तु यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि रीतिकालीन रचनाओं में शृङ्गार-रस का अपूर्व विवेचन हुआ है। शृङ्गाररस के सभी अवयवों का सफल चित्रण किया गया है। शृङ्गाररस को देखने की जितनी भी दृष्टियाँ हो सकती हैं, इन कवि-गणों ने उनसबसे उसका कलापूर्ण विवेचनात्मक वर्णन किया है। उनमें भी उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत ऋतुवर्णन तथा नख-शिख वर्णन और आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नायिकाभेद निरूपण की ही प्रधानता रही। ऋतुवर्णन तथा नखशिखवर्णन में यद्यपि परम्पराओं का निर्वाह अधिक हुआ है, परन्तु नायिकाभेद-कथन में कविजनों ने सफल मनोवैज्ञानिक विवेचन किए हैं और मौलिक उद्भावनायें भी की हैं।

नायिकानिरूपण में राधाकृष्ण के समावेश का प्रभाव —

नायिका-भेद-वर्णन के अन्तर्गत स्त्री-पुरुष के विचारों, भावों एवं मनोदशा के चित्रण के अतिरिक्त हमें भारतीय कुल-ललनाओं के त्याग एवं अद्भुत प्रेम के पवित्र और महान् स्वरूप भी देखने को मिलते हैं। इन वर्णनों में राधा-कृष्ण के समावेश ने भक्ति के स्वरूप को अवश्य ही विकृत किया, किन्तु हिन्दी-जन-जीवन में एक नवीन उत्साह का संचार किया, , हिन्दू जाति को नवकिसलय युक्त मधुर जीवन प्रदान

करके उसे सरस सुलभ्य बनाया और उसने उदासीन हृदयों में नवोल्लास का सञ्चार करके निरुत्साह व्यक्तियों को नवीन प्रेरणायें प्रदान कीं । हिन्दी के रीतिकाल की शृङ्गार रसपरक रचनाएं सकारण, सार्थक और साभिप्राय हुई थीं । वे हिन्दी साहित्य सागर की अक्षय निधि हैं ।"[१] किन्तु "कृष्ण और राधिका के नाम प्रारम्भ से ही सामान्य नायक और नायिका के पर्यायवाची नहीं बन गये थे । मधुरा अथवा प्रेमाभक्ति के अन्तर्गत वर्णित राधा की महिमामयी प्रेम-मूर्ति को साधारण स्थूल दृष्टि से देखा गया । दाम्पत्य प्रेम आकर्षण न रह कर साध्य बन गया । परकीया प्रेमभावना ने उसे नवीन गति प्रदान कर दी और कृष्ण की उपासना परकीया भाव से होने लगी । शृङ्गारी कवियों ने कुछ ऐसी परम्परा सी बना दी कि प्रत्येक स्त्री परकीया भाव से परपुरुष से प्रेम कर सकती है । परिणाम यह हुआ कि दाम्पत्य प्रेम भी निम्न स्तर पर आ गया और उसकी पवित्रता जाती रही । कृष्ण और राधिका की भक्ति के विकृत होने का परिणाम बुरा हुआ । इस विकृत शृङ्गारभावना से प्रभावित होकर अश्लील साहित्य का सृजन (~~सर्जक~~) हुआ ही, अन्य ललित कलाएं भी इसके कुप्रभाव से अछूती नहीं रह सकीं । नग्नावस्था में स्नान करती हुई स्त्रियों के वस्त्र चुराने वाले कृष्ण के चित्र बनाना साधारण सी बात हो गयी । नग्न स्त्रियों की मूर्ति बनाना एक सामान्य प्रवृत्ति हो गई ।"

" इस शृङ्गारीभावना के कारण सखी-सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा हुई थी । परकीया प्रेम के निर्वाह के नाम पर, देव-मन्दिर राधाकृष्ण की रङ्गस्थली समझे जाने लगे और तथाकथित भक्तगण भक्तिनों और चेलियों को लेकर रासरङ्ग में प्रवृत्त हो गये । परकीया-प्रेम की भक्तिभावना के एक अङ्ग-विशेष के रूप में प्रतिष्ठा होने के फलस्वरूप इस प्रकार की प्रेम-लीलाएं गर्हित होने पर भी समाज के एक बड़े भाग का संरक्षण प्राप्त कर सकीं । पहले भक्तगण और बाद में कविगण कृष्ण-राधा के इस अतिरञ्जित स्वरूप को आदर्श बताकर स्वयं भी सावन की बदरिया झुकने पर झूला झूलने लगे और बसन्तोत्सव आने पर अबीर और गुलाल की मूठें चलाने लगे — परिणाम स्वरूप बहुत से देवालय व्यभिचार के अड्डे बन गये । नायक रूप में मुरलीमनोहर और नायिका के रूप में वृषभानुनन्दिनी का ग्रहण किया जाना, अनेक कार्यों में अनर्थ का कारण बना । ~~इस भाव~~ इस भाव की प्रबलता के कारण सत् असत् का विवेक लुप्त प्राय हो गया था ।"[२]

---

१. रीतिकालीन कविता एवं शृङ्गाररस का विवेचन — डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी
२. वही, पृ० ५९८-१६

शृङ्गारवर्णन में नखशिख तथा षड्-ऋतुवर्णन —

शृङ्गारवर्णन के प्रसङ्ग में कवियों ने षड्ऋतुवर्णन तथा नखशिखवर्णन लिया भारतीय कवि को अनादिकाल से यहां के ऋतुवैभव लुभाते रहे। आदिकवि की वाणी ने भी प्रकृति नटी के वर्षा, शरद् तथा हेमन्त के शृङ्गारों का गान किया था। कवि - कुलगुरु ने तो 'ऋतुसंहार' ही सुना दिया। भारवि, माघ आदि ने भी ऋतु-गान किये। किन्तु हिन्दी के रीतिकाल में तो शृङ्गाररस की रचना के सम्बन्ध में यह एक प्रधान वर्ण्य विषय हो गया। वहां यह ऋतुवर्णन दो प्रकार से किया गया —एक षट् ऋतुओं के वर्णन के रूप में तथा दूसरा बारहमासा के रूप में। ऋतुवर्णन तो शृङ्गार के दोनों पक्षों संयोग तथा वियोग के अन्तर्गत किये गये। इनमें प्रकृति के नैसर्गिक सौन्दर्य की अपेक्षा उद्दीपन प्रभाव का ही कथन अधिक किया गया। किन्तु बारहमासे, जो सभी महीनों के अलग-अलग नाम से वर्णन रूप होते थे, प्राय: वियोग शृङ्गार के पक्ष में ही अधिक कहे गये। इनमें वियोगिनियों की विरह-वेदना, उनके सन्देश तथा उपालम्भ आदि का वर्णन किया जाता है।

इसी प्रकार नखशिखवर्णन की प्रणाली भी अतिशय प्राचीन है। कालिदास ने पार्वती का नखशिख-लावण्य चित्रित किया है। नैषधकार ने तो अनेक बार दमयन्ती-रूप का नखशिख निरूपण किया है। हिन्दी के रीतिकाल में तो यह एक स्वतन्त्र विषय ही बन गया ' भक्ति भावना के अन्तर्गत उपास्य देव में अनन्त शक्ति और अनन्तशील के साथ अनन्त सौन्दर्य की भी प्रतिष्ठा हुई। भक्तकवियों ने भगवान् के अनन्त सौन्दर्य समन्वित विश्वमोहक स्वरूप का जी खोल कर वर्णन किया। उन्होंने भगवान् के अङ्ग-प्रत्यङ्ग का, चोटी से लेकर पैर के नाखूनों तक एक-एक अङ्ग का, भावपूर्ण मनोमुग्धकारी वर्णन किया है। भक्तिभावना के अनुकरण पर शृङ्गार-रस-निरूपण में भी स्वरूप वर्णन की प्रणाली आ गयी जो कृष्ण-राधा के नख-शिख वर्णन से प्रारम्भ होकर लौकिक नायक-नायिकाओं पर जाकर रुकी-विशेषकर नायिकारूप पर। इसमें पूरे शरीर का वर्णन भी रहता है तथा अङ्गप्रत्यङ्ग का भी। 'अलकशतक' 'तिलकशतक' आदि रचनाएं इस बात का प्रमाण हैं कि एक-एक अङ्ग के वर्णन में पूरे पोथे ही रच डाले गये थे। इनमें — · पगतल, पग, पद, लालिमा, एड़ी, पदाङ्गुलि, पद-नख, गुल्फ, पिंडुरी, जंघा, नितम्ब, कटि, नाभि, उदर, त्रिवली, रोम-राजि, कुच, कंचुकी युत, कुच, करतल, अंगुली, कर-नख, पीठ, ग्रीवा, भुजा, चिबुक, तिल, अधर, दशन, ओठ, वाणी, मुखराग, मुसकान कपोल, कपोल-तिल, नाक, उसका आभूषण, नेत्र, चितवन, भौंह, मुखमण्डल, केश, अलक,

रोमावली, वेणी, अङ्गवारा, अङ्गदीप्ति, गति, सौकुमार्य तथा सोलह शृङ्गार आदि रखे हैं। भक्तिकाल में यह नखशिखवर्णन कुछ मर्यादित रहा किन्तु रीतिकाल में तो मर्यादा टूट गई। राधाकृष्ण के नाम पर कवियों ने कुरुचिपूर्ण वर्णन भी प्रस्तुत कर डाले।

संस्कृत के नायिका-भेद का सिंहावलोकन—

नायिका शृङ्गाररस का आलम्बनविभाव है। हिन्दी के रीतिग्रन्थकर्ता भावुक आचार्य कवियों ने इस विभाव के वर्णन में अपनी सम्पूर्ण शक्ति एवं व्युत्पत्ति लगा दी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी कवियों द्वारा वर्णित यह नायिकाभेद अत्यन्त मार्मिक विशद तथा मनोवैज्ञानिक बन पड़ा है। इन हिन्दी आचार्य कवियों को नायिका भेद की परम्परा संस्कृत साहित्य से मिली थी। इस विषय की मूल सामग्री इन्होंने वहीं से प्राप्त की है। अतः यहाँ अतिसंक्षेप में संस्कृत साहित्य शास्त्र में विवेचित नायिका-विवेचन परम्परा का सिंहावलोकन कर लेना अनुचित न होगा प्रत्युत इससे हिन्दी में उस परम्परा की निरवच्छिन्नता का भी पता चल जायगा। यहाँ संस्कृत के उन आचार्यों के विवेचन का एकाध विशेष अंश ही उल्लिखित होगा, सामान्य नहीं। उनका विस्तृत विवेचन तो पूर्व के अध्यायों में उन आचार्यों के प्रसङ्ग में हो चुका है।

सर्वप्रथम वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में उनके योनि-इन्द्रियों के स्वरूप-विचार से पुरुषों के शश, वृष, अश्व आदि तथा स्त्रियों के मृगी, वडवा, हस्तिनी आदि भेद किये। किन्तु उनका विवेचन जैसा कि पहिले कहा गया है, लोक-जीवन के लिए था, काव्य-नाट्य के लिए नहीं।

वस्तुतस्तु भरत मुनि ने ही सर्वप्रथम इस दिशा में कदम बढ़ाया। इन्होंने विशेषतः सभी पुरुषों तथा स्त्रियों की तीन प्रकृतियाँ बताईं —१. उत्तमा, २. मध्यमा, तथा ३. अधमा। फिर स्त्रियों के शील के अनुसार देवता, असुर, गन्धर्व आदि वर्ग भी किये। फिर उनके बाह्या, आभ्यन्तरा तथा बाह्याभ्यन्तरा भेद किये।[1] इसके पश्चात् उनके 'वासकसज्जिका' आदि प्रसिद्ध आठ भेद किये। फिर उन्होंने वेश्या के भी तीन प्रकार किये —१. मदनातुरा, २. रक्ता तथा ३. विरक्ता।

---

१. त्रिविधा प्रकृतिः स्त्रीणां नानासत्त्वसमुद्भवा।
बाह्या चाभ्यन्तरा चैव स्याद् बाह्याभ्यन्तरापरा ॥

भरत के परवर्ती आचार्यों में रुद्रट ने अपने काव्यालङ्कार में ही सर्वप्रथम श्रव्यकाव्य विवेचन के प्रसङ्ग में नायक-नायिका विषय पर अपने विचार दिये। और रुद्रभट्ट का शृङ्गार-तिलक तो बाद के शृङ्गारविवेचन करने वाले आचार्यों के लिए एक प्रकार से आधार-ग्रन्थ ही बन गया।

इनके पश्चात् धनञ्जय-धनिक ने पुनः नाट्यसम्बन्ध में नायिका-विषय का विवेचन किया। उनके अनन्तर भोज ने इस विषय का और भी विस्तार किया और वात्स्यायन ने जिस `पुनर्भू` नायिका का उल्लेख किया था, तथा जिसे फिर बाद वाले आचार्यों ने छोड़ दिया था, इन्होंने उसका पुनरुज्जीवन किया। इसी प्रकार भोज के अनेक विशिष्ट विवेचनों का बाद वाले आचार्यों ने अनुसरण किया, जिसमें मन्दारमरन्द-चम्पू ने ज्ञाता, ज्ञाता वाले वर्गीकरण का उल्लेख किया -

` इनके पश्चात् शारदातनय ने अपने भावप्रकाश में भरत, रुद्रभट्ट (जिन्हें उन्होंने रुद्रट के नाम से उल्लिखित किया है) धनञ्जय, तथा भोज का इस नायिका-विवेचन के प्रसङ्ग में अनुसरण किया। भावप्रकाश में तो अनेक श्लोक नाट्यशास्त्र, शृङ्गार तिलक, तथा दशरूपक से ज्यों के त्यों उल्लिखित किये गये हैं।

सागरनन्दिन् ने अपने नाटक-लक्षणरत्नकोश` में यद्यपि भरत से अनेक विषयों में अपने स्वतंत्र विचार रखे हैं, किन्तु जो सबसे विचित्र नवीनता है वह यह कि उन्होंने `सम्या` एक नवीन प्रकार की नूतन नायिका की कल्पना की है।

विश्वनाथ ने अपने ` प्रतापरुद्रयशोभूषण` में तथा विश्वनाथ ने अपने साहित्य दर्पण में अधिकांशतः शृङ्गारतिलक, दशरूपक एवं भावलोक का ही अनुसरण किया है। शिङ्गभूपाल ने भी अपने रसार्णवसुधाकर` में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

किन्तु भानुदत्त की `रसमंजरी` ने तो नायिका-वर्गीकरण विषय को एक विशेष महत्त्व प्रदान कर दिया। भानुदत्त के पूर्व हमने देखा है कि नायिका-विवेचन नाटक अथवा रसविवेचन के अङ्गरूप में निरूपित किया जाता था। भानुदत्त ने प्रथम बार केवल नायिका-विवेचन को स्वतन्त्र ग्रन्थ का विवेचनीय विषय ही बनाया और इस प्रकार की रचनाओं का ~~अधिक~~ पथप्रदर्शन किया, जो चाहे संस्कृत में कम किन्तु हिन्दी में रीतिकालीन आचार्यों की तो प्रधान कृति रही।

भानुदत्त ने अपने पूर्ववर्ती सभी ग्रन्थों का उचित परीक्षण करने के उपरान्त नायिका भेद को सर्वाङ्गपूर्ण बना दिया। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने उसका

अत्यधिक विस्तार किया परन्तु साथ ही विश्वनाथ आदि के अतिपय अनावश्यक भेदों को न रखकर काट-छाँट भी किया। भानुदत्त का काव्य रस के उन्नायक आचार्यों में तो कोई स्थान नहीं है किन्तु उनकी दृष्टि अत्यन्त विशद और स्वच्छ थी। उनका रस और नायिका-भेद का विवेचन अधिक मौलिक न होते हुए भी अत्यन्त स्पष्ट और सांगोपांग है, इसी लिए तो उत्तर कालीन कवि-शिक्षा-प्रणेताओं में ये सबसे अधिक लोकप्रिय हो गए। हिन्दी में आरम्भ से ही उनका प्रत्यक्ष प्रभाव लक्षित होता है। कृपाराम की 'हिततरङ्गिणी', नन्ददास की 'रसमंजरी', चिन्तामणि का 'कविकुलकल्पतरु', मतिराम का रसराज', देव का 'भाव' -विलास', रसलीन का 'रस-प्रबोध,' बेनी-प्रवीन का 'नवरस-तरंग', पद्माकर का जगद्विनोद आदि प्राय: समस्त शुद्ध रस-ग्रन्थ रसतरङ्गिणी' और रस-मञ्जरी से अत्यन्त स्पष्ट रूप में प्रभावित हैं। इनमें स्थान-स्थान पर भानुदत्त का उल्लेख और कहीं-कहीं सीधा अनुवाद मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्य युग में भानुदत्त के उपर्युक्त दोनों ग्रन्थ पाठ्य-ग्रन्थ के रूप में पढ़े जाते थे।

यह नायिका-वर्गीकरण वैष्णव-भक्त कवि-आचार्यों द्वारा अत्यधिक विस्तार के साथ किया गया। जिन्होंने कृष्ण तथा गोपियों के प्रेम-प्रसङ्ग में इसका पूर्णत: निरूपण किया। रूपगोस्वामी के 'उज्ज्वलनीलमणि' का नायिका-विवेचन प्रधान प्रतिपाद्य रहा है। कविकर्णपूर ने अपने शृङ्गार-कौस्तुभ में प्राय: 'उज्ज्वलनीलमणि' का ही अनुसरण किया। संस्कृत के पश्चाद्वर्ती नायिका-विवेचन के अन्य ग्रन्थों में कवि का 'मन्दारमरन्दचम्पू' सामराज दीक्षित की 'शृङ्गारामृत-लहरी' शिवराम का 'रस-रत्नहार' विश्वेश्वर की 'रसचन्द्रिका' तथा बड़े साहब अकबरशाह की 'शृङ्गारमंजरी' विशेष उल्लेखनीय हैं। बड़े साहब ने अनेक दृष्टियों से इस विषय का अत्यधिक विस्तार किया है।

हिन्दी के नायिकाभेद निरूपण करने वाले आचार्य कवि — रहीम —

हिन्दी में नायिकाभेद का निरूपण करने वाले प्रथम कवि, रहीम, नन्ददास, तथा केशवदास होते हैं। रहीम ने बरवै छन्दों में बरवै नायिका-भेद' लिखा (१५५३-१६५६ ई०)। किन्तु लक्षण न लिखकर केवल उदाहरण रचे हैं जो अत्यन्त सरस, सरल तथा स्पष्ट भाषा में हैं। 'वास्तव में रहीम ने नायिकाओं की विभिन्न प्रेमदशाओं का निरूपण किया है, नायिकाओं के भेद उपभेदों का वर्णन नहीं। इस सम्बन्ध में उन्होंने कुल १०५ बरवै लिखे हैं।

'नगरशोभा' के अन्तर्गत इन्होंने ब्राह्मण, खतरानी, रंगरेजिन आदि

विभिन्न जाति बिरादरियों की ६१ प्रकार की स्त्रियों का वर्णन किया है।[१]

नन्ददास—

इनकी 'रसमंजरी' ब्रजभाषा में नायिकाभेद की प्रथम कृति कही जा सकती है जो भानुदत्त की रसमंजरी के आधार पर लिखी गयी है।[२] रहीम ने लक्षण न लिख कर केवल उदाहरण लिखे थे, नन्ददास ने ठीक उसके विपरीत उदाहरण न लिखकर केवल लक्षण ही दिये हैं। कहीं कहीं तो भानुदत्त की रसमंजरी का ज्यों का त्यों रूपान्तरण कर दिया है। इनके विवेचन का क्रम कहीं कहीं भानुदत्त से भिन्न हो गया है। प्रोषितपतिका आदि आठ भेदों के स्थान पर नन्ददास ने एक नवम भेद भी किया है — प्रीतमगमनी।

केशवदास— ने अपने रसिकप्रिया नामक रीतिग्रन्थ में प्रसङ्गवश नायिकाभेद का भी निरूपण किया है जो संस्कृत के अनेक ग्रन्थों के आधार पर अनेक दृष्टियों से किया गया है,जैसे—

१. जाति के अनुसार —१. पद्मिनी, चित्रिणी, ३. शंखिनी, और ४. हस्तिनी।

२. नायक के सम्बन्ध के अनुसार —१. स्वकीया, २. परकीया और ३. सामान्या।

(अ) फिर स्वकीया के तीन भेद —१. मुग्धा, २. मध्या, और ३. प्रौढ़ा।

इनमें भी मुग्धा के चार उपभेद —१. नवलवधू, २. नवयौवना, ३. नवल-अनङ्गा और ४. लज्जा-प्रायरति।

मध्या के भी इसी प्रकार चार उपभेद —

१. आरूढ़यौवना, २. प्रगल्भवचना, ३. प्रादुर्भूतमनोभवा तथा ४. सुरति-विचित्रा तथा प्रौढ़ा के भी चार ही उपभेद - १. समस्तरसकोविदा, २. विचित्रविभ्रमा, ३. क्रामति तथा ४. लुब्धामति।

धीरादिभेद उन्होंने पृथक् न लिख कर मध्या और प्रौढ़ा के साथ ही लिखे हैं।

(आ) परकीया के दो प्रसिद्ध दो ही भेद हैं:— १. ऊढा तथा २. अनूढा।

---

१. री०का०गु०रा०पृ० २३६

२. रसमंजरी अनुसार है, नन्दसुमति अनुसार।
बरनत बनिता भेद जंह प्रेमसार विस्तार।।

(ह) सामान्या की केशव ने कोई विशेष चर्चा नहीं की है।

३. दशा के अनुसार आठ प्रकार की प्रसिद्ध ही हैं — १. स्वाधीनपतिका, २. उत्कंठा, ३. वासकसज्जा, ४. अभिसन्धिता, ५. खण्डिता, ६. प्रोषितप्रेयसी, ७. विप्रलब्धा तथा ८. अभिसारिका।

(अ) फिर इन आठों के प्रच्छन्न तथा प्रकाश नामक प्रत्येक के दो-दो भेद किए हैं।

(आ) अभिसारिका के ये भेद किये हैं — १. स्वकीया अभिसारिका, २. परकीया अभिसारिका, ३. प्रेमाभिसारिका। (दो भेद प्रच्छन्न प्रकाश) ४. गर्वाभिसारिका(दो भेद प्रच्छन्न प्रकाश) ५. कामाभिसारिका (दो भेद प्रच्छन्न प्रकाश)[१]-

४. गुण (प्रकृति)के अनुसार तीन भेद किए हैं — १. उत्तमा, २. मध्यमा तथा ३. अधमा।

इस प्रकार केशवदास के अनुसार नायिकाओं की कुल संख्या तीन सौ साठ होती है।[२]

इन्होंने पहले लक्षण दोहा में लिखा फिर उदाहरण कवित्त, अथवा सवैया दिये। हिन्दी में इस शैली पर लिखने वाले ये प्रथम कवि हैं। अत: आचार्य की दृष्टि से हिन्दी में नायिका भेद का प्रथम निरूपण केशवदास की 'रसिकप्रिया' ही में हुआ।

केशवदास के पश्चात् चिन्तामणि त्रिपाठी ने "कविकुलकल्पतरु" (१६५०ई०) के पंचम अध्याय में नायिका भेद का कुछ इस प्रकार विस्तारपूर्वक वर्णन किया :—

१. तीन प्रकार की नायिका — १. दिव्य, २. अदिव्य, ३. दिव्यादिव्य।

२. कर्मानुसार तीन भेद — १. स्वकीया, २. परकीया तथा ३. सामान्या।

३. स्वकीया के तीन भेद — १. मुग्धा, २. मध्या और ३. प्रगल्भा।

४. मुग्धा के छ: भेद — १. अविदितयौवना, २. आविदितयौवना, ३. विदितयौवना, ४. विदित मन्मथयौवना, ५. नवोढ़ा, ~~१.--आरूढ़यौवना~~, ६. विश्रब्धनवोढा।

५. मध्या के चार भेद — १. आरूढ़यौवना, २. आरूढ़-मदना, ३. विचित्रसुरता, ४. प्रगल्भ-वचना।

६. प्रौढ़ा के भी चार भेद — १. प्रौढ़यौवना, २. मदनमत्ता ३. रतिप्रीतिमता, ४. सुरति मोदपरवशा।

७. मध्या और प्रौढा के ही धीरा आदि तथा ज्येष्ठा आदि प्रसिद्ध भेद भी किए हैं।

---

१. रसिकप्रिया, सप्तम प्रकाश — २५-३१

२. प्रकट तीन सौ साठ त्रिय, केशवदास बखानि। —र०प्रि०, ७।३८

८. ऊढा परकीया के ६ भेद – १. सुरतिगोपना, २. चतुरा (वचन, क्रिया) ३. कुलटा ४. लक्षिता, ५. अनुशयनिका तथा ६. मुदिता ।

९. दशानुसार स्वाधीनपतिका आदि आठ भेद तो परम्परानुसार ही हैं। अभिसारिका को ज्योत्स्नाभिसारिका, तमोऽभिसारिका तथा दिवाभिसारिका रूप से तीन प्रकार की कहा है।

१०. और अन्त में गुण के अनुसार उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा तीन भेद किया है।

इस प्रकार चिन्तामणि ने हिन्दी में नायिका के सर्वप्रथम दिव्या आदि भेद तथा मुग्धा के छः और मध्या, प्रौढा के चार-चार भेद किये। केशव ने सामान्या का विवेचन नहीं किया था, किन्तु चिन्तामणि ने उसे किया।

मतिराम ने तो नायिका भेद की एक निश्चित एवं निरवच्छिन्न परिपाटी ही चला दी। उनका 'रसराज' इस विषय का एक सर्वमान्य ग्रन्थ है यद्यपि इसमें भानुदत्त की 'रसमंजरी' का ही अनुसरण किया गया है। केशव ने तो उसे शृङ्गार रस के एक अङ्ग के रूप में प्रतिपादित किया था।

मतिराम का 'रसराज' (१६९० के आसपास) नायिका भेद-निरूपण का प्रधान ग्रन्थ रूप में दिखाई पड़ता है।

१. नायक के साथ सम्बन्ध के अनुसार पहिले तीन प्रकार की नायिकायें – १. स्वकीया, २. परकीया तथा ३. गणिका ।

२. फिर स्वकीया के तीन भेद – १. मुग्धा, २. मध्या तथा ३. प्रौढ़ा ।

३. फिर मुग्धा के दो भेद – १. अज्ञातयौवना, २. ज्ञातयौवना[1]।

४. ज्ञातयौवना के फिर प्रिय के प्रति प्रतीति के आधार पर दो भेद – १. नवोढा, तथा २. विश्रब्धनवोढा ।

५. मान के आधार पर मध्या और प्रगल्भा के धीरा आदि ३ भेद तथा फिर ज्येष्ठा, कनिष्ठा दो भेद[2]।

---

१. मुग्धा के द्वै भेदवर, भाषत सुकवि सुजान ।
एक अज्ञातजोबना, ज्ञातजोबना जान ।।

२. मध्या प्रौढामानतें तीन भाँति पुनि जानि ।
धीरा बहुरि अधीर तिय, धीराधीरा मानि ।।
बरनत ज्येष्ठ कनिष्ठिका, जहं है व्याही नारि ।
प्रथमपियारी दूसरी घटि प्यारी निरधारि ।। – रसराज ३६,५५

ज्येष्ठा और कनिष्ठिका का यह भेद इनका मौलिक है ।

६. परकीया के ऊढा, अनूढा दो भेदों के अतिरिक्त ६ अन्य भेद भी किए गये हैं —

१. गुप्ता, २. विदग्धा, ३. लक्षिता, ४. कुलटा, ५. मुदिता, ६. अनुशयना[1] ।

७. पतिप्रेम की दृष्टि से तीन भेद —१. अन्यसम्भोगदु:खिता , २. गर्विता (धर्मरूप में) तथा ३. मानवती ।

८. फिर प्रोषितपतिका आदि दस भेद —१. प्रोषितपतिका, २. प्रवत्स्यत्पतिका, ३. आगतपतिका, ४. खण्डिता, ५. कलहान्तरिता , ६. विप्रलब्धा, ७. उत्कण्ठिता, ८. वासकसज्जा, ६. स्वाधीनपतिका तथा १०. अभिसारिका ।

(जो तीन प्रकार की होती हैं —१. चंद्राभिसारिका, २. कृष्णाभिसारिका , ३. दिवाभिसारिका) ।

६. फिर, पूर्वोक्त दसों प्रकार की नायिकाओं में प्रत्येक के मुग्धा , मध्या, प्रौढा, परकीया और सामान्या —ये पांच भेद किये हैं ।

१०. और प्रकृति के अनुसार तो नायिकाओं के तीन भेद प्रसिद्ध ही हैं —

१. उत्तमा, २. मध्यमा, ३. अधमा

हिन्दी में नायिका भेद का सबसे अधिक विस्तार महाकवि देव ने किया । ये अनेक ग्रन्थों के प्रणेता थे । इनमें 'भावविलास', 'रसविलास', 'भवानीविलास' तथा 'सुखसागरतरंग' में देव ने नायिका भेद का निरूपण किया है । भावविलास में उनकी नायिकाओं की कुल संख्या ३८४ ठहरती है[2]।

---

१. परकीया के भेद षट् गुप्ता प्रथम बखान ।
बहुरि विदग्धा लच्छिता मुदिता कुलटा मान ।
और जु अनुशयना कही, तिनके विमल विवेक।
बरनत कवि 'मतिराम' यह रससिंगार की टेक ।। रसराज ६५,६६

२. स्वीया तेरह भेद करि, द्वै जु भेद परनारि
एक जु वेश्या, ये सबै सोरह करौं बिचारि ।
एक-एक प्रति सोरहीं, आठ अवस्था जान ।
जोरि सबै ये एक सौ अट्ठाईस बखान ।।
उत्तम मध्यम अधम करि ये सब त्रिविध विचार ।
चौरासी अरु तीन सौ जोरैं सब बिस्तार ।। — भावविलास

'रसविलास' में देव ने नायिकाओं के वर्गीकरण के प्रधान रूप से ये आठ आधार माने हैं -१. जाति, २. कर्म, ३. गुण, ४. देश, ५. काल, ६. वय:क्रम, ७. प्रकृति, तथा ८. सत्त्व [१]।

१. जाति के अनुसार :- चार भेद-१. पद्मिनी, २. चित्रिणी, ३. शंखिनी तथा ४. हस्तिनी।

२. कर्म के अनुसार तीन भेद :- १. स्वकीया, तथा परकीया, एवं ३. सामान्या।

३. गुण के अनुसार तीन भेद :-१. उत्तमा, २. मध्यमा, ३. अधमा। जिनमें क्रम से सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुण का आधिक्य होता है।[२]

४. देश के अनुसार २६ भेद :- १. मध्यदेशवधू, २. मगधवधू, ३. कौशल बधू, ४. पाटलवधू, ५. उत्कल बधू, ६. कलिङ्गवधू, ७. कामरूपवधू, ८. वङ्गवधू, ९. विन्ध्यवनवधू- आदि। इनमें भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों अथवा भागों की बधुओं का वर्णन है। देव ने उनके उदाहरण प्रस्तुत किए हैं -

५. अवस्थानुसार आठ भेद :- १. स्वाधीनपतिका आदि --।

६. वय:क्रम के अनुसार तीन भेद :-१. मुग्धा, २. मध्या, ३. प्रगल्भा।

७. प्रकृति के अनुसार तीन भेद :- १. कफप्रकृति, २. पित्तप्रकृति, ३. वातप्रकृति।

८. सत्त्व के अनुसार ९ भेद :-१. देव, २. किन्नर, ३. यक्ष, ४. नर, ५. पिशाच, ६. नाग, ७. कपि, ८. खर, ९. काक[३]---- इनके अतिरिक्त देव ने स्त्रियों के और भी अनेक प्रकार बताए हैं जैसे कामिनी, के ६ भेद बताये हैं -नागरी, पुरवासिन, ग्रामीणा, वनवासिन, सैन्या तथा पथिकस्त्री।[४] फिर इनके भी प्रत्येक के उपभेद बताए हैं।

---

१. आठ भेद नायिका के बरनत हैं कवि सन्त।
   भेद भेद प्रति और हैं अन्तर भेद अनन्त।।
   जाति कर्म गुण देस अरु काल बही क्रम जानु।
   प्रकृति सत्त्व नायिका के आठो भेद बखानु।। -रसविलास ५।।

२. वही सत रज तम त्रिगुन, उत्तम, मध्यम, अन्त।
   तीन भांति गुन भेद करि, कहत नायिका सन्त।। -रसविलास

३. सुर किन्नर अरु जक्ष नर कहि पिसाच अरु नाग।
   सत्त्व भेद सौं नायिका बरनई खर कपि काग।। -रसविलास

४. सौ नारी कहुं नागरी पुरवासिन ग्रामीन।
   बनसयना अरु पथिक तिय बहु विधि कहत प्रवीन।। -रसविलास।

(१) क. नागरी के तीन भेद —१. देवल, २. रावल तथा ३. राजनगर ।
ख. देवल के फिर तीन भेद —१. देवी, २. पूजनारी तथा ३. द्वारपालिका ।
ग. रावल के पांच भेद —१. राजकुमारी, २. धाय, ३. सखी, ४. दूती, तथा ५. दासी
घ. राजनगर के १३ भेद—१. जौहरिन, २. छीपिन, ३. पटविन, ४. सुनारिन, ५. गन्धिन, ६. तैलिन, ७. तमोलिन, ८. हलवाइन, ९. मोदिन, १०. कुम्हारिन, ११. दरजिन, १२. चुरी, १३. गणिका ।

२. पुरवासिन के ९ भेद —१. ब्राह्मणी, २. राजपूतानी, ३. खतरानी, ४. वैश्यनी, ५. कायथिनि, ६. शूद्रा, ७. नाइनि, ८. मालिनि तथा ९. धोबिन ।

३. ग्रामीण के ५ भेद — १. अहीरिन, २. काछिन, ३. कलारिन, ४. कहारिन, ५. नटेरी ।

४. बनवासिन के तीन भेद — १. मुनतिया, २. व्याधतिया तथा ३. भीलनी ।

५. सैन्या के ३ भेद —१. वृषली, २. वैश्या तथा ३. मुकेरिन ।

६. पथिक स्त्री के चार भेद —१. बनजारिन, २. जोगिन, ३. नटी तथा ४. कहेरिन ।

आगे देव ने 'रसविलास' में इनके और भी भेदोपभेदों का निरूपण किया है ।[१] यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार भेद लोक जीवन के लिए उपयोगी हो सकते हैं। काव्य-नाटक में तो ये प्रसिद्ध गुणात्मक भेदों में ही अन्तर्भुक्त किए जाकर उपयोगी हैं । अस्तु ।

देव ने अपने अन्य ग्रन्थों में नायिकाओं के और भी अनेक प्रकार से भेदोपभेद किए हैं जैसे :—

१. स्वकीया के वयभेदानुसार :—५ भेद— १. देवी ७ वर्ष, २. देवगन्धर्वी, १४ वर्ष, ३. गन्धर्वी २१ वर्ष, ४. गन्धर्वमानुषी २८ वर्ष, ५. मानुषी ३५ वर्ष । फिर उसके ज्येष्ठा, कनिष्ठा रूप से दो-दो भेद और ।

२. परकीया में ऊढा के छः भेद(उपभेद) —गुप्ता, २. विदग्धा, ३. लक्षिता, ४. कुलटा, ५. मुदिता, तथा ६. अनुशयना ।

वय: क्रम के अनुसार विभाजन करने पर मुग्धा के ५, मध्या के ४ और प्रौढा के ४ भेद किये हैं :—

---

१. ठाम वय: क्रम भेद करि, भेद भेद प्रतिभेद ।
होत अनेक प्रकारतें सुनत हरत श्रुतिखेद ।। — रसविलास

(क) मुग्धा के — १. (१२ से १३ वर्ष), नववधू, २. (१३ वर्ष) नवयौवना, ३. (१४ वर्ष) नवलअनंगा, ४. (१५ वर्ष) नवोढा तथा ५. (१६ वर्ष) विश्रब्धनवोढा (लज्जाप्रायरति) ।

(ख) मध्या के ४ भेद—१. (१७ वर्ष) रूढ़यौवना, २. (१८ वर्ष) प्रकटमनोजा, ३. (१९वर्ष) प्रगल्भवचना तथा ४. (२० वर्ष) विचित्रसुरता ।

(ग) प्रौढा के भी ४ भेद—१. (२१ वर्ष)लब्धपति, २. (२२ वर्ष) समस्तरति कोविदा, ३. (२३ वर्ष) आक्रान्तनायका तथा ४. (२४ वर्ष) सविभ्रमा ।

इसीप्रकार कोप एवं मान के आधार पर मध्या और प्रगल्भा के धीरादि भेद भी किए हैं ।

'वास्तव में नायिकाभेद की आधारशिला मनोवैज्ञानिक है । विभिन्न अवस्थाओं दशाओं तथा स्थितियों में स्त्रियों के मन की दशा क्या हो जाती है अथवा होती है इसका विवेचन नायिकाभेद वर्णन में होता है और होना चाहिए । अतः रहीम की 'नगरशोभा' और देव के 'रसविलास' में विभिन्न प्रान्तों, जातियों, व्यवसायों आदि की स्त्रियों के परिगणन एवं वर्णन अनावश्यक एवं अनपयुक्त ही ठहरते हैं ।

नायिकाभेद को इतना विस्तृत रूप देकर देव ने एक कार्य अवश्य किया कि नायिकाओं की संख्या में वृद्धि का आग्रह करने वाले कवि एवं आचार्यों के लिए उन्होंने मार्ग प्रशस्त कर दिया । अनेक आचार्यों ने उसका अनुकरण किया ।'[1]

देव के पश्चात् नायिका-भेद पर लिखने वाले प्रमाणिक आचार्य भिखारीदास हैं । इनका 'शृङ्गारनिर्णय' (१७५० ई०) नायिकाभेद पर एक प्रशंसनीय रचना है । ~~(२)~~

(१) इन्होंने नायिकाकेप्रथम तीन भेद 'आत्मधर्मानुसार' किये हैं नायक-सम्बन्ध अथवा कर्म के अनुसार नहीं । १. साधारणवनिता, २. स्वकीया तथा (३) परकीया[2]।

(२) स्वकीया के तीन भेद —१. पतिव्रता, २. उद्यारिज, तथा ३. माधुर्ज (अन्य आचार्यों ने प्रसिद्ध तीन मुग्धा,मध्या तथा प्रगल्भा का उल्लेख किया है)

(३) दक्षिण, शठ तथा धृष्ट नायक के भेदानुसार इन्होंने ज्येष्ठा और कनिष्ठा के

---

१. री०का०शृ०रस०वि०, पृ० २५७

२. पहिले आतमधर्म तें त्रिविधि नायिका जानि ।
साधारन बनिता अपर सुकिया परकीयानि ।। शृ०निर्णय ।

६ उपभेद किये हैं।

(४) परकीया के सर्वप्रथम प्रगल्भा और धीरा दो भेद किये, फिर अनूढा और ऊढा — ये दो भेदकिये। ऊढा के पहिले तीन तीन भेद — असाध्या, दु:साध्या, तथा साध्या फिर विदग्धा, लक्षिता, मुदिता तथा अनुशयना — ये चार भेद किए। गुप्ता को विदग्धा के अन्तर्गत रक्खा और कुलटा को छोड़ दिया। मुदिता और अनुशयना में भी विदग्धत्व स्थापित किया। स्वकीया को भी अनूढा तथा ऊढा कहा है। और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन्होंने अनूढा के भी भेद किये हैं — उद्बुद्धा तथा उद्बोधिता, फिर उद्बुद्धा के भी दो उपभेद किये — अनुरागिनी(णी) तथा प्रेमासक्ता।

(५) अनुशयना के भी तीन नवीन भेद किये — १. केलिस्थानविनासिता, २. भावस्थान-अभाव तथा ३. संकेतनि:प्राप्यता।[१]

(६) परकीया के भी मुग्धा, मध्या तथा प्रौढा भेद होते हैं। परकीया का भी अज्ञात-यौवना भेद किया गया है।

(७) स्वाधीनपतिका आदि आठ भेदों को संयोग तथा वियोग शृङ्गारों के अनुसार विभाजित किया है।[२] इनमें संयोग शृङ्गार के अन्तर्गत तीन नायिकायें ली हैं — १. स्वाधीनपतिका, २. वासकसज्जा तथा ३. अभिसारिका। स्वाधीनपतिका के भी पहिले तो १. स्वकीया, २. परकीया दो भेद, फिर १. रूपगर्विता, २. प्रेम-गर्विता तथा ३. गुणगर्विता, — तीन उपभेद किये। वासकसज्जा के अन्तर्गत आगतपतिका को रख दिया है और अभिसारिका — स्वकीया तथा परकीया भेद करके शुक्लाभिसारिका तथा कृष्णाभिसारिका — दो उपभेद किये हैं। इस प्रकार उन्होंने संयोगशृङ्गार की तीनों नायिकाओं के स्वकीया-परकीया दो-दो भेद किये।

फिर वियोगशृङ्गार में १. उत्कण्ठिता, २. खण्डिता, ३. कलहान्तरिता ४. विप्रलब्धा तथा ५. प्रोषितभर्तृका — ये पांच भेद रक्खे हैं।[३]

---

१. केलिस्थानविनासिता, भावस्थान अभाव।
अरु संकेतनिप्राप्यता, अनुसयना में भाव।।

२. हैत संजोगवियोग की अष्ट नायिका लेखि।
तिनके भेद अनेक हैं मैं कछु कहौं बिसेखि।।

३. बिरह हैत उकंठिता, बहुरि खण्डिता मानि।
कहि कलहांतरितानि पुनि गनै विप्रलब्धानि।।
पांचों प्रोषितभर्तृका सुनो सकल कविराय।
तिनके लच्छन लच्छ अब आछौं कहौं बनाय।।

खण्डिता के अन्तर्गत धीरादि-भेद और मानिनी का उल्लेख किया है तथा मानिनी के अन्तर्गत लघुमान, मध्यमान और गुरुमान का प्रतिपादन किया है। कलहान्तरिता के अन्तर्गत भी मानभेद का निरूपण किया है और उसमें ... मान का वर्णन किया है। प्रोषितभर्तृका के अन्तर्गत प्रवत्स्यत् - प्रेयसी, आगच्छत्पतिका तथा आगतपतिका का उल्लेख किया है।

दास के नायिकाभेद वर्णन में संख्यावृद्धि के प्रति रुचि मौलिकता लिये हुए है। साथ ही सामान्या और कुलटा का निरूपण न कर उन्होंने आदर्श-स्थापन की भी अपनी रुचि व्यक्त की है।

भिखारीदास के पश्चात् नायिकाभेद के निरूपण में विशिष्ट स्थान रसलीन का है। इनका पूरा नाम सैयदगुलाम नबी था। इनका "रसप्रबोध" (१७४१ ई०) इस विषय का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें उन्होंने नायिकाविषय का कुछ विशेष प्रकार से निरूपण किया है—१. मुग्धा, के पांच भेद —१. अङ्कुरितयौवना, २. शैशवयौवना, ३. नवयौवना ४. नवलअनङ्गा तथा ५. नवलवधू। फिर अन्तिम तीन के उपभेद भी किये हैं :—

(क) नवयौवना के दो भेद — १. अज्ञातयौवना तथा २. ज्ञातयौवना

(ख) नवलअनङ्गा के दो भेद —१. अविदितकामा तथा २. विदितकामा।

(ग) नवलबधू के तीन भेद —१. नवोढा, २. विश्रब्धनवोढा तथा ३. लज्जासक्तारतिकोविदा।

२. मध्या के चार भेद — १. उन्मत्तयौवना, २. उन्नतकामा, ३. प्रगल्भवचना तथा ४. सुरतविचित्रा।

३. स्वकीया के अन्तर्गत तीन प्रकार दुःखितायें — मूढ़पतिदुःखिता, २. बालपतिदुःखिता, ३. वृद्धपतिदुःखिता।

४. परकीया के असाध्या और सुखसाध्या दो भेद किये हैं।[1] यहां रसलीन का कहना है कि कुछ आचार्यों ने असाध्या के —१. असाध्या, २. दुःसाध्या तथा ३. सुखसाध्या तीन भेद किए हैं। फिर (क) असाध्या के पांच भेद —१. सभीता, २. गुरुजनभीता, ३. दूतीवर्जिता, ४. अतिक्रान्ता तथा ५. खलपृष्ठा।

(ख) सुखसाध्या के दस भेद —१. वृद्धवधू, २. बालबधू, ३. नपुंसकवधू, ४. विधवा वधू, ६. गुनरिझवती, ७. सेवकवधू, ८. निरंकुश, ९. परस्त्रीआसक्तवधू, १०. अतिरोगी-वधू। (ये सारे विवेचन कामशास्त्र से अधिक सम्बन्ध रखते हैं, काव्यशास्त्र से कम।)

---

१. पुनिपरकीया उभै विधि बरनत हैं कवि लोई।
एक असाध्या दूसरी सुखसाध्या जिय जोइ ॥

(५) परकीया के अनुशुता तथा उद्भुदिता दो भेद ।

(६) परकीया के विदग्धा के अन्तर्गत दो भेद — १. पतिवंचिता तथा २. दूतीवंचिता ।

(७) लक्षिता के तीन भेद — १. सुरतिलक्षिता २. प्रकाशलक्षिता तथा ३. प्रकाशलक्षिता द्वितीय (?) ।

(८) स्वकीया एवं परकीया दोनों के तीन-तीन नये उपभेद — १. कामवती २. अनुरागिनी (णी) तथा ३. प्रेमासक्ता[1]।

(९) सामान्या के चार उपभेद — १. स्वतंत्रा, २. जननी-अधीना, ३. नियमिता(?) तथा ४. प्रेमदु:खिता । (वैसे सामान्या के प्रेम का एक ही लक्ष्य है धन पैदा करना— " दाम मोह पै लेत हैं, काम चोट उपजाइ ।"

(१०) वक्रोक्तिगर्विता के तीन भेद किए हैं ।

(११) आगतपतिका के अन्तर्गत संयोगगर्विता उपभेद का भी कथन किया है ।

(१२) अष्टविधनायिका के अन्तर्गत — १. आगमिष्यत्पतिका, २. गच्छत्पतिका तथा ३. आगमिष्यत्पतिका(?) ये भेद भी किये हैं ।

(१३) जाति के अनुसार चार प्रकार की नायिकाओं का वर्णन किया है ।

(१४) लोकभेद के अनुसार तीन भेद १. दिव्या २. अदिव्या तथा ३. दिव्यादिव्या ।[2]

(१५) इन्होंने भी स्वकीया के आयु के अनुसार भेद किये और ७ वर्ष से शुरू कर ३५ वर्ष तक में कुल १३ भेद किये । उनमें मुग्धा के पांच, मध्या के चार तथा प्रौढा के चार ।

इन सबकी पृथक् पृथक् संज्ञायें भी दी हैं --जैसे सात वर्ष तक कन्या, तेरह वर्ष तक गौरी अथवा बाला, तेईस वर्ष तक तरुणी तथा चालीस वर्ष तक प्रौढा ।

रसलीन ने नायिकाओं की कुल संख्या तेरह सौ बावन की है ।[3]

---

१. स्वकिया और परकिया दोऊ विना नेम परमान ।
कामवतीअनुरागिनी प्रेम असक्ता जान ।।

२. इन्द्रानी दिव्या कहै नर तिय कहै अदिव्य ।
सिय लौं जो तिय अवतरै सो कहि दिव्यादिव्य ।।

३. इक सुवकीया है परकीया सामान्यामिलि चारि ।
अष्टनायिका मिलि सोई बत्तिस होत विचारि ।।
उत्तमादि सोंमिलि वढै पुनि छियानवे होत ।
पुनि चौरासी तीन सै पद्मिनि आदि उघोत ।।
तेरा सौ बावन बहुरि दिव्यादिक के संग ।
यों गनना में नायिका बरनी बुद्धि तरंग ।।

रसलीन ने परकीया तथा गणिका का अधिक विस्तार से विवेचन किया है।
पद्माकर - (जन्म सन् १७५३ ई०) की कविता में कवि एवं आचार्य दोनों पक्षों का मनोरम दर्शन मिलता है। उनका 'जगद्विनोद' एक रस-ग्रन्थ है। इसमें सभी रसों का विवेचन हुआ है। शैली लक्षण उदाहरणवाली ही प्रयुक्त हुई है। किन्तु विस्तार के साथ विवेचन केवल शृङ्गार रस का किया है। अन्य रसों को तो साधारण लक्षण-उदाहरण देकर चलता किया गया है।

उस समय तक शृङ्गाररस का वर्णन करते समय आलम्बन-विभाव के लिए नायक-नायिका के रूपमें कृष्ण-राधा का वर्णन करने की परिपाटी चल गयी थी। पद्माकर ने भी उक्त परम्परा का पालन किया और कृष्ण-राधा को साधारण नायक नायिका के रूप में नि:संकोच भाव से अपनाया।

मतिराम की भाँति पद्माकर ने भी उस रमणी को नायिका कहा है जिसे देखकर मन में शृङ्गार-भाव उत्पन्न हो[१] — ।

उनका नायिका-भेद निरूपण संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है —

१. प्रथमत: तीन भेद — १. स्वकीया, परकीया तथा गणिका।
२. अवस्थाक्रम से स्वकीया के तीन भेद — १. मुग्धा, २. मध्या, और ३. प्रौढा।
३. मुग्धा के दो भेद — १. १. अज्ञातयौवना तथा २. ज्ञातयौवना।
    क. ज्ञातयौवना के दो भेद — १. नवोढा, २. विश्रब्धनवोढा।
४. प्रौढा के दो भेद — १. रतिप्रीता, तथा २. आनन्दसम्मोहिता।
५. मान समय के अनुसार मध्या और प्रौढा प्रत्येक के तीन-तीन भेद —
    १. धीरा, २. अधीरा और ३. धीराधीरा।
६. परकीया के दो भेद — ऊढा तथा अनूढा।
७. फिर परकीया के छ: भेद — गुप्ता (भूत, वर्तमान, भविष्य) २. विदग्धा (वचन, क्रिया)
    ३. लक्षिता, ४. कुलटा, ४. मुदिता तथा ६. अनुशयना।
    (पहली, दूसरी और तीसरी)
८. पूर्वोक्त सभी नायिकाओं में प्रत्येक के तीन-तीन भेद — मानवती, प्रेमगर्विता तथा सुरति दु:खिता।
९. पुन: दस भेद — १. प्रोषितपतिका, २. खण्डिता, ३. कलहान्तरिता, ४. विप्र-

---

१. रससिंगारको भाव उर उपजत जाहि निहारि।
    ताही को कवि नायिका, बरनत बिबिध बिचारि ।। — जगद्विनोद ।।

लब्धा, ५. उत्कण्ठिता, ६. वासकसज्जा, ७. स्वाधीनपतिका, ८. अभिसारिका, ९. प्रवत्स्यत्प्रेयसी तथा १०. आगतपतिका ।

१०. फिर पूर्वोक्त दशा में प्रत्येक के पांच-पांच विभेद --१. मुग्धा, २. मध्या, ३. प्रौढा, ४. परकीया तथा ५. गणिका ।

११. अभिसारिका के तीन सामान्यभेद --१. दिवाभिसारिका, २. कृष्णाभिसारिका तथा ३. शुक्लाभिसारिका ।

१२. अन्यप्रकार का भेद --१. उत्तमा, २. मध्यमा तथा ३. अधमा ।

१३. विवाहिता पत्नियों (स्वकीया) के अन्य भेद --१. ज्येष्ठा तथा २. कनिष्ठा ।

पद्माकर ने नायक के भी भेद किए हैं, जैसे तीन भेद --१. मानी, २. वचनचतुर तथा ३. क्रियाचतुर आदि ।

पद्माकर का नायिका-वर्णन मतिराम से बहुत प्रभावित हुआ है । इन्होंने भी स्वकीया-प्रेम को श्रेष्ठ बताया है ।

ग्वाल (जन्म १७९१ ई०) रस-विषय के अन्तिम उल्लेखनीय आचार्य कवि ग्वाल हैं । इन्होंने `रसरंग` सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे हैं । इनका रसविवेचन शास्त्रीय ढङ्ग पर हुआ है । रस सदानन्द ब्रह्म रूप है । रस के दो भेद होते हैं --१. लौकिक तथा २. अलौकिक ।

इन्होंने भी आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नायक-नायिकाओं का वर्णन किया है । इनके नायक के निम्नाङ्कित प्रकार हुए हैं --

१. जाति के अनुसार चार भेद --१. पाञ्चाल, २. दत्त, ३. कुचमार तथा ४ भद्र, जो पद्मिनी आदि स्त्रियों के क्रम से किया गया है ।

२. कर्मानुसार तीन भेद --पति, २. उपपति, ३. वैसिक

३. स्वभाव के अनुसार पति के चार भेद --१अनुकूल, २. दक्षिण, ३. धृष्ट तथा ४. शठ ।

४. गुणानुसार तीन भेद --१. उत्तम,२मध्यम तथा ३. अधम

५. वैसिक नायक के तीन भेद --१. उत्तम, २. मध्यम, तथा ३. अधम ।

६. प्रकृति के अनुसार तीन भेद --दिव्य, अदिव्य तथा ३. दिव्यादिव्य ।

७. अन्य तीन भेद --१. मानी, २. चतुर, (क्रिया चतुर एवं वाक्य चतुर) तथा ३. प्रोषितपति ।

८. नायक की दस विरह दशायें -

नायिकाभेद-- ग्वाल के समय तक विलासिता अपनी चरमावस्था को पार कर चुकी थी । प्रत्येक विषय में `मजा` और `जायका` देखा जाता था । ग्वाल द्वारा दिये

नायिका-लक्षण में यह मनोवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है।[१]

उक्त नायिकाओं का वर्गीकरण इस प्रकार हुआ है —

१. जाति के अनुसार चार भेद —१. पद्मिनी, २. चित्रिणी, ३. शंखिनी तथा ४. हस्तिनी
२. गुणानुसार तीन भेद —१. उत्तमा, २. मध्यमा, तथा ३. अधमा।
३. प्रकृति के अनुसार तीन भेद —१. दिव्य, २. अदिव्य तथा ३. दिव्यादिव्य
४. धर्मानुसार तीन भेद —१. स्वकीया, २. परकीया तथा ३. गणिका।
५. स्वकीया के तीन भेद —१. मुग्धा, २. मध्या, तथा ३. प्रौढा।
६. मुग्धा के चार भेद —१. अज्ञातयौवना, २. ज्ञातयौवना, ३. नवोढा तथा ४. विश्रब्ध नवोढा।
७. प्रौढा के दो भेद — १. रतिप्रीता तथा २. आनन्दसम्मोहिता।
८. मान अथवा कोप की दृष्टि से —मध्या और प्रौढा के तीन भेद —१. धीरा, २. अधीरा, ३. धीराधीरा।

इसके पश्चात् मान तथा मानमोचन का वर्णन है।

९. फिर परकीया के दो भेद —१. स्वपरकृता तथा २. आमारकृता, तथा दो परम्परानुसार भेद १. ऊढा, और २. अनूढा।
१०. अनूढा के तीन भेद —१. सुखसाध्या, २. दुःखसाध्या तथा ३. असाध्या।
११. असाध्या के तीन भेद —१. बहुकुटुम्बिका, २. बहुरक्षिता तथा ३. अतिक्रान्त्या (?)
१२. ऊढा सुखसाध्या के दो भेद —१. सभया तथा २. अभया।
१३. सभया के पाँच भेद —१. गुप्ता, २. लक्षिता, ३. विदग्धा, ४. मुदिता और ५. अनुशयना।
१४. अभया के दो भेद —१. एकपुरुषासक्त तथा २. बहुपुरुषासक्ता (कुलटा)
१५. गणिका के कोई भेद नहीं।
१६. स्वकीया आदि के व्यापक भेद से अवस्था के विचार से पन्द्रह विभेद —
१. अन्यसम्भोगदुःखिता २. गर्विता (रूप, प्रेम, गुण) ३. गमिष्यत्पतिका, ४. गच्छत्पतिका, ५. प्रोषितपतिका, ६. खण्डिता, ७. कलहान्तरिता, ८. विप्रलब्धा, ९. उत्कण्ठिता, १० वासकसज्जा, ११. स्वाधीनपतिका, १२. अभिसारिका (श्याम, शुक्ला, दिवा) १३. आगमिष्यत्पतिका, १४. आगच्छत्पतिका तथा १५. आगतपतिका।

पूर्वोक्त भेद-संख्या ३ से १५ तक प्रत्येक के १. मुग्धा, २. मध्या, ३. प्रौढा

---

१. रूपवती हूँ जिहि जुमैं अतिप्रवीन गुनवान। बहुत नायिका दाखिया वहै नायिका जान।।

४. परकीया और ५. गणिका के अनुसार पांच-पांच उपभेद किये हैं।

ग्वाल ने रस के सभी अङ्गों का वर्णन किया है केवल नायक-नायिका ही नहीं हां, नायिका-भेद को परम्परा के अनुसार सबसे अधिक स्थान अवश्य दिया है। इनका शृङ्गारवर्णन कामशास्त्र से बहुत प्रभावित है - सुरताध्या, सम्भ्रा, अभया आदि भेद इसके प्रमाण हैं। उन्होंने भी शृङ्गार को रसराज माना है। नायिकाभेद-कथन में प्राय: भानुदत्त, मतिराम आदि का भी अनुसरण किया है।

पूर्वोक्त सम्पूर्ण विवेचन का सिंहावलोकन करने पर कुछ इस प्रकार का निष्कर्ष निकलता है।

हिन्दी के नायिका-भेद-निरूपण का तुलनात्मक मूल्याङ्कन -

हिन्दी का नायिका-भेद संस्कृत की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत और व्यवस्थित है। आखिर पूरे दो सौ वर्षों तक हिन्दी के कवियों ने किया ही क्या ? परन्तु यह विस्तार और व्यवस्था उदाहरणों की दृष्टि से ही अधिक मान्य है - निरूपण की दृष्टि से नहीं। इस क्षेत्र में भी उन कवियों ने लक्षण और रीति-विवेचन के लिए संस्कृत के ही ग्रन्थों का आश्रय लिया है। कुछ लोगों का विचार है कि मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा के अवान्तर-भेद हिन्दी-कवियों की कल्पना की उद्भूति है, परन्तु बात ऐसी नहीं है। ये भेद प्राय: सभी विश्वनाथ तथा भानुदत्त में मिल जाते हैं। केशव और देव ने मुग्धा के चार भेद माने हैं - १. नववधू, २. नवयौवना, ३. नवलअनङ्गा और ४. लज्जा-प्राय-रति (सलज्जरति) - इनमें नवयौवना, नवलअनङ्गा और लज्जाप्रायरति क्रमश: विश्वनाथ के प्रथमावतीर्ण-यौवना प्रथमावतीर्णमदनविकारा, और समधिक-लज्जावती के पर्याय हैं, नववधू, मुग्धा का सामान्य रूप है। देव मुग्धात्व को वय: सन्धि तक खींच ले गए हैं और उधर रसलीन ने भेदों के भी भेद कर डाले हैं। मुग्धा का विभाजन एक दूसरी रीति से भी किया जाता है - अज्ञात-यौवना, ज्ञातयौवना (नवोढा, विश्रब्ध-नवोढा) और ये भेद अधिक सङ्गत भी है। हिन्दी के चिन्तामणि, मतिराम, बेनीप्रवीन, पद्माकर आदि ने इन्हीं को माना है। परन्तु ये भी उनकी नवीन उद्भावना नहीं है। इनका भी आधार संस्कृत का लोकप्रिय ग्रन्थ रस-मञ्जरी ही है। हिन्दी-कवियों ने ये समस्त भेद और इनके अवान्तर रूप ज्यों के त्यों भानुदत्त से उद्धृत कर लिए हैं। इसके अतिरिक्त नवोढा विश्वनाथ के रतिवामा का ही दूसरा नाम है - और विश्रब्धनवोढा, समधिक लज्जावती का। केशव और देव ने मध्या के भी चार भेद किए हैं - १. आरूढयौवना (केशव) अथवा रूढयौवना (देव) २. प्रादुर्भूत-मनोभवा, ३. प्रगल्भ-वचना, ४. सुरतिविचित्रा। ये भी विश्वनाथ के प्ररूढस्मरा, ईषत्प्रगल्भवचना और

विचित्र-सुरता के ही नामान्तर मात्र हैं। विश्वनाथ का मध्य-व्रीडिता इन्होंने छोड़ दिया है। इसी प्रकार प्रौढ़ा के भी चार रूपान्तर भेद हैं — १. समस्तरसकोविदा, २. आक्रमितानायिका (आक्रान्तानायिका-देव) ३. लब्धापति, ४. विचित्रविभ्रमा (सविभ्रमा)। यहाँ समस्तरसकोविदा और आक्रान्तनायिका तो विश्वनाथ के ही भेद हैं - और विचित्र-विभ्रमाभावोन्नता का रूपान्तर है। लब्धापति शब्द स्वतन्त्र है (?) रसलीन ने पति-दुखितानायिकाएं भी कही हैं — जिनमें कोई बेचारी मूढ़पति कोई बालपति और कोई वृद्धपति के कारण दु:खी है। इनकी मान्यता रसलीन मुग्धा कुलटा की भाँति ही घोषित करते हैं।[1] —

परकीया के विश्वनाथ आदि मान्य आचार्यों ने दो ही वर्णन किए हैं — ऊढ़ा और अनूढ़ा। हिन्दी में छ: भेद और दृष्टिगत होते हैं — गुप्ता, विदग्धा, (१ वचन, २. क्रिया) लक्षिता, कुलटा, मुदिता, और अनुशयना। केशव को छोड़कर चिन्तामणि, मतिराम, देव, पद्माकर आदि बाद के सभी कवियों ने इनका व्यवस्थित और स्पष्टवर्णन किया है। परन्तु यह भी रसमञ्जरी के भेदों का ही शुद्ध अनुवाद है।[2] दास ने इस क्षेत्र में भी कुछ मौलिकता लाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने परकीया के उद्बुद्धा और उद्बोधिता दो नवीन भेद किए हैं। उद्बुद्धा जिसके हृदय में प्रीति स्वयं उत्पन्न हो। उद्बोधिता जिसके हृदय में नायक द्वारा प्रीति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाय। उद्बुद्धा प्रेम की मात्रा के अनुसार दो प्रकार की कही गयी है — १. अनुरागिनी, २. प्रेमासक्ता। उद्बोधिता के तीन भेद हैं — असाध्या, दु:खसाध्या और साध्या (जब कि वह पूर्णत: उद्बोधिता हो जाती है। रसलीन ने इस विस्तार को और भी बढ़ाया है — उन्होंने असाध्या दु:खसाध्या और साध्या आदि के अनेक भेद किये हैं। ये भेद शास्त्रीय-दृष्टि से विशेष स्वतन्त्र महत्त्व न रखते हुए भी कम से कम उस युग के सामाजिक जीवन पर अच्छा प्रकाश डालते हैं, और साथ ही इन कवियों के आलोचनात्मक पर्यवेक्षण का प्रमाण भी उपस्थित करते हैं। परन्तु दास का महत्त्व भेद-विस्तार के लिए इतना नहीं है — जितना कि व्यवस्था के लिए है। उन्होंने काफी स्वच्छ रीति

---

१. इन भेदन में जो कोऊ रसाभासविख्यात
मुग्धा, कुलटा हू विषै सो पुनि पायो जात। — रसप्रबोध

२. गुप्ताविदग्धालक्षिताकुलटाअनुशयना मुदिता प्रभृतीनां परकीयायामेवान्तर्भाव:।

से नायिका - भेद की असङ्गतियों को सुलझाया है। उदाहरण के लिए उन्होंने गर्विता के विभिन्न भेदों को स्वतन्त्र न मान कर स्वाधीनपतिका के अन्तर्गत धीरा आदि को खण्डिता के अन्तर्गत और अन्यसम्भोग दुःखिता को उत्कण्ठिता के अन्तर्गत माना है। इसके अतिरिक्त तत्कालीन परिस्थिति के अनुकूल उन्होंने देव से सङ्केत- गुप्ता कर रचिता (रसैल) आदि की भी स्वकीया के अन्तर्गत ही गणना करते हुए रसाभास से मुक्ति पा ली है। संस्कृत में और हिन्दी में भी सामान्या का साधारणतः एक ही रूप माना गया है, परन्तु रसलीन की तृप्ति उससे नहीं हुई और उन्होंने अपने समय की सामान्याओं की गतिविधि का निरीक्षण करते हुए उसके भी चार भेद कर दिए — १. स्वतन्त्र, २. जननी-अधीना ३. नियमिता और ४. प्रेमदुःखिता।

अवस्था के अनुसार संस्कृत में भरत के समय से ही आठ प्रकार की नायिकाएं मानी गयी हैं, हिन्दी में प्रवत्स्यत्पतिका और आगतपतिका —ये दो भेद और मिलते हैं। इनमें प्रवत्स्यत्पतिका तो भानुदत्त की रसमञ्जरी में वर्णित प्रोषितपतिका है, जिसका उन्होंने प्राचीनों के अनुसार स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित किया है।[१] उन्होंने स्पष्ट किया है कि इसका अन्तर्भाव खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा आदि में नहीं किया जा सकता, अतएव इसका स्वतन्त्र अस्तित्व ही स्वीकार करना अनिवार्य है। हमारे विचार में ऐसी ही युक्ति आगतपतिका के लिए भी दी जा सकती है। प्रोषितपतिका और आगतपतिका के संयोग से अर्थात् पति के गमनागमन के आश्रित देव ने गमनागमपतिका (गमनागमेन)नायिका की भी कल्पना की है। वास्तव में नायिका की यह मनःस्थिति है, तो अत्यन्त मार्मिक (बिहारी ने दो एक दोहों में इसका अत्यन्त सुन्दर अङ्कन किया है) परन्तु यहां दो आपत्तियां हो सकती हैं, एक तो यह कि अवस्था इतनी स्थायी नहीं है कि इसके आधार पर एक स्वतन्त्र भेद की कल्पना की जा सके। दूसरे, यह कि उपर्युक्त दोनों अवस्थायें पतिगमन और पतिआगमन का संयोग ही तो हैं। थोड़े अन्तर से ऐसा ही तर्क आगमिष्यत्पतिका के लिए भी उपस्थित किया जा सकता है, उसकी स्थिति में भी एक विशेष भाव-सौन्दर्य वर्तमान रहता है। पर इस विस्तार का कहीं अन्त भी होगा या नहीं इस प्रकार तो न जाने कितने भेद हो जायेंगे।

फिर भी यह विस्तार रुका थोड़े ही, भाव-शास्त्र की सीमा का अतिक्रमण

---

१. प्राचीनलेखनादग्निमदाणो देशान्तरनिश्चितगमने प्रेयसिप्रोत्स्यत्पतिकानवमी नायिका भवितुमर्हति।

और अन्य शास्त्रों में भी इसने प्रवेश कर ही लिया । काम-शास्त्र में दिए हुए जाति-भेद का विश्वनाथ ने निराकार तो नहीं किया, परन्तु सड्०केत अवश्य दे दिया है । उसी को केशव और उनके उपरान्त देव आदि ने लक्षण और उदाहरणों से परिपुष्ट कर हमारे सामने रख दिया । चिन्तामणि ने अंशानुसार तीन भेद और किए हैं — दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य, परन्तु ये भी रसमञ्जरी से अनुदित हैं । देव केवल जाति और अंशभेद से ही सन्तुष्ट नहीं रहे । उन्होंने गुणभेद, प्रकृतिभेद, देशभेद न जाने कितने भेद और और कर डाले हैं । परन्तु ये भेदान्तर न तो नवीन हैं और न महत्त्वपूर्ण । देव ने भी इनका निर्देशमात्र ही किया, पुष्टि नहीं, क्योंकि इस प्रकार कुछ भेदों के सड्०केत तो साहित्य-ग्रन्थों में ही मिल जाते हैं । उदाहरण के लिए देशभेद की ओर मम्मट ने काव्य-प्रकाश में सड्०केत किया है ।[1] उधर प्रकृति, गुण, सत्त्व इत्यादि के लिए भी कामशास्त्र, वैद्यक आदि में प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है ।[2]

उपसंहार—

पूर्वोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी के इन आचार्यों ने हमारे रीति-विवेचन में कोई गम्भीर मौलिक योग नहीं दिया । किन्तु इनमें से कुछ का साहित्य-ज्ञान गम्भीर अवश्य था, और उन्होंने हिन्दी में संस्कृत की गम्भीर विवेचना-पद्धति की अवतारणा की । शृड्०गार के क्षेत्र में जैसे मतिराम, सुखदेव, बेनीप्रवीन और पद्माकर आदि । यद्यपि केशव तथा देव ने मौलिक विस्तार की सबसे अधिक आकांक्षा दिखाई किन्तु इनमें विस्तृत पाण्डित्य होते हुए भी इनकी चिन्ताधारा सुलझी हुई नहीं थी । केशव ने स्थान-स्थान पर जो भ्रान्तियां की हैं उससे उनकी उलझी विचारधारा प्रमाणित हो जाती है । देव कुछ मनिवादी तथा साथ ही मीमांसापसन्द कवि थे । उनके द्वारा नायिकाओं का वात, पित्त, कफ, नाग, नर आदि की दृष्टि से वर्गीकरण इस तथ्य को पुष्ट कर देता है । वास्तव में उस युग की रुचि ही गम्भीर नहीं रह गयी थी । लोग मीमांसा का नहीं रसिकता का आदर करते थे । साथ ही सबसे बड़ा अभाव तो गद्य का था जिसके कारण सूक्ष्मविश्लेषण सम्भव ही नहीं था । परिणामतः हिन्दी के इन आचार्य कवियों का रीति-निरूपण वर्णनात्मक ही रह गया विवेचनात्मक नहीं हो पाया ।

---

१. 'तत्रापि देशकालावस्थादिभेदा'

२. रीतिकाव्य की भूमिका।

प्रबन्धोपयुक्त ग्रन्थावली —

संस्कृत —

अग्निपुराण — अ०पु० — आनन्दाश्रम सीरीज़

अमरुकशतक — अ०श० — अमरुक

अलंकारकौस्तुभ — अ०कौ० — कविकर्णपूर गोस्वामी — वारेन्द्रप्रकाशन

ईशोपनिषद् (१०७०)

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी — का०सं०सी०

उज्ज्वलनीलमणि — उ०नी० — रूपगोस्वामी — का०मा०

उत्तररामचरित — उ०च० — भवभूति

ऋतुसंहार — ऋ०सं० — कालिदास

एकावली — ए० — विद्याधर — बी०एस०एस०, १६०३

औचित्यविचार चर्चा — औ०वि० — क्षेमेन्द्र — चौ०सं०सी०

कामसूत्र — जयमंगला सहित — का०सू० — वात्स्यायनी — चौ०सं०सी०

कालिदास म०म०हा० — बी०बी० मिराशी

काव्यानुशासन — का०अनु० — हेमचन्द्र — का०मा०

काव्यालंकार — का०अ० — भामह

काव्यादर्श — का०आ० — दण्डी

काव्यालंकारसारसंग्रह — का०सा०सं० — उद्भट — नि०सा०प्रे०(लघुवृत्ति सहित)

काव्यालंकारसूत्रवृत्ति — का०सू०वृ० — वामन — नि०सा०प्रे०

काव्यालंकार — का०अ० — रुद्रट — नि०सा०प्रे०

काव्यमीमांसा — का०मी० — राजशेखर — जी०ओ०स०

काव्यप्रकाश — का०प्र० — मम्मट — भी०ओ०आर०आई०

कविकण्ठाभरण — क०कं०आ० — क्षेमेन्द्र — चौ०सं०सी०

कर्पूरमंजरी — क०मं० — राजशेखर — मनमोहन घोष द्वारा सम्पादित

किरातार्जुनीय — कि० — भारवि

कुमारसम्भव — कु०स० — कालिदास

गाथासप्तशती — गा०स० — हाल — नि०सा०प्रे०

गीत गोविन्द — गी०गो० — जयदेव

चमत्कारचन्द्रिका — च० च० — विश्वेश्वर

चतुर्भाणी — डा० मोतीचन्द्र द्वारा प्रकाशित

छान्दोग्योपनिषद् — छा०उ०

दशरूपक — द०रू० — धनंजय

दशरूपक — धनिक कृत अवलोक सहित

ध्वन्यालोक — ध्व० — आनन्दवर्धन — चौ०सं०सी०

(अभिनवकृत लोचन सहित)

नाट्यशास्त्र — ना०शा० — भरतमुनि — चौ०सं०सी०

नाट्यशास्त्र — अभिनव भारती — भारती सहित — जी०ओ०,स०

नाट्यदर्पण — ना०द० — रामचन्द्रगुणचन्द्र — जी०ओ०स०

नागानन्द — ना०आ० — हर्ष

नैषध — नै० — श्रीहर्ष

प्रतापरुद्रयशोभूषण — प्र०रु० — विद्यानाथ — सी०एस० एण्ड पी०एस०, काशी

बृहदारण्यक उपनिषद् — बृ०र०उ०

ब्रह्मवैवर्तपुराण — ब्र०पु०

भक्तिरसायन — भक्तिप्रकाशन — भ०र० — मधुसूदन सरस्वती — काशी

भावप्रकाशन — भा०प्र० — शारदातनय — जी०ओ०एस०

मनुस्मृति — म०स्मृ०, नि०सा०प्रे०

महाभारत — म०भा० — चित्रशाला प्रेस

महाभारत — म०भा०

मंदारमरंद चंपू — म०म०च० — कविकृष्ण शर्मा — का०मा०

मालतीमाधव — मा०मा० — भवभूति

मेघदूत — मे०दू० — कालिदास

योगसूत्र — यो०सू० — पतंजलि

रघुवंश — र०वं० — कालिदास

रतिरहस्य — कक्कोक

रसार्णवसुधाकर — र०सु० — सिंहभूपाल — टी०एस०एस०

रसमंजरी — र०मं० — भानुदत्त

रसतरंगिणी — र०त० — भानुदत्त

रसगंगाधर—र०गं०—पं०रा०जगन्नाथ—का०मा०

रसिक जीवन—र०जी०—देव

रसरत्नहार—र०र०हा०—शिवराम त्रिपाठी

रसचन्द्रिका—र०च०—विश्वेश्वरपाण्डेय, का०मा०

रसदीर्घिका—र०दी०—विद्याराम—राजस्थानपुरातन ग्रन्थ माला

रसतरंगिणी—र०त०—रामानन्द ठाकुर—मिथिला विद्यापीठ ग्रन्थमाला

राजतरंगिणी—रा०त०—कल्हण

वाल्मीकि रामायण—वा०रा०—नि०सा०प्रेस

व्यक्ति विवेक—व्य०वि०—महिम भट्ट—चौ०सं०सी०

वक्रोक्तिजीवित—व०जी०—कुन्तक

वेणीसंहार—वे०सं०

शाकुन्तल—शा०—कालिदास

शिवपुराण—शिवपु०

शिशुपालवध—शि०व०—माघ

शृंगारतिलक—शृ०ति०—रुद्रभट्ट—का०मा०

शृङ्गारमंजरी—शृ०मं०—बड़े साहब, अकबरशाह

शृङ्गारामृतलहरी—शृ०ल०—सामराज दीक्षित

शृङ्गारप्रकाश—शृ०प्र०—भोज

संगीत रत्नाकर—सं०र०—शार्ङ्गदेव—आनन्दाश्रम

सरस्वतीकंठाभरण—स०कं०—भोज—नि०सा०प्रे०

साहित्यदर्पण—सा०द०—विश्वनाथ

सुवृत्ततिलक—सु०ति०—क्षेमेन्द्र—चौ०सं०सी०

सांख्यतत्त्वकौमुदी—सा०त०कौ०—ईश्वरकृष्ण

सर्वदर्शनसंग्रह—स०द०सं०—वेंकटेश्वरप्रेस

हरिभक्तिरसामृतसिन्धु—ह०भ०र०सि०—रूपगोस्वामी—अच्युतग्रन्थमाला

हरविजय—ह०वि०—रत्नाकर—का०मा०

हिन्दी—

अलंकारचन्द्रोदय—रसिक सुमति

अलंकारमाला—सूरतिमिश्र

अलंकारदीपक—शम्भुनाथ मिश्र

अलंकारमणि मंजरी — ऋषिनाथ

अलंकार चिन्तामणि — प्रतापसिंह

कंठाभूषण — भूपति

कविकुलकल्पतरु — चिन्तामणि

काव्यविवेक — चिन्तामणि

काव्यकल्पद्रुम — सेनापति

कविकुलकंठाभरण — दूलह

काव्यरसायन — देव

काव्यसिद्धान्त — सूरति मिश्र

काव्यसरोज — श्रीपति

काव्यनिर्णय — दास

काव्यविलास — प्रतापसिंह

चिन्तामणि — रामचन्द्र शुक्ल

जगद्विनोद — पद्माकर

द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ —

नवरसतरंग — बेनीप्रवीन

पद्माभरण — पद्माकर

फतेहभूषण रतनकवि

भावविलास — देव

भवानीविलास — देव

भाषाभरण — बैरीसाल

भक्तिका विकास — डा० मुंशीराम शर्मा

भारतीय साहित्य शास्त्र — डा० जी०टी० देशपाण्डे

भारतीय संस्कृति और साधना — म०म० डा० गोपीनाथ कविराज

भाषाभूषण — जसवंत सिंह

रसिक प्रिया — केशव

रसराज — मतिराम

रसरत्नाकर — सुखदेव मिश्र

रसार्णव — सुखदेव मिश्र

रसविलास — देव

रसचन्द्रोदय — कवीन्द्र

रस सारांश—दास

रसिकानन्द—ग्वाल

रसिकमोहन—रघुनाथ

रस-रहस्य—कुलपति मिश्र

रसपीयूष निधि—सोमनाथ

रसिक रसाल—कुमारमणि भट्ट

रसिकगोविन्दानन्दघन—रसिक गोविन्द

रीतिकालीन कविता एवं शृङ्गाररस—रा०रा०प्र० चतुर्वेदी, सरस्वती पुस्तक सदन आगरा।

रीतिकाव्य की भूमिका—डा० नगेन्द्र—गौतम बुकडिपो दिल्ली

लालित्यलता—दत्त

व्यङ्ग्यार्थ कौमुदी—प्रतापसिंह

शिवराज भूषण—भूषण

शृङ्गारनायिका—

साहित्यरस—ह०आ० जोगनेकर—दलाल आर्ट स्टूडियो, बम्बई

सुजान विनोद—देव

सुधानिधि—तोष

हिन्दी साहित्य का इतिहास—रा०चं० शुक्ल

An outline of Psychology -- U.M. Dougall

Abhinava Gupta -- Dr. K.C. Pandey (G.S.S.)

A study of Erotic sentimatin Hindi Poetry (Hndi) -- Dr. R.P. Chaturvedi

Bhoja's Srigara Prakasa -- Dr. V.Raghavan

Chaitanya and his age -- Dinesh Chand Sen

Conception of Riti and Guna -- Dr. P.C. Lahari

Comperative Aesthatic -- Dr. K.C. Pandey (G.S.S.)

History of Sanskrit Poetics -- M.M Dr. P.V. Kane

" " " " -- Dr. S.K. De

History of Sanskrit Literature -- Dr. S.K. De

History of Indian Vol I -- Winternitz

History of Sanskrit Vol. -- A.B. Kieth

Highways and By-ways of Literary Criticism in Snskrit -- MM.Kuppuswani Shastri

Indian Antiquary

Instincts of Man -- James

Indian Culture

Indian Historical Quarterly

Journal G. Jha Institute

Journal of Oriatal Research - Madras J.R.A.S

Lovein Hindi Literature -- Dr. V.K. Sarkar

Origins of Love and Hate -- Suttie

Psychological Studies in Rasa -- Rakesh Tupta

Poona Orientalist

Proceedings of A.I.O. Conferences.

Some concepts of Ankarstra	--	Dr. V. Raghawan
Science of Emotions	--	Dr. Bhagawan Das
Sexology of Hindus	--	S.C. Chakravarti
Some Aspects of Liter criticism in Sanskrit	--	A. Samkaran
Sanskrit Dramas	--	A.B. Kieth
Saraswati Bhawan Sts		
The Number of Rasa (J.O.R.)	--	Dr. V. Raghavan
The Energies of Ma	--	Dr. R.J.S. Mc Dowall
The Mansions of Pjophy	--	Will Durant
Theories of Rasa Dwani	--	Dr. Sankaran
The Religions of ia	--	A Barth
Vaishnavism Shav and Minor Religious ms	--	Dr. Sir R.G. Bhandarkar
Writings of Sig Fraud	--	(Contribution I)